

श्री रत्नशेखरसूरीश्वरजी इचित
श्राद्धविधि प्रकरणम्
भाषान्तर

संपादक
मुनि श्री जयानन्दविजय

श्री शत्रुंजयतीर्थाधिपति श्री आदिनाथाय नमः
प्रमु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वराय नमः

श्री रत्नशेखरसूरीश्वरजी विरचित

**श्राद्धविधिप्रकरणम्
विधिकौमुदी वृत्ति
का भाषांतर**

: दिव्याशीष :

आचार्यदेव श्री विद्याचंद्रसूरीश्वरजी
मुनिराज श्री रामचंद्रविजयजी

: संपादक :

मुनिराज श्री जयानंदविजयजी

दो शब्द

पूज्य पाद श्री रत्नशेखर सूरिश्वरजी महाराज ने विक्रम संवत् १५०६ में अर्थात् आज से ५५५ वर्ष पूर्व श्राद्धविधि प्रकरण ग्रंथ का आलेखन किया।

इस ग्रंथ में श्रावक जीवन को समुज्ज्वल बनाने के विधि-विधानों का दृष्टान्त पूर्वक विवेचन किया है। ग्रन्थकार श्री ने श्राद्धप्रतिक्रमणवृत्ति अर्थदीपिका ग्रं. ३६४४ जो १४९६ में बनायी। १५०६ में श्राद्धविधिसूत्र मूलगाथा १७ और उस पर श्राद्धविधि कौमुदी टीका ६७६१ श्लोक प्रमाण बनायी। १५१६ में आचार प्रदीप ग्रन्थ ४०६५ श्लोक प्रमाण बनाया। लघुक्षेत्रसमाप्त, हेमव्याकरणअवचुरि और प्रबोध चन्द्रोदय आदि ग्रन्थ बनाये हैं। 'जैन परंपरानो इतिहास' पृष्ठ २१५'

इस ग्रन्थ में उस समय प्रचलित विधि-विधानों का जो आलेखन हुआ है उसको देखते हुए इन पांचसौ वर्षों में विधि-विधानों में कितना योग्य-अयोग्य विधि-विधान जुड़ गये हैं। इस पर विद्वद्वर्ग को चिन्तन-मनन करना चाहिए।

इस ग्रन्थ का भाषांतर जैनामृत समिति, उदयपुर से विक्रम सं. १६८७ में प्रकट हुआ था।

उसमें कुछ भाषाकिय सुधारकर श्री गुरु रामचंद्र प्रकाशन समिति, भीनमाल (राज.) ने छपवाया है। पाठक गण लाभान्वित बनें यही....

२०६१, पालिताणा
राजेन्द्र भवन,
कार्तिक सुद ७

जयानन्द

प्राप्ति स्थान :

- (१) शा देवीचंद छगनलालजी, सदर बाजार, भीनमाल - ३४३०२९
- (२) श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन पेढी, साँथूं, ३४३०२६
- (३) शा नागालालजी वजाजी खीवसरा
शांतिविला अपार्टमेन्ट, तीन बत्ती, काजी का मैदान, गोपीपूरा, सूरत
- (४) महाविदेह भीनमाल धाम
तलेटी हस्तगिरि लिंक रोड, पालीताणा - ३६४ २७०

आर्थिक सहयोगी

राजेन्द्रभवन पालिताना में
संघवी शा वक्तावरमलजी हीराचंदजी
कुहाड परिवार
आहोर निवासी द्वारा

सं. २०६१ में चातुर्मास एवं उपधान करवाया
उस समय की ज्ञान खाते की आय में से
साधु-साध्वी एवं ज्ञानभंडारों में
सप्रेम देने हेतु
एक हजार प्रत छपवायी

आर्थिक सहयोगी

शा पारसमल

दिलीपकुमार

विनोदकुमार

वरुणकुमार

बेटा-पोता

जगाजी सदाजी

सालेचा परिवार

बाकरा (राज.)

गुरु राजेन्द्र रोलिंग मिल्स

८ मेटल प्राईवेट लिमिटेड

मुंबई

आर्थिक सहयोगी

मुथा जूहारमलजी भूराजी बागरेचा परिवार
आहोरवालों ने सौधर्म निवास पालीताना में
नव्वाणुं यात्रा करवायी उस समय के
आराधकों के साधारण फंड में से
चारसौ पुस्तकें छपवाने का लाभ लिया

पुस्तक का नाम : श्राद्धविधिप्रकरणविधिकौमुदीवृत्ति भाषान्तर
संपादक : मुनिश्री जयानंदविजयजी

: प्रकाशक :

श्री गुरु रामचंद्र प्रकाशन समिति, भीनमाल, राज.

संचालक :

- (१) सुमेरमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज.
- (२) मीलियन ग्रुप, सूरणा, राज., मुंबई, दिल्ली, विजयवाडा
- (३) श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेथीजी हुकमाणी परिवार,
पांथेडी, राज. राजेन्द्र ज्वेलर्स, मुंबई - ३४
- (४) शा हस्तीमल, लखमीचंद, किरणकुमार, प्रकाशकुमार, किशोरकुमार,
उत्तमकुमार, बेटा पोता भलाजी नागोत्रा सोलंकी परिवार
बाकरा (राज.), मुक्ति मार्केटिंग, चेन्नई
- (५) शा दूधमल, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता लालचंदजी मांडोत
परिवार बाकरा (राज.), मंगल आर्ट, मुंबई-२
- (६) कटारीया संभवी लालचंद, रमेशकुमार, गौतमचंद, विनोदकुमार,
महेन्द्रकुमार, रविन्द्रकुमार बेटा पोता सोनाजी पेराजी धाणसा (राज.)
श्री सुपर स्पेअर्स, विजयवाडा
- (७) एम. आर. इम्पेक्स, १६-ए, हनुमान टेरेस, दूसरा माला,
ताराटेम्पल लेन, लेमीगटन रोड, मुंबई-७, फोन : २३८०१०८६
- (८) गुलाबचंद राजेन्द्रकुमार छगनलालजी कोठारी अमेरीका, आहोर (राज.)
- (९) शा शांतिलाल, दीलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अखीलकुमार
बेटा पोता मूलचंदजी उमाजी तलावत आहोर (राज.)
राजेन्द्र मार्केटिंग, विजयवाडा
- (१०) शा समरथमल, सुकराज, मोहनलाल, महावीरकुमार, विकासकुमार,
कमलेश, अनिल, विमल, श्रीपाल, भरत फोला मुथा परिवार
सायला (राज.) अरूण एन्टरप्राइजेस गुन्दूर
- (११) शा सुमेरमल, नितीन, अमीत, मनीषा, खुशबु बेटा पोता पेराजमलजी
प्रतापजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोदरा (राज.) गुन्दूर
- (१२) शा नरपतराज, ललीतकुमार, महेन्द्र, शैलेश, निलेश, कल्पेश, राजेश,
महीपाल, दिक्षीत, आशीष, केतन, अश्वीन, रिकेश, यश बेटा पोता
खीमराजजी धानाजी कटारीया आहोर (राज.) गुन्दूर
- (१३) शा तीलोकचन्द मयाचन्द एन्ड कं.
११६, गुलालवाडी, मुंबई - ४०० ००४
- (१४) शा लक्ष्मीचंद, शेषमल, राजकुमार, महावीरकुमार, प्रवीणकुमार,
दीलीपकुमार रमेशकुमार बेटा पोता प्रतापचंदजी कालुजी कांकरीया
मोदरा (राज.) गुन्दूर

अनुक्रम

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्रथम प्रकारा	२	दांतन की विधि	१२
ग्रन्थ के द्वार	२	स्नान की विधि	१३
धर्म के योग्य	३	तुम्ब स्नान दृष्टांत	१५
धर्म के अयोग्य	३	भावस्नान	१५
मूर्ख किसान पुत्र का दृष्टांत	३	अपवित्रता से पूजन में चांडाल का दृष्टांत	१६
श्रावक के इक्कीस गुण	५	पूजा में पहनने के वस्त्र की विधि	१७
शुकरराज की कथा	७	दूसरे का पहना वस्त्र न पहनने पर	
श्री दत्त केवली का चरित्र	२९	कुमारपाल का दृष्टान्त	१७
चंद्रशेखर का चरित्र	४९	पूजावसर में सप्त प्रकार की शुद्धि	१८
श्रावक का स्वरूप	५९	सर्व ऋद्धि से जिनवन्दन में	
सुरसुन्दर शेट की स्त्रियों की कथा	५९	दशार्णभद्र का दृष्टान्त	१९
त्रिविध का समाधान	६०	इन्द्र के नाटक का वर्णन	२००
चार-चार घेद से श्रावक	६१	बाघों का वर्णन	२००
श्रावक शब्द का अर्थ	६२	नाटक के नाम	२०१
श्राद्धशब्द का अर्थ	६३	पांच अभिगम	२०३
दिनकृत्य	६३	प्रदक्षिणा	२०३
जाप कैसे करें?	६६	प्रभुपूजन	२०४
धर्मजागरिका	७०	जिणहा की कथा	२०७
उत्तरार्द्ध की व्याख्या	७१	प्रथम भूलनायक की पूजा	२०८
स्वप्न विचार	७१	जिनमंदिर की मनोहरता	२१०
माता-पिता को प्रणाम	७२	आशातना से बचना	२१०
व्रत-नियम	७२	प्रतिमा की स्वच्छता	२१०
व्रत लेने का स्वरूप	७४	प्रतिमाओं के संज्ञावाचक नाम	२११
सचित्त-अचित्त का वर्णन	७५	प्रतिमा की संख्या	२११
सचित्त अचित्त विभाग	७७	अग्रपूजा	२११
सचित्तादि चौदह नियम	८३	नैवेद्य पूजा का प्रण (नियम)	२१२
पञ्चकक्षाण लेने की विधि	८५	भावपूजा	२१३
गंडसी पञ्चकक्षाण का लाभ	८५	इक्कीस प्रकारी पूजा	
अशनादि चार का विभाग	८७	(श्री उमास्वाति कृत पूजा प्रकरण)	२१६
अणाहार वस्तु	८७	पूजा कैसे न करनी	२१८
एकांगिक आहारदि	८८	पुष्प कैसे चढ़ाना	२१८
पञ्चकक्षाण के स्थान	८९	स्नात्रविधि	२१८
पञ्चकक्षाण में त्रिविहार, चौविहार का नियम	८९	चैत्य में जो मकड़ी के जाले आदि हो जायें तो उन्हें निकालने की विधि	२२३
पवित्र होने की विधि	८९	आभोग-अनाभोग द्रव्यस्तव	२२८
मलमूत्रादिक त्याग की विधि	९०		

विषय	पृष्ठ
कुंतला रानी	१२९
आज्ञा पालन का महत्व	१२९
द्रव्यस्तव-भावस्तव का फल	१३०
दर्शन पूजन का फल	१३१
तीन संध्या की पूजा का फल	१३१
विधि-बहुमान	१३२
अनुष्ठान के चार भेद	१३२
धर्मदत्त का कथानक	१३४
जिनमंदिर की उचित चिंता	१४४
ज्ञान आशातना	१४४
जिनाशातना	१४५
गुरु आशातना	१४८
देवद्रव्यादि की व्याख्या	१४९
सागर सेठ की कथा	१५२
देवद्रव्य की उधारी का फल	१५९
ऊंटनी	१६०
लक्ष्मीवती की कथा	१६२
गृहमंदिर के पदार्थ का उपयोग	
कैसे करना?	१६३
स्व द्रव्य से जिनपूजा एवं पदार्थ रक्षण	१६४
प्रत्याख्यान एवं गुरुवंदन	१६६
पञ्चबखाण का फल	१६८
सद्गुरु विनय	१६८
उपदेश कैसे सुनना ?	१६९
प्रदेशी राजा की कथा	१७०
धावच्चापुत्र	१७१
धर्माचरण	१७३
सुखशाता पूच्छा	१७४
सुपात्र दान	१७४
ज्ञानार्जन	१७७
राजादि का कार्य	१७७
धनार्जन कैसे करना?	१७९
बुद्धि का व्यापार	१८२
सेवा	१८३
मिक्षा	१८६
व्यापार	१८८
पुत्रशिक्षा	१९०
उधार	१९१

विषय	पृष्ठ
भावइ सेठ का कथानक	१९२
आमइ सेठ	१९३
भाग्यवान का आश्रय	१९५
विवाद से दूर रहना	१९७
न्याय करने में विवेक	१९८
परिणामानुसार सम्मान	१९८
नफा कितना करना?	१९९
अन्याय न करना	१९९
हेलाक सेठ की कथा	२००
विसेमिरा	२०१
पाप के भेद	२०३
पुण्य-पाप की चतुर्भंगी	२०४
सत्य वक्तव्य	२०५
मित्र कैसे करना?	२०६
द्रव्य संबंध	२०७
साक्षी न करने का फल	२०७
साक्षी रखने का लाभ	२०८
लेखा शीघ्र करना	२०८
राज्याश्रय	२०९
व्यापार कहाँ करना?	२०९
भाग्यशाली	२१०
मनोरथ	२१२
ऋद्धि के भेद	२१२
नित्य धर्म में द्रव्य व्यय का	
विशेष फल	२१३
अति लोभ न करना	२१३
धर्म-अर्थ-काम	२१४
आयानुसार व्यय	२१६
करकसर	२१६
विद्यापति	२१७
धनार्जन न्यायमार्ग से ही	२१७
शुद्धाचरण का फल	२१७
सेचनक	२१९
रंकश्रेष्ठी	२२०
देशादि विरुद्ध कार्य का त्याग	२२३
वृद्धा स्त्री	२२४
सुनी हुई बात	२२५
उचिताचरण	२२६

विषय	पृष्ठ
धनमित्र की कथा	२५४
मध्याह्न का कर्तव्य	२५५
सुपात्र दान कैसे करना?	२५६
पात्र के प्रकार	२५७
सुपात्रदान और परिग्रहपरिमाणव्रत के पालन ऊपर रत्नसारकुमार की कथा	२५८
रत्नसार का पूर्वभव	२९४
भोजन के समय	२९६
भोजन	२९७
स्वाध्याय	३०१
एहकाक्ष की कथा	३०२
प्रकाश-२ : रात्रिकृत्य	३०३
प्रतिक्रमण की श्रद्धा पर कथा	३०४
प्रतिक्रमण का समय	३०५
पाक्षिक प्रतिक्रमण कब ?	३०५
प्रतिक्रमण विधि	३०६
साधु सेवा	३११
सोने के पूर्व स्वाध्याय एवं धर्मोपदेश	३१२
शालांग रथ	३१२
अनानुपूर्वि	३१३
धर्मदास	३१३
धन्यश्रेष्ठी	३१४
सोने की विधि	३१६
वासना विजय	३१८
गति स्वरूप का चिन्तन	३२०
भनोरथ	३२०
प्रकाश-३ : पर्वकृत्य	३२१
पौषध	३२४
धनसार की कथा	३२८
प्रकाश-४ : चातुर्मासिककृत्य	३३२
अप्राप्त वस्तु के त्याग का फल	३३३
नियम पालन का फल	३३६
प्रकाश-५ : वर्षकृत्य	३३९

विषय	पृष्ठ
साधर्मिक वात्सल्य कैसे करना?	३४१
दण्डवीर्य	३४२
श्री संभवनाथ का पूर्वभव	३४३
जगसिंह	३४३
आभू संघवी	३४३
सारंग सेठ	३४३
तीन यात्रा	३४४
कुमारपाल की रथयात्रा	३४४
तीर्थयात्रा के स्वरूप का वर्णन	३४५
उजमणा-उद्यापन	३४९
उपधान	३४९
गुरु भगवंत का प्रवेशोत्सव	३४९
प्रायश्चित्त	३५१
पाप छुपाने का फल	३५६
प्रकाश-६ : जन्मकृत्य	३५८
निवास कहाँ करना?	३५८
घर कहाँ - कैसा?	३५९
जिनमंदिर निर्माण	३६७
जीवंतस्वामी की प्रतिमा	३६९
जिन बिम्ब निर्माण	३७४
प्रतिष्ठा महोत्सव	३७७
दीक्षा महोत्सव	३७८
पद महोत्सव	३७८
पुस्तक लेखन	३७८
पौषधशाला निर्माण	३७९
ससाम्यवस्तु व्रत ग्रहण	३८०
दीक्षा ग्रहण	३८०
भावश्रावक	३८०
आरंभ समारंभ का त्याग	३८२
ब्रह्मचर्य पालन	३८२
श्रावक को पहिमा	३८२
संलेखना	३८३
उपसंहार	३८५
प्रशस्ति	३८६

कु. पींकी कु. कविता दीक्षा निमित्ते

शा कुंदनमल, गणेशमल, पुरवराज, पारसमल,
शांतिलाल, सोहनराज, पारसमणि, जवेरचंद, मोहनलाल,
चंपालाल, लालचन्द, कांतिलाल, प्रेमचंद, नेमिचंद,
चंपालाल, तेजराज, घीसुलाल, अशोक कुमार, किर्तीकुमार,
दिनेश, रमेश, सुरेश, महेन्द्र, उत्तम, अमृत, सुरेश, कमलेश,
राजु, मुकेश, महावीर, भरत, अनील, गौतम, निकान्सु, अमीत,
संदीप, पुनीत, श्रीपाल, मयुर, हर्ष, कोमल, जिनेश, जयेश,
रिषभ, मीत एवं समस्त गादिया तलावत परिवार आहोर
निवासी ।

शा मोहनलाल कांतिलाल, मदुराई
के. एम. तलावत, मुम्बई
गौतम ट्रेडिंग को., मदुराई
न्यु भेरु स्टोर्स, नागरकोइल

॥ नमः श्रीसर्वज्ञाय ॥

॥ प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वराय नमः ॥

श्रीमत्तपोगणाधीशरत्नशोखटाचार्य कृत

श्राद्धविधि प्रकरणम्

(कौमुदी टीका का भाषांतर)

मंगलाचरण

(शार्दूलविक्रीडितछंद)

अर्हत्सिद्धगणीन्द्रवाचकमुनिप्रष्ठाः प्रतिष्ठास्पदं,

पञ्चश्रीपरमेष्ठिनः प्रददतां प्रोचैर्गिरिष्ठात्मताम् ।

द्वैधान्यञ्च सुपर्वणां शिखरिणः प्रोद्दाममाहात्म्यत-

क्षेतश्चिन्तितदानतश्च कृतिनां ये स्मारयन्त्यन्वहम् ॥१॥

जो पंडितों को अपनी लोकोत्तर प्रतिष्ठा से देवताओं के पांच मेरु का और मनोवांछित वस्तु के दान से पांच कल्पवृक्षों का निरन्तर स्मरण कराते हैं ऐसे यश के भण्डार श्री अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा मुनिवर्य ये पंच परमेष्ठी आराधक भव्यप्राणियों को पूर्ण प्रतिष्ठा का स्थान (मोक्ष) दो ॥१॥

(आर्यावृत्तम्)

श्रीवीरं सगणधरं, प्रणिपत्य श्रुतं गिरं च सुगुरुंश्च ।

विवृणोमि स्वोपज्ञं श्राद्धविधिप्रकरणं किञ्चित् ॥२॥

गौतमादि गणधर युक्त भगवान श्री महावीरस्वामी, जिनभाषितवाणी तथा छत्तीस गुणयुक्त सद्गुरु इन सब को भावपूर्वक वन्दनाकर 'श्राद्धविधि' प्रकरण की अल्पमात्र व्याख्या करता हूँ।

टीका का प्रयोजन

(आर्यावृत्तम्)

युगवरतपागणाधिपपूज्यश्रीसोमसुन्दरगुरूणाम् ।

वचनादधिगततत्त्वः सत्त्वहितार्थं प्रवर्त्तेऽहम् ॥३॥

युगप्रधान, तपागच्छाचार्य तथा पूज्य श्रीसोमसुन्दर गुरु महाराज के वचन से केवली भाषित तत्त्व को ज्ञातकर, मैं उनके वचनों से ही भव्यजीवों के हित के लिए व्याख्या का आरम्भ करता हूँ ॥३॥

प्रथम प्रकाश

मूलगाथा - १

सिरिवीरजिणं पणमिअ सुआउ साहेमि किमवि सङ्गविहिं।

रायगिहे जगगुरुणा, जह भणियं अभयपुट्टेणं ॥१॥

भावार्थ : केवलज्ञान, अशोकवृक्षादि आठ प्रातिहार्य, वाणी के पैतीस गुण इत्यादि ऐश्वर्य से सुशोभित श्रीवीरजिनेश्वर को मन, वचन, काया से भावपूर्ण वन्दनाकर, राजगृही-नगरी में अभयकुमार के पूछने पर श्रीवीरजिन भगवान् ने जिस प्रकार उपदेश किया था उसी प्रकार सिद्धान्त वचन तथा गुरु सम्प्रदाय का अनुसरणकर संक्षेप मात्र श्राद्धविधि (श्रावकों का आचार) कहता हूँ ॥१॥

यहां श्री महावीर स्वामी को 'वीर जिन' इन नाम से संबोधन किया है, उसका कारण यह है कि, कर्मरूपी शत्रुओं का समूल नाश करना, पूर्ण तपस्या करना आदि कारणों से वीर कहलाता है, कहा है कि-रागादिक को जीतनेवाला 'जिन' कहलाता है। कर्म का नाश करता है तथा तपस्या करता है, उसी हेतु से वीर्य व तपस्या से सुशोभित भगवान् वीर कहलाते हैं। इसी प्रकार शास्त्र में तीन प्रकार के वीर बतलाये हैं '१ दानवीर, २ युद्धवीर, ३ धर्मवीर' भगवान् में ये तीनों वीरत्व होने से उनको वीर कहा गया है, यथा वार्षिकदान के समय करोड़ों स्वर्णमुद्राओं के दान से जगत् में दारिद्र्य को मिथ्या करके १ मोहादिक के कुल में हुए व कितनेक गर्भ में (सत्ता में) रहे हुए दुर्वार कर्म रूपी शत्रुओं का नाश करके, २ तथा फल की इच्छा न रखते असाध्य ऐसी मोक्षदायक तपस्या करके, ३ जो तीनों प्रकार की वीर-पदवी के धारक हुए अर्थात् अतिशय दान देने से दानवीर हुए, रागादिक शत्रुओं का समूल नाश करने से युद्धवीर हुए व कठिन तपस्या से धर्मवीर हुए ऐसे तीनों लोक के गुरु श्री महावीर की वीर संज्ञा यथार्थ है। यहां 'वीरजिन' इस पद से १ अपायापगमातिशय, २ ज्ञानातिशय, ३ पूजातिशय और ४ वचनातिशय ये चार अतिशय श्रीवीरभगवान् के लिए सूचित कर दिये।

ग्रन्थ के द्वार : मूलगाथा - २

दिण-रत्ति-पव्व-चउमासग-वच्छर-जम्मकिच्च-दाराइं।

सङ्गाणगुग्गहट्ठा, सङ्गविहिए भणिज्जन्ति ॥२॥

भावार्थ : १ दिवसकृत्य, २ रात्रिकृत्य, ३ पर्वकृत्य, ४ चातुर्मासिककृत्य, ५ वार्षिककृत्य, और ६ जन्मकृत्य; ये छः द्वार श्रावकजन के उपकारार्थ इस 'श्राद्धविधि' में कहे जायेंगे ॥२॥

इस प्रकार प्रथम गाथा में मंगल तथा दूसरी गाथा में ग्रंथ का विषय कहा गया। अब 'विद्या, राज्य व धर्म ये तीन वस्तु योग्य पात्र को ही देना' इस नीति के अनुसार श्रावक-धर्म ग्रहण करने योग्य कौन है? सो कहा जाता है-

मूलगाथा - ३

सङ्घत्तणस्स जुग्गो, भद्दगपगई विसेसनिउणमई।

नयमगरई, तह दढनियवयणठिई विणिद्धिउ ॥३॥

भावार्थ : १ भद्रप्रकृति, २ विशेष निपुणमति, ३ न्यायमार्गरति तथा ४ दृढनिजवचन-स्थिति; ऐसा पुरुष श्रावकत्व के योग्य है ॥३॥

धर्म के योग्य :

इसमें १ भद्रप्रकृति-भद्रस्वभाववाला, किसी भी प्रकार का पक्षपात न रखकर मध्यस्थ रहना आदि गुणों का धारण करनेवाला होने से निष्कारण विवाद न करनेवाला। कहा है कि-

धर्म के अयोग्य :

रतो दुडो मूढो पुव्वं वुग्गहिओ अ चत्तारि।

एए धम्माणरिहा अरिहो पुण होई मज्झत्थो॥

१ मिथ्यात्व में प्रेम रखनेवाला, २ धर्म द्वेषी, ३ बिलकुल मूढ़ तथा ४ पूर्व व्युद्ग्राहित अर्थात् सदगुरु का लाभ होने के पूर्व ही जिसका चित्त किसी मतवादी ने एकांतवाद में असत्य समझाकर दृढ़ कर लिया हो वह, ये चार व्यक्ति धर्म ग्रहण करने के योग्य नहीं, इसलिए जो मध्यस्थ याने किसी मत पर पक्षपात न रखनेवाला हो, उसीको धर्म ग्रहण करने के योग्य समझना चाहिए।

१ दृष्टिरागी धर्म ग्रहण नहीं कर सकता, यथा—भुवनभानु केवली का जीव पूर्व-भव में विश्वसेन नामक राजपुत्र था। वह त्रिदंडी का भक्त था, गुरु ने बहुत परिश्रम से उसे प्रतिबोधित किया और अंगीकार किये हुए समकित में दृढ़ किया, किन्तु पूर्व परिचित त्रिदंडी के वचन से पुनः इसमें दृष्टिराग का उदय हुआ, जिससे पूर्व प्राप्त समकित को खोकर अनन्तकाल तक संसार में भ्रमण करता रहा।

२ धर्म का द्वेषी धर्म पाने के योग्य नहीं, यथा—भद्रबाहुस्वामी का भाई वराहमिहिर धर्म-द्वेषी होने के कारण प्रतिबोध पाकर भी संसार में भ्रमण करता रहा।

३ मूढ़ अर्थात् वह जो कि गुरु के वचनों का भावार्थ न समझे। इसके ऊपर एक किसान के लड़के का लोक प्रसिद्ध दृष्टांत है, यथा—

मूर्ख किसान पुत्र का दृष्टांत :

एक किसान का लड़का था, वह इतना जड़बुद्धि था कि सामान्य बात भी नहीं समझ सकता था। एक समय उसकी माता ने उसे शिक्षा दी कि "हे पुत्र! राज्यसेवा के निमित्त दरबार में विनय करना चाहिए।" उसने पूछा कि—'विनय क्या होता है?' माता

ने समझाया कि "प्रणाम-जुहार करना नीची निगाह से चलना, राजा की इच्छानुसार कार्य करना इत्यादि विनय कहलाता है।" कुछ काल के अनन्तर एक दिन वह लड़का राज्यसेवा के हेतु राजधानी की ओर रवाना हुआ। मार्ग में मृग का शिकार करने की इच्छा से कुछ शिकारी लोग छिपकर बैठे हुए थे। ज्यों ही उस लड़के की निगाह उन पर पड़ी त्यों ही उसने उनके संमुख जाकर उच्चस्वर से कहा कि 'भाइयों जुहार!' इस तरह का जोरदार शब्द होने से आसपास के तमाम मृग भाग गये। इससे क्रुद्ध होकर शिकारियों ने उसे खूब मारा। जब उसने अपनी माता के उपदेश की सत्य बात कह सुनायी, तब उन्होंने यह कहकर छोड़ दिया कि 'ऐसे अवसर पर चुपचाप निकल जाना चाहिए।' आगे जाते-जाते उसे कुछ धोबी मिले। यह लड़का उनको देखकर चोर की तरह चुपचाप जाने लगा। उन धोबियों के कपड़े पूर्व में कई बार चोर चुरा ले गये थे, अतः उन्होंने इसी लड़के को चोर समझकर पकड़ लिया और शिकारी की बात कहने पर यह कहकर छोड़ दिया कि ऐसे अवसर पर यह कहना कि 'पानी में खूब धूल जाने से साफ हो जाओ।' आगे जाकर देखा कि किसान लोग धरती में अन्न बो रहे हैं, इसने उन्हें देखकर धोबियों के कथनानुसार कहना शुरू किया कि 'पानी में खूब धूल जाने से साफ हो जाओ।' यह सुनते ही उक्त किसानों ने भी इसको खूब मारा, अन्त में पूर्वोक्त सत्य बात मालूम होने पर छोड़ा और यह उपदेश दिया कि 'ऐसा ही बार-बार हो।' यह कहना। लड़का आगे बढ़ा। कुछ दूर जाकर एक मृतक शव मिला। उसे देखकर इसने चिल्लाना शुरू किया 'ऐसा ही बार-बार होओ।' मृतक के साथ के लोगों ने इसे यह कहने से मना किया व 'ऐसा कभी न हो।' यह कहते जाने के लिए कहा। इन शब्दों ने एक विवाह प्रसंग में इस लड़के को खूब पिटवाया तथा शिक्षा मिली कि 'हमेशा ऐसा ही हो।' यह कहना। ज्यों ही आगे बढ़ा कि एक हथकड़ी बेड़ी से जकड़ा हुआ जागीरदार कैदी मिला। उसे देखकर इसने कहना शुरू किया कि 'हमेशा ऐसा ही हो।' यह सुन उस कैदी के पक्षवालों ने उसे मारपीटकर उपदेश दिया कि ऐसे समय पर 'शीघ्र छूट जाओ।' यह कहना। पश्चात् कुछ मित्रों ने जो कि परस्पर संगठन कर रहे थे वहाँ 'शीघ्र छूट जाओ।' ऐसा कहा। इन शब्दों से अप्रसन्न होकर उन्होंने उसे बहुत मारा। कुछ काल के अनन्तर इस लड़के ने एक सरदार के पुत्र के पास नौकरी कर ली। एक समय बड़ा दुष्काल पड़ा। धान्य के अभाव से उक्त सरदार पुत्र की स्त्री ने राबड़ी तैयार करके इस लड़के को अपने पति को बुलाने के लिए भेजा। उस समय सरदार-पुत्र राजसभा में बैठा हुआ था। इस मूर्ख लड़के ने वहीं जाकर उच्च-स्वर से कहा कि 'राबड़ी तैयार हो गयी है, चलिए।' इन शब्दों से सरदार-पुत्र बहुत लज्जित हुआ व उक्त लड़के को योग्य दंड देने के बाद समझाया कि 'ऐसी बात मौका देखकर कान में कहनी चाहिए।' दैवात् दूसरे दिन सबैरे ही सरदार-पुत्र के घर में आग लग गयी। परन्तु इस मूर्ख लड़के ने बड़ी देर बाद एकान्त पाकर सरदार-पुत्र के कान में यह खबर दी, तब तक मकान जलकर भस्म हो चुका था। सरदार-पुत्र ने फिर समझाया कि 'यदि ऐसा मौका आ जाय तो धूम

देखते ही स्वतः मिट्टी पानी डालना चाहिए' इसी प्रकार एक दिन सरदार-पुत्र स्नान करने के पश्चात् अपने बालों को सुगन्धित धूम दे रहा था, इस लड़के ने ज्यों ही धूआं उठता देखा त्यों ही अपने मालिक के सिर पर गोबर, मिट्टी आदि का टोकना डालकर पानी पटक दिया। अन्त में विवश होकर सरदार-पुत्र ने इसे नौकरी से निकाल दिया। सारांश यह कि ऐसे मूर्ख-पुरुषों को प्रतिबोध होना शक्य नहीं।

(४) पूर्वव्युद्ग्राहित में गोशाले के नियतिवाद में दृढ़ किये हुए नियतिवादी इत्यादि का दृष्टान्त समझना चाहिए।

उपरोक्त चारों पुरुष धर्म के अयोग्य हैं। परन्तु आर्द्रकुमारादिक के जैसे जो पुरुष मध्यस्थ होवे अर्थात् जिसका किसी मत पर राग द्वेष नहीं, वही व्यक्ति धर्म पाने के योग्य है। इसी कारण मूल गाथा में भी 'भद्रप्रकृति' ही धर्म योग्य है यह कहा है।

२ इसी तरह विशेष निपुणमति अर्थात् हेय (त्याग करने योग्य) और उपादेय (आदर करने योग्य) वस्तुओं में क्या तत्त्व है? यह जान लेने में जो निपुण हो वही धर्म के योग्य है।

३ तथा व्यवहार की शुद्धि रखना आदि न्यायमार्ग ऊपर जिसकी पूर्ण अभिरुचि हो और अन्याय मार्ग पर बिलकुल रुचि न हो वह न्यायमार्ग रति।

४ अपने वचनों का पालन करने में जो दृढ़प्रतिज्ञ हो वह दृढ़ निजवचनस्थिति ये दोनों पुरुष भी धर्म के योग्य हैं।

१ भद्रकप्रकृति २ विशेषनिपुणमति ३ न्यायमार्गरति व ४ दृढ़निजवचनस्थित इन ऊपर कहे हुए चार विशेषणों में आगमोक्त श्रावक के इक्कीस गुणों का समावेश हुआ है।

श्रावक के इक्कीस गुण :

धम्मरयणस्स जुगो अक्खुहो रूववं पगइसोमो।

लोगप्पिओ अक्कुरो भीरू असढो सदक्खिण्णो ॥१॥

लज्जालुओ दयालू मज्झत्थो सोमदिडि गुणरागी।

सक्कह सुपक्खजुत्तो सुदीहदंसी विसेसन्नु ॥२॥

बुद्धाणुगो विणीओ कयण्णुओ परहिअत्थकारी आ

तह चेव लद्धलक्खो इगवीसगुणेहिं संजुत्तो ॥३॥

१ अक्षुद्र (उदारचित्त), २ रूपवान् (जिसके अंग प्रत्यंग तथा पांचों इन्द्रियां अच्छे व विकार रहित हो), ३ प्रकृतिसौम्य (जो स्वभाव से ही पापकर्मों से दूर रहता हो तथा जिसके नौकर, चाकर आदि आश्रित लोग प्रसन्नतापूर्वक सेवा कर सकते हो), ४ लोकप्रिय (दान, शील, विनय आदि गुणों से जो लोगों के मन में प्रीति उत्पन्न करनेवाला हो), ५ अक्रूर (जो मन में संक्लेश नहीं रखता हो), ६ भीरु (पाप तथा अपयश से डरनेवाला), ७ अशठ (जो किसी को ठगे नहीं), ८ सदाक्षिण्य (कोई

कुछ मांगे तो 'उसकी इच्छा का भंग न होना चाहिए ऐसा भय रखनेवाला), ९ लज्जालु (मन में शर्म होने से बुरे कामों से दूर रहनेवाला), १० दयालु, ११ मध्यस्थ तथा सौम्यदृष्टि (जो पुरुष धर्मतत्त्व का ज्ञाता होकर दोषों का त्याग करता हो), १२ गुणरागी-गुण पर रागयुक्त और निर्गुण की उपेक्षा करनेवाला, १३ सत्कथ (जिस मनुष्य को केवल धर्मसम्बन्धी बात प्रिय लगती हो), १४ सुपक्षयुक्त (जिसका परिवार शीलवन्त व आज्ञाकारी हो), १५ सुदीर्घदर्शी (दूरदर्शी होने से थोड़े ही परिश्रम से बहुत लाभ हो ऐसे काम करनेवाला), १६ विशेषज्ञ (पक्षपाती न होने से वस्तुओं के भीतरी गुण दोषों को यथार्थ रीति से जाननेवाला), १७ वृद्धानुग (दीक्षापर्यायवृद्ध, ज्ञानवृद्ध तथा वयोवृद्ध इनकी सेवा करनेवाला), १८ विनीत (अपने से विशेष गुणवालों का संमान करनेवाला), १९ कृतज्ञ (अपने ऊपर किये हुए उपकार को न भूलनेवाला), २० परहितार्थकारी (कुछ भी लाभ की आशा न रखकर परोपकार करनेवाला) और २१ लब्धलक्ष (धर्मकृत्य के विषय में जिसको उत्तम शिक्षा मिली हो)। ये ऊपर कहे हुए इक्कीस गुण भद्रकप्रकृति आदि चार विशेषणों में प्रायः इस प्रकार समा जाते हैं।

जो मनुष्य १ भद्रकप्रकृति होते हैं उनमें १ अक्षुद्रता, ३ प्रकृतिसौम्यता, ५ अक्रूरता, ८ सदाक्षिण्यता, १० दयालुता, ११ मध्यस्थ सौम्यदृष्टिता, १७ वृद्धानुगता और १८ विनीतता ये आठ गुण दृष्टिगोचर होते हैं। जो मनुष्य विशेष निपुणमति होते हैं उनमें २ रूपवानता, १५ सुदीर्घदर्शीता, १६ विशेषज्ञता, १९ कृतज्ञता, २० परहितार्थकारीता व २१ लब्धलक्षता ये छः गुण प्रायः पाये जाते हैं। जो मनुष्य ३ न्यायमार्गरिति होते हैं उनमें ६ भीरुता, ७ अशठता, ९ लज्जालुता, १२ गुणरागीता, तथा १३ सत्कथता ये पांच गुण बहुधा पाये जाते हैं। जो मनुष्य ४ दृढ़निजवचनस्थित होते हैं उनमें ४ लोकप्रियता और १४ सुपक्षयुक्तपन ये दो गुण प्रायः देखने में आते हैं। इसी हेतु से मूलगाथा में श्रावकों के इक्कीस गुणों के बदले में चार विशेषणों से चार ही गुण ग्रहण किये हैं।

जिस मनुष्य में १ भद्रकप्रकृतिपन, २ विशेष निपुणमतिपन और ३ न्यायमार्गरितिपन ये तीन गुण नहीं होते हैं वह केवल कदाग्रही (दुष्ट), मूर्ख तथा अन्यायी होने से श्रावक-धर्म पाने के योग्य नहीं। तथा जो ४ दृढ़प्रतिज्ञावान् नहीं होता है वह यदि श्रावकधर्म को अंगीकार कर भी ले तो भी ठग की मित्रता, पागल मनुष्य का श्रृंगार अथवा बन्दर के गले का हार जिस प्रकार अधिक समय तक नहीं रहता उसी प्रकार वह मनुष्य भी जीवनपर्यन्त धर्म का पालन नहीं कर सकता है।

इसलिए जो मूल गाथा में वर्णन किये हुए चार गुणों का धारण करनेवाला मनुष्य होता है वही, जैसे उत्तमता से तैयार की हुई दिवार (भीत) चित्रकारी के लिए मजबूत चुना हुआ पाया (नीव) महल बांधने के और तपाकर शुद्ध किया हुआ सोना माणिक्य रत्न के योग्य है वैसे ही श्रावकधर्म पाने के योग्य है। तथा वही मनुष्य सद्गुरुआदि

सामग्री के योग से चुल्लक आदि दश दृष्टान्त^१ से दुर्लभ ऐसे समकितादिक को पाता है। और उसे इस प्रकार पालता है जैसा कि शुकराज ने पूर्वभव में पाला था।

शुकराज की कथा :

इसी भरतक्षेत्र में असीम धन-धान्य से परिपूर्ण क्षितिप्रतिष्ठित नामक एक प्रसिद्ध नगर था। इस नगर में निखिंशता (क्रूरता) केवल खड्ग में, कुशीलता केवल हल में, जड़ता केवल जल में और बंधन (बीट) केवल पुष्प में ही था, किन्तु नगरवासियों में से कोई भी क्रूर, कुशील, जड़ अथवा बंधन में पड़ा हुआ दृष्टि में नहीं आता था। इसी नगर में कामदेव के सदृश रूपवान् व अग्नि के समान शत्रुओं का संहार करनेवाला ऋतुध्वज राजा का पुत्र मृगध्वज राजा राज्य करता था। राज्यलक्ष्मी, न्यायलक्ष्मी तथा धर्मलक्ष्मी इन तीनों स्त्रियों ने बड़ी प्रसन्नता से स्वयं अपनी इच्छा से उस राजा से पाणीग्रहण किया था।

एक समय वसन्तऋतु में, जिस समय कि प्रायः मनुष्य खेल क्रीड़ा का ही रस आस्वादन करते रहते हैं, उस वक्त मृगध्वज राजा अन्तःपुर परिवार सहित नगर के उद्यान (बगीचे) में क्रीड़ा करने गया और हाथी हथिनियों के समान अपनी रानियों के साथ जलक्रीड़ादिक अनेक प्रकार की क्रीड़ा करने लगा। उद्यान में भूमिरूपी स्त्री के ओढ़ने के छत्र समान एक विशाल सुन्दर आम्रवृक्ष था। उसे देखकर विद्या का संस्कार युक्त होने के कारण राजा कहने लगा कि पृथ्वी के कल्पवृक्ष के समान 'हे आम्रवृक्ष! तेरी छाया जगत् को बहुत प्यारी लगती है, पत्तों का समुदाय बड़ा ही मंगलिक गिना जाता है, यह प्रत्यक्ष देखते हुए तेरे पुष्प (म्होरे) का समुदाय अनुपम फलों की वृद्धि करता है, तेरा सुन्दर आकार देखते ही मनुष्य का चित्त आकर्षित हो जाता है, तथा तू अमृत के समान मधुर रसीले फल देता है, इसलिए बड़े-बड़े वृक्षों में भी तुझे अवश्य श्रेष्ठ मानना चाहिए। हे सुन्दर आम्रवृक्ष! अपने पत्र, फल, फूल, काष्ठ, छाया आदि संपूर्ण अवयवों से सर्व जीवों पर निशदिन परोपकार में रत! क्या तेरे समान अन्य कोई वृक्ष प्रशंसा करने योग्य है? जो बड़े बड़े वृक्ष अपने को आम्रवृक्ष के समान कहलवाते हैं उनको तथा उनकी प्रशंसा करनेवाले पापी, मिथ्यावादी कवियों को धिक्कार हो।'

इस प्रकार आम्रवृक्ष की स्तुति करके राजा संमानपूर्वक, जैसे कि देवतागण कल्पवृक्ष के नीचे बैठते हैं, आम्रवृक्ष की छाया के आश्रय में रानियों समेत बैठ गया। सम्पत्तिवान् तथा मणिरत्नादि वस्तुओं से अलंकृत इस प्रकार शोभायमान, मानों स्वयं मूर्तिमान् श्रृंगाररस हो ऐसी सुशोभित अपनी रानियों को देखकर राजा मृगध्वज आश्चर्य से विचार करने लगा कि 'ये स्त्रियाँ कैसी हैं? मानो संपूर्ण पृथ्वी में से सारभूत निकाली हों। ऐसी स्त्रियाँ मुझे मिली, इसलिए देव की मेरे ऊपर अपूर्व कृपा है। वैसे तो घर-घर

१. १ चोल्लग २ पासग ३ धण्णे ४ जुए ५ रयणेअ ६ सुमिण ७ चक्केअ।

८ चम्म ९ जुगे १० परमाणु, दस दिंडिता मणुअलं भे ॥

स्त्रियाँ हैं परन्तु इनके समान सुन्दर कहीं नहीं। ठीक है तारागण चन्द्रमा के ही साथ शोभा देते हैं अन्य ग्रहों के साथ नहीं।'

इस प्रकार विचार करता हुआ राजा मृगध्वज का मन वर्षाऋतु की नदी के समान अहंकार से उछलने लगा। इतने में ही उस आम्रवृक्ष पर बैठा हुआ एक सुन्दर तोता समयोचित बोलनेवाले पंडित के समान बोला कि 'मनःकल्पित अहंकार किस क्षुद्रप्राणी को नहीं होता? देखो! कहीं आकाश अपने ऊपर न पड़ जाय इस भय से टिटहरी (गिलहरी) भी अपने पैर ऊँचे करके सोती है!'

यह सुनकर राजा ने विचार किया कि 'अहो यह तोता कितना ढीठ है? अहंकार करनेवाले मुझ को यह बिलकुल तुच्छ क्यों बतलाता है। अथवा यह पक्षी जो कुछ बोलता है सो 'अजा-कृपाण, 'काकतालीय, 'घुणाक्षर व 'खलतिबिल्व(खलवाट) न्याय से सत्य सा मालूम होता है। परन्तु यह तोता तो बे मतलब स्वभाव से ही यह वाक्य बोला होगा।

राजा इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि तोता पुनः एक अन्योक्ति बोला-' (इस वाक्य में मेंडक व हंस का परस्पर संवाद है)

मेंडक : हे पक्षी! तू कहां से आया है?

हंस : मैं अपने सरोवर से आया हूँ।

मेंडक : वह सरोवर कितना बड़ा है?

हंस : बहुत ही बड़ा है।

मेंडक : क्या मेरे घर से भी सरोवर बड़ा है?

हंस : हां, बहुत ही।

यह सुनकर मेंडक हंस को गाली देने लगा कि 'हे पापी! तू मेरे सन्मुख क्यों असत्य बोलता है? धिक्कार है तुझे! इस पर हंस को यही समझ लेना उचित है कि 'क्षुद्रबुद्धि मनुष्य जरा सी कोई वस्तु पाता है तो भी वह बहुत अहंकार करता है।

यह अन्योक्ति सुनकर राजा ने विचार किया कि 'इस तोते ने मुझे निश्चय कूप-मंडुक (कुए के अन्दर रहनेवाला मेंडक) बनाया है। आश्चर्य है कि यह उत्तम पक्षी भी मुनिराज की तरह ज्ञानी है।' राजा यह विचार कर ही रहा था कि तोता पुनः बोला। 'मूर्खों के सरदार सदृश गंवार की कैसी मूर्खता है? कि जो अपने गाँव (खेड़ा-देहात) को स्वर्गपुरी के समान समझता है। झोंपड़ी को विमान समझता है। अपने खाने के अन्नादि को अमृत समझता है। पहनने ओढ़ने के कपड़ों को दिव्यवस्त्र समझता है। अपने आपको इन्द्र व अपने सर्व परिवार को देवताओं के समान गिनता है।'

यह सुन राजा विचार करने लगा कि 'इस महापंडित ने मुझे गंवार समझा, इससे

१. अचानक बकरी का आना और तलवार का पडना। २. कौवे का बैठना और ताल वृक्ष का गिरना। ३. लकड़ी में रहनेवाले घुन (कौड़ा) का कतरना और उसमें अक्षर का आकार बन जाना। ४. गंजे मनुष्य का वृक्ष के नीचे बैठना और उसके सिर पर बेल फल (बिल्ला) का गिरना।

मालूम होता है कि मेरी स्त्रियों से भी अधिक सुन्दर कोई दूसरी स्त्री अन्यत्र कहीं है।'

तोता पुनः बोला - 'ठीक ही है, अधूरी बात कहने से मनुष्य को आनन्द नहीं होता। हे राजन्! जब तक तू गांगलि ऋषि की पुत्री को नहीं देखेगा तभी तक तू अपने अन्तःपुर की स्त्रियों को मनोहर समझेगा। वह त्रिलोक में ऐसी सुन्दर व सर्व अवयवों से परिपूर्ण है कि विधाता ने मानो उसे बनाकर सृष्टि रचना का फल प्राप्त कर लिया है। जिसने उस कन्याको नहीं देखा उसका जीवन निष्फल है। और जिसने कभी देखा हो पर आलिंगन न किया उसका भी जीवन निष्फल है। क्या कोई उसे देखकर कभी अन्य स्त्री से प्रीति कर सकता है? भ्रमर मालती के पुष्प को त्यागकर क्या अन्य पुष्प पर आसक्त हो सकता है? नहीं, कदापि नहीं। जो सूर्य की पुत्री कमलमाला (कमल की पंक्ति) के सदृश उस कमलमाला कन्या को देखने की अथवा उससे विवाह करने की इच्छा हो तो शीघ्र मेरे साथ चल!'

यह कहकर तोता तुरंत वृक्ष पर से उड़ा। यह देखकर मन में अत्यंत उत्सुक हुए राजा ने चिल्लाकर सेवकों से कहा कि 'रे खिदमतगारों! मेरा पवन समान वेग से चलनेवाला सत्यान्वय नामक घोड़ा शीघ्र तैयार करके यहां लाओ।'

ज्यों ही उन्होंने घोड़े को लाकर उपस्थित किया त्यों ही करोड़ों राजाओं का राजराजेश्वर चक्रवर्ती मृगध्वज घोड़े पर चढ़कर उस तोते के पीछे चला। जिस तरह दूर के लोगों ने तोते की वाणी नहीं सुनी वैसे ही किसी देवी कारण से पास का भी कोई मनुष्य कुछ सुन समझ न सका। इससे मंत्री आदि राजा की इस एकाएक कृति को देखकर घबरा गये और कुछ दूर तक राजा के पीछे-पीछे गये किंतु अन्त में निराश होकर वापस लौट आये। इधर आगे तोता व पीछे राजा दोनों पवन वेग से चलते हुए ५०० योजन पार कर गये। परंतु कोई दिव्य प्रभाव से इतनी दूर निकल जाने पर भी ये बिल्कुल न थके और जिस तरह कर्म से खिंचा हुआ मनुष्य भवान्तर में घूम है उसी प्रकार विष्णु से बचानेवाले उस तोते से खिंचा हुआ राजा मृगध्वज एक घने जंगल में पहुंचा।

महान पुरुषों में भी पूर्वभव का संस्कार कैसा प्रबल होता है। नाम धाम कुछ भी ज्ञात न होने पर भी देखो राजा उस तोते के साथ हो गया। उस वन में मानों मेरुपर्वत का एक खंड हो, ऐसा कल्याणकारी व दिव्य कान्तिधारी श्री आदिनाथ का एक सुवर्णरत्नमय मंदिर था। उसके कलश पर बैठकर तोता मधुर शब्दों से बोला कि 'राजन्! जन्म से अभी तक किये हुए संपूर्ण पापों की शुद्धि के निमित्त श्री आदिनाथ भगवान् को वन्दना कर' राजा ने यह समझकर कि तोते को जाने की बहुत जल्दी है, शीघ्र घोड़े पर से ही भगवान् को वन्दना की। चतुर तोते ने राजा का अभिप्राय समझकर उसके हित के लिए स्वयं मंदिर में जाकर प्रभु को प्रणाम किया। जिस तरह श्रेष्ठपुरुषों के चित्त में ज्ञान के पीछे-पीछे विवेक प्रवेश करता है उसी प्रकार राजा भी घोड़े पर से उतरकर तोते के पीछे-पीछे मंदिर में गया। वहां श्री ऋषभदेव भगवान् की रत्न-जड़ित और अनुपम

प्रतिमा देखकर वन्दनाकर इस प्रकार स्तुति करने लगा—

'एक तरफ तो स्तुति करने के लिए बहुत उत्सुकता और दूसरी तरफ निपुणता का अभाव, ऐसा होने से मेरा चित्त भक्ति से स्तुति करने की ओर तथा शक्ति न होने से न करने की ओर खिंचने से डोलायमान होता है। तथापि हे नाथ! मैं यथाशक्ति आपकी स्तुति करता हूँ, क्या मच्छर भी अपनी शक्ति के अनुसार वेग से आकाश में नहीं उड़ता? अपरिमित (प्रमाण रहित) दाता ऐसे आपको मित (प्रमाण सहित) देनेवाले कल्पवृक्ष आदि की उपमा किस प्रकार दी जा सकती है? इसलिए आप अनुपम हो। आप किसी पर प्रसन्न नहीं होते और न किसी को कुछ देते हैं तथापि सर्व मनुष्य आपकी आराधना करते हैं इसलिए आपकी गति अद्भूत है। आप में ममता न होते हुए भी जगत् रक्षक और कोई जगह साथ न होते हुए भी जगत् प्रभु कहलाते हो। ऐसे लोकोत्तर स्वरूप के धारक अरूपी परमात्मा आपको मेरा नमस्कार हो।'

पास ही आश्रम में बैठे हुए गांगलि ऋषि ने राजा की मधुरशब्द से की हुई इस स्तुति को आनन्दपूर्वक श्रवण की। और साक्षात् शंकर के समान जटाधारी तथा वल्कल (वृक्षों की छाल) वस्त्रधारी, निर्मल विद्या के ज्ञाता ऐसे वे कारणवश मंदिर में आये और भक्तिपूर्वक श्री ऋषभदेव भगवान् को वन्दनाकर मनोहर, निर्दोष तथा तुरन्त बनाये हुए नवीन गद्यात्मक वचनों से इस तरह स्तुति करने लगे—

'तीनों लोक के नाथ, त्रिलोकोपकारी यशकीर्ति देने में समर्थ, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन आदि अतिशयोक्ति से सुशोभित हे आदिनाथ भगवन्! आपकी जय हो। नाभिराजा के कुलरूपी कमल को विकसित करने के लिए सूर्य के समान, तीनों लोकों के जीवों को स्तुति करने योग्य, श्री मरुदेवी माता की कुक्षिरूपी सुन्दर सरोवर में राजहंस के समान हे भगवन्! आपकी जय हो। त्रिलोकवासी भव्य-प्राणियों के चित्तरूपी चकोर पक्षी का शोक दूर करने के लिए सूर्य के समान, अन्य सम्पूर्ण देवताओं के गर्व को समूल नष्ट करनेवाले निस्सीम, निर्दोष व अद्वितीय ऐसी महिमा और तेज रूपी लक्ष्मी के विलास के लिए कमलाकर (कमल सरोवर) ऐसे हे भगवन्! आपकी जय हो। सरस भक्तिरस से सुशोभित तथा स्पर्धा से वन्दना करते हुए देवताओं तथा मनुष्यों के मुकुटों में जड़े हुए रत्नों की कान्तिरूपी निर्मल जल से धुल गये हैं चरणजिनके, तथा समूल नाश कर दिये हैं मन के अन्दर रहे हुए राग द्वेषादिक मल जिन ने ऐसे हे भगवन्! आपकी जय हो। अपार भवसागर में डूबते हुए जीवों को किनारे लगाने के लिए जहाज समान, सर्व स्त्रियों में श्रेष्ठ सिद्धिरूपी स्त्री के प्रियपति, जरा-मरण-भय से रहित, सर्व देवों में उत्तम ऐसे हे परमेश्वर, युगादि तीर्थकर, श्री आदिनाथ भगवन् आपको नमस्कार हो।'

इस प्रकार स्तुति करके गांगलि ऋषि ने सरल स्वभाव से मृगध्वज राजा को कहा कि 'ऋतुध्वज राजा के कुल में ध्वजा के समान हे मृगध्वज राजन्! हे वत्स! तू मेरे आश्रम में चल, तू मेरा अतिथि है। मैं आनन्द पूर्वक तेरा अतिथिसत्कार करूंगा। तेरे

समान अतिथि तो भाग्य से ही मिलते हैं।'

गांगलि ऋषि के ये वचन सुनकर राजा मृगध्वज मन में विचार करने लगा कि 'ये ऋषि कौन है? मुझे आग्रह पूर्वक किस कारण बुलाते हैं? और परिचय न होते हुए भी यह मेरा नाम ठाम कैसे जानते हैं? इत्यादि विचारों से आश्चर्ययुक्त होकर वह ऋषि के साथ उनके आश्रम पर गया। ठीक है सत्पुरुष किसीकी प्रार्थना का अनादर नहीं करते।

ऋषि ने महाप्रतापी मृगध्वज राजा का अच्छी तरह अतिथि सत्कार किया। वास्तव में ऐसे तपस्वी तो जो काम हाथ में ले लेते हैं उसमें यशस्वी ही होते हैं। तत्पश्चात् बुद्धिशाली गांगलि ऋषि ने राजा से कहा कि—'हे राजन्! आपके आगमन से हम कृतार्थ हुए, इसलिए हमारे कुल में अलंकार के समान, जगत् के नेत्रों को वश करने के लिए साक्षात् कामणरूप, हमारे जीवन के प्रत्यक्ष प्राणरूप, कल्पवृक्ष के फूलों की माला के समान कमल-माला नामक मेरी कन्या आप के ही योग्य है, आप उसका पाणिग्रहणकर हमको उपकृत करो।'

'मन भाती बात ही वैद्य ने बतायी' ऐसा ही अवसर हुआ। मन में तो राजा को स्वीकार ही थी, तो भी ऋषि ने जब बहुत ही आग्रह किया तब राजा ने यह बात स्वीकार की, सत्पुरुषों की यही रीति है।

पश्चात् ऋषि ने अपनी नवयौवन-सम्पन्न कन्या का राजा के साथ विवाह किया। शुभ कार्य में विलम्ब कैसा? जिसके शरीर पर वल्कल वस्त्र के सिवाय कोई अलंकार नहीं था तो भी राजा मृगध्वज ऋषिकन्या कमलमाला को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। क्यों न हो? राजहंस की प्रीति कमलमाला (कमलों की पंक्ति) पर होनी ही चाहिए।

अंत में ऋषि ने कर मोचन के समय जमाई (राजा) को पुत्र संतति-दायक एक मंत्र दिया। ऋषियों के पास और कौनसी वस्तु देने लायक है? उस समय आनन्द पायी हुई तापसिनियों के धवल-गीतों से वन गूँज उठा। गांगलि ऋषि ने अपनी तथा वर की योग्यातानुसार सर्व विधि स्वयं करायी, इससे भी बहुत शोभा हुई।

विवाह के पश्चात् राजा ने ऋषि से कहा कि 'मैं राज्यव्यवस्था किये बिना अचानक इधर आ गया हूँ ऋषि ने कहा 'तो शीघ्र जाने की तैयारी करो'। हमारे समान दिग्म्बर की तैयारी में क्या विलम्ब? परन्तु हे राजन्! तेरा दिव्य वेष और अपना वल्कल-वेष देख-देखकर यह कमलमाला महान् पुरुषों को भी दुःख पैदा कर देती है; साथ ही इसने आजतक आश्रम में सदा वृक्षों को जल पिलाया है व जन्म से अभी तक केवल तापसी-स्त्रियों के रीति-रिवाज देखती आयी है। इसलिए जन्म से भोली है, परन्तु तुझमें पूर्ण अनुरागिणी है। राजन्! इस मेरी कन्या का सोतों से (अन्य रानियों से) किसी प्रकार का अपमान न होना चाहिए।'

राजा ने कहा 'अन्य रानियों से इसकी पराभूति (विशेषऋद्धि) होगी, पराभूति (तिरस्कार) कदापि न होगा। इससे आपके वचनों में लेशमात्र भी कमी न होगी।'

इतना कहकर चतुर राजा ने तापसीजनों को प्रसन्न करके तापसी-स्त्रियों आदि

को संतोष देने के उद्देश से पुनः कहा कि 'अपने स्थान पर पहुंचने पर इसके संपूर्ण मनोरथ पूर्ण करूंगा, अभी यहां तो वस्त्रादिक भी कहां से मिल सकते हैं?'

खेदपूर्वक गांगलि ऋषि ने कहा कि 'जन्म दरिद्री की तरह मुझ से पुत्री को कन्यादान भी नहीं दिया जा सकता, मुझे धिक्कार है' यह कहते हुए ऋषि की आंखों से दुःख के आंसू गिरने लगे। इतने में ही जलवृष्टि की तरह एक पास के आम्रवृक्ष पर से दिव्यवस्त्र, अलंकार आदि गिरकर ढेर लग गया। यह देख सबने आश्चर्य चकित हो मन में निश्चय किया कि 'इस कन्या का भाग्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। मेघ वृष्टि के समान वृक्ष पर से फल तो गिरते हैं पर वस्त्रालंकार गिरते कभी नहीं देखा। वास्तव में पुण्य का प्रभाव अद्भुत है।

पुण्यैः सम्भाव्यते पुंसामसम्भाव्यमपि क्षितौ।

तेरुर्मरुसमाः शैलाः किं न रामस्य वारिधौ! ॥१॥

इस लोक में पुण्य से क्या संभव नहीं? अर्थात् सब कुछ संभव है। देखो, रामचन्द्र के पुण्य से मेरुपर्वत के समान शिलाएं भी सागर पर तैरती रही थीं।

तदनन्तर राजा मृगध्वज गांगलि ऋषि तथा नववधू कमलमाला के साथ आनन्ददायक श्री आदिनाथ भगवान के मंदिर में गया और 'हे प्रभो! आपके पवित्र दर्शन पुनः शीघ्र मिले व शिला पर खुदी हुई मूर्ति के सदृश आपकी मूर्ति मेरे चकित चित्त में सर्वदा स्थित रहे।' यह कह अपनी स्त्री कमलमाला सहित भगवन् को वन्दनाकर मंदिर के बाहर आया तथा ऋषि से मार्ग पूछा।

ऋषि ने उत्तर दिया कि 'मैं मार्ग आदि नहीं जानता हूँ। तब राजा बोला कि 'तो आपको मेरे नाम इत्यादि कैसे ज्ञात हुए?'

ऋषि बोले-'हे राजन्! सुन। एक वक्त मैंने मेरी इस नवयौवना कन्या को आनन्द से देखकर विचार किया कि इसके योग्य वर कौन मिलेगा? इतने में आम्रवृक्ष पर बैठे हुए एक तोते ने मुझसे कहा-'हे गांगलि ऋषि! वृथा चिन्ता न कर। ऋतुध्वज राजा के पुत्र मृगध्वज राजा को मैं आज ही इस जिन-मंदिर में बुला लाता हूँ। जिस प्रकार कल्पवल्ली, कल्पवृक्ष को वरने योग्य है उसी प्रकार तेरी यह कन्या जगत् में श्रेष्ठ राजा मृगध्वज को वरने के योग्य है, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं।' यह कहकर तोता उड़ गया और कुछ देर के बाद ही हे राजन्! आप आये और पश्चात् धरोहर वस्तु जिस तरह वापस देते हैं वैसे मैंने आनन्द से यह कन्या आपको दी। इससे अधिक मैं कुछ नहीं जानता। यह कहकर ऋषि चुप हो गये। राजा ने विचार किया कि 'अब क्या करना चाहिए?'

इतने में ही अवसरज्ञाता पुरुष की तरह तोते ने शीघ्र आकर कहा कि, 'हे राजन्! आ, आ! मैं तुझे मार्ग दिखाता हूँ। यद्यपि मैं जाति का एक क्षुद्र पक्षी हूँ तथापि मैं आश्रित (मेरे विश्वास पर रहे हुए) जन की उपेक्षा नहीं करता। अपने ऊपर विश्वास रखकर बैठा हुआ कोई साधारण जीव हो उसकी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। तो फिर बड़े पुरुष

की उपेक्षा न करना इसमें तो कहना ही क्या है? क्या चंद्रमा अपने आश्रित खरगोश के बालक को क्षुद्र होने से उसे गोद में से अलग पटक देता है? नहीं, हे राजन्! तू जगत् में श्रेष्ठ व आर्य होते हुए भी अनार्य की तरह क्षणभर में मुझे भूल गया, परन्तु मैं क्षुद्र प्राणी तेरे समान मनुष्य को कैसे भूल सकता हूँ?

तोते के ये वचन सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और गांगलि ऋषि को प्रणामकर शीघ्र स्त्री समेत घोड़े पर बैठकर तोते के पीछे चला। अपने नगर को पहुंचने की बड़ी उत्सुकता से राजा तोते के पीछे-पीछे जा रहा था। ज्यों ही उसका क्षितिप्रतिष्ठित नगर कुछ-कुछ नजर आने लगा तब वह तोता सुस्त होकर एक वृक्ष पर बैठ गया। यह देख चकित होकर राजा ने आग्रहपूर्वक तोते से पूछा, 'हे तोते! यद्यपि नगर के महल कोट आदि दिखायी देते हैं तथापि अभी नगर दूर है, तू इस तरह अप्रसन्न होकर क्यों बैठ गया?'

तोते ने हुंकार (हां) देकर कहा कि, 'ऐसा करने का एक भारी कारण है। पंडित-जन बिना कारण कोई भी कार्य नहीं करते हैं।' राजा ने घबराकर पूछा, 'वह क्या?'

तोता बोला -हे राजन्! सुन। चन्द्रपुरी के राजा चन्द्रशेखर की चन्द्रवती नामक बहन जो कि तेरी प्यारी स्त्री है वह अन्दर से कपटी व ऊपर से मधुर भाषण करनेवाली होने से गाय के समान मुंहवाले सिंह के समान है। जल के समान स्त्री की भी प्रायः टेढ़ी गति होती है। 'तू वैरागि की तरह राज्य छोड़कर कहीं दूर चला गया है' यह सोचकर इच्छित अवसर मिलने से प्रबल हुई शाकिनी समान तेरी स्त्री ने तुरत अपने भाई को खबर दी कि 'राज्य छीनने का यह मौका है' अपना स्वार्थ साधने के लिए कपट ही एक मात्र अबलाओं का भारी बल है।

बहन का संदेश पाकर चन्द्रशेखर ने चतुरंगिणी सेना के साथ आकर तेरे राज्य को लेने के लिए चढ़ायी की है। भला सामने आया राज्य कौन छोड़े?

शत्रु को देखकर तेरे वीर सरदारों ने भीतर से नगर के द्वार बंध कर दिये। इधर जिस तरह सर्प अपने शरीर से धन को घेरता है उसी तरह चन्द्रशेखर ने अपनी सेना से चारों तरफ से नगर को घेर लिया है। तेरे पराक्रमी सरदार नगर के अन्दर चारों तरफ खड़े रहकर शत्रु से लड़ रहे हैं; परन्तु 'नायक बिना सेना दुर्बल है' इस कहावत के अनुसार अपने आपको बिना नायक समझनेवाली तेरी सेना किस प्रकार जीत सकती है? इस समय हम नगर में किस प्रकार जा सकेंगे? इससे राजन्! मैं मन में बहुत चिंतित होकर इस वृक्ष पर बैठा हूँ।

तोते के मुंह से यह हृदय-विदारक बात सुनते ही राजा के मन में संताप को जाने का मार्ग मिल गया अर्थात् संताप उत्पन्न हुआ पश्चात् मन में विचार किया, 'दुष्ट आचरणवाली स्त्री के मन के अन्दर रहनेवाले कपट को धिक्कार है! चन्द्रशेखर राजा का भी यह कैसा साहस! उसके मनमें जरा भी डर नहीं! उसे अपने स्वामी के राज्य हरण की अभिलाषा हुई! यह उसका कितना भारी अन्याय! अथवा चन्द्रशेखर का क्या

दोष? नायक रहित राज्य को लेने की बुद्धि किसे नहीं होती? कोई रखवाला नहीं हो तो खेत को सूअर के समान क्षुद्र प्राणी भी क्या नहीं खा जाते? अथवा विवश होकर राज्य की ऐसी अवस्था करनेवाले मुझे ही धिक्कार है। कोई भी कार्य में विवेक न करना यह सर्व आपदाओं की वृद्धि करनेवाला है। विवेक बिना कुछ भी करना, धरोहर रखना, किसी पर विश्वास करना, देना, लेना, बोलना, छोड़ना, खाना आदि सब मनुष्य को प्रायः पश्चात्ताप पैदा करते हैं। कहा है कि—

सगुणमपगुणं वा कुर्वता कार्यजातं, परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन

अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः॥

गुणयुक्त अथवा गुणरहित कोई भी कार्य करना हो तो बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि कार्य आरंभ करने के पूर्व उसका परिणाम सोचना चाहिए। जिस तरह हृदयादि भ्रमस्थल में घुसा हुआ शस्त्र हृदय में मरण तक की पीड़ा करता है उसी प्रकार विवेक बिना एकाएक कोई कार्य करने से भी मरण पर्यंत क्लेश होता है।

इस तरह राज्य की आशा छोड़ मन में नाना प्रकार के पश्चात्ताप करते मृगध्वज राजा को तोते ने कहा कि, 'हे राजन्! व्यर्थ पश्चात्ताप न कर। मेरे वचनों के अनुसार कार्य करने से कभी अशुभ नहीं होता। योग्य वैद्य की योजनानुसार उपचार करने पर व्याधि कभी भी बाधा नहीं कर सकती। हे राजन्! तू यह न समझ कि, मेरा राज्य मुफ्त में चला गया। अभी तू बहुत समय तक सुखपूर्वक राज्य भोगेगा।'

ज्योतिषी की तरह तोते के ऐसे वचन सुनकर मृगध्वज राजा अपना राज्य पुनः पाने की आशा करने लगा। इतने में ही वन में लगी हुई अग्नि के समान चारों तरफ फैलती हुई चतुरंगिणी सेना तितर-बितर आती देख भय से मन में विचार करने लगा कि—'जिसने मुझे इतनी देर तक दीनता उत्पन्न करवायी वही यह शत्रु की सेना मुझे यहां आया जानकर निश्चय ही मेरा वध करने के लिए दौड़ती आ रही है। अब मैं अकेला इस स्त्री की रक्षा कैसे करूं? व इनसे किस तरह लड़ूं? इस तरह विचार करते राजा 'किंकर्तव्यविमूढ़' हो गया। इतने में 'हे स्वामिन्! जीते रहो, विजयी हो, आपके सेवकों को आज्ञा दो। महाराज! जिस प्रकार गया हुआ धन वापस मिलता है वैसे ही पुनः आज आपके दर्शन हुए। बालक के समान इन सेवकों की ओर प्रेम-दृष्टि से देखो।' इत्यादि वचन बोलनेवाली अपनी सेना को देखकर मृगध्वज राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। पश्चात् हर्षित होकर राजा ने सैनिकों से पूछा कि, 'तुम यहां किस प्रकार आये?' सैनिकों ने उत्तर दिया कि, 'हे प्रभो! यहां पधारे हुए आपके चरणों का दर्शन करना हमको उचित है। परंतु ज्ञात नहीं कि हमको जल्दी से कौन व किस प्रकार यहां ले आया। महाराज! आपके अहोभाग्य से यह कोई देवताओं का प्रभाव हुआ मालूम होता है।'

यह आश्चर्यकारक घटना देखकर राजा बहुत चकित हुआ और मन में तर्क करने लगा कि 'कदाचित् यह इस तोते के ही वचन का प्रभाव है। मुझे इसका बहुत मान सत्कार करना चाहिए' क्योंकि, इसने मुझपर अनेक उपकार किये हैं। कहा है कि—

प्रत्युपकुर्वन् बहवपि न भवति पूर्वोपकारिणस्तुल्यः।

एकोऽनुकरोति कृतं निष्कारणमेव कुरुतेऽन्यः ॥१॥

'कोई पुरुष अपने ऊपर उपकार करनेवाले का इष्ट कार्य करके कितना ही बदला दे, किंतु वह अपने ऊपर प्रथम उपकार करनेवाले की कदापि समानता नहीं कर सकता। कारण कि, वह मनुष्य प्रथम उपकार करनेवाली व्यक्ति का उपकार ध्यान में रखकर उसका अनुकरण करता है। तथा प्रथम उपकार करनेवाला पुरुष तो किसी भी प्रकार के बदले की आशा न रखते हुए उपकार करता है।'

इस प्रकार विचारकर राजा प्रीतिपूर्वक तोते की तरफ देखने लगा, इतने में प्रातःकाल के समय सूर्य के प्रकाश से अदृश्य हुआ बुध का तारा जैसे कहीं नहीं दीखता वैसे ही वह तोता भी देखने में नहीं आया। राजा विचार करने लगा कि 'मैं कुछ तो भी उपकार का बदला दूंगा, इस भय से उत्तम प्राणी (तोता) उपकार करके कहीं दूर चला गया, इसमें कोई संशय नहीं। कहा है कि—

इयमुच्चधियामलौकिकी महती काऽपि कठोरचित्ता।

उपकृत्य भवन्ति दूरतः परतः प्रत्युपकारभीरवः ॥१॥

बुद्धिशाली सत्पुरुषों के मन की कोई अलौकिक तथा बहुत ही कठोरता है कि, वे उपकार करके प्रत्युपकार के भय से शीघ्र इधर-उधर हो जाते हैं। ऐसा ज्ञानी जीव निरंतर पास रहे तो कठिन प्रसंग आदि सब कुछ ज्ञात हो सकता है। कोई भी आपत्ति हो वह सहज में दूर की जा सकती है। अथवा ऐसा सहायक जीव प्रायः मिलना ही दुर्लभ है। कदाचित् मिल भी जावे तो दरीद्री के हाथ में आये हुए धन की तरह अधिक समय तक पास नहीं रह सकता। यह तोता कौन है? यह इतना जानकार कैसे हुआ? मुझ पर यह इतना दयालु क्यों? कहां से आया? और इस वृक्ष पर से कहां गया? यह सब घटना कैसे हुई? मेरी सेना यहां किस प्रकार आयी? इत्यादिक मुझे संशय है। परंतु जैसे गुफा के अंदर के अंधकार को बिना दीपक कोई दूर नहीं कर सकता, वैसे ही उस तोते के बिना इस संशय को कौन दूर कर सकता है?'

इस प्रकार के नाना विचारों से राजा व्यग्र हो गया। इतने में उसके मुख्य सेवकों ने इस घटना का वर्णन पूछा। राजा ने आरंभ से ही संपूर्ण वृत्तांत तोते का कह सुनाया। उसे सुनकर सर्व सेवकगण चकित व हर्षित हुए और बोले कि, 'हे महाराज! थोड़े ही समय में आपका व तोते का कहीं भी पुनः समागम होगा'। क्योंकि जो पुरुष किसी का हित करने की इच्छा करता है वह उसकी अपेक्षा रखे बिना भी नहीं रहता। जिस तरह सूखा हुआ पत्ता शीघ्र टूट जाता है, वैसे ही आपके मन का संशय भी ज्ञानी मुनिराज को पूछने से शीघ्र नष्ट हो जायगा। कारण कि ऐसी कौनसी बात है जो ज्ञानीपुरुष नहीं जान सकते? इसलिए हे महाराज! आप सब चिंता छोड़कर नगर में पधारिये, ताकि मेघ के दर्शन से जैसे मोर को हर्ष होता है वैसे आपके दर्शन से नगरवासी लोगों को आनंद हो।'

सेवकों की यह बात राजा को पसंद आयी। ठीक है, अवसर के अनुसार किया हुआ कार्य और कहा हुआ वचन किसको सम्मत नहीं होता?

तत्पश्चात् मृगध्वज राजा परिवार सहित मंगल बाजों की मधुरध्वनि से दिशाओं को गुंजाता हुआ अपने नगर की ओर चला। अपने बिल से दूर खड़ा हुआ चूहा तक्षक सर्प को सामने आता देखकर जिस प्रकार भाग जाता है, उसी प्रकार परिवार सहित धूम धड़ाके से आते हुए राजा मृगध्वज को देखकर चंद्रशेखर राजा भाग गया। और चालाक बुद्धि होने के कारण उसने उसी समय अपने एक चतुर दूत के साथ मृगध्वज राजा को भेंट भेजी, उस दूत ने मृगध्वज राजा के पास आ विनयपूर्वक कहा कि, 'हे महाराज! हमारे स्वामी आपको प्रसन्न करने के हेतु आपके चरणकमलों में विनती करते हैं कि, 'किसी धूर्त के छल से, आप राज्य छोड़कर कहीं चले गये ऐसा समाचार पाकर मैं आपके नगर में अमन चैन रखकर उसकी रक्षा के हेतु आया था, परंतु आपके सरदारों को इस बात का ज्ञान न होने से वे सज धजकर शत्रु की तरह मेरे साथ लड़ने लगे। परंतु मैंने सब तरह से शस्त्र प्रहार सहन करके आपके नगर की रक्षा की। समय पड़ने पर जो स्वामी का कार्य चित्त से नहीं करता वह क्या सेवक हो सकता है? नहीं। प्रसंग पड़ने पर पुत्र पिता के लिए, शिष्य गुरु के लिए, सेवक स्वामी के लिए और स्त्री पति के लिए अपने प्राण को तृण समान समझते हैं, यह लोकोक्ति ठीक है।'

चन्द्रशेखर के दूत के यह वचन सुनकर मृगध्वज राजा को वचनों की सत्यता के विषय में कुछ संशय तो हुआ, परन्तु 'कुछ अंश में सत्य होंगे' ऐसा सरल स्वभाव से मान लिया। और मिलने के लिए सन्मुख आये हुए चन्द्रशेखर राजा का उचित सत्कार किया। यह मृगध्वज राजा की कितनी दक्षता, सरलता तथा गंभीरता है?

तत्पश्चात् लक्ष्मी के समान कमलमाला के साथ विष्णु के समान सुशोभित मृगध्वज राजा ने अपूर्व आनन्दोत्सव सहित नगर प्रवेश किया और जिस तरह शंकर ने चन्द्रकला को मस्तक पर धारण की हुई है उसी तरह अपनी सुन्दर प्रिय पत्नी कमलमाला को पट्टरानी पद पर स्थापित कर दी; यह योग्य भी था। 'जिस प्रकार युद्ध में जय प्राप्ति करनेवाला केवल राजा ही होता है परन्तु पैदल आदि सेना ही उसको सहायता करती है, उसी प्रकार पुत्र आदि इष्ट वस्तुओं को देनेवाला केवल धर्म है, परन्तु मंत्र आदि ही उसके सहायक हैं।' यह विचारकर राजा ने पुत्र प्राप्ति के निमित्त एक दिन स्थिर चित्त होकर गांगलि ऋषि के दिये हुए मंत्र का जाप किया, जिससे सब रानियों के एक-एक पुत्र उत्पन्न हुआ। सत्य है, योग्य कारणों के मिल जाने से अवश्य ही कार्य की उत्पत्ति होती है। यद्यपि राजा मृगध्वज सरल स्वभाव से चन्द्रवती रानी को बहुत मानता था, तथापि उसने पति के साथ जो वैर किया था उस पाप के कारण उसे सन्तान न हुई।

एक दिन रात्रि के समय रानी कमलमाला सुखपूर्वक सो रही थी, उस समय उसने एक दिव्य स्वप्न देखा और राजा से इस प्रकार कहने लगी कि, 'हे प्राणनाथ!

आज कुछ रात्रि रहते स्वप्नावस्था में मैंने उस आश्रम के चैत्य में बिराजमान श्री ऋषभदेव भगवान् को वन्दना की, उसी समय भगवान् ने प्रसन्न होकर मुझसे कहा कि, 'हे भद्र! तू यह तोता ले तथा अन्य किसी समय मैं तुझे एक हंस दूंगा। यह कहकर भगवान् ने एक दिव्य वस्तु के समान अत्यन्त सुन्दर तोता मुझे दिया। प्रभु के उक्त प्रसाद से मुझे इतना आनन्द हुआ कि मानो चारों ओर से ऐश्वर्य की प्राप्ति हुई हो, उसी समय मेरी निद्रा खुल गयी। हे स्वामी! एकाएक प्राप्त हुए इस स्वप्नवृक्ष से हमको कैसे फल मिलेंगे, सो कहिए?'

परमानन्द रूपी कंद को नव पल्लव (हराभरा) करने के लिए मेघवृष्टि के सदृश कमलमाला के वचन सुनकर स्वप्नफल का ज्ञाता राजा मृगध्वज बोला कि, 'हे प्रिये! देवताओं के दर्शन के समान ऐसे दिव्य स्वप्न के दर्शन भी बड़े दुर्लभ हैं। विरला ही भाग्यशाली जीव ऐसे स्वप्न का दर्शन करता है तथा तदनुसार फल पाता है। सुन्दरी! जिस तरह पूर्व दिशा को सूर्य चन्द्र के समान दो प्रतापी पुत्र होते हैं उसी तरह तेरे भी अनुक्रम से दो तेजस्वी पुत्र हों। पक्षी कुल में श्रेष्ठ तोते और हंस की तरह वे दोनों ही अपने राज्य में प्रतिष्ठित होंगे। हे प्रिये! इसमें जरा भी संशय नहीं कि भगवान् ने प्रसादरूप जो तुझे दो पुत्र दिये हैं वे दोनों अन्त में मुक्त होकर भगवान् के ही सदृश पूजनीय होंगे।'

यह वचन सुनकर रानी पुलकित हो गयी और रानी कमलमाला ने, पृथ्वी अमूल्य रत्न को अथवा आकाश सूर्य को धारण करता है उसी तरह गर्भ धारण किया। मेरुपर्वत की भूमि में दिव्य-रसों से जिस प्रकार से कल्पवृक्ष का कंद पुष्ट होता है उसी प्रकार राजा के धर्मानुसार समय व्यतीत करने से गर्भ वृद्धि को प्राप्त हुआ तथा यथोचित समय पर शुभ दिवस, शुभ लग्न में पूर्व दिशा में पूर्ण चन्द्रमा के समान रानी कमलमाला के गर्भ से सुपुत्र का प्रसव हुआ। पट्टरानी का पुत्र होने से अन्य पुत्र की अपेक्षा इसका जन्मोत्सव विशेषता से मनाया गया। तीसरे दिन राजा ने आनन्दोत्सव सहित उस पुत्र को सूर्य चन्द्र का दर्शन करवाया। छठे दिन राज्योचित धूमधाम से रात्रिजागरण किया। तत्पश्चात् शुभ मुहूर्त देखकर स्वप्न के अनुसार उसका 'शुकराज' नाम रखा। पंच समिति से रक्षित धर्म की तरह पांच धायमाताओं से पलता हुआ शुकराज नवचन्द्र की तरह बढ़ने लगा। राज्य कुल की रीति के अनुसार राजा ने अन्नप्राशन, रिखण (घुटने चलना), चालण (चलना) वचन (बोलना), वस्त्राच्छादन (कपड़े पहराना), वर्षगांठ इत्यादिक सर्व कार्य बड़े आनन्दोत्सव से किये। क्रमशः शुकराज पांच वर्ष का हुआ। इतने अल्पायु में भी जिस प्रकार पांच वर्ष का आम्रवृक्ष सुमधुर फल देता है उसी तरह वह जो कुछ भी कार्य करता था उसका फल भी सर्वदा उत्तम ही होता था। परिपूर्ण सर्व सदगुणों ने मन ही मन स्पर्धा रखकर इन्द्रपुत्र जयन्त की रूपसंपदा को जीतने वाले शुकराज का आश्रय लिया। यह बालक बोलने की चतुरता, मधुरता, पटुता तथा भावपूर्णता आदि गुणों से विद्वानों की तरह सज्जनों के

मन को आनन्दित करने लगा।

एक समय वसन्तऋतु में जब कि सारा उद्यान सुन्दर, सुगन्धित पुष्पों से सुगन्धमय होकर लहरा रहा था, मृगध्वज राजा अपने सभी स्त्री पुत्रादिक परिवार सहित वहां गया और पूर्व परिचित आम्रवृक्ष के नीचे बैठा तथा पिछली बातों का स्मरण करके कमलमाला से कहने लगा कि, 'जिस वृक्ष पर बैठे हुए तोते द्वारा तेरा नाम सुनकर मैं वेग से आश्रम तरफ दौड़ा और वहां तेरा पाणिग्रहण करके कृतार्थ हुआ, वह यही सुन्दर आम्रवृक्ष है।'

पिता की गोद में बैठा हुआ शुकराज यह बात सुनकर शस्त्र से काटी हुई कल्पवृक्ष की डाली के समान मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। माता-पिता का बड़ा हुआ हर्ष एकदम नष्ट हो गया। आतुर होकर उन्होंने इस प्रकार कोलाहल किया कि सब लोग वहां एकत्रित हो गये। सब लोग बहुत ही आकुल व्याकुल हो गये, भारी हाहाकार मच गया। सत्य है बड़ा पुरुष सुखी तो सब सुखी और वह दुःखी तो सब दुःखी।

चन्दन का शीतल जल छिड़कना, केलपत्र से हवा करना आदि अनेक शीतल उपचार करने से बहुत समय के बाद शुकराज को चैतन्य हुआ। यद्यपि उसकी आंखे कमलपुष्प की तरह खुल गयी, चैतन्यतारूपी सूर्य का उदय हो गया तथापि मुखकमल प्रफुल्लित नहीं हुआ। विचारपूर्वक वह चारों ओर देखने लगा, किन्तु छद्मस्थ तीर्थकर की तरह मौन धारण करके बैठा रहा।

मातापिता ने विचार किया कि- 'दैवयोग से यह इधर-उधर देखता है इसमें कुछ तो भी छलकपट होना चाहिए, परंतु विशेष दुःख की बात तो यह है कि इसकी वाचा ही बंध हो गयी।'

इस प्रकार संकल्प विकल्प करते चिन्तातुर होकर वे उसे घर ले गये। राजा ने कुमार की वाणी प्रकट करने के लिए नाना प्रकार के उपाय किये, परंतु वे सर्व दुर्जन पर किये हुए उपकारों की तरह निष्फल हो गये। छः मास इसी तरह व्यतित हो गये। परंतु कुमार की मौनावस्था का कोई भी योग्य निदान न कर सका।

'बड़े खेद की बात है कि विधाता अपने रचे हुए प्रत्येक रत्न में कुछ भी दोष रख देता है, जैसे कि-चंद्रमा में कलंक, सूर्य में तीक्ष्णता, आकाश में शून्यता, कौस्तुभमणि में कठोरता, कल्पवृक्ष में काष्ठपन, पृथ्वी में रजःकण, समुद्र में खारापन, सर्वजगत् को ठंडक देनेवाले मेघ में कृष्णता, जल में नीचगति, स्वर्णमय मेरुपर्वत में कठिनता, कपूर में अस्थिरता, कस्तूरी में कालापन, सज्जनों में निर्धनता, श्रीमंतों में मूर्खता तथा राजाओं में लोभ रख दिया है, वैसे ही सर्वथा निर्दोष इस कुमार को मूक (गूंगा) कर दिया है।' इस प्रकार समस्त नगरवासी जन उच्चस्वर से शोक करने लगे। भला, बड़े लोगों का कुछ अनिष्ट हो जाय तो किसको खेद नहीं होता?

कुछ काल के अनन्तर कौमुदी महोत्सव का समय आया (इस उत्सव में प्रायः लोग प्रकटरूप से क्रीड़ा करते हैं और बहुत ही आनंद मनाते हैं।) तब पुनः राजा

कमलमाला तथा शुकराज कुमार को लेकर उद्यान में गया। और उस आम्रवृक्ष को देखते ही खिन्न होकर कमलमाला से कहने लगा कि, 'हे देवी विष के समान इस आम्रवृक्ष को दूर से ही त्यागना चाहिए। क्योंकि इसीके नीचे अपने पुत्र की यह दुर्दशा हुई है।' यह कहकर ज्यों ही आगे बढ़ने लगा त्यों ही एकाएक उसी वृक्ष के नीचे हर्ष उत्पन्न करनेवाली दुंदुभी की ध्वनि हुई। राजा के पूछने पर किसीने कहा कि, 'श्रीदत्त मुनिमहाराज को अभी ही केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसका देवता महोत्सव करते हैं।' केवली भगवान् को पुत्र के विषय में पूछने की इच्छा से राजा ने उत्सुकतापूर्वक परिवार सहित वहां जाकर भगवंत को वंदना करके वहां पर्वदा में पुत्र के साथ बैठ गया। केवली मुनिराज ने अमृत तुल्य क्लेश को दूर करनेवाला उपदेश दिया।

अवसर पाकर राजा ने पूछा कि, 'हे भगवंत! मेरे इस पुत्र की वाचा बन्द हो गयी है इसका क्या कारण है?'

केवली भगवंत ने उत्तर दिया है, 'यह बालक बोलेगा' यह सुन हर्षित हो राजा बोला कि 'तो यह बार-बार हमारी तरफ देखता ही क्यों रह जाता है?' केवली महाराज ने कुमार को लक्ष करके कहा कि, 'शुकराज! तू हमको यथाविधि वन्दन कर' यह सुनते ही शुकराजकुमार ने उच्चस्वर से वंदना सूत्र (इच्छामि खमासमण का पाठ) बोलकर केवली भगवंत को वंदना की। यह देखकर वहां उपस्थित सब लोगों को बड़ा ही आश्चर्य हुआ और कहने लगे कि, 'कैसी आश्चर्य की बात है?, मुनि महाराज की यह कैसी अपूर्व महिमा है कि बिना मंत्र-तंत्र के देखते ही यह बालक स्पष्ट बोलने लग गया।'

पश्चात् राजा के स्पष्ट कारण पूछने पर केवली भगवंत ने कहा कि, 'हे चतुर! इस आकस्मिक घटना का कारण पूर्व भव में हुआ था, सो सुन।

पूर्व काल में मलयदेश में भद्रिलपुर नामक एक श्रेष्ठ नगर था। वहां याचक-जनों को श्रेष्ठ अलंकारादि देनेवाला तथा अपने दुश्मनों को बन्दीगृह भेजनेवाला, चातुर्य, औदार्य, शौर्य आदि गुण सम्पन्न, आश्चर्यकारी चारित्रवान् जितारि नामक राजा राज्य करता था। एक समय वह सभा में बैठा था कि इतने में द्वारपाल ने आकर विनती की कि, 'हे देव! आपके दर्शन की इच्छा से आया हुआ विजयपाल राजा का शुद्धचित्त दूत द्वार पर खड़ा है।'

राजा ने उसे अन्दर लाने की आज्ञा देने पर द्वारपाल उसे लेकर अंदर आया। अपने कर्तव्य का ज्ञाता और सत्यवादी दूत राजा को प्रणामकर कहने लगा—

'हे महाराज! साक्षात् देवपुर (स्वर्ग) के समान देवपुर नामक एक नगर है। वहां वासुदेव के समान पराक्रमी विजयदेव नामक राजा है। उसकी महासती पट्टरानी का नाम प्रीतिमती है। उत्तम राजनीति से जिस प्रकार साम, दाम, दंड और भेद ये चार उपाय उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार रानी से चार श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न हुए। उनके बाद हंसनी के दोनों उज्वल पंखों की तरह मोसाल तथा पिता के दोनों ही शुद्ध कुलवाली एक

सुलक्षणा व सुन्दर हंसी नामक कन्या हुई। लौकिक ऐसी रीति है कि जो वस्तु थोड़ी होती है उस पर विशेष प्रीति रहती है। तदनुसार इस कन्या पर चारों पुत्रों की अपेक्षा मातापिता की विशेष प्रीति थी। जब वह कन्या आठ वर्ष की हो गयी तब दूसरी रानी ने भी एक सर्वोत्तम सारसी नामक कन्या को जन्म दिया। मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि विधाता ने सम्पूर्ण पृथ्वी तथा स्वर्ग का सार लेकर इन दोनों कन्याओं की रचना की है। क्योंकि उन दोनों की तुलना आपस में ही हो सकती है। सारे विश्व में ऐसी कोई कुमारी नहीं कि जो इनकी समानता कर सकती हो। उन दोनों की परस्पर इस प्रकार प्रीति हो गयी कि वे यह सोचने लगीं कि 'हम दोनों का शरीर अलग-अलग न होकर एक ही होता तो उत्तम था, पर बड़ा खेद है कि ऐसा नहीं हुआ' यथा क्रम जब दोनों कामदेवरूपी हस्ती के क्रीडावन के समान, तरुणावस्था को प्राप्त हुई तब उन्होंने वियोग भय से यह निश्चय किया कि 'हम दोनों एक ही पति को वरेंगी' पश्चात् हमारे महाराज ने दोनों पुत्रियों को मनोहर वर की प्राप्ति के निमित्त स्वयं यथाविधि स्वयंवर मंडप की रचना की। उसकी रचना इतनी सुन्दरता से की गयी है कि उसकी शोभा का वर्णन करना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है। घास तथा धान्यादिक की तो इतनी बड़ी राशियां (ढेर) की गयी हैं कि उनके समुख पर्वत की ऊंचाई की कोई गिनती नहीं। तत्पश्चात् महाराज ने अंग, बंग, कलिंग, आंध्र, जालंधर, मरुस्थल, लाट, भोट, महाभोट, मेदपाट, विराट, गौड़, चौड़, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, कुरु, जंगल, गुर्जर, आभीर, कीर, काश्मीर, गोल्ल, पंचाल, मालव, हूण, चीन, महाचीन, कच्छ, कर्नाटक, कोंकण, सपादलक्ष, नेपाल, कान्यकुब्ज, कुंतल, मगध, निषध, सिन्धु, विदर्भ, द्रविड, उड्क, आदि देशों के अनेक राजाओं को स्वयंवर में पधारने के लिए निमंत्रित किये हैं। हे मलयदेशाधिपति महाराज! वहां पधारने के लिए विनती करने के निमित्त मेरे स्वामी ने मुझे आपके चरणों में भेजा है, अतएव आप पधारकर स्वयंवर को सुशोभित कीजिए।'

दूत के वचन सुनकर जितारि राजा के मन में उन कन्याओं की अभिलाषा तो उत्पन्न हुई, किन्तु 'वे कन्याएं मुझे ही वरेंगी इसका क्या विश्वास?' जाऊं अथवा नहीं, इत्यादि संकल्प विकल्प करने लगा। निदान 'पांच के साथ अपने को भी जाना चाहिए' यह विचारकर उसने प्रस्थान किया। मार्ग में उत्तम शकुन होने से वह बड़े उत्साह से वहां गया। इसी प्रकार बहुत से अन्य राजा भी वहां एकत्रित हुए।

विजयदेव राजा ने समस्त राजाओं का यथायोग्य सत्कार किया। सब राजागण देवताओं की तरह ऊंचे ऊंचे सिंहासनों पर बैठे, इतने में साक्षात् लक्ष्मी और सरस्वती के समान दोनों कुमारियां स्नानकर, तिलक लगाकर, शुद्ध वस्त्र तथा आभूषण पहनकर, पालकी में बैठकर मंडप में आयीं। जिस प्रकार बाजार में ग्राहकों को कोई दुर्लभ वस्तु बिक्री से लेना ही तब आगे बढ़ बढ़कर शीघ्रता से एक दूसरे से अधिक मूल्य देने लगते हैं, उसी प्रकार मंडप में बैठे हुए सब राजाओं ने उन दोनों कन्याओं की प्राप्ति की इच्छा

से 'मैं प्रथम, मैं प्रथम' यह कल्पनाकर अपनी-अपनी दृष्टि व मन यही सर्वोत्कृष्ट मूल्य कन्याओं को दिया अर्थात् सबने अपनी दृष्टि व मन कन्याओं की ओर लगाया तथा नाना प्रकार की चेष्टाओं द्वारा कन्याओं के प्रति अपने-अपने मन की अभिलाषा प्रकट करने लगे। तदुपरान्त सखी इस प्रकार राजाओं की प्रशंसा करने लगी—

'सर्व राजाओं में राजराजेश्वर के समान यह राजगृह नगर का राजा है। शत्रुओं के सुख का नाश करने में कुशल यह कौशल देश का राजा है। स्वयंवर की शोभा से देदीप्यमान यह गुर्जराधिपति का पुत्र है। जयंत नामक इन्द्रपुत्र से भी विशेष ऋद्धि से सुशोभित यह सिन्धुदेशाधिपति का पुत्र है। शौर्यलक्ष्मी तथा औदार्यलक्ष्मी के क्रीडास्थल तुल्य यह अंगदेश का राजा है। अत्यन्त रमणीय तथा सौम्य यह कलिंगदेश का राजा है। कामदेव के मद को नष्ट करनेवाला रूपशाली यह बंगदेश का राजा है। अपार लक्ष्मी का स्वामी यह मालवदेशाधिपति है। यह प्रजापालक तथा अत्यन्त दयालु नेपालदेश का राजा है। प्रसिद्ध सद्गुणों से जो बहुत आदरणीय है ऐसा यह कुरुदेश का राजा है। शत्रुओं का समूल नष्ट करनेवाला यह निषधदेश का राजा है। कीर्तिरूप चंदनवृक्षों की सुगन्धी से साक्षात् मलयपर्वत के समान सुशोभित यह मलयदेश का राजा है।'

इस प्रकार जब सखी समस्त राजाओं की प्रशंसा कर चुकी तब जैसे इन्दुमती ने अजराजा को वरा वैसे ही हंसी और सारसी दोनों ने जितारि राजा के गले में वरमाला डाल दी। उस समय अन्य राजाओं के मन में इच्छा, उत्सुकता, संशय, अहंकार, खेद, लज्जा, पश्चात्ताप तथा अदृष्टि आदि मनोविकार प्रकट हुए। कितनेक समझदार राजाओं को आनन्द भी हुआ। किसी किसी राजा को स्वयंवर पर, किसीको अपने आगमन पर किसीको अपने भाग्य पर तथा किसी किसी को अपने मनुष्य भव पर अरुचि उत्पन्न हुई।

तदनन्तर राजा विजयदेव ने शुभ दिन देखकर बड़े समारोह के साथ जितारि राजा के साथ अपनी दोनों कन्याओं का विवाह किया, तथा बहुतसा द्रव्य, वाहन, सेना आदि देकर वर का यथोचित सत्कार किया।

दूसरे बड़े-बड़े राजा भी इस स्वयंवर में निराश हो गये इसका यही कारण है कि पुण्य के बिना मनुष्यों को मनवांछित वस्तु कभी प्राप्त नहीं होती। यद्यपि जितारि राजा से ईर्ष्या रखनेवाले उस समय सैंकड़ों राजा थे पर बड़े ही आश्चर्य की बात है कि कोई भी कुछ उपद्रव न कर सका, अथवा यह मानना चाहिए कि जो स्वयं जितारि-शत्रु को जीतनेवाला है उसका पराभव कौन कर सकता है?

कुछ समय के पश्चात् रति प्रीति के समान दो स्त्रियों से कामदेव को लज्जित करता तथा दूसरे राजाओं के गर्व को खंडन करता हुआ राजा जितारि अपने देश की ओर विदा हुआ। वहां पहुंचकर हंसी तथा सारसी दोनों का पट्टाभिषेक किया। राजा अपने दोनों नेत्रों की तरह दोनों पर समान प्रीति रखता था, परन्तु दोनों के मन में सपत्नीभाव (सौतपन) से स्वाभाविक भ्रम पैदा हो गया। इससे दोनों का जो स्वाभाविक प्रेम था वह

स्थिर न रह सका। हंसी सरल स्वभाव की थी, किन्तु सारसी कपटी प्रकृति की थी। समयानुसार उसने राजा को प्रसन्न करने के हेतु कपट करके माया से बहुत भारी कर्म संचय किया। जीव कपट करके व्यर्थ अपने आपको परलोक में नीच गति में ले जाते हैं, यह उनकी कितनी अज्ञानता है?

हंसी तो सरल प्रकृति की थी। उसने अपने सदगुणों से कर्म बंधनों को शिथिल कर दिया तथा राजा को भी मान्य हो गयी।

एक समय राजा जितारि हंसी व सारसी के साथ झरोखे में बैठकर नगर की शोभा देख रहा था। इतने में ही नगर में से जाता हुआ यात्रियों का पवित्र संघ उसकी दृष्टि में आया। राजा ने अपने एक सेवक से पूछा कि, 'यह क्या है?' सेवक ने वहां जाकर ज्ञात किया व पुनः वापस आकर राजा से निवेदन किया कि, 'हे महाराज! यह शंखपुर (शंखेश्वर) से आया हुआ संघ विमलाद्रि नामक महातीर्थ (पालीताणा) को जाता है।'

यह सुन कौतुक वश राजा उस संघ के पड़ाव पर गया, वहां श्रुतसागर नामक आचार्य को देखकर वंदनाकर श्रद्धा परिणाम से पूछा कि, 'इस जगत में विमलाद्रि यह तीर्थ कैसा व कहाँ है? यह तीर्थ कैसे हुआ तथा इसका क्या महात्म्य है?'

क्षीराश्रव नामक महालब्धि धारक आचार्यश्री श्रुतसागरसूरि ने राजा के वचन सुनकर कहा-

'हे राजन्! धर्म से ही इष्ट मनोरथ की सिद्धि होती है, कारण कि जगत में धर्म एक मात्र सारभूत है, धर्मों में भी अर्हत्प्रणीत धर्म श्रेष्ठ है और उसमें भी तत्त्वश्रद्धानरूपी समकित श्रेष्ठ है। कारण कि समकित बिना समस्त अज्ञानकष्ट रूप क्रियाएं बांझ वृक्ष की तरह निष्फल हैं। तत्त्वश्रद्धानरूप समकित में वीतराग देव, श्रद्धा प्ररूपक गुरु और केवलिभाषित धर्म ये तीन तत्त्व आते हैं। इन तीनों तत्त्वों में वीतराग देव मुख्य हैं। सर्व वीतरागों में प्रथम युगादीश श्री ऋषभदेव भगवान् हैं। इन भगवान् के शासन में विमलाद्रि तीर्थ की अद्भुत महिमा प्रकट हुई। सब तीर्थों में यही विमलाद्रि तीर्थ मुख्य श्रेष्ठ है। पृथक्-पृथक् कारणों से इस तीर्थ के बहुत से नाम हैं, यथा—१ सिद्धि क्षेत्र, २ तीर्थराज, ३ मरुदेव, ४ भगीरथ, ५ विमलाचल, ६ बाहुबली, ७ सहस्रकमल, ८ तालध्वज, ९ कदंब, १० शतपत्र, ११ नगाधिराज, १२ अष्टोत्तरशतकूट, १३ सहस्रपत्र, १४ ढंक, १५ लौहित्य, १६ कपर्दिनिवास, १७ सिद्धिशेखर, १८ पुंडरीक, १९ मुक्तिनिलय, २० सिद्धिपर्वत तथा २१ शत्रुंजय। ऐसे इस तीर्थ के इक्ष्वासु नाम देवता, मनुष्य तथा ऋषिथों ने कहे हैं। वही वर्तमान समय में भव्य प्राणी कहते हैं। उपरोक्त ये नाम इसी अवसर्पिणी में जानो। जिनमें से कितने ही नाम तो पूर्वकाल में हो गये हैं और कितने ही भविष्यकाल में होनेवाले हैं। इनमें प्रत्यक्ष अर्थवाला 'शत्रुंजय' यह नाम आते भव में तू ही निर्माण करेगा, यह हमने ज्ञानियों के मुंह से सुना है। इसके अतिरिक्त श्री सुधर्मास्वामी रचित श्रीशत्रुंजयमहाकल्प में इस तीर्थ के १०८ नाम कहे हैं, यथा:-१

विमलाद्रि, २ सुरशैल, ३ सिद्धिक्षेत्र, ४ महाचल, ५ शत्रुंजय, ६ पुंडरीक, ७ पुण्यराशी, ८ श्रीपद, ९ सुभद्र, १० पर्वतेंद्र, ११ दृढशक्ति, १२ अकर्मक, १३ महापद्म, १४ पुष्पदंत, १५ शाश्वत, १६ सर्वकामप्रद, १७ मुक्तिगृह, १८ महातीर्थ, १९ पृथ्वीपौठ, २० प्रभुपद, २१ पातालमूल, २२ कैलास, २३ क्षितिमंडलमंडन इत्यादि १०८ नाम कहे हैं। इस अवसर्पिणी में ऋषभदेव भगवान् से लेकर चार तीर्थकरों का यहां समवसरण हुआ है तथा भविष्य में नेमिनाथ के सिवाय बाकी १९ तीर्थकरों का समवसरण यहां होनेवाला है। इसी प्रकार पूर्वकाल में यहां अनन्त सिद्ध हुए हैं व भविष्यकाल में भी होंगे, इसी कारण इस तीर्थको सिद्धक्षेत्र कहते हैं। सारे जगत् के स्तुति करने योग्य महाविदेह क्षेत्र में विचरनेवाले शाश्वत तीर्थकर भी इस तीर्थ की बहुत प्रशंसा करते हैं, उसी प्रकार वहां के भव्य जीव भी नित्य इसका स्मरण करते हैं। जिस तरह उत्तमभूमि में बोया हुआ बीज कई गुणा हो जाता है, उसी तरह इस शाश्वततीर्थ में की हुई यात्रा, पूजा, तपस्या, स्नात्र तथा दान ये सर्व अनन्तगुण फल देते हैं। कहा है कि—

पत्न्योपमसहस्रं च ध्यानाल्लक्षमभिग्रहात्।

दुष्कर्म क्षीयते मार्गे, सागरोपमसम्मितम् ॥१॥

शत्रुञ्जये जिने दृष्टे, दुर्गतिद्वितयं क्षिपेत्।

सागराणां सहस्रं च, पूजास्नात्रविधानतः ॥२॥

एकैकस्मिन्पदे दत्ते, पुण्डरीकगिरिं प्रति।

भवकोटिकृतेभ्योऽपि, पातकेभ्यः प्रमुच्यते ॥३॥

अन्यत्र पूर्वकोट्या यत्, शुभध्यानेन शुद्धधीः।

प्राणी बध्नाति सत्कर्म, मुहूर्त्तादिह तद् ध्रुवम् ॥४॥

जं कोडीए पुण्णं कामिअआहारभोइआए उ।

तं लहइ तत्थ पुण्णं एगोवासेण सेतुंजे ॥५॥

जं किंचि नाम तित्थं सग्गे पायालि माणुसे लोए।

तं सव्वमेव दिट्ठं पुंडरीए वंदिए संते ॥६॥

पडिलंभंते संघं दिट्ठमदिट्ठे अ साहु सितुंजे।

कोडिगुणं च अदिट्ठे दिट्ठेठ अणंतगं होइ ॥७॥

नवकारपोरिसीए पुरिमड्ढेगासणं च आयामं।

पुंडरिअं च सरंतो फलकंखी कुणइ अभत्तट्ठं ॥८॥

छट्टमदसमदुवालसाण मासद्धमासखमणाणं।

तिगरणसुद्धो लहई सितुंज्जं संभरंतो अ ॥९॥ युग्मम् ॥

नवि तं सुवण्णभूमीभूसणदाणेण अन्नतित्थेसु।

जं पावइ पुण्णफलं पूयाण्हवणेण सितुंजे ॥१०॥

धूवे पक्खुववासो मासखवणं कपूरधूर्वमि।

कृत्वा मासखवणं साहू पडिलाभिए लहइ ॥११॥

शत्रुंजयतीर्थ का ध्यान करने से हजार पल्योपम के बराबर अशुभकर्म का स्थितिक्षय हो जाता है, यात्रा की बाधा (मानता) लेने से लाख पल्योपम के समान अशुभकर्म की स्थिति का क्षय हो जाता है और शत्रुंजय को जाने के मार्ग में पैर रखने से एक सागरोपम के बराबर अशुभ कर्म की स्थिति का क्षय होता है। शत्रुंजय पर्वत ऊपर श्री आदिनाथ भगवान् के दर्शन करने से तिर्यच व नारकी इन दो दुर्गातियों का नाश होता है। उसी तरह कोई भव्यप्राणी वहां स्नात्र पूजा करे तो हजार सागरोपम के बराबर अशुभकर्म की स्थिति का क्षय होता है। कोई भव्यजीव शत्रुंजय पर्वत की ओर जाने के लिए एक-एक पैर रखे तो करोड़ों भवों में किये हुए पापों से भी वह मुक्त हो जाता है। कोई शुद्धपरिणामवाला प्राणी अन्य स्थान पर करोड़ पूर्व पर्यन्त शुभध्यान करके जितना शुभ कर्म संचय करता है, उतना शुभ कर्म इस पर्वत में दो घड़ी मात्र शुभ ध्यान करने से संचय कर लेता है। करोड़ों वर्ष तक मुनिराज को इच्छित आहार देने से तथा साधर्मिक भाई को इच्छाभोजन देने से जो पुण्य संचित होता है वही पुण्य शत्रुंजय पर्वत ऊपर सिर्फ एक उपवास करने से संचित होता है। जो भव्य प्राणी भावपूर्वक शत्रुंजय पर्वत को वंदना करता है उसने स्वर्ग में, पाताल में तथा मनुष्यक्षेत्र में जितने तीर्थ हैं उन सबका दर्शन कर लिया ऐसा समझना चाहिए। यदि कोई प्राणी श्रेष्ठ शत्रुंजय तीर्थ के दर्शन करे अथवा न करे परन्तु जो शत्रुंजय को जाते हुए संघ का वात्सल्य करे तो भी बहुत ही शुभ कर्म संचय करता है, यथा—

शत्रुंजय पर्वत को न देखकर भी जो शत्रुंजय के संघ का ही केवल वात्सल्य करता है उसे साधारण साधर्मिकवात्सल्य की अपेक्षा करोड़ गुणा पुण्य प्राप्त होता है, तथा जो शत्रुंजय के दर्शन करके संघ वात्सल्य करता है वह अनंतगुणा पुण्य प्राप्त करता है। जो भव्य प्राणी मन, वचन काया की शुद्धि रखकर प्रथम शत्रुंजय तीर्थ का स्मरण करे, पश्चात् आहार त्याग के निमित्त नवकारसी, पोरिसी, पुरिमङ्ग, एकाशन, आंबिल, छड्ड, अड्डम, दशम (चार उपवास), दुवालस (पांच उपवास), मासखमण, अर्धमासखमण (पन्द्रह उपवास) आदि पच्वक्खान करे, वह पच्वक्खान का परिपूर्ण फल पाता है। शत्रुंजय पर्वत के ऊपर पूजा तथा स्नात्र करने से मनुष्य को जो पुण्य उपलब्ध होता है, वह पुण्य अन्य तीर्थ में चाहे कितना ही स्वर्ण, भूमि तथा आभूषण का दान देने पर भी प्राप्त नहीं हो सकता। कोई प्राणी शत्रुंजय पर्वत पर धूप पूजा करे तो पन्द्रह उपवास का, कपूर का दीपक करे तो मासखमण का और मुनिराज को योग्य आहार दान करे तो कार्तिक मास में किये हुए मासखमण का पुण्य प्राप्त करता है। जिस प्रकार तालाब, सरोवर, नदियां आदि जल के सामान्यस्थान तथा समुद्र जलनिधि कहलाता है उसी तरह अन्य तीर्थ हैं किन्तु यह शत्रुंजय महातीर्थ कहलाता है। जिस पुरुष ने शत्रुंजय की यात्रा करके अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया उसका मनुष्य भव, जीवन, धन, कुटुम्ब आदि सब व्यर्थ हैं। जिसने शत्रुंजय तीर्थ को वन्दना नहीं की उसको मनुष्य भव मिलने पर भी न

मिलने के समान है, एवं जीवित होते हुए भी उसे मृतक तुल्य समझना चाहिए, तथा वह बहुत ज्ञानी होने पर भी अज्ञानी के ही सदृश्य है। जब कि दान, शील, तप तथा तीव्र धर्म क्रियाएं करना कठिन है तो सहज ही में होनेवाली तीर्थ वन्दना आदर सहित क्यों न करनी चाहिए? जो पुरुष *६: 'री पालन करके चौविहार छड्ड तपपूर्वक पैदल ही शत्रुंजय तीर्थ की सात यात्राएं करता है, वह पुरुष धन्य व जगत् मान्य है। कहा है कि—

छट्टेण भत्तेण अपाणएणं तु सत्त जत्ताओ।

जो कुणइ सिचुंजे सो तइअभवे लहइ सिद्धिं ॥१॥

जो मनुष्य लगातार चौविहार छड्ड करके शत्रुंजय तीर्थ की सात यात्राएं करता है वह तीसरे भव में सिद्धि को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार मेघजल काली मिट्टी में मर्दव (कोमलता) उत्पन्न कर देता है उसी तरह गुरु महाराज श्री श्रुतसागरसूरि के वचन से राजा जितारी का मन भद्रक होने से अत्यन्त कोमल हो गया। सूर्य के समान श्री श्रुतसागरसूरि के सूर्यरश्मि समान वचनों से जितारी राजा के मन में स्थित मिथ्यात्व-तम का नाश होकर सम्यक्त्वरूपी प्रकाश उत्पन्न हो गया। समकित लाभ होने से राजा का मन शत्रुंजय की यात्रा करने को बहुत उत्सुक हो गया जिससे उसने शीघ्र मंत्रियों को आज्ञा की कि, 'हे मंत्रीजनों! बहुत जल्दी यात्रा की तैयारी करो।' यह कहकर राजाने सहसा ऐसा अभिग्रह लिया कि, 'जब मैं पैदल चलकर शत्रुंजय पर्वत पर श्री ऋषभदेव भगवान् को वन्दना करूंगा तभी मैं अन्न जल ग्रहण करूंगा' हंसी, सारसी आदि अन्य लोगों ने भी 'यथा राजा तथा प्रजा' की नीति के अनुसार यही अभिग्रह लिया। धर्मकार्य करते समय यदि मनुष्य को विचार करना पड़े तो वह भाव ही क्या है? इसीलिए राजादिकों ने केवल भाववश बिना विचार किये ही तुरत अभिग्रह लिया। मंत्री आदि लोगों ने राजा को विविध प्रकार से समझाया कि, 'कहां तो अपना नगर और कहां शत्रुंजय तीर्थ! सहसा ऐसा अभिग्रह लेना यह कैसा कदाग्रह है? यह कितने खेद की बात है?' इसी तरह श्रुतसागर सूरिजी ने भी कहा कि, 'हे राजन्! वास्तव में विचार करके ही अभिग्रह लेना योग्य है, क्योंकि बिना विचारे कार्य करने से यदि पीछे से पश्चात्ताप हो तो उस कार्य से कोई लाभ नहीं, इतना ही नहीं बल्कि आर्त्तध्यान से अशुभकर्म का संचय होता है' जितारी राजा ने कहा कि, 'गुरु महाराज! पानी पीकर जात पूछने अथवा मुंडन के पश्चात् मुहूर्त पूछने से जैसे कोई लाभ नहीं वैसे ही अब विचार करने से क्या लाभ है? हे महाराज! किसी प्रकार पश्चात्ताप न करके मैं अपने अभिग्रह का पालन करूंगा तथा आपके चरणों के प्रसाद से शत्रुंजय पर जाकर श्री ऋषभदेव भगवान् के दर्शन करूंगा, इसमें कौनसी असंभव

* १ एकलहारी-दिन में एक समय भोजन करना, २ सचिचतपरिहारी-सचिच वस्तु का त्याग करना, ३ ब्रह्मचारी-ब्रह्मचर्य पालन करना, ४ पयचारी-पैदल चलना, ५ गुरुसहचारी-गुरु के साथ चलना, तथा ६ भूमि संधारी-भूमि पर सोना।

बात है? क्या सूर्य का सारथी अरुण पंगु होने पर भी सूर्य की महेरबानी से नित्य संपूर्ण आकाश मार्ग का भ्रमण नहीं करता?' यह कहकर राजा सकुटुम्ब परिवार संघ के साथ चला।

मानो कर्मरूपी शत्रु पर चढ़ाई करता हो इस प्रकार शीघ्रता से मार्ग काटते हुए कुछ दिन के पश्चात् राजा काश्मीर देश के एक वन में पहुंचा। उस समय क्षुधा, तृषा, पैदल चलना तथा मार्ग का परिश्रम इत्यादि कारणों से राजा तथा दोनों रानियां व्याकुल हो गये थे। तब राजा के सिंह नामक चतुर प्रधान ने चिन्तातुर होकर श्रुतसागरसूरिजी से कहा कि, 'गुरु महाराज! आप युक्ति से राजा के मन का समाधान कीजिए, अन्यथा धर्म के स्थान में उलटी लोक में हंसी होगी।' यह सुन श्री श्रुतसागरसूरिजी ने राजा से कहा कि, 'हे राजन्! अब तू लाभालाभ का विचार कर। सहसा किया हुआ कोई कार्य प्रामाणिक नहीं समझा जाता। इसी हेतु से पच्चवखाण के दंडक में सब जगह सहसाकारादि की छूट रखी है।'

राजा जितारि यद्यपि शरीर से व्याकुल हो गया था तथापि मन से सावधान था। उसने कहा कि, 'हे महाराज! यह उपदेश उस व्यक्ति पर घटित हो सकता है जो की हुई प्रतिज्ञा का पालन करने में अशक्त हो, मैं तो सर्वथा मेरे अभिग्रह को पालने में समर्थ हूँ। प्राण जाय तो चिन्ता नहीं पर मेरा अभिग्रह कदापि भंग नहीं हो सकता।'

उस समय हंसी और सारसी ने भी धैर्य तथा उत्साहपूर्वक अपने पति को उत्तेजन देकर अपना अभिग्रह पालने के लिए आग्रह करके वीरपत्नीत्व प्रकट किया। सब लोग भी राजा की मन ही मन इस प्रकार स्तुति करने लगे कि, 'अहो! इस राजा का मन धर्म में कितना तल्लीन है? इसका कुटुम्ब भी कैसा धर्मी है? तथा इसका सत्व भी कितना दृढ़ है?'

सिंह मंत्री चिता के समान चिन्ता से व्याकुल होकर विचार करने लगा कि अब क्या होगा? इस समय क्या करना उचित है? उसका हृदय-कमल संताप से कुम्हला गया और समय होने पर वह सो गया। इतने में शत्रुंजय के अधिष्ठायक गोमुख नामक यक्ष ने स्वप्न में प्रकट होकर उसे कहा कि, 'हे मंत्रीश! चिन्ता न कर, राजा जितारि के साहस से संतुष्ट होकर मैं अपनी दिव्यशक्ति से शत्रुंजय तीर्थ को यहां पास ही ले आता हूँ। प्रातःकाल में तुम प्रयाण करोगे वैसे ही तुमको निश्चय शत्रुंजय के दर्शन होंगे, वहां भगवान् ऋषभदेव के दर्शन करके तुम अपना अभिग्रह पूर्ण करना।' यह सुन मंत्री ने स्वप्न में ही यक्ष से कहा कि, 'हे यक्ष! जैसे आपने मुझे सावधान किया वैसे ही सब लोगों को भी करो, ताकि सबको विश्वास आवे।' मंत्री के वचनानुसार यक्ष ने सब लोगों को स्वप्न में उक्त बात कह दी और उसी समय उसने क्षणमात्र में उस वन के पर्वत पर नया शत्रुंजय तीर्थ बनाकर स्थापित कर दिया। सत्य है, देवता क्यों नहीं कर सकते। देवताओं ने विकुर्वित की हुई वस्तु यद्यपि अधिक समय तक नहीं रहती किंतु एक पक्ष तक तो रह सकती है विशेष में गिरनार ऊपर की जिन-मूर्ति के समान

देवताओं ने रची हुई वस्तु चिरकाल तक भी रहती है।

प्रातःकाल होते ही श्री श्रुतसागरसूरिजी, राजा जितारि, सिंह मंत्री, रानियां तथा संघ के अन्य सब लोग परस्पर स्वप्न की चर्चा करने लगे। सबके स्वप्न एक समान मिले, तब सब लोग आगे बढ़े, और स्वप्न के अनुसार वही शत्रुंजय तीर्थ को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। सबने श्री ऋषभदेव भगवान् की वंदनापूर्वक पूजाकर अपना अभिग्रह पूर्ण किया। उस समय श्री ऋषभदेव भगवान् के दर्शन से उत्पन्न हुए हर्ष से उनका शरीर पुलकायमान हो गया तथा सुकृतरूपी अमृत में उनकी आत्मा निमग्न हो गयी। तत्पश्चात् सबने स्नात्र पूजा की, ध्वजा चढ़ायी, माला पहनायी तथा अन्य धर्मकृत्य करके वहां से विदा हुए।

राजा वहां से चला तो सही किन्तु भगवान् की गुणरूपी मोहिनी से आकर्षित होकर पुनः वन्दना करने को फिरा। इस प्रकार मानो सात नरक रूपी दुर्गति में पड़ने से आत्मा का रक्षण करने के हेतु सात बार मार्ग चला और सात बार भगवान् को वन्दना करने के लिए वापस लौटा। यह देखकर सिंह मंत्री ने राजा से प्रश्न किया कि, 'हे महाराज! यह क्या है?' राजा ने उत्तर दिया कि-बालक जिस प्रकार माता को नहीं छोड़ सकता वैसे ही मैं इस तीर्थराज को नहीं छोड़ सकता, अतएव मेरे यहीं रहने के लिए एक उत्तम नगर की रचना करो, सच है ऐसा मन वांछित स्थान कौन बुद्धिमान् छोड़ सकता है?

बुद्धिमान् मंत्री ने अपने स्वामी की आज्ञा पाते ही वास्तुक-शास्त्र में वर्णित रीति के अनुसार 'विमलपुर' नामक नगर बसाया। इस नगर में किसी प्रकार का भी कर आदि नहीं लिया जाता था। अतः संघ में से अन्य भी बहुत से मनुष्य स्वार्थ तथा तीर्थकृत्य की साधना के हेतु वहां बस गये। राजा जितारि भी उत्तम राज्य-ऋद्धि का भोग करता हुआ द्वारिका में कृष्ण की तरह सुख से रहने लगा। वहां भगवान् के मंदिर ऊपर एक हंस सदृश मधुरभाषी तोता रहता था। वह राजा के मन को बहुत रिझाने लगा, इससे वह राजा का एक खिलौना हो गया। अरिहंत प्रभु के मंदिर में जाने पर भी राजा का अरिहंत ध्यान धूँ से मलीन हुए चित्रों की तरह तोते के क्रीडारस से मलीन हो गया। कुछ समय जाने पर राजा जितारि का अंतकाल आया तब उसने धर्मी लोगों की रीति के अनुसार श्री ऋषभदेव भगवान् के चरण-कमलों के पास अनशन किया। उस समय हंसी और सारसी ने धैर्य धारणकर राजा की शुश्रूषा की तथा उसे नवकार मंत्र सुनाया। उसी समय पूर्व परिचित तोते ने मंदिर के शिखर पर बैठकर मधुर ध्वनी की। कर्म की विचित्रगति से राजा का ध्यान उस तरफ चला गया और अंत में तोते के ध्यान से राजा तोते की ही योनि में उत्पन्न हुआ।

जिस तरह अपनी ही छाया का उल्लंघन करना अशक्य है उसी तरह भवितव्यता का भी उल्लंघन नहीं किया जा सकता। पंडित लोगों ने कहा है कि 'अंते जैसी मति, वैसी गति', इसी उक्ति के अनुसार राजा जितारि तोता हुआ। जिनेश्वर भगवान् ने कहा है

कि... 'तोता मैना आदि तिर्यच के साथ क्रीड़ा करने से अनर्थ उत्पन्न होता है।' यह सत्य है। धर्मपरायण होते हुए भी राजा जितारि की इस क्रीड़ा से ऐसी दुर्गति हुई, इससे जीव की विचित्रगति और जिनभाषित स्याद्वाद स्पष्ट प्रकट होता है। यद्यपि शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा करने से मनुष्य के नारकी तथा तिर्यच इन दो दुर्गतियों को प्राप्त करनेवाले अशुभ कर्म का क्षय होता है तथापि क्षय होने के बाद भी जो वह अशुभ कर्म का संचय करे तो अवश्य भोगना पड़ता है। इससे तीर्थ का माहात्म्य लेश मात्र भी कम नहीं होता, कारण कि वैद्य के द्वारा निरोग कर देने पर भी यदि कोई अपथ्य का सेवन कर रोगी हो जाय तो उसमें वैद्य का क्या दोष? पूर्वभव के दुर्दैव वश उत्पन्न हुए कुध्यान से राजा जितारि तिर्यच-योनि में गया तो भी थोड़े ही काल में उसे कल्याणकारी श्रेष्ठ समकित प्राप्त होगा।

तत्पश्चात् राजा का अग्नि संस्कारादिक उत्तर कार्य हो जाने पर हंसी और सारसी दोनों रानियों ने उसी दिन दीक्षा ली, और अंत में मृत्यु पाकर वे स्वर्ग में देवियां हुईं। अवधिज्ञान से जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उनका पति तिर्यच-योनि में तोता हुआ है तब बड़े खेद से उन्होंने वहां आकर उसे प्रतिबोधित किया व उसी तीर्थ पर उससे अनशन करवाया। वह तौता मृत्यु पाकर उन्हीं देवियों का स्वामी देव हुआ। कालक्रम से प्रथम वे दोनों देवियां स्वर्ग से च्युत हुईं। तब उस देव ने केवली भगवान् से पूछा कि, 'हे प्रभो! मैं सुलभबोधि हूं कि दुर्लभबोधि?' केवली भगवान् ने उत्तर दिया, 'तू सुलभबोधि है।' पुनः उसने पूछा, 'यह बात किस प्रकार है सो समझाइए।' केवली ने कहा कि, 'जो तेरी दोनों देवियां स्वर्ग से च्यवन हुई हैं उनमें हंसी का जीव तो क्षितिप्रतिष्ठित नगर में ऋतुध्वज राजा का पुत्र मृगध्वज राजा हुआ है, और सारसी का जीव पूर्वभव में माया करने से काश्मीर देश के अंदर विमलाचल के पास एक आश्रम में गांगलि ऋषि की कमलमाला नामक कन्या हुई है। तू उनका जातिस्मरणज्ञान वाला पुत्र होगा।'

श्रीदत्त मुनि कहते हैं कि, 'हे मृगध्वज राजन्! केवली के मुख से यह बात सुनकर राजा जितारि (तोते) का जीव देव समान मधुर वचन से तुझे उस आश्रम में ले गया, वहां तुझे कन्या को पहनाने के लिए वस्त्रालंकारादि दिये, वापस तुझे लाकर तेरी सेना में सम्मिलित किया और पश्चात् वह स्वर्ग में गया। वहां से च्युत होकर अब यह तेरा पुत्र हुआ है। इसने अपना वर्णन सुनकर जातिस्मरण ज्ञान पाकर विचार किया कि, 'पूर्वभव में जो मेरी दो स्त्रियां थी वही इस भव में मेरे माता-पिता हुए हैं, अब मैं उनको 'हे तात! हे मात' यह किस प्रकार कहूं? इससे मौन धारण करना ही उत्तम है' इस विचार से कुछ भी दोष न होने पर भी इसने आज तक मौन साधन किया और अभी गुरु का वचन उल्लंघन न करना यह सोचकर बोलने लगा। पूर्वभव के अभ्यास से बाल्यावस्था होते हुए भी इसका समकित आदि दृढ़ है। पूर्वभव के अभ्यास से ही संस्कार दृढ़ रहते हैं।'

पश्चात् शुकराज ने भी यह संपूर्ण बात निष्कपट भाव से स्वीकार की। केवली महाराज ने पुनः कहा कि, 'हे राजपुत्र! इसमें आश्चर्य ही क्या? यह संसार नाटक के समान है। सर्व जीवों ने परस्पर सब प्रकार के सम्बंध अनंतबार पाये हैं। कारण कि जो इस भव में पिता है, वह दूसरे भव में पुत्र हो जाता है, पुत्र है वह पिता हो जाता है, स्त्री है वह माता हो जाती है और माता है वह पिता हो जाता है। ऐसी कोई भी जाति नहीं, योनि नहीं, स्थान नहीं तथा कुल नहीं कि जहां सर्व प्राणी अनेकों बार जन्मे तथा मरे न हों। इसलिए सत्पुरुष को समता रखकर किसी भी वस्तु पर राग, द्वेष न रखना चाहिए। केवल व्यवहार-मार्ग अनुसरण करना उचित है।'

पश्चात् राजा को संबोधनकर श्रीदत्त मुनि बोले कि, 'हे राजन्! मुझे ऐसा ही संबन्ध विशेष वैराग्य का कारण हुआ है, सो चित्त देकर सुन—

श्री दत्त केवली का चरित्र :

श्रीदेवी के रहने के मंदिर समान श्रीमंदिरपुर नामक नगर में एक स्त्रीलंपट, कपटी तथा दुर्दान्त (जो किसी से जीता न जा सके) सूरकान्त नामक राजा राज्य करता था। उसी नगर में महान् उदार सोम नामक श्रेष्ठी (सेठ) रहता था। उसकी स्त्री सोमश्री अत्यंत सुन्दर थी। उसको श्रीदत्त नामक एक पुत्र तथा श्रीमती नामक पुत्र-वधू थी। इन चारों का मिलाप उत्तम पुण्य के योग से ही हुआ था। कहा भी है कि—

यस्य पुत्रा वशो भक्ता, भार्या छन्दानुवर्तिनी।

विभवेष्वपि सन्तोषस्तस्य स्वर्ग इहैव हि ॥१॥

जिस पुरुष का पुत्र आज्ञाकारी हो, स्त्री पतिव्रता तथा आज्ञाधारिणी हो तथा वह मिले उतने ही द्रव्य में संतुष्ट हो उसके लिये यहाँ स्वर्ग है। एक समय सोमश्रेष्ठि स्त्री सहित वायु सेवनार्थ उद्यान में गया। देवयोग से राजा सूरकान्त भी उसी उद्यान में आया। वहां सुन्दर सोमश्री को देखकर उस पर आसक्त हो गया और राग वश होकर क्षण मात्र में उसे अपने अन्तःपुर में भेज दी। सत्य है-तरुणावस्था, धन की विपुलता, अधिकार तथा अविवेक इन चारों में से कोई एक वस्तु भी हो तो अनर्थकारी है तो फिर जहां चारों एकत्र हो जावे वहां अनर्थ उत्पन्न होने में संशय ही क्या है?

सोमश्रेष्ठि ने मंत्री आदि से प्रेरणा की तदनुसार उन लोगों ने युक्तिपूर्वक राजा को समझाया कि 'महाराज! अन्याय अकेला ही राजरूपी लता को जलाकर भस्म कर देने के लिए दावाग्नि के समान है, ऐसी अवस्था में कौन राज्यवृद्धि की इच्छुक व्यक्ति परस्त्री की लालसा करता है? सदैव राजा लोग ही प्रजा को अन्याय मार्ग से बचाते हैं उसके बदले यदि स्वयं वे ही अन्याय करने लगे तो मानों समुद्र में बलवान् मत्स्य निर्बल मत्स्य को खा जाते हैं, वही नीति हुई।' इत्यादि, इस कथन का राजा के मन पर कुछ भी असर न हुआ, उसने उलटे मंत्री आदि को निकाल दिये और नाना प्रकार से अग्निवर्षा

के समान दुर्वचन कहने लगा। मंत्रियों ने सोमश्रेष्ठि को समझाया कि, 'हे श्रेष्ठि! अब कोई उपाय नहीं दीखता। हाथी के दोनों कान कैसे स्थिर रखे जाय? स्वयं स्वयं का अनर्थ करनेवाले मालिक को कैसे रोका जाय? जो खेत के आसपास लगाई हुई बाड़ ही खेत खाने लगे तो क्या उपाय किया जाय? कहा है कि-जो माता पुत्र को विष दे, पिता पुत्र को बेचे और राजा सर्वस्व हरण करे तो उपाय ही क्या?

पश्चात् सोमश्रेष्ठि ने बहुत खिन्न होकर अपने पुत्र से कहा कि, 'हे श्रीदत्त! दुर्भाग्य से अपना बहुत ही मान भंग हुआ है, समय पर माता-पिता का पराभव तो पुत्र भी सहन कर सकता है, परन्तु स्त्री का पराभव तो तिर्यच भी सह नहीं सकता। अतः कोई भी उपाय से इसका बदला अवश्य लेना चाहिए। मुझे इस समय द्रव्य का उपयोग ही एक मात्र उपाय दीखता है। अपने पास छः लाख रुपये हैं, उसमें से पांच लाख साथ लेकर मैं कोई दूर देश जाऊंगा, वहां जाकर किसी बलिष्ठ राजा की सेवा करूंगा तथा उसे प्रसन्न करके उसकी मदद से क्षणभर में तेरी माता को छुड़ा लाऊंगा। अपने में प्रभुता न हो व राजा भी वश में न हो तो इष्टकार्य की सिद्धि किस तरह हो सकती है? जो अपने पास नौका न हो अथवा नौका का मल्लाह उत्तम न हो तो समुद्र पार कैसे कर सकते हैं?' यह कह द्रव्य साथ लेकर सोमश्रेष्ठि चुपचाप वहां से चला गया। सत्य है पुरुष स्त्री के लिए दुष्कर-कार्य भी कर सकते हैं। देखो! क्या पांडवों ने द्रोपदी के लिए समुद्र पार नहीं किया था?

सोमश्रेष्ठि के विदेश चले जाने के बाद श्रीदत्त को एक कन्या उत्पन्न हुई, अवसर पाकर दुर्दैव भी अपना जोर चलाता है। श्रीदत्त ने मन में विचार किया कि, 'धिक्कार है! मुझे मुझपर कितने दुःख आ पड़े, एक तो माता-पिता का वियोग हुआ, द्रव्य की हानि हुई, राजा द्वेषी हुआ और विशेष में कन्या की उत्पत्ति हुई। दूसरे को दुःख में डालकर संतोष पानेवाला दुर्दैव अभी भी मालूम नहीं क्या करेगा?' इस प्रकार चिन्ता करते दस दिन व्यतीत हो गये। तत्पश्चात् उसके एक मित्र शंखदत्त ने उसे कहा कि, 'हे श्रीदत्त! दुःख न कर। चलो, हम द्रव्य उपार्जन के हेतु समुद्र यात्रा करें, उसमें जो लाभ होगा वह हम दोनों समान भाग से बांट लेंगे।'

श्रीदत्त ने यह बात स्वीकार की और अपनी स्त्री तथा कन्या को एक सम्बन्धी के यहां रखकर शंखदत्त के साथ सिंहलद्वीप में आकर बहुत वर्ष तक रहा। पश्चात् अधिक लाभ की इच्छा से कटाह द्वीप में जाकर सुखपूर्वक दो वर्ष तक रहा। क्रमशः दोनों ने आठ करोड़ द्रव्य उपार्जन किया। देव की अनुकूलता तथा दीर्घ प्रयत्न दोनों का योग होने पर द्रव्य लाभ हो उसमें आश्चर्य ही क्या है? कुछ काल के अनन्तर उन दोनों ने बहुत सा माल खरीदा तथा अनेकों जहाज भरकर वहां से सुखपूर्वक विदा हुए। एक समय दोनों जहाज के छप्पे (डेक) में बैठे थे कि समुद्र में तैरती हुई एक संदूक पर उनकी दृष्टि पड़ी। शीघ्र ही उन्होंने मल्लाहों द्वारा उसे बाहर निकलवायी 'उसके अन्दर से जो कुछ निकलेगा उसे आधा-आधा बांट लेंगे' यह निश्चयकर संदूक खोली,

उसमें से नीम के पत्तों में लपेटी हुई एक नीलवर्ण की कन्या निकली जिसे देखकर सबको आश्चर्य हुआ।

शंखदत्त बोला कि, 'इस कन्या को किसी दुष्ट सर्प ने काटा है इससे किसीने इसे जल में बहा दी है।' यह कह तुरन्त उसने मंत्र द्वारा उस पर जल छिड़ककर सचेतन की व हर्ष से कहने लगा कि, 'मैंने इसे जीवित की है इसलिए मेनका के समान इस सुन्दर रमणी से मैं ही विवाह करूंगा।' यह सुन श्रीदत्त भी कहने लगा कि, 'शंखदत्त! ऐसा न कहो, कारण कि मैंने प्रथम से ही कहा था कि 'आधा-आधा भाग बांट लेंगे, तदनुसार इस कन्या को मैं लूंगा तथा तेरे आधे भाग के बदले तुझे द्रव्य दे दूंगा।'

जिस प्रकार मदनफल (मेनफल) के खाने से वमन हो जाता है उसी तरह ऊपर लिखे अनुसार विवाद से दोनों जनों ने स्त्रीप्राप्ति की अभिलाषा से पारस्परिक प्रीति त्याग दी। कहा भी है कि, एक दूसरे के ऊपर अपूर्व प्रीति रखनेवाले सहोदर भाई अथवा मित्रों में स्त्री ही एक ऐसी वस्तु है कि जो भेद उत्पन्न करवा देती है। कितना ही मजबूत ताला क्यों न हो चाबीरूपी स्त्री अन्दर प्रवेश करते ही सब-खोल देती है।

निदान दोनों में जब वादी प्रतिवादी की तरह बहुत कलह उपस्थित हुआ, तब खलासियों ने कहा कि, 'अभी आप स्वस्थ रहिए, दो दिन बाद अपना जहाज सुवर्णकूल नामक बन्दर पर पहुंचेगा, वहां कोई बुद्धिमान् पुरुष से इस बात का निर्णय कराइयेगा,' यह सुन शंखदत्त चुप हो रहा। श्रीदत्त मन में विचार करने लगा कि 'इस कन्या को शंखदत्त ने सचेतन की है अतएव न्याय होने पर यह कन्या इसीको मिलेगी। इसलिए वह अवसर आने के पूर्व ही मैं कोई उपाय करूं।'

यह सोचकर दुष्टबुद्धि श्रीदत्त ने शंखदत्त के ऊपर अपना पूर्ण विश्वास जमाया और कुछ देर के पश्चात् उसे लेकर पुनः छज्जे (डेक) में आ बैठा और कहने लगा कि 'मित्र! देख तो यह आठ मुंह का मत्स्य जा रहा है।' यह सुन ज्यों ही कौतुकवश शंखदत्त झुककर देखने लगा त्यों ही मित्र श्रीदत्त ने शत्रु की तरह उसे धक्का देकर समुद्र में डाल दिया। धिक्कार है ऐसी स्त्री को जिसके कारण श्रेष्ठ मनुष्य भी मित्र-द्रोही हो जाते हैं। ऐसी स्त्री का मुंह सुंदर होते हुए भी देखने के योग्य नहीं। नीच ऐसा श्रीदत्त इष्टकार्य पूर्ण हो जाने से मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ। परन्तु कपटी प्रीति दिखाने के हेतु प्रातःकाल होते ही बनावटी खेद करता हुआ चिल्लाने लगा कि, हाय! हाय!! मेरे मित्र का न जाने क्या हो गया, कहां चला गया इत्यादि। अंत में दो दिन बाद वह सुवर्णकूल बंदर पहुंचा। वहां जाकर उसने राजा को बड़े-बड़े हाथी भेंट किये। राजा ने प्रसन्न होकर उसका आदरपूर्वक स्वागत किया तथा हाथियों का बहुतसा मूल्य देकर व्यापार का कर भी माफ किया। श्रीदत्त ने वहां रहकर खूब व्यापार करना शुरू किया तथा उस कन्या के साथ विवाह करने के लिए लग्न निश्चित करके विवाह की सामग्रियां तैयार करवाने लगा। वह नित्य राजसभा में जाया करता था। वहां राजा की एक अत्यन्त रूपवती चामरधारिणी को देखकर एक मनुष्य से उसका वर्णन पूछा। उस मनुष्य ने

कहा कि, 'यह राजा की आश्रित सुवर्णरिखा नामक प्रख्यात वेश्या है, अर्ध लक्ष (५००००) द्रव्य लिये सिवाय किसीसे बात भी नहीं करती है।'

यह सुन श्रीदत्त ने उस वेश्या को अर्धलक्ष द्रव्य देना स्वीकार किया तथा उसे व उस कन्या को रथ में बिठाकर वन में गया। वहां शांतिपूर्वक बैठकर एक तरफ उस कन्या को तथा एक तरफ उस वेश्या को बिठाकर हास्य-भरी बातें करने लगा। इतने में ही एक बन्दर चतुराई से अनेक बन्दरियों के साथ काम-क्रीड़ा करता हुआ वहां आया। श्रीदत्त ने उसे देखकर सुवर्णरिखा से पूछा कि, 'क्या यह सब बन्दरियां इस बन्दर की स्त्रियां ही होंगी?' वेश्या सुवर्णरिखा ने उत्तर दिया कि, 'हे चतुर! तिर्यच जाति के विषय में यह क्या प्रश्न? इसमें कोई इसकी माता होगी, कितनी ही बहनें होंगी, कितनी ही पुत्रियां होंगी, तथा कितनी ही ओर कोई होंगी।' यह सुन श्रीदत्त ने शुद्ध चित्त व गम्भीरता से कहा कि जिसमें माता, पुत्री, बहन इतना भी भेद नहीं ऐसे अविवेकी तिर्यच के अतिनिन्द्य जीवन को धिक्कार है! वह नीच जन्म व जीवन किस कामका है? जिसमें इतनी भारी मूर्खता हो कि कृत्याकृत्य का भेद भी न जाना जा सके।'

यह सुन जैसे कोई अभिमानी वादी किसी का आक्षेप वचन सुनकर शीघ्र जवाब देता हो वैसे ही उस बन्दर ने जाते-जाते वापस फिरकर कहा कि, 'रे दुष्ट! रे दुराचारी! रे दूसरों के छिद्र देखनेवाले! तू केवल पर्वत पर जलता हुआ देखता है परन्तु यह नहीं देखता कि स्वयं अपने पैर नीचे क्या जल रहा है? केवल तुझे दूसरे के ही दोष कहने आते हैं! सत्य है—

राईसरिसवमित्ताणि परच्छिद्वाणि गवेसइ।

अप्यणो बिल्लमित्ताणि पासंतोवि न पासई ॥१॥

दुष्ट मनुष्य को दूसरे के तो राई तथा सरसव के समान दोष भी शीघ्र दीख पड़ते हैं परन्तु अपने बिल्व फल के समान दोष दीखते हुए भी नहीं दिखते। रे दुष्ट! नीच इच्छा से एक तरफ अपनी माता तथा एक तरफ अपनी पुत्री को बैठाकर तथा अपने मित्र को समुद्र में फेंककर तू मेरी निन्दा करता है?' यह कहकर बन्दर उछलता कूदता शीघ्र अपने झुंड में जा मिला। इधर हृदय में वज्र-प्रहार के समान वेदना भोगता हुआ श्रीदत्त विचार करने लगा कि, 'धिक्कार है मुझे! बन्दर ने एकदम ये क्या दुर्वचन कहा? जो मुझे समुद्र में अचानक बहती हुई मिली वह मेरी कन्या किस तरह हो सकती है? तथा यह सुवर्णरिखा भी मेरी माता कैसे हो सकती है? मेरी माता तो इससे किंचित् ऊंची है, उसके शरीर का वर्ण भी कुछ श्याम है। अनुमान से उग्र के वर्ष गिनूं तो यह कन्या कदाचित् मेरी पुत्री हो ऐसा संभव है; परन्तु सुवर्णरिखा मेरी माता हो यह कदापि संभव नहीं; तथापि इससे पूछना चाहिए।'

यह सोचकर उसने सुवर्णरिखा से पूछा तो उसने स्पष्ट उत्तर दिया कि, 'अरे मुग्ध! यहां विदेश में तुझे कौन पहचानता है? तू व्यर्थ जानवर के कहने से क्यों भ्रम में पड़ता है?' परन्तु श्रीदत्त के मन की शंका इससे दूर न हुई। (क्योंकि मित्र को समुद्र में

डालने की बात मैं ही जानता हूँ। यह बात इस बंदर ने कैसे जानी? यह बंदर नहीं कोई अन्य है अतः इसकी खोज करनी चाहिए। यह सोचकर) वह शीघ्र वहाँ से उठा।

जिस कार्य में शंका उत्पन्न हो जाय उसे करना सत्पुरुष को कभी योग्य नहीं। जान बूझकर कौन प्राणी अथाग जल में प्रवेश करता है?

इधर-उधर भ्रमण करते हुए श्रीदत्त ने एक मुनिराज को देखा, और उनको वन्दना करके पूछा कि, 'हे स्वामिन्! एक बन्दर ने मुझे भ्रांति-समुद्र में डाला है। आप ज्ञान की सहायता से मेरा उद्धार कीजिए।'

मुनिराज ने कहा—'इस जगत् में सूर्य की तरह भव्यजीवरूपी कमल को बोध करनेवाले मेरे गुरु केवली हैं, वे इसी देश में हैं। मैं केवल अवधिज्ञान से जो कुछ जानता हूँ वह तुझे कहता हूँ। बन्दर ने जो कुछ कहा वह सर्व सत्य है।', 'प्रभो! कैसे सत्य मानूँ?' श्रीदत्त के यह पूछने पर मुनिराज बोले कि, 'हे चतुरपुरुष! सुन। प्रथम तुझे तेरी पुत्री का वर्णन सुनाता हूँ।'

तेरी माता को छुड़ाने के उद्देश्य से तेरा पिता रणवीर समर नामक पल्लीपति के पास गया। 'ऐसा वीर पुरुष ही अपना कार्य करने के सर्वथा योग्य है' यह विचार करके पल्लीपति को सब वृत्तान्त कह सुनाया तथा द्रव्य भी भेंट किया। पश्चात् पल्लीपति ने श्रीमंदिरपुर पर चढ़ाई की। समुद्र की बाढ़ के समान एकाएक चढ़ी हुई पल्लीपति की सेना से श्रीमंदिरपुरवासी प्रजाजन बहुत भयभीत हुए, तथा संसार से भय पाये हुए जीव जैसे शिवसुख की इच्छा रखके सिद्धि का विचार करे उसी मुजब सब लोग किसी सुरक्षित स्थान को जाने का विचार करने लगे। उस समय तेरी स्त्री अपनी कन्या को लेकर गंगा किनारे बसे हुए सिंहपुर नगर में अपने पिता के घर गयी तथा बहुत वर्ष तक वहाँ अपने भाई के पास रही। यह नियम ही है कि स्त्रियों का पति, सासु, श्वसुर आदि का वियोग हो जाये तो पिता अथवा भाई ही उसकी रक्षा करते हैं। एक समय आषाढमास में तेरी कन्या को विषधर सांप ने काटा, धिक्कार है ऐसे दुष्ट जीवों के दुष्टकर्म को। सर्प विष से वह कन्या अचेत हो गयी। अनेकों उपचार किये गये लेकिन सब व्यर्थ हुए। सर्प के काटे हुए मनुष्य का जलदी अग्नि संस्कार करना योग्य नहीं, कारण कि आयुष्य दृढ़ हो तो कदाचित्त वह पुनर्जीवित हो जाये, इस विचार से तेरी स्त्री आदि सब लोगों ने उसे नीम के पत्तों में लपेट एक सन्दूक में बन्दकर गंगाप्रवाह में बहा दी। जलवृष्टि की अधिकता से ज्यों ही भयंकर बाढ़ आयी त्यों ही वह सन्दूक बहती हुई समुद्र में पहुँची तथा तेरे हाथ लगी। इसके आगे का वृत्तान्त तुझे ज्ञात ही है।

अब तेरी माता का वर्णन कहता हूँ, स्थिरचित्त से सुन—पल्लीपति की दुर्भेद्य सेना जब पास आयी तब उसके तेज से राजा सूक्कान्त निस्तेज हो गया। उसने शीघ्र ही पहाड़ की तरह किल्ले की रचना की। उसमें सर्व खाद्य पदार्थ पूर्णरूप से भर दिये तथा किल्ले के अंदर स्थान-स्थान पर योग्य पराक्रमी योद्धाओं को नियत कर दिये। जो राजा शत्रु का सामना नहीं कर सकता है उसकी यही नीति है। इधर पल्लीपति की सेना ने

चारों ओर से किल्ले पर धावा कर दिया। मुनिराज के वचन जिस प्रकार दुष्कर्मी का शीघ्र ही नाश कर डालते हैं उसी प्रकार पल्लीपति की सेना ने बात की बात में किल्ला तोड़ डाला तथा मदोन्मत्त हाथी की तरह सूरकान्त की सेना के योद्धाओं के बाणरूपी अंकुश की कुछ परवाह न करते एकदम श्रीमंदरपुर की पोलका दरवाजा तोड़कर वह सेना नदी प्रवाह की तरह भीतर घुस गयी। तेरा पिता स्त्री प्राप्ति की उत्सुकता से आगे जा रहा था। वह एक तीक्ष्णबाण के कपाल में लगने से मृत्यु को प्राप्त हो गया। सत्य है, मनुष्य कुछ सोचता है पर दैव कुछ करता है। स्त्री को छुड़ाकर लाने का प्रयत्न ही उसकी मृत्यु का कारण हो गया, एक कथा का यह श्लोक है कि "हाथी के मन में कुछ और था, सिंह के मन में और, सर्प के मन में कुछ और तथा शियाल के मन में भी और, परन्तु दैव के मन में तो सबसे ही निराला था"। पल्लीपति की सेना के नगर में प्रवेश करते ही राजा सूरकान्त बहुत घबराया तथा वहां से कहीं भाग गया। सत्य है पापियों की जय कहां से हो? पल्लीपति की सेना ने तुरन्त हरिणी की तरह धूजती हुई सोमश्री को पकड़ ली। पश्चात् नगर लूटकर सब भिल्ल सैनिक अपने-अपने स्थान को जाने लगे। इस भागदौड़ में मौका पाकर सोमश्री भी वहां से भाग निकली, तथा वन में भटकती हुई उसने एक वृक्ष का फल खाया जिससे उसका शरीर तो किंचित् मात्र टिगना हो गया, परन्तु शरीरकांति पूर्व की अपेक्षा बहुत ही दिव्य तथा सुन्दर हो गयी। मणि-मंत्र तथा औषधियों का प्रभाव ही अद्भुत है। मार्ग में जाते हुए कुछ वणिग्लोगों को इसे देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। इससे पूछने लगे कि, 'हे सुन्दरी! क्या तू कोई देवांगना, नागकुमारी, वनदेवी, स्थलदेवी अथवा जलदेवी है? हमको विश्वास है कि तू मानवी तो कदापि नहीं है। सोमश्री ने गद्गद् स्वर से उत्तर दिया कि, 'हे विज्ञानियों! तुम विश्वास से मानो कि मैं कोई देवी देवता नहीं, बल्कि मनुष्य की ही स्त्री हूं। इस सुन्दररूप ने ही मुझे दुःख सागर में डाली है। जब दैव प्रतिकूल होता है तो गुण भी दोष हो जाता है।'

यह सुन उन्होंने सुखपूर्वक अपने पास रखने का वचन देकर सोमश्री को अपने साथ में ले ली तथा गुप्तलन की तरह उसकी रक्षा करने लगे। तथा उसके रूपगुण पर आसक्त होकर हर एक वणिग् उससे विवाह करने की इच्छा करने लगा। कुछ समय के बाद वे फिरते-फिरते इसी सुवर्णकूल बंदर में आये तथा बहुत सा किराना खरीदा। इतने में एक वस्तु बहुत सस्ती हो गयी। प्रायः वणिग्लोगों की यह रीति ही है कि भाव बढ़ जाने की अभिलाषा से सस्ती वस्तु विशेष खरीदते हैं, परन्तु फल भोगने से जिस प्रकार पूर्वभव का संचित पुण्य क्षीण हो जाता है उसी प्रकार प्रथम ही बहुत सी वस्तुएं खरीद लेने से उनके पास का द्रव्य क्षीण हो गया, तब सबने विचारकर सोमश्री को एक वेश्या के यहां बेच दिया। मनुष्यों को अपार लोभ होता है और जिस में वणिग्जनों को तो अधिक ही होता है, इसमें संशय ही क्या? इस नगर की विभ्रमवती नामक वेश्या ने एक लक्ष द्रव्य देकर आनन्दपूर्वक सोमश्री को मोल ले ली। सत्य है, वेश्या की जाति ही

ऐसी है, उसको तरुण स्त्री मिल जाय तो वह कामधेनु के समान समझती है। विभ्रमवती ने उसका 'सुवर्णरिखा' यह नया नाम रखा और बड़े परिश्रम से शिक्षा देकर इसे गीत, नृत्य आदि सिखाया, क्योंकि इन कलाओं में निपुणता ही केवल वारांगनाओं का धन है। क्रमशः सुवर्णरिखा वेश्या-कर्म में इतनी निपुण हो गयी कि मानों जन्म से ही वेश्या का धन्धा करती हो। ठीक ही है, पानी जिसके साथ मिलता है वैसा ही रंग रूप ग्रहण कर लेता है। दुर्जन की संगति को धिक्कार है! देखो, वह सोमश्री एक भव छोड़कर मानो दूसरे भव में गयी हो इस प्रकार बिलकुल ही बदल गयी अथवा दुर्दैववश एक ही भव में अनेक भव भोग रही है। सुवर्णरिखा ने अपनी कलाओं से राजा को इतना प्रसन्न किया कि जिससे उसने इसे अपनी चामरधारिणी नियत कर दी।

मुनि कहते हैं कि, 'हे श्रीदत्त! यह तेरी माता ऐसी हो गयी है मानो दूसरा भव पायी हो। पूर्व का रूप वर्ण बदल जाने से तू इसे पहचान न सका, परन्तु इसने तुझे पहचान लिया था तथापि शर्म और द्रव्य लोभ से परिचय नहीं दिया। जगत् में लोभ का कैसा अखंड साम्राज्य है? किसीने इस लोभ को नहीं छोड़ा। धिक्कार है! ऐसे वेश्या-कर्म को! जो संपूर्ण पाप व दुष्कर्म की सीमा कहलाता है तथा जिससे प्रत्यक्ष माता पुत्र को पहिचानकर भी द्रव्य लोभ से उसके साथ काम-क्रीडा करने की इच्छा करती है। वही व्यक्ति सर्वथा योग्य है जो ऐसी शीलभ्रष्ट वेश्याओं को निंदातिनिन्द तथा त्याज्य से त्याज्य मानता है।'

मुनि के ये वचन सुनकर श्रीदत्त को बहुत दुःख व आश्चर्य हुआ। पुनः उसने मुनि से पूछा कि, 'हे त्रैलोक्याधीश! यह सब वृत्तान्त उस बन्दर ने कैसे जाना? महाराज! जिस प्रकार मुनिराज जीवों को संसार-बंधन से बचाते हैं, उसी प्रकार उसने मुझे अंध-कूप में गिरने से बचाकर बहुत ही अच्छा किया, परन्तु वह मनुष्य की भाषा किस तरह बोलता था सो समझाइये।'

मुनि भगवन्त कहने लगे कि, 'हे श्रीदत्त! तेरा पिता सोमश्रेष्ठी स्त्री के ध्यान में निमग्न होकर नगर में प्रवेश करते हुए एकाएक बाण लगने से मृत्यु पाकर व्यन्तर हुआ। चित्त में बहुत राग होने से भ्रमर की तरह वह अनेकों वनों में भ्रमण करता हुआ इधर आया, तथा तुझे अपनी माता में आसक्त हुआ देखकर उसने बन्दर के शरीर में प्रवेश करके तुझे सावधान किया। परभव में जाने पर भी पिता सदैव पुत्र का हिताकांक्षी ही रहता है। वही तेरा पिता पुनः बन्दर के रूप में अभी यहां आयेगा और पूर्व-भव के प्रेम से तेरी माता को पीठ पर बिठाकर तेरे देखते-देखते शीघ्र यहां से ले जायेगा।'

मुनिराज यह कह ही रहे थे कि इतने में उसी बन्दर ने आकर जैसे सिंह अम्बाजी को पीठ पर धारण करता है वैसे ही सुवर्णरिखा को अपनी पीठ पर बिठाकर वह अपने इष्ट स्थान को चला गया।

इधर विभ्रमवती ने अपनी दासियों से पूछा कि, 'सुवर्णरिखा कहां है?' दासियों ने उत्तर दिया कि, 'एक लक्ष दिनार स्वीकार करके श्रीदत्त नामक श्रेष्ठी उसे उद्यान में ले गया है।'

कुछ समय के पश्चात् विभ्रमवती की भेजी हुई दासियों ने एक दुकान पर बैठे हुए श्रीदत्त से पूछा कि, 'सुवर्णरिखा कहां है?' श्रीदत्त ने उत्तर दिया, 'कौन जाने कहां गयी? मैं क्या उसका नौकर हूँ?'

दासियों ने जाकर यही बात विभ्रमवती को कही। तब क्रोध से राक्षसी के समान होकर उस वेश्या ने राजा के संमुख जाकर, 'हे राजन्! मैं लुट गयी, लुट गयी!! इस प्रकार पुकार करना शुरू किया'। राजा ने पूरा हाल पूछा तब वह कहने लगी कि, 'मेरी साक्षात् सुवर्णपुरुषरूपी सुवर्णरिखा को चोर शिरोमणि श्रीदत्त श्रेष्ठी ने कहीं छिपा दी है।'

'श्रीदत्त ने गणिका की चोरी करी यह बात कितनी असंभव है?' यह सोचकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने श्रीदत्त को बुलाकर यह बात पूछी। श्रीदत्त ने यह सोचकर कि, 'जो मैं सब बात सत्य भी कह दूंगा तो भी ऐसी बात पर कौन विश्वास करेगा?' कुछ भी स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। कहा भी है कि—

असम्भाव्यं न वक्तव्यं, प्रत्यक्षं यदि दृश्यते।

यथा वानरसङ्गीतं, यथा तरति सा शिला ॥१॥

बन्दर की संगीतकला या पानी पर तैरती शिला के समान कोई अघटित बात नजर आवे तो भी प्रकट नहीं करना ही उत्तम है।

पापकर्म जैसे मनुष्य को नरक में डालते हैं वैसे ही राजा ने श्रीदत्त को बन्दीगृह में डाल दिया और क्रोध की अधिकता से उसकी सब संपत्ति जप्त करके उसकी कन्या को अपने यहां दासी बना लिया। सत्य है, भाग्य की तरह राजा भी किसी का सगा नहीं।

बन्दीगृह में पड़े हुए श्रीदत्त को जब यह विचार उत्पन्न हुआ कि, जैसे पवन से अग्नि सुलगती है वैसे ही मैंने कोई उत्तर नहीं दिया इससे राजा की कोपाग्नि धधक उठी है अतएव यदि मैं यथार्थ बात कह दूँ तो कदाचित् छुटकारा हो जायेगा। तब उसने द्वारपाल के द्वारा राजा को प्रार्थना की।

जब राजा ने उसे बन्दीगृह से निकालकर पुनः पूछा तो उसने कहा कि, 'एक बन्दर सुवर्णरिखा को ले गया है', यह सुनकर सबको हंसी आ गयी, वे आश्चर्य पाकर कहने लगे कि, 'अहा! कौसी सत्य बात कही? यह दुष्ट कितना मूर्ख है?'

राजा का क्रोध और भी बढ़ गया उसने एकदम श्रीदत्त को प्राणदंड की आज्ञा दी। यह बात योग्य ही है कि बड़े मनुष्यों का रोष अथवा तोष शीघ्र ही भला या बुरा फल देता है। राजा की आज्ञानुसार उसके वीर सुभट तुरन्त ही श्रीदत्त को वध्यस्थल पर ले गये। तब वह मन में विचार करने लगा कि, 'माता तथा पुत्री के साथ कामभोग करना तथा मित्रघात की चेष्टा इत्यादि महान् पातक मेरे हाथ से हुए हैं, उनका फल इसी भव

में मुझे मिल गया, धिक्कार है ऐसे दुर्दैव को कि जिसका इतना बुरा परिणाम है, सत्य कहने पर भी इतना अयोग्य परिणाम हुआ। तूफानी समुद्र के समान प्रतिकूल दैव को कौन रोक सकता है? क्या कोई अपनी कल्लोलमाला (लहरों) से बड़े बड़े पर्वतों को तोड़ देनेवाले संमुख आते हुए समुद्रप्रवाह को रोक सकता है? इसी तरह पूर्वभव में किये हुए कर्मों के शुभाशुभ परिणाम को भी कोई रोक नहीं सकता।'

इतने में ही मानो श्रीदत्त के पुण्यों ने आकर्षित किया हो इसी तरह इस देश में विहार करते हुए मुनिचन्द्र नामक केवली का उसी समय नगर के बाहर के उद्यान में आगमन हुआ। उद्यान-पालक के द्वारा खबर मिलते ही राजा सपरिवार वहां गया और जैसे बालक प्रातःकाल होते ही माता के पास खाने को मांगता है वैसे ही मुनिराज के पास उपदेश की याचना की। गुरु महाराज ने कहा कि, 'बन्दर को रत्नमाला के समान, जिसके हृदय में जगत् हितकारी धर्म व न्याय का मूल्य नहीं उसको क्या उपदेश दिया जाय?'

यह सुन राजा ने घबराकर पूछा कि, 'हे महाराज! मैं किस प्रकार अन्यायी हूँ?' मुनिचन्द्रकेवली ने उत्तर दिया, 'सत्यभाषी श्रीदत्त का वचन तूने क्यों नहीं माना? राजा ने लज्जित होकर उसी समय श्रीदत्त को बुलाया और आदरयुक्त अपने पास बैठकर मुनिराज से पूछा कि, 'महाराज! यह सत्य-भाषी कैसे?' इतने में ही वही बंदर पीठ पर सुवर्णरिखा को लिये हुए वहां आया तथा उसे पीठ से उतारकर वह भी वही बैठ गया। सब लोग कौतुक से उसे देखने लगे। राजा आदि सब ने सत्यवक्ता श्रीदत्त की बहुत प्रशंसा की तथा केवली भगवान् से सब वृत्तान्त पूछा। तब उन्होंने सब बात यथार्थ कह सुनायी।

तत्पश्चात् श्रीदत्त ने सरल-भाव से प्रश्न किया कि, 'हे भगवंत! मुझे अपनी माता तथा पुत्री पर कामवासना क्यों उत्पन्न हुई?'

केवली भगवान् ने कहा कि, 'यह सब तेरे पूर्वभव का प्रभाव है इसलिए तेरा पूर्वभव सुन—

पांचालदेश के कांपित्यपुर नगर में अग्निशर्मा नामक ब्राह्मण रहता था। उसका चैत्र नामक एक पुत्र था। चैत्र को शंकर की तरह गंगा व गौरी नामक दो स्त्रियां थीं। एक बार वह ब्राह्मणपुत्र चैत्र, मैत्र नामक मित्र के संग कुंकण देश में याचना करने गया। ब्राह्मणों को याचना बहुत ही प्रिय लगती है। ग्राम-ग्राम भ्रमण करके उन्होंने बहुतसारा द्रव्य उपार्जन किया। एक दिन जब कि चैत्र सो रहा था, मैत्र ने हृदय में दुष्ट अध्यवसाय रखकर विचार किया कि, 'इस चैत्र को मारकर मैं सर्व द्रव्य ले लूं और तुरंत मारने को उठा। अनर्थ को पैदा करनेवाले ऐसे द्रव्य को धिक्कार है। जिस प्रकार दुष्ट वायु मेघ को छिन्नभिन्न कर देता है उसी तरह द्रव्य का लोभी मनुष्य विवेक, सत्य, संतोष, लज्जा, प्रीति तथा दया आदि सदगुणों को शीघ्र नष्ट कर देता है। परन्तु सुदैव के योग से उसी समय मैत्र के चित्त में विवेकरूपी सूर्य का उदय हुआ और उससे लोभरूपी गाढ़

अन्धकार नाश हो गया। वह विचार करने लगा कि, 'मुझ पर विश्वास करनेवाले मित्र का वध करनेवाले मुझको धिक्कार है। ऐसे अथ्यवसाय से मैं निंद्य से भी निंद्य हो गया।' इत्यादि विचार करता हुआ वह यथावत् अपने स्थान पर बैठ गया।

प्रातःकाल होते ही पुनः भ्रमण करना प्रारंभ किया। जिस प्रकार गङ्गा खोदने से बढ़ता है उसी तरह लाभ से लोभ भी बढ़ता है, साथ ही अतिलोभ करने से इसी लोक में अनर्थ की उत्पत्ति होती है, इसमें संशय नहीं।

लोभरूपी नदी के पूर में डूबे हुए वे दोनों ब्राह्मण एक समय मार्ग में आयी हुई वैतरणी नदी के पूर में उतरे तथा डूबकर मर गये। तथा प्रथम तिर्यच योनि पायी। पश्चात् नाना भव-भ्रमण करके हे श्रीदत्त! तुम दोनों मित्र (शंखदत्त व श्रीदत्त) हुए। शंखदत्त ने पूर्वभव में तेरे वध का विचार किया था इससे तूने उसे समुद्र में डाल दिया। जिस प्रकार लेनदार का कर्ज व्याज सहित चुकाना पड़ता है उसी तरह पूर्वभव के किये हुए कर्म भी यथाक्रम भोगने पड़ते हैं।

तेरी दोनों स्त्रियां तेरे वियोग से संसार-मोह छोड़कर तपस्विनी हो गयी तथा मासखमण पर मासखमण (मासिक उपवास) रूपी तपस्या करने लगीं। विधवा होने पर कुलीन-स्त्रियों को यही उचित है। मनुष्य भव पाकर यह भव तथा पूर्व भव दोनों ही व्यर्थ गुमा बैठे ऐसा कौन मूर्ख है?

एक दिन अधिक तृषा लगने से व्याकुल होकर गौरी ने एक दासी के पास से बहुत बार पानी मांगा। दुपहर का समय होने के कारण निद्रा के वश हुई उस दासी ने ढीठ-मनुष्य (अहंकारी मानव) की तरह कुछ भी उत्तर नहीं दिया। गौरी यद्यपि स्वभाव से क्रोधी नहीं थी तथापि उस समय उसने दासी पर बहुत क्रोध किया। प्रायः तपस्वी, रोगी और क्षुधा तथा तृषा से पीड़ित मनुष्यों को थोड़े से कारण पर ही बहुत क्रोध चढ़ आता है।

गौरी ने क्रोध से कहा, 'रे नीच! मरे हुए मनुष्य की तरह तू मुझे जवाब नहीं देती है इसका क्या कारण है?' इस तरह तिरस्कारयुक्त वचन सुनने पर दासी उठी व मधुर वचनों से गौरी का समाधानकर उसे पानी पिलाया। परन्तु गौरी ने, दुष्ट वचनों के कारण बहुत दुःख से भोगने के योग्य कर्म संचित किया। हंसी में कहे हुए कुवचनों से भी जब कर्म संचय होता है तो क्रोध से बोले हुए वचनों से कर्म का संचय हो इसमें शंका ही क्या है?

गंगा ने भी काम का समय बीत जाने पर आयी हुई एक दासी को क्रोध से कहा कि, 'अरे दुष्ट दासी! तू अब आयी है, क्या तुझे किसीने कैद कर दी थी?'

सारांश यही कि, गंगा व गौरी दोनों ने क्रोधवश समान ही कर्मों का संचय किया।

एक समय बहुत से काम-व्यसनी-लोगों के साथ विलास करती हुई एक वेश्या को देखकर गंगा ने विचार किया कि 'भ्रमरों का झुंड जिस प्रकार प्रफुल्लित मोगरे की बेल को भोगते हैं, उसी प्रकार बहुत कामी-भ्रमर (लोग) जिसे भोगते हैं, ऐसी स्त्री धन्य

है; तथा मेरे समान अभागिनी से भी अभागिनी को पति तक छोड़कर परलोक चला गया, उसको बार-बार धिक्कार है।'

दुष्टमति गंगा ने ऐसे आर्त्तध्यान से वर्षाऋतु में लौह पर चढ़े हुए कीट के समान पुनः कर्म संचय किया। अन्त में मृत्यु को पाकर दोनों देवलोक में ज्योतिषी-देवता की देवियां हुईं तथा वहां से च्युत होकर गंगा तेरी माता व गौरी तेरी पुत्री हुईं। पूर्वभव में दासी को दुर्वचन कहा था इससे तेरी पुत्री को सर्प-दंश हुआ और तेरी माता को इसीसे भिल्ल की पल्ली में रहना पड़ा। तथा गणिका की प्रशंसा करी इससे गणिकापन भोगना पड़ा। पूर्व-कर्म से असंभव बात भी संभव हो जाती है। बड़े खेद की बात है कि औ कर्म केवल मन अथवा वचन से संचित होते हैं, उनकी अगर आलोचना न करे तो काया से इस तरह भोगना पडता है। तूने पूर्वभव के अभ्यास से इन दोनों पर कामवासना रक्खी। जैसा अभ्यास होता है वैसा ही संस्कार परभव में प्रकट होता है। धर्म-संस्कार तो अधिकाधिक अभ्यास होने पर भी प्रकट नहीं होते, परन्तु कच्चे-पक्के सामान्य संस्कार तो परभव में आगे-आगे दौड़ते हैं।

केवली भगवान् के ये वचन सुनकर श्रीदत्त को संसार पर वैराग्य तथा खेद उत्पन्न हुआ। उसने पुनः पूछा कि, 'हे महाराज! संसार से मुक्त होने का कोई उपाय बतलाइये। जिसमें ऐसी विडंबना होती है उस श्मशान समान संसार में कौन जीवित व्यक्ति सुख पा सकता है?'

मुनिराज ने कहा—'संसाररूपी गहन-वन से मुक्त होने का चारित्र ही केवल उत्तम साधन है, इसलिए तू शीघ्र चारित्र ग्रहण करने का प्रयत्न कर।' श्रीदत्त ने कहा—'बहुत अच्छा, पर इस कन्या को कोई योग्य स्थल देखकर देना है, कारण कि इसकी चिन्ता मुझे संसार सागर में तैरते गले में बंधे हुए पत्थर के समान है।' मुनिराज बोले कि, 'हे श्रीदत्त! तू व्यर्थ पुत्री की चिन्ता न कर, कारण कि तेरी पुत्री के साथ तेरा मित्र शंखदत्त विवाह करेगा।' श्रीदत्त ने आंखों में आंसू भरकर गद्गद् स्वर से कहा कि, 'हे महाराज! मुझ जैसे क्रूर व पापी को वह मित्र कहां से मिले?' मुनिराज ने कहा, 'खेद न कर और दुःखी भी मत हो। तेरा मित्र मानो बुलाया ही हो उस प्रकार अभी यहां आयेगा।'

श्रीदत्त आश्चर्य से हंसकर विचार करता ही था कि इतने में दूर से शंखदत्त को आता हुआ देखा। उधर शंखदत्त श्रीदत्त को देखकर अत्यन्त क्रोधित हो यम की तरह क्रूर हो उसे मारने दौड़ा। श्रीदत्त एक तो क्षुभित था तथा राजा आदि के पास होने से क्षण मात्र स्थिर रहा। इतने में मुनिराज बोले कि, 'हे शंखदत्त! तू क्रोध को चित्त से निकाल दे। कारण कि क्रोध अग्नि की तरह इतना तीव्र होता है कि अपने रहने के स्थान तक (देह) को जलाकर भस्म कर देता है, क्रोध चांडाल है, अतएव इसका स्पर्श नहीं करना ही उचित है, यदि स्पर्श हो जाय तो अनेक बार गंगा स्नान करने पर भी शुद्धि नहीं होती है। जैसे भयंकर विषधर सर्प गारुडी मंत्र सुनते ही शान्त हो जाता है, वैसे ही मुनिराज

की तत्त्वगर्भित-वाणी सुनकर शंखदत्त शांत हुआ। श्रीदत्त ने उसे प्रीतिपूर्वक हाथ पकड़कर अपने पास बिठाया। वैर दूर करने की यही रीति है।

पश्चात् श्रीदत्त ने केवली भगवान् से पूछा कि, 'हे स्वामिन्! यह समुद्र में से यहां किस तरह आया?'

केवली भगवान् ने कहा, 'जिस समय तूने इसे समुद्र में फँका उस समय क्षुधा पीड़ित मनुष्य को फल की तरह इसे एक पाटिया मिल गया। बिना आयुष्य पूर्ण हुए कभी मृत्यु नहीं हो सकती। उत्तम वैद्यक औषधौपचार से जैसे मनुष्य दुःसाध्य व्याधि से भी सात ही दिन में मुक्त हो जाता है वैसे ही वायु के अनुकूल होने से पाटिये के सहारे यह सात दिन में किनारे पहुँच गया, और किनारे पर बसे हुए सारस्वत नगर में इसने विश्राम किया। इस नगर में इसका संवर नामक मामा रहता था उसने इसे इस दशा में देखकर बहुत खेद प्रगट किया और बड़े प्रेम से अपने घर ले गया। समुद्र की उष्णता से इसके सब अवयव जल गये थे। संवर ने उत्तमोत्तम औषधियों द्वारा एक मास में इसे ठीक किया। एक समय इसने अपने मामा से सुवर्णकूल-बंदर का हाल पूछा तो उसने इस तरह वर्णन किया कि, 'यहां से अस्सी कोश दूर सुवर्णकूल बंदर है। सुना है कि आज कल वहां किसी श्रेष्ठि के बड़े-बड़े जहाज आये हैं।' यह सुनते ही इसके मन में नट की तरह हर्ष तथा रोष एक ही साथ उत्पन्न हुआ अर्थात् तेरा पता लग जाने से तो हर्ष हुआ और तेरी कपट चेष्टा का स्मरण होने से रोष पैदा हुआ। इस प्रकार मन में परस्पर विरुद्ध भाव धारणकर मामा की आज्ञा लेकर यह यहां आया। पूर्व कर्म के अनुसार इसी प्रकार जीव का संयोग वियोग होता है।' इतना कहकर केवली भगवान् ने शंखदत्त को भी पूर्व भव का सब सम्बंध कह सुनाया और कहा कि, 'हे शंखदत्त! पूर्व भव में तूने इसे मारने की इच्छा की थी इसी कारण इसने इस भव में तुझे मारने की इच्छा की। जिस तरह अपशब्द का बदला अपशब्द (गाली) कहने से पूरा होता है वैसे घात प्रतिघात का बदला चुक गया। अब तुम परस्पर बहुत प्रीति रखना, क्योंकि मित्रता इस लोक तथा परलोक में भी सर्व कार्यों की सिद्धि करने वाली है, इसमें संशय नहीं।' यह वचन सुनकर दोनों ने परस्पर अपने-अपने अपराधों की क्षमा मांगी और पूर्ववत् प्रीति रखने लगे। ग्रीष्म ऋतु के अंत में आयी हुई प्रथम जलवृष्टि के समान सद्गुरु के वचन से क्या नहीं हो सकता? तत्पश्चात् केवली भगवान् ने उपदेश दिया कि, 'हे भव्य जीवो! तुम समकित पूर्वक जैनधर्म की आराधना करो। जिससे तुम्हारे संपर्ण इष्टकार्यों की सिद्धि होगी।'

धर्माः परे परा अप्याग्नादिकवत्फलन्ति नियतफलैः।

जिनधर्मस्त्वखिलविधोऽप्यखिलफलैः कल्पफलद इव ॥१॥

अन्य धर्मों का चाहे अच्छी तरह आराधन किया हो परन्तु वे केवल आमआदि

के वृक्ष समान हैं अर्थात् जैसे आम का वृक्ष केवल आम फल देता है, जामुन का वृक्ष केवल जामुन फल देता है वैसे ही वे धर्म भी केवल नियमित फल के दाता हैं, परन्तु यदि जैनधर्म की संपूर्णतः आराधना की जाये तो वह कल्पवृक्ष की तरह मनवांछित फल देता है।'

मोक्षाभिलाषी राजा आदि सर्व लोगों ने यह उपदेश सुनकर केवली भगवान् के पास सम्यक्त्व मूल बारह व्रत ग्रहण किये। उस व्यंतर (बन्दर के जीव) तथा सुवर्णरिखा ने भी समकित को अंगीकार किया। मोह से उन दोनों का दिव्य तथा औदारिक संयोग बहुत काल तक रहा, श्रीदत्त अपने घर आया, राजा ने उसका बहुत सत्कार किया। तत्पश्चात् उसने अपनी कन्या व आधी संपत्ति शंखदत्त को देकर शेष आधी संपत्ति सात क्षेत्रों में विभाजितकर ज्ञानी गुरु के पास दीक्षा ग्रहण की और विहार करता हुआ अब यहां आया है।

(श्रीदत्त केवली कहते हैं कि) हे मृगध्वज राजन्! दुस्तर मोह को जीतकर केवल ज्ञान पाया हुआ मैं वही श्रीदत्त हूं। इस तरह जो पूर्व भव में मेरी स्त्रियां थी वे इस भव में पुत्री तथा माता हुईं, इसलिए इस संसार में यह बात कोई आश्चर्यजनक नहीं, ऐसा विचार करके विद्वान् पुरुष को व्यावहारिक सत्य के अनुसार सर्व व्यवहार करना चाहिए, सिद्धान्त में दस प्रकार का सत्य कहा है।

'व्यवहार सत्य' यथा-१ जनपदसत्य, २ संमतसत्य, ३ स्थापनासत्य, ४ नामसत्य, ५ रूपसत्य, ६ प्रतीत्यसत्य, ७ व्यवहारसत्य, ८ भावसत्य, ९ योगसत्य और १० उपमासत्य अर्थात्-कुंकण आदि देशों में 'पय, पिच्चं, नीरं, उदकं' आदि नाम से पानी को जानते हैं, यह प्रथम जनपदसत्य है। २ कुमुद (श्वेतकमल) कुवलय (नीलकमल) आदि सब जाति के कमल कीचड़ में ही पैदा होते हैं तो भी अरविंद (रक्त कमल) को ही पंकज कहना यह जो लोक-सम्मत है इसे सम्मतसत्य जानो। ३ लेप्यादि प्रतिमा को अरिहंत समझना अथवा एक दो इत्यादि अंक लिखना, किंवा रुपया, पैसा इत्यादिक पर 'यह रुपया है, पैसा है' ऐसे अर्थ की मुद्रा (छाप) करना यह स्थापनासत्य है। ४ कुल की वृद्धि न करने पर भी 'कुलवर्धन' कहलाना यह नामसत्य है। ५ वेष मात्र धारण करने पर भी जैसे साधु कहलाता है इसे रूपसत्य कहते हैं। ६ केवल अनामिका (टचली के पास की अंगुली) कनिष्ठा (टचली अंगुली) की अपेक्षा लम्बी और मध्यमा (बीच की अंगुली) की अपेक्षा छोटी कहलाती है, इसे प्रतीत्यसत्य कहते हैं। ७ पर्वत के ऊपर स्थित वृक्ष-तृण आदि के जलते हुए भी पर्वत जलता है ऐसा कहा जाता है और बरतन में से पानी गलता हो तो बरतन गलता है, कृश उदरवाली कन्या उदररहित तथा जिसके शरीर पर थोड़े-थोड़े रोम हो ऐसी भेड़ रोमरहित कहलाती है, ऐसे को व्यवहारसत्य जानो। ८ यहां भावशब्द से वर्णादिक लेना है, अतः पांच वर्ण का संभव होने पर भी बगुला सफेद कहलाता है यह भावसत्य है। ९ दंड धारण करने से दंडी कहलाता है यह योगसत्य है। १० तथा 'यह तालाब तो साक्षात् समुद्र है' इत्यादि

जो उपमायुक्त कहा जाता है इसे उपमासत्य कहते हैं। व्यवहार सत्य इतने प्रकार के हैं इसलिए व्यवहार में व्यवहार सत्य के ही अनुसार चलना चाहिए।

चतुर शुकराज केवली भगवंत के ये वचन सुनकर अपने मातापिता को 'पिता, माता' इस तरह प्रकटरूप से बोलने लगा जिससे सब लोगों को संतोष हुआ।

तदनन्तर मृगध्वज राजा ने पूछा कि, 'हे महाराज! युवावस्था में ही आपको ऐसा वैराग्य प्राप्त हुआ, अतः आपको धन्य है। क्या मुझे भी किसी समय ऐसा वैराग्य होगा? केवली भगवान् ने उत्तर दिया, 'हे राजन्! तेरी चन्द्रवती नामक रानी के पुत्र का मुंह देखते ही तुझे दृढ़ वैराग्य प्राप्त होगा।'

केवली भगवंत के वचनों को सत्य मानकर राजा उनको वन्दनाकर हर्षपूर्वक सपरिवार अपने महल में आया। अपनी सौम्यदृष्टि से मानों अमृतवृष्टि करता हो ऐसा शुकराज जब दश वर्ष का हुआ तब रानी कमलमाला को दूसरा पुत्र उत्पन्न हुआ। रानी के पूर्व स्वप्न के अनुसार उसका नाम 'हंसराज' रखा गया। शुकलपक्ष के चन्द्रमा की तरह अपनी रूपादिक समृद्धि के साथ वह दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। साथ ही राम लक्ष्मण की तरह शुकराज व हंसराज दोनों प्रेमपूर्वक साथ-साथ खेलने लगे। तथा जैसे काम और अर्थ दोनों धर्म की सेवा करते हैं इस तरह पिता की सेवा करने लगे। एक दिन राजा मृगध्वज सभा में बैठे थे कि द्वारपाल ने आकर तीन शिष्यों के साथ गांगलि ऋषि के आने की सूचना दी और आज्ञा पाकर उन्हें अन्दर लाया।

राजा ने ऋषि को योग्य आसन देकर कुशल-क्षेमादि पूछा, ऋषि ने भी यथाविधि क्षेम कुशल पूछकर आशीर्वाद दिया। पश्चात् राजा ने विमलाचल तथा ऋषि के आश्रम का समाचार पूछकर प्रश्न किया कि, 'यहां आपका आगमन किस हेतु से और किस प्रकार हुआ है?' तब ऋषि ने कमलमाला को पड़दे के अंदर बुलवाकर कहा कि, 'आज गौमुख नामक यक्ष स्वप्न में आकर मुझे कहने लगा कि, 'मैं विमलाचल तीर्थ को जानेवाला हूं।' मैंने यक्ष से पूछा, 'इस तीर्थ की रक्षा कौन करेगा?' उसने उत्तर दिया कि, 'हे गांगलि ऋषि! तेरी पुत्री कमलमाला को भीम और अर्जुन के समान लोकोत्तर चरित्रधारी शुकराज व हंसराज नामक दो पुत्र हैं, उनमें से किसी एक को तू यहां ले आ उनके अपरिमित माहात्म्य से इस तीर्थ में कोई उपद्रव नहीं होगा।' मैंने कहा, 'क्षितिप्रतिष्ठित नगर तो यहां से बहुत दूर है, मैं किस प्रकार जाऊं व उन्हें लेकर किस प्रकार आऊं?' मेरे इस प्रश्न पर यक्ष ने कहा कि, 'यद्यपि क्षितिप्रतिष्ठित नगर यहां से बहुत दूर है तथापि मेरे प्रभाव से समीप की तरह दुपहर के पहिले ही तू जाकर आ जायेगा।' इतना कहकर यक्ष अदृश्य हो गया। प्रातःकाल होते ही मैं जागृत हुआ और वहां से विदा होकर शीघ्र ही यहां आया। देवता के प्रभाव से क्या नहीं हो सकता है? हे राजन्! दक्षिणा के रूप में दोनों में से एक पुत्र शीघ्र मुझे दे, ताकि बिना प्रयास प्रभात के उठे समय में ही आश्रम को चला जाऊं।'

ऋषि के वचन सुनकर महा पराक्रमी, उत्कृष्ट कान्तिवान बालक हंसराज ने हंस

के समान गंभीर शब्दों से आदरपूर्वक पिता को कहा कि, 'हे तात! मैं तीर्थरक्षा करने जाऊंगा।' यह सुन माता-पिता ने कहा, 'तेरे वचनों को हम बलिहारी लेते हैं।'

ऋषि बोले-'अहा! बाल्यावस्था में भी यह कितना आश्चर्यकारी क्षत्रियतेज है? सत्य है सूर्य की तरह सत्पुरुषों का तेज भी अवस्था की अपेक्षा नहीं रखता।'

राजा मृगध्वज ने कहा कि, 'बालक हंसराज कैसे भेजा जाय? बालक के शक्तिमान होने पर भी पुत्रस्नेह वश माता-पिता के मन में तो शंका बनी ही रहती है। पुत्र स्नेह ऐसा है कि भय न होने पर भी उससे माता-पिता को पद-पद पर भय दृष्टि में आता है। क्या सिंह की माता अपने पुत्र के सिंह होने पर भी उसके नाश की शंका नहीं करती?'

उसी समय सुदक्ष शुकराज उत्साहपूर्वक बोला-'हे तात! मैं प्रथम से ही विमलाचल तीर्थ को वंदना करने की इच्छा करता हूँ और यह अवसर भी आ मिला। जैसे नृत्य करने के इच्छुक मनुष्य के कान में मृदंग का गंभीर शब्द पड़े, क्षुधातुर पुरुष को भोजन का निमंत्रण आवे तथा निद्रा ग्रसित व्यक्ति को बिछा हुआ बिछौना मिले उसी प्रकार मुझे यह उत्तम साधन प्राप्त हो गया है इसलिए आपकी आज्ञा से मैं वहां जाऊंगा।' शुकराज के ये वचन सुनकर राजा मृगध्वज मंत्रियों के मुख की तरफ देखने लगा, तब मंत्रीगण बोले-'ऋषिश्रेष्ठ गांगलि ऋषि तो मांगनेवाले हैं, आप दाता हैं, तीर्थस्थान की रक्षा करने का कार्य है तथा रक्षा करनेवाला शुकराज है, इसलिए हमको इस कार्य में सम्मति देना उचित ही है।'

दूध में धी व शक्कर की तरह मंत्रियों की अनुकूल सम्मति सुनकर शुकराज जाने के लिए बहुत उत्सुक हुआ तथा नेत्रों में अश्रु धारण किये हुए माता-पिता के चरणों में प्रणामकर गांगलि ऋषि के साथ चला और अर्जुन के समान वह धनुर्धारी वीर क्षणमात्र में सुयोग्य तीर्थ पर आया तथा सुसज्जित होकर वहां रहने लगा। उसके प्रभाव से उस पर्वत पर फल फूलों की खूब उत्पत्ति हुई, हिंसक पशु तथा वन में अग्नि इत्यादि का किंचित् मात्र भी उपद्रव नहीं हुआ। पूर्वध्व में आराधन किये हुए धर्म की महिमा इतनी अद्भुत है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, कारण कि शुकराज के समान साधारण मनुष्य की भी योग्यता एक महान तीर्थ के समान हो गयी। तपस्वीजनों के सानिध्य से सुखपूर्वक वहां रहते हुए एक दिन रात्रि के समय शुकराज ने किसी स्त्री के रोने का शब्द सुना। उसने उस स्त्री के पास जाकर मधुर-शब्दों से उसके दुःख का कारण पूछा। उस स्त्री ने कहा कि,-

'शत्रु के समुदाय से भी कम्पित न होनेवाली चंपापुरी नगरी में शत्रुओं का मर्दन करनेवाला शत्रुमर्दन नामक राजा है। उस राजा के साक्षात् पद्मावती के समान गुणवान पद्मावती नामक एक कन्या है, मैं उसकी धायमाता हूँ। एक समय मैं उसे गोद में लिये बैठी थी कि इतने में जैसे सिंह गाय सहित बछड़े को उठा ले जाये उस प्रकार कोई पापी मेरे सहित उस कन्या को उठा लाया तथा मुझे यहां डाल कौए की

तरह वह दुष्ट कन्या को लेकर भाग गया। इसी दुःख से मैं रोती हूँ।

उस स्त्री के वचन सुनकर शुकराज ने उसे धीरज दी और इसको तपस्वी की एक पर्णकुटी (झोपड़ी) में रखकर विद्याधर की खोज में चला। फिरते-फिरते पिछली रात्रि के समय जिनमंदिर के पीछे जाते उसने भूमि पर पड़े हुए एक मनुष्य को तड़फड़ते हुए देखा तथा उसका नाम व दुःख का कारण पूछा। उसने उत्तर दिया कि 'गगनवल्लभपुर के राजा सुप्रसिद्ध विद्याधर का मैं पुत्र हूँ। मेरा नाम वायुवेग है। राजा शत्रुमर्दन की पुत्री को हरणकर मैं इस मार्ग से जा रहा था कि तीर्थ के उल्लंघन से मेरी विद्या भ्रष्ट हो गयी इससे मैं यहां पड़ा हुआ हूँ। सर्वांग पीड़ित होने पर मैंने परकन्या हरण के पातक से दुर्गति का अनुमान करके उस कन्या को तथा उसके ऊपर की आसक्ति को भी छोड़ दी है। अधिक के हाथ से छूटे हुए पक्षी की तरह वह कन्या भी मुझे छोड़कर कहीं चली गयी। धिक्कार है मुझे कि लाभ की इच्छा से मैंने सुखरूप मूल द्रव्य भी खो दिया और असह्य व्यथा को भोगता हूँ।'

जिस बात की शोध में निकला था वही बात मालूम हो जाने से आनंदित होकर खोजते-खोजते शुकराज ने मंदिर में देवी तुल्य उस कन्या को देखी और उसे ले जाकर उक्त धात्री के पास रखी। बहुत से उपायकर विद्याधर को भी निरोग किया। जीवनदान के उपकार से बिके हुए दास की तरह वह विद्याधर शुकराज पर बहुत प्रीति रखकर उसका सेवक हो गया। 'पुण्य का माहात्म्य अद्भुत है।'

एक समय शुकराज ने उस विद्याधर से पूछा कि, 'हे विद्याधर! क्या तेरे पास आकाशगामिनी विद्या है?' उसने कहा-'महाराज! है; परन्तु वह बराबर स्फुरण नहीं हो रही है। कोई विद्यासिद्ध पुरुष जो मेरे मस्तक पर हाथ धरकर वह विद्या पुनः मुझे दे तो वह सिद्ध हो सकती है, अन्यथा नहीं।' इस पर शुकराज बोला कि, 'तो प्रथम तू मुझे वह विद्या दे, ताकि मैं विद्यासिद्ध होकर कर्ज लिये हुए द्रव्य की तरह तेरी विद्या तुझे वापस दे दूँ।' तदनुसार वायुवेग विद्याधर ने संतोष से शुकराज को आकाशगामिनी विद्या दी। वह भी विधि-पूर्वक उसे साधन करने लगा। दैव की अनुकूलता तथा पूर्वभव का पुण्य दृढ़ होने से शीघ्र ही वह विद्या उसे सिद्ध हो गयी। तत्पश्चात् वही विद्या विद्याधर को वापस दी, उसे भी मुखपाठ की तरह सिद्ध हो गयी। इससे दोनों व्यक्ति आकाश तथा भूमिगामी हो गये। वायुवेग ने शुकराज को अन्य भी बहुत सी विद्याएं सिखायी, अगणित पूर्व पुण्यों का योग होने पर मनुष्य को कोई बात दुर्लभ नहीं है।

पश्चात् गांगलि ऋषि की आज्ञा से उन दोनों ने एक विशाल विमान निर्मित किया और दोनों स्त्रियों को साथ लेकर चंपापुरी नगरी में गये। और मंत्र-सिद्ध पुरुष की तरह कन्या के अपहरण से दुःखित राजा का शोक दूर किया। राजा ने इसका परिचय पूछा तब वायुवेग ने शुकराज का सम्पूर्ण वर्णन कह सुनाया। जिससे राजा को ज्ञात हुआ कि यह तो मेरे मित्र का पुत्र है। शास्त्र में कहा है कि, 'राजा (रवि) मित्र-पुत्र (शनि) का शत्रु

है; परन्तु आश्चर्य की बात है कि वह राजा मित्रपुत्र शुकराज पर बहुत प्रीति रखने लगा तथा हर्षपूर्वक अपनी कन्या भी उसे दे दी। इसी रीति से ही प्रीति बढ़ती है' राजा ने चंपापुरी में वरकन्या के विवाह का भारी उत्सव किया। उस समय वर का बहुत ही सत्कार किया। राजा के विशेष आग्रह से शुकराज कुछ समय तक वहीं रहा। 'रसोई जिस प्रकार नमक से ही स्वादिष्ट व उत्तम होती है उसी प्रकार इस लोक के सर्व कार्य पूर्वपुण्य ही से सफल होते हैं, इसलिए विवेकी पुरुषों को सांसारिक कार्य करते हुए योग्यतानुसार धर्मकार्य भी अवश्य करते रहना चाहिए। यह विचारकर एक दिन शुकराज कुमार राजा की आज्ञा लेकर तथा पद्मावती को पूछकर विद्याधर के साथ वैताढ्य पर्वत पर चैत्यवन्दन करने को गया। चित्र विचित्र जिन-मंदिर से सुशोभित उस पर्वत की शोभा देखता और मार्ग चलता हुआ गगनवल्लभ नगर में आया। वायुवेग ने अपने माता-पिता को अपने ऊपर किये हुए उपकार का वर्णन किया तो उन्होंने हर्ष से अपनी कन्या वायुवेगा शुकराज को दी। विवाहोत्सव हो जाने के बाद शुकराज तीर्थ वन्दन के लिए बहुत उत्सुक हुआ, परन्तु आंतरिक प्रीति संस्कार करते हुए वायुवेग के माता-पिता ने उसे कुछ दिन वहीं रहने पर विवश किया। भाग्यशाली हो अथवा अभागी हो परन्तु उसे तीर्थयात्रा के समान धर्मकृत्य करने में विघ्न तो आते ही हैं, परन्तु उसमें अन्तर इतना रहता ही है कि भाग्यशाली को स्थान-स्थान पर सत्कार मिलता है और अभागे को पद-पद पर तिरस्कार मिलता है। एक समय कोई पर्व आया उसके उद्देश्य से वायुवेग तथा शुकराज दोनों व्यक्ति विमान में बैठकर तीर्थ वन्दन के लिए रवाना हुए। पीछे से किसी स्त्री ने आवाज दिया कि 'शुकराज, शुकराज!' जिसे सुन चकित हो दोनों जने खड़े रहे और उसे पूछा कि, 'तुम कौन हो?' उस स्त्री ने उत्तर दिया कि, 'मैं चक्रेश्वरी नामक देवी हूँ। सद्गुरु की आज्ञा की तरह गोमुख यक्ष की आज्ञा से मैं काश्मीर देशान्तर्गत विमलाचल तीर्थ पर रक्षा करने के लिए जा रही थी। मार्ग में ज्यों ही मैं क्षितिप्रतिष्ठितनगर पर आयी तो मैंने उच्च स्वर से रुदन करते हुए एक स्त्री का आर्त शब्द सुना। उसके दुःख से दुःखित होकर मैं नीचे उतरी और उसे पूछा कि 'हे कमलाक्षि! तुझे क्या दुःख है?' उसने उत्तर दिया कि-'मेरे शुकराज नामक पुत्र को गांगलि ऋषि अपने आश्रम में ले गये हैं। बहुत समय व्यतीत हुआ पर अभी तक उसका कुशल समाचार नहीं मिला। इससे मुझे महा दुःख हो रहा है।' यह सुन मैंने कहा-'हे भद्रे! तू रुदन न कर। मैं वहीं जाती हूँ, वापस लौटते समय तक तेरे पुत्र का कुशल समाचार लेती आऊंगी। इस प्रकार उसका समाधानकर मैं विमलाचल तीर्थ पर गयी, वहां तुझे न देखा तो अवधिज्ञान से ज्ञात करके मैं यहां आयी हूँ। हे चतुर! शीघ्र तेरी आतुर माता को अपने दर्शन देकर शान्तवना दे। जैसे सेवक अपने स्वामी की इच्छा के अनुसार वर्ताव करते हैं उसी प्रकार विशेषकर सुपुत्र अपनी माता की, सुशिष्य अपने गुरु की, तथा श्रेष्ठ कुलवधु अपनी सास की इच्छानुसार वर्ताव करते हैं। माता-पिता अपने सुख के लिए ही पुत्र की इच्छा करते हैं। जो पुत्र दुःख का कारण

बने तो ऐसा समझना चाहिए कि मानों जल में अग्नि लगी। माता-पिता में भी माता विशेष पूजनीय है। कारण कि पिता की अपेक्षा पुत्र के लिए माता ही अधिक कष्ट सहती है।

ऊढो गर्भः प्रसवसमये सोढमप्युग्रशूलं,

पथ्याहारैः स्नपनविधिभिः स्तन्यपानप्रयत्नैः।

विष्टामूत्रप्रभृतिमलिनैः कष्टमासाद्य सद्यः,

त्रातः पुत्रः कथमपि यया स्तूयतां सैव माता ॥११॥ ६७८॥

'जिसने गर्भ धारण किया, प्रसूति के समय अतिविषम वेदना सहन की तथा बाल्यावस्था में स्नान कराना, दूधपान का यत्न रखना, मल-मूत्रादिक साफ करना, योग्य भोजन खिलाना आदि बहुत प्रयास से जिसने रक्षण किया वह माता ही प्रशंसनीय है।' यह सुन शोक से सजल नेत्र होकर शुकराज कहने लगा कि, 'हे देवि! समीप आये हुए तीर्थ को वन्दना किये बिना किस प्रकार जाऊँ?'

छेकेनाप्युत्सुकेनापि, कार्यमेव यथोचितम्।

सद्धर्मकर्मावसरानुप्राप्तमिव भोजनम् ॥११॥ ६८०॥

चतुर मनुष्य को उचित है कि चाहे कितनी ही उत्सुकता हो परन्तु प्रथम योग्य कार्य को अवश्य करे। जैसे समय पर भोजन करते हैं वैसे ही अवसर आ जाने पर धर्मकृत्य करना भी आवश्यक है। माता इस लोक में स्वार्थ करनेवाली है परन्तु यह तीर्थ तो इस लोक तथा परलोक दोनों में ही हितकर है; इसलिए उत्सुक होते हुए भी मैं इस तीर्थ को वन्दना करके वहाँ आऊँगा। तू माता से कहना कि 'मैं अभी आता हूँ।' तदनुसार चक्रेश्वरी देवी ने शीघ्र ही जाकर कमलमाला को उक्त संदेश कह सुनाया।

इधर शुकराज ने वैताढ्य-पर्वत के तीर्थ पर आकर अत्यन्त आश्चर्यकारक शाश्वत-चैत्य में शाश्वती-जिन-प्रतिमा का पूजनकर अपना जन्म सफल माना। वापस आते समय दोनों नववधुओं को अपने साथ ली तथा दोनों श्वसुर और मातामह (नाना) गांगलि ऋषि की आज्ञा ले भगवान् ऋषभदेव को प्रणामकर विमान में बैठा, और बहुत से विद्याधरों का समुदाय साथ में ले धूमधाम से अपने नगर के समीप आया। उस समय संपूर्ण नगरवासी स्तुति करते हुए उसे देखने लगे। जैसे जयन्त इन्द्र की नगरी में प्रवेश करता है उसी प्रकार शुकराज ने अपने पिता की नगरी में प्रवेश किया। पुत्र के कुशलपूर्वक आ जाने से हर्षित होकर राजा ने नगर में उत्सव किया। वर्षाकाल में जलवृष्टि की तरह बड़े लोगों का आनन्द भी सब जगह फैल जाता है।

युवराज की तरह शुकराज राज्य कार्य देखने लगा। ठीक ही है, जो पुत्र समर्थ होते हुए भी पिता का राज्यभार हलका न करे वह क्या सुपुत्र हो सकता है? पुनः वसंत ऋतु का आगमन हुआ तब राजा दोनों पुत्रों को साथ में लेकर सपरिवार एक दिन उद्यान में गया। लज्जा छोड़कर सब लोग अलग-अलग क्रीड़ा करने लगे, इतने में ही

एकदम भयंकर कोलाहल उत्पन्न हुआ। राजा के पूछने पर किसी सरदार ने तपासकर कहा कि, 'हे प्रभो सारंगपुर पत्तन में वीरांग नामक राजा है उसका शूर नामक शूरवीर पुत्र जैसे हाथी-हाथी पर धावा करता है वैसे ही पूर्व वैर से क्रोध सहित हंसराज पर चढ़ आया है।' यह सुन राजा मन में तर्क करने लगा कि, 'मैं राज्य करता हूँ, शुकराज व्यवस्था करता (युवराज) है, वीरांग मेरा सेवक (मांडलिक) है, ऐसा होते हुए शूर और हंस का परस्पर वैर होने का क्या कारण है?' यह सोचकर उत्सुक होकर उसने शुकराज व हंसराज को साथ ले शूर का सामना करने के लिए ज्यों ही कदम बढ़ाया कि इतने में एक सेवक ने आ निवेदन किया कि, 'हे राजन्! पूर्वभव में हंसराज ने शूर का पराभव किया था उस वैर से हंसराज के संमुख युद्ध की याचना करता है।' यह सुन राजा मृगध्वज और शुकराज युद्ध की तैयारी करने लगे परन्तु शूरवीर हंसराज उनको छोड़ स्वयं तैयार होकर युद्धस्थल में जा पहुंचा। शूर भी बहुत से शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित हो एक भयंकर रथ पर आरूढ़ होकर रणांगण में आया। अर्जुन और कर्ण के समान उन दोनों वीरों का भयंकर शस्त्र-युद्ध सब लोकों के संमुख बहुत ही आश्चर्यकारी हुआ। श्राद्ध-भोजी ब्राह्मण जैसे भोजन करने में नहीं थकते वैसे ही दोनों रणलोलुपी वीर बहुत देर तक नहीं थके। परस्पर समान वीर समान उत्साही तथा समान बलशाली दोनों राजकुमारों को देखकर विजय लक्ष्मी भी क्षण मात्र संशय में पड़ गयी कि किसके गले में जयमाला डालूं? इतने में ही जैसे इन्द्र पर्वत की पंख तोड़ता है उस तरह हंसराज ने अनुक्रम से शूर के सब शस्त्र तोड़ दिये। इससे शूर मदोन्मत्त हाथी की तरह क्रोधित हो वज्र के समान मुंडी बांधकर हंसराज को मारने दौड़ा। यह देख राजा मृगध्वज चौंककर शुकराज की ओर देखने लगा। चतुर शुकराज ने शीघ्र ही पिता का अभिप्राय समझकर अपनी विद्याएं हंसराज के शरीर में पहुंचाईं। हंसराज ने इन विद्याओं के बल से क्षण मात्र में शूर को उठा लिया और बहुत से आक्षेपयुक्त वचन कहकर गेंद की तरह जोर से फेंका। शूर अपनी सेना को लांघ एक किनारे गिरा और मूर्छित हो गया। सेवकों के बहुत प्रयत्न करने पर उसने बाह्य चैतन्यता पायी तथा कोप का प्रगट फल देखकर हृदय में भी चैतन्य हुआ; और मन में विचार करने लगा कि, 'मैंने व्यर्थ क्रोध वश अपना पराभव कराया तथा रौद्रध्यान से कर्मबन्धनकर अनन्त दुःख का देनेवाला संसार भी उपाजित किया, अतः मुझे धिक्कार है।' इस प्रकार अपनी आत्मा की शुद्धिकर व वैर बुद्धि का त्यागकर शूर ने मृगध्वज राजा तथा उसके दोनों पुत्रों से क्षमा मांगी। चकित हो राजा मृगध्वज ने शूर से पूछा कि, 'तू पूर्वभव का वैर किस प्रकार जानता है?' शूर ने उत्तर दिया कि, 'हमारे नगर में श्रीदत्त केवली आये थे। मैंने उन्हें अपना पूर्व भव पूछा था, उस पर उन्होंने ने बताया कि, 'जितारि नामक भदिलपुर का राजा था। हंसी और सारसी नामक उसकी दो रानियां थी, और सिंह

१. अर्जुन और कर्ण बाद में हुए हैं फिर भी कथा में ऐसी उपमा दी जा सकती है।

नामक मंत्री था। वह राजा कठिन अभिग्रह लेकर तीर्थ यात्रा को निकला। काश्मीर देश के अंदर यक्ष के स्थापित किये हुए श्री विमलाचल तीर्थ पर उसने जिनेश्वर भगवान् को वन्दना की। विमलपुर की स्थापनाकर बहुत समय तक वहां रहा और कालक्रम से मृत्यु को प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् सिंह मंत्री सर्व राज्य परिवार तथा नगरवासियों को लेकर भद्विलपुर की ओर चला। सत्य है कि—

जननी जन्मभूमिश्च, निद्रा पश्चिमरात्रिजा।

इष्टयोगः सुगोष्ठी च दुर्मोचाः पञ्च देहिभिः ॥१॥ ७१५॥

जननी, जन्मभूमि, पिछली रात्रि की नींद, इष्ट वस्तु का संयोग तथा मनोहर कहानी इन पांच बातों का त्याग करना बहुत ही कठिन है। आधा मार्ग चलने के बाद मंत्री को स्मरण आया कि 'अपनी एक श्रेष्ठ वस्तु वहां रह गयी है, तब मंत्री ने एक दूत से कहा कि, 'तू शीघ्र विमलपुर जा और अमुक वस्तु ले आ।' दूत ने उत्तर दिया कि, 'शून्य नगर में मैं अकेला कैसे जाऊँ?' इस पर मंत्री ने रोष में आकर जबरदस्ती से उसे भेजा। उस दूत ने विमलपुर में आकर देखा कि, वह पदार्थ कोई लेकर चला गया है। जब वह खाली हाथ लौटकर आया तो मंत्री ने और भी क्रोधित होकर उसे खूब मारा तथा मूर्च्छितावस्था में ही मार्ग में छोड़ आगे को प्रस्थान किया। लोभ से मनुष्य को कितनी मूर्खता प्राप्त होती है? धिक्कार है ऐसे लोभ को। क्रमशः मंत्री सपरिवार भद्विलपुर में पहुंचा। इधर शीतल पवन के लगने से उस दूत को भी चैतन्यता आयी। स्वार्थरत सब साथियों को गये जानकर वह मन में विचार करने लगा कि, 'प्रभुता के अहंकार से उन्मत्त इस अधम मंत्री को धिक्कार है!' कहा है कि—

चौर—चिल्लाकाइं गंधिअ भट्टा य विज्जपाहुणया।

वेसा धूअ नरिंदा परस्स पीडं न याणांति ॥१॥ ७२३॥

चोर, बालक, किराने की दूकानवाला (अत्तार), रणयोद्धा, वैद्य, पाहुना, वेश्या, कन्या तथा राजा ये नौ व्यक्ति परदुःख को नहीं समझते हैं। इस प्रकार व्याकुल होकर मार्ग न जानने से वह वन में भटकते-भटकते क्षुधा तथा तृषा से बहुत पीड़ित हुआ और मन में आर्त-रौद्रध्यानकर मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसी दूत का जीव भद्विलपुर के जंगल में एक भयानक सर्प हुआ। एक समय उसी सर्प ने वन में भ्रमण करते हुए सिंहमंत्री को काटा जिससे वह मर गया, सर्प भी मरकर नरक में गया। तथा नरक से निकलकर तू वीरांग राजा का पुत्र हुआ है। मंत्री का जीव विमलाचल पर्वत पर जल की बावड़ी में हंस का बच्चा हुआ, उसे विमलाचल के दर्शन से जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसने पूर्व भव में मैंने सम्यग् रीति से जिनेश्वर भगवान् की आराधना नहीं की इससे मुझे तिर्यच योनि मिली है, यह विचारकर चोंच में फूल ला-लाकर भगवंत की पूजा करनी शुरू की, दोनों पंखों में जल भरकर उसने भगवान् को न्हवण कराया इत्यादि आराधना से वह मृत्यु को प्राप्तकर सौधर्म-देवलोक में देवता हुआ तथा वहां से च्यवकर इस समय राजा मृगध्वज के यहां हंसराज नाम का पुत्र हुआ है।

श्रीदत्त मुनि के मुख से यह वृत्तान्त सुनकर मुझे जातिस्मरण की तरह पूर्वभव के संपूर्ण वैर का स्मरण हुआ और अहंकार से 'हंसराज को अभी मार डालूँ' ऐसी कल्पना करता हुआ यहां आया। आते समय मेरे पिता ने मुझे बहुत मना किया परन्तु मैंने नहीं माना। यहां आने पर हंसराज ने मुझे युद्ध में जीता। देवयोग से प्राप्त इसी वैराग्य से मैं श्रीदत्त मुनि के पास जाकर दीक्षा लूंगा। 'दुष्कर्मरूपी अंधकार को नाश करने के लिए सूर्य के समान शूर ने इतना कह अपने स्थान पर आकर शीघ्र ही दीक्षा ग्रहण कर ली, वास्तव में धर्म कार्य में शीघ्रता करनीही प्रशंसा के योग्य है।

प्राज्ञाजीदविलम्बं च, धर्मे श्लाघ्या त्वरैव हि ॥७३४॥

यह नियम है कि किसी वस्तु का इच्छुक मनुष्य यदि उसी वस्तु के ऊपर किसी अन्य व्यक्ति को आसक्त हुआ देखे तो उसे बहुत ही उत्सुकता होती है। इस नियम के अनुसार राजा मृगध्वज भी दीक्षा लेने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो मन में विचार करने लगा कि, 'शाश्वत आनन्द का दाता वैराग्य रंग अभी तक क्यों मेरे चित्त में उत्पन्न नहीं होता है? अथवा केवली भगवान् ने उस समय कहा है कि जब तू चन्द्रावती के पुत्र को देखेगा तब तुझे उत्तम वैराग्य होगा, परन्तु वंध्या की तरह चन्द्रावती को तो अभी तक पुत्र नहीं हुआ अतएव क्या करूँ?' इस तरह विचार निमग्न हो राजा मृगध्वज एकान्त में बैठा था इतने में तरुणावस्था से अत्यन्त शोभायमान एक पुरुष ने आकर राजा को नमस्कार किया। राजा ने उसे पूछा कि, 'तू कौन है?' वह व्यक्ति राजा को उत्तर देता ही था कि इतने में ही दिव्य आकाशवाणी हुई कि—'हे राजन्! यह आगन्तुक पुरुष चन्द्रावती का पुत्र है। इस बात में यदि तुझे संशय हो तो यहां से ईशान कोण की ओर पांच योजन दूर दो पर्वतों के मध्य में कदलीवन है, वहां यशोमति नामक एक योगिनी रहती है उसके पास जाकर पूछ। वह तुझे सर्व वृत्तान्त कहेगी।'

इस आकाशवाणी से राजा को बहुत आश्चर्य हुआ तथा उक्त पुरुष को साथ लेकर उस योगिनी के पास गया। योगिनी ने राजा को प्रीतिपूर्वक कहा कि, 'हे राजन्! तूने जो दिव्य वचन सुना वह सत्य है। संसाररूपी भयंकर जंगल में आया हुआ मार्ग बहुत ही विषम है, जिसमें तेरे समान तत्त्वज्ञानी पुरुष भी घबरा जाते हैं, यह बड़े ही आश्चर्य का विषय है। हे राजन्! इस पुरुष का प्रथम से सर्व वृत्तान्त कहती हूँ; सुन।

चन्द्रशेखर का चरित्र :

चन्द्रपुर नगर में चन्द्रमा के समान आल्हादकारी यशवाला सोमचन्द्र नामक राजा तथा भानुमति नामा उसकी रानी थी। उसके गर्भ में हेमवन्त-क्षेत्र से सौधर्म-देवलोक का सुख भोगकर एक युगल (जोड़े) ने अवतार लिया। अनुक्रम से भानुमति से ज्ञातीवर्ग को आनन्ददायक एक पुत्र व एक पुत्री का प्रसव हुआ। उनमें पुत्र का नाम चन्द्रशेखर व पुत्री का नाम चन्द्रवती रखा गया। साथ-साथ वृद्धि पाते हुए एक से एक अधिक शरीर से वृद्धि पाते हुए दोनों को जातिस्मरण ज्ञान हुआ और वे अपूर्व यौवन वय को प्राप्त हुए। इतने में राजा सोमचन्द्र ने चन्द्रवती का तेरे साथ आदरपूर्वक विवाह

किया, तथा यशोमती नामक एक राजकन्या से चन्द्रशेखर का विवाह किया। पूर्वभ्रव के अभ्यास से चंद्रशेखर व चंद्रवती इन दोनों का परस्पर बहुत अनुराग हो गया तथा कामवासना से पूर्वभ्रव के अनुसार सम्बन्ध करने की इच्छा करने लगे, धिक्कार है ऐसे सम्बन्ध को। इस संसार में जीवों को कैसी-कैसी नीच वासनाएं उत्पन्न होती हैं कि जिनका मुंह से उच्चारण भी नहीं किया जा सकता। जिसमें चंद्रशेखर व चंद्रवती के समान उत्तम पुरुषों को भी ऐसा कुमार्ग सूझता है। हे राजन्! जिस समय तू एकाएक गांगलि ऋषि के आश्रम को चला गया, उस समय अपना इष्ट मनोरथ पूर्ण करने के लिए चंद्रवती ने हर्ष से चन्द्रशेखर को बुलवाया। वह तेरा राज्य हस्तगत करने के लिए ही आया था परन्तु उत्तमभक्त (मणिविशेष) से जैसे अग्नि दाह नहीं कर सकती वैसे ही तेरे पुण्य से वह अपना स्वार्थ सिद्ध नहीं कर सका। पश्चात् वे दोनों (चंद्रवती व चन्द्रशेखर) तुझे मुग्ध समझकर तुझे ठगने के लिए नाना प्रकार के युक्तिपूर्ण वचनों से समझाते रहे। एक समय चन्द्रशेखर ने कामदेव नामक यक्ष की आराधना की। उसने प्रकट होकर कहा कि, 'चन्द्रशेखर! मैं तेरा कौनसा इष्ट कार्य करूँ?' चन्द्रशेखर बोला, 'तू शीघ्र मुझे चंद्रवती दे' यह सुन यक्ष ने एक अंजन देकर उससे कहा कि, 'मृगध्वज राजा चंद्रवती के पुत्र को प्रत्यक्ष नहीं देखेगा तब तक चंद्रवती के साथ विलास करते इस अदृश्यकरण अंजन से तुझे कोई नहीं देख सकेगा। जब मृगध्वज चंद्रवती के पुत्र को देखेगा तब सब बात प्रकट हो जायगी।' यक्ष की यह बात सुनकर प्रसन्न हो चन्द्रशेखर चंद्रवती के महल में गया। वहां अंजनयोग से अदृश्य रहकर बहुत समय तक काम-क्रीड़ा करता रहा। उससे चंद्रवती को चन्द्राङ्ग नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यक्ष के प्रभाव से यह हाल किसी को ज्ञात न हो सका। तथा उस बालक को ले जाकर चन्द्रशेखर ने अपनी स्त्री यशोमती को सुपुर्द किया। यशोमती अपने ही गर्भ से उत्पन्न हुए पुत्र की तरह उसका लालन-पालन करने लगी। स्त्रियों में स्नेह बहुत ही होता है। जब वह बालक चन्द्राङ्ग तरुणावस्था को पहुंचा तो पतिवियोग से पीड़ित यशोमती उसकी सुन्दर छबी देखकर विचार करने लगी कि, 'जिसका पति हमेशा परदेश में रहता है वह स्त्री जैसे पति का मुंह नहीं देख सकती उसी प्रकार चंद्रवती में आसक्त निज पति चन्द्रशेखर को मैं भी नहीं देख सकती, अतएव अपने हाथ से लगाये हुए वृक्ष का फल जैसे स्वयं ही खाते हैं उसी प्रकार स्वयं पालन किये हुए इस सुन्दर तरुण पुत्र को ही पति मानकर पालन करने का फल प्राप्त करूँ।' यह विचारकर विवेक तथा चतुरता को कोने में पटक उसने पुत्र से कहा कि, 'हे भद्र! जो तू मुझे अंगीकार करेगा तो तुझे सम्पूर्ण राज्य मिलेगा और मैं भी तेरे वश में रहूंगी' ऐसे वचन सुनकर अकस्मात् हुए भयंकर प्रहार से पीड़ित मनुष्य की तरह दुःखित होकर चन्द्राङ्ग कहने लगा, 'हे माता! कान से सुने भी नहीं जा सकते तथा मुख से बोले भी नहीं जा सकते ऐसे अयुक्त वचन क्यों बोलती है?' यशोमती कहने लगी कि, 'हे सुन्दर! मैं तेरी माता नहीं हूँ, बल्कि मृगध्वज राजा की रानी चंद्रवती तेरी माता है। यह सुन सत्य बात जानने के

लिए सत्यप्रिय चन्द्राङ्ग का मन बहुत ही आतुर हुआ। उसने यशोमती के वचन का तिरस्कार किया। सच्चे माता-पिता की परीक्षा करने तथा उनको देखने के लिए वहां से निकला। वह आज तुझे आकर मिला। यशोमती बगुले की तरह पति तथा पुत्र से भ्रष्ट हो गयी। जिससे उसे वैराग्य हुआ, दीक्षा लेने का विचार किया, परन्तु जैन साध्वी का योग न मिलने से वह योगिनी हो गयी, मैं वही यशोमती हूं। भव की उत्तम भावनाओं का मनन करने से मुझे शीघ्र कितना ही ज्ञान प्राप्त हुआ, इससे मैं यह बात जानती हूं। उसी चतुर यक्ष ने आकाशवाणी के रूप में मुझे सर्व वर्णन कहा था सो यथावत् मैंने तुझे कह सुनाया। यह अयुक्त बात सुनकर राजा को बहुत क्रोध उत्पन्न हुआ, साथ ही मन में बहुत ही खेद हुआ, अपने घर का ऐसा हाल सुनकर कौन दुखी न हो? पश्चात् सत्यवादिनी योगिनी ने राजा को प्रतिबोध करने के हेतु योगिनी की भाषा की रीति के अनुसार मधुरवचन से कहा—

कवण केरा पुत्र मित्रारे, कवण केरी नारी।

मुहिआं मोहिओ मेरी, मूठ भणइ अविचारी ॥२॥

जोगि न जोगी हो हो, हो हो जाइं न जोग विचारा।

मल्हिअ मारग आदरिं, मारग जिम पामिए भवपारा ॥२॥ जो०

अतिहिं गहना अतिहिं कूड़ा, अतिहिं अधिर संसारा।

भामओ छाँडी योगजु मांडी, कीजइ जिनधर्मसारा ॥३॥ जो०

मोहिइं मोहिओ कोहिइं खोहिओ, लोहिइं वाहिओ धाइं।

मुहिआ बिहुं भवि अवकारणि, मूरख दुःखियो थाइ ॥४॥ जो०

एकने काजिइं बिहो खंचे, त्रिणि संचे च्यारि वारे।

पांचइ पाले छइ टाले, आपिइ आप उत्तारे ॥५॥ जो० ॥७८०॥

योगिनी की यह बात सुनकर राजा मृगध्वज का चित्त शांत और विरागी हो गया। पश्चात् योगिनी की आज्ञा लेकर वह अपने पुत्र चन्द्राङ्ग को साथ ले अपने नगर के उद्यान में गया। चन्द्राङ्ग को भेजकर शुकराज, हंसराज तथा मंत्री आदि को बुलवाया और संसार से उद्विग्न तथा तत्त्व में निमग्न होकर सर्व परिवार को कहा कि, 'मैं अब तपस्या करूंगा, कारण कि दास तुल्य इस संसार में मेरा बहुत ही पराभव हुआ। अब शुकराज को राज्य दे देना, अब मैं घर नहीं आऊंगा।' मंत्री आदिक बोले—'हे महाराज! घर पधारिये। वहां चलने में क्या दोष है? मन में मोह न हो तो घर भी जंगल ही के समान है, और जो मोह हो तो जंगल भी घर की तरह (कर्म बंधन करनेवाला) है। सारांश यह है कि, जीव को बन्धन में डालनेवाला केवल मोह ही है।' इस प्रकार आग्रह करने से राजा परिवार सहित घर आया। उसे देखते ही चन्द्रशेखर को यक्ष का वचन याद आया और शीघ्र वह वहां से भागकर अपने नगर को जा पहुंचा। राजा मृगध्वज ने महोत्सव के साथ शुकराज का राज्याभिषेक किया और पुत्र के पास से

'दीक्षा की सम्मति' यही मात्र मूल्य लिया। राज्याभिषेक के उत्सव के अनन्तर रात्रि हुई। युक्त ही है, राजा (चन्द्र तथा पृथ्वी का पालक) जब नवीन उदय से सुशोभित होता है तब रात्रि प्रफुल्लित हो इसमें आश्चर्य ही क्या है? यद्यपि चारों तरफ से घोर अंधकार फैल रहा था तथापि ज्ञानरूपी उद्योत के उज्ज्वल होने से जिसके चित्त में लेशमात्र भी अन्धकार नहीं ऐसा मृगध्वज राजा मन में विचार करने लगा कि, 'अब प्रातःकाल होगा तथा मैं दीक्षा ग्रहणकर आनन्द पाऊंगा? अतिचार रहित सुन्दर चारित्र की चर्या में मैं अब चलूंगा? तथा सकल कर्मों का क्षय करूंगा?' इस प्रकार उत्कर्ष की अन्तिम सीमा पर पहुँचे हुए और शुभध्यान में तल्लीन राजा मृगध्वज ने ऐसी शुभभावनाओं का ध्यान किया कि जिससे प्रातःकाल होते ही रात्रि के साथ-साथ घनघाती कर्मों का भी अत्यन्त क्षय हो गया और उनके (कर्म) साथ कदाचित् स्पर्धा होने से अनायास ही उसे केवलज्ञान भी उत्पन्न हो गया। सांसारिक कृत्य करने के लिए चाहे कितना ही प्रयत्न किया जाय वह भी निष्फल होता है परन्तु आश्चर्य की बात है कि दीक्षा के समान धर्मकृत्य की तो केवल शुभभावना करने से ही मृगध्वज राजा की तरह केवलज्ञान उत्पन्न होता है। सर्वज्ञ तथा निर्ग्रन्थ मुनिराजों में शिरोमणि हुए उस मृगध्वज राजा को तुरन्त साधुवेष देनेवाले देवताओं ने भारी उत्सव किया। उस समय चकित तथा आनन्दित होकर शुकराज इत्यादि लोग वहाँ आये राजर्षि ने भी अमृत के समान इस प्रकार उपदेश दिया—'हे भव्य प्राणियों! साधुधर्म तथा श्रावकधर्म ये दो संसाररूपी समुद्र में सेतुबंध (पाल) हैं! जिसमें प्रथम सीधा किन्तु कठिन मार्ग है और दूसरा टेढ़ा किन्तु सुखपूर्वक जाने योग्य मार्ग है! इसमें जिस मार्ग से जाने की इच्छा हो उस मार्ग से जाओ।'

यह उपदेश सुन कमलमाला, सद्धर्मरूपी समुद्र में हंस के समान हंसराज और चन्द्राङ्ग इन तीनों व्यक्तियों को प्रतिबोध हुआ और दीक्षा लेकर क्रमशः सिद्ध हो गये। शुकराज आदि सर्व लोगों ने साधुधर्म पर श्रद्धा रखकर शक्ति के अनुसार दृढ़ समकितपूर्वक बारह व्रत ग्रहण किये। राजर्षि मृगध्वज तथा चन्द्राङ्ग ने विरागी होने से असती चन्द्रवती का कुकर्म कहीं भी प्रकट नहीं किया। दृढ़ वैराग्य होने पर परदोष प्रकट करने से प्रयोजन ही क्या है? भवाभिनन्दी जीव ही केवल परनिन्दा करने में निपुण होते हैं। स्वयं अपनी स्तुति करना तथा परनिन्दा करना यह निर्गुणी मनुष्य का लक्षण है व अपनी निन्दा करना तथा परस्तुति करना ये गुणी मनुष्यों के लक्षण हैं, केवलज्ञान से सूर्य समान राजर्षि मृगध्वज अपने चरणों से पृथ्वी को पवित्र करने लगे और इन्द्र समान पराक्रमी शुकराज राज्य कारभार चलाने लगा।

महान् अन्यायी चन्द्रशेखर पुनः चन्द्रवती पर स्नेह तथा शुकराज पर द्वेष रखने लगा। मन में अतिशय क्लेश होने से एकबार उसने राज्य की अधिष्ठात्रि गोत्रदेवी की बहुत समय तक आराधना की। विषयान्ध पुरुष के कदाग्रह को धिक्कार है! अधिष्ठायिका देवी ने प्रकट होकर चन्द्रशेखर से कहा कि, 'हे वत्स! वर मांग!' चन्द्रशेखर ने कहा,

'हे देवि! शुकराज का राज्य मुझे दे' देवी ने कहा, 'जैसे सिंह के संमुख हरिणी का कुछ भी पराक्रम नहीं चलता वैसे ही दृढ़ सम्यक्त्वधारी शुकराज के सामने मेरा पराक्रम नहीं चल सकता।' चन्द्रशेखर बोला, 'जो तू प्रसन्न हुई हो और मुझे वर देती हो तो बल से अथवा छल से भी मेरा उपरोक्त कार्य करा।'

चन्द्रशेखर की भक्ति तथा उक्ति से संतुष्ट होकर देवी ने कहा कि, 'यहां तो छल का ही कार्य है, बल का नहीं। कोई समय जब शुकराज किसी को कहे बिना बाहर गांव जाय तब तू शीघ्र उसके रजमहल में जाना, मेरे प्रभाव से तेरा स्वरूप ठीक शुकराज के सदृश हो जायगा, उससे तू यथेष्ट प्रकार से शुकराज का राज्य भोग सकेगा।' यह कह देवी अदृश्य हो गयी। चन्द्रशेखर ने बड़े संतोष से चन्द्रवती को यह वृत्तान्त कह सुनाया।

एक समय तीर्थयात्रा करने को मन उत्सुक होने से शुकराज ने अपनी दोनों रानियों से कहा कि, 'हे प्रियाओ! मैं विमलाचल तीर्थ को वंदन करने के हेतु उस आश्रम पर जाने का विचार करता हूं।' उन्होंने कहा कि, 'हम भी साथ चलेंगी, ताकि हमको भी अपने माता-पिता का मिलाप हो जायेगा।'

तदनंतर शुकराज अपनी दोनों स्त्रियों को साथ लेकर किसीको भी न कहते देवता की तरह विमान में बैठकर विदा हुआ, यह हाल किसीको भी ज्ञात न हुआ। चन्द्रवती का तो चित्त इसी ओर लगा हुआ था, अतः मालूम होते ही उसने चन्द्रशेखर को खबर दी। वह भी शीघ्र ही वहां आया और आते ही उसका स्वरूप शुकराज के समान हो गया, कृत्रिम रूपधारी सुग्रीव की तरह उस दांभिक को सब मनुष्य शुकराज ही समझने लगे। रात्रि के समय वह चिल्लाकर उठा तथा कहने लगा कि, 'अरे दोड़ो, दोड़ो! यह विद्याधर मेरी दोनों स्त्रियों को हरणकर ले जाता है।' यह सुन मंत्री आदि सब लोग हाहाकार करते वहां आये तथा कहने लगे कि, 'हे प्रभो! आपकी वे सर्व विद्याएं कहां गयी?' चन्द्रशेखर ने दुःखी मनुष्य की तरह मुख मुद्रा करके कहा कि, 'मैं क्या करूं? उस दुष्ट विद्याधर ने जैसे यम प्राण हरण करता है वैसे ही मेरी सर्व विद्याएं हरण कर ली', तब लोगों ने कहा—'हे महाराज! वे विद्याएं तथा स्त्रियां भले ही चली गयीं, आपका शरीर कुशल है इसीसे हम तो संतुष्ट हैं।'

इस प्रकार पूर्णकपट से सब राजकुल को ठगकर चन्द्रवती पर प्रीति रखता हुआ चन्द्रशेखर राज्य करने लगा।

उधर शुकराज विमलाचल तीर्थ को वन्दनाकर श्वसुर के नगर में गया, तथा कुछ दिन वहां रहकर अपने नगर के उद्यान में आया। अपने कुकर्म से शकित चन्द्रशेखर झरोखे में बैठा था इतने में ही शुकराज को आता हुआ देखकर आकुल व्याकुल हुआ और हाहाकारकर मंत्री को कहने लगा कि, 'जिसने मेरी दोनों स्त्रियां व विद्याएं हरण की थी वही दुष्ट विद्याधर मेरा रूप करके मुझपर उपद्रव करने को आ रहा है अतः मधुर वचन से किसी भी प्रकार उसे वहीं से वापस करो। बलवान् पुरुष के संमुख शान्ति से वर्ताव करना यही अपना भारी बल समझना चाहिए।'

'दक्ष पुरुषों की सहायता से दुस्साध्य कार्य भी सुसाध्य हो जाता है।' यह विचारकर मंत्री बहुत से योग्य व्यक्तियों को साथ लेकर वहां गया। इन लोगों को अपने स्वागत के लिए आये हुए समझकर शुकराज अत्यन्त प्रसन्न हुआ तथा विमान से उतरकर आम्रवृक्ष के नीचे आया। विवेकी मंत्री भी वहां गया तथा प्रणामकर कहने लगा कि, 'हे विद्याधरेन्द्र! आपकी शक्ति अपार है। कारण कि, आपने हमारे स्वामी की दोनों स्त्रियां तथा सब विद्याएं हरण कर ली हैं। अब शीघ्र प्रसन्न हो आप वेग से अपने स्थान को पधारिये।'

मंत्री की यह बात सुनकर शुकराज आश्चर्य करने लगा कि, 'इसे चित्तभ्रम हुआ, मस्तिष्क फिर गया, त्रिदोष हुआ कि भूत लगा है? फिर बोला कि, 'तूने यह क्या कहा? मैं शुकराज हूं।' मंत्री ने कहा, 'हे विद्याधर! क्या शुकराज की तरह तू मुझे भी ठगना चाहता है? मृगध्वज राजा के वंश रूपी आम्रवृक्षों में शुक के समान हमारा स्वामी शुकराज तो राजमहल में है, तू तो कोई वेषधारी विद्याधर है, अधिक क्या कहूँ? जैसे चूहा बिलाड़ के दर्शनमात्र से डरता है, वैसे ही हमारा स्वामी शुकराज तेरे दर्शन मात्र से कांपता है तथा बहुत डरता है, इसलिए तू शीघ्र यहां से चला जा।'

खिन्न चित्त होकर शुकराज विचार करने लगा कि, 'निश्चय किसी कपटी ने छल भेद से मेरा स्वरूप करके मेरा राज्य ले लिया है, कहा है कि—

राज्यं भोज्यं च शय्या च, वरवेश्म वराङ्गना।

धनं चैतानि शून्यत्वेऽधिष्ठीयन्ते ध्रुवं परैः ॥८३५॥

१ राज्य, २ भक्षण करने योग्य वस्तु, ३ शय्या, ४ रमणीय घर, ५ रूपवती स्त्री तथा ६ धन इन छः वस्तुओं को मालिक की अनुपस्थिति में अन्य लोग हरण कर लेते हैं। अब क्या करना चाहिए? जो मैं इसे मारकर अपना राज्य लूं तो संसार में मेरा भारी अपवाद होगा कि, 'कोई महापापी ठग ने मगरमच्छ की तरह बलपूर्वक राजा मृगध्वज के पुत्र शुकराज का वधकर उसका राज्य हस्तगत कर लिया है।' पश्चात् उसने तथा उसकी दोनों स्त्रियों ने अपना परिचय देने हेतु बहुत सी निशानियां बतायी, पर किसीने विश्वास न किया, धिक्कार है ऐसे कपटमय कृत्य को! तत्पश्चात् अपना अपमान हुआ समझकर वह सच्चा शुकराज विमान में बैठकर आकाशमार्ग में गया, मंत्री ने हर्षित होकर वेषधारी शुकराज के पास आकर सारा वृत्तान्त कह सुनाया, तब वह पाखंडी स्त्री-लंपट भी प्रसन्न हुआ। वास्तविक शुकराज तोते की तरह शीघ्रता से आकाश में जाने लगा, तब उसकी दोनों स्त्रियों ने अपने पीहर (पिता के घर) चलने को कहा, परन्तु शर्म के कारण वह वहां नहीं गया। अपने पद से भ्रष्ट हुए पुरुष को परिचित तथा नातेदारों के घर नहीं जाना चाहिए, तथा श्वसुर-गृह को तो कदापि नहीं जाना चाहिए, कारण कि वहां तो आडम्बर से ही जाना योग्य है। कहा है कि—

सभायां व्यवहारे च, वैरिषु श्वशुरौकसि।

आडम्बराणि पूज्यन्ते, स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥१॥ ८४३॥

सभा में, व्यापार में, शत्रु के सन्मुख, ससुर के घर, स्त्री के पास और राज्य दरबार में आडम्बर की ही पूजा होती है। विद्याबल से संपूर्ण और ऐश्वर्य परिपूर्ण होते हुए भी राज्य जाने की चिन्ता से दुःखित वास्तविक शुकराज ने शून्यस्थल में निवास करके छः मास व्यतीत किये। बड़े खेद की बात है कि बड़े-बड़े मनुष्यों को भी ऐसा दुस्सह उपद्रव भोगना पड़ता है। अथवा सब दिन किसको समान सुख के दाता होते हैं। कहा है कि—

कस्य वक्तव्यता नास्ति? को न जातो मरिष्यति?

केन न व्यसनं प्राप्तं? कस्य सौख्यं निरन्तरम्? ॥१॥ ८४६॥

कौन दोष का पात्र नहीं? जन्म पाकर कौन मृत्यु को प्राप्त नहीं होता? संकट किस पर नहीं आया? तथा किसे निरन्तर सुख मिलता है?

एक समय सौराष्ट्र देश में भ्रमण करते हुए शुकराज का विमान पर्वत से रुके हुए नदी के पूर की तरह आकाश में ही रुक गया। व्याकुल चित्त ऐसा शुकराज को यह बात ऐसी दुखदायी प्रतीत हुई कि जैसे जले हुए अंगपर विस्फोटक (घाव) हुआ हो, गिरे हुए मनुष्य पर और भी प्रहार हुआ हो, अथवा घाव पर नमक पड़ा हो। क्षणमात्र में वह विमान से उतरकर एकाएक रुक जाने का कारण देखने लगा, इतने में ही उसने केवलज्ञान पाये हुए अपने पिता राजर्षि मृगध्वज को देखा। मेरु पर्वत पर जैसे मंदार कल्पवृक्ष शोभता है वैसे ही वे राजर्षि सुवर्णकमल पर सुशोभित थे, तथा देवता उनकी सेवा में उपस्थित थे। शुकराज ने सत्य भक्तिपूर्वक उनको वन्दना करके संतोष पाया, तथा सजलनेत्र होकर शीघ्र उनको अपने राज्यहरण का संपूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया।

पित्रादेः प्रियमित्रस्य स्वामिनः स्वाश्रितस्य वा।

निवेद्यापि निजं दुःखं, स्यात्सुखीव सकृज्जनः ॥१॥ ८५२॥

मनुष्य अपने पितादिक, प्रियमित्र, स्वामी अथवा आश्रित इनमें से चाहे किसी के भी संमुख अपनी दुःख कहानी कहकर क्षणभर अपने जीव को सुखी मानता है।

राजर्षि मृगध्वज ने कहा—'यह तो पूर्वकर्म का विपाक है।' तब शुकराज ने पूछा, 'मैंने पूर्वभव में ऐसा कौनसा कर्म उपार्जन किया था?'

केवली राजर्षि बोले—'जितारि राजा के भव से पूर्वभव में तू स्वभाव से भद्रक तथा न्यायनिष्ठ, श्रीग्राम नामक गांव में ठाकुर था। पिता द्वारा हिस्से करके दिये हुए एक गांव को भोगनेवाला तेरा एक सौतेला भाई था, वह स्वभाव से ही बहुत कायर था। एक समय वह श्रीग्राम को आकर वापस अपने गांव को जाता था, इतने में ही तूने हंसी से उसे बंदीवान् के समान अपने अधीनकर कहा कि, 'तू सुखपूर्वक यही रह, तुझे गांव की चिन्ता करके क्या करना है? बड़े भाई के होते हुए छोटे भाई को व्यर्थ चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है?'

वह एक तो सौतेला भाई था दूसरा स्वभाव से ही कायर था। ऐसा संयोग मिल

जाने से विचार करने लगा कि, 'हाय हाय! निश्चय ही मेरा राज्य गया, मैं क्यों यहाँ आया? अब क्या करना चाहिए?' इस तरह विचारकर वह बहुत घबराया। कुछ समय के बाद जब तूने उसे छोड़ा तब उसके जीव में जीव आया। उस समय हंसी में भी तूने बहुत दारुण कर्म संचित किया। उसीके उदय से अभी तुझे भी दुःसह राज्य वियोग हुआ है।

गर्विता इव कुर्वन्ति, जीवाः सांसारिकी क्रियाम्।

तद्विपाके तु दीनाः स्युः, फालघ्रष्टप्लवङ्गवत् ॥१॥ ८६१॥

मनुष्य अहंकार से संसार संबन्धी क्रियाएँ तो करते हैं, किन्तु उससे संचित कर्म का उदय जब होता है तब कूदते-कूदते छलांग चूककर गिर जानेवाले बन्दर की तरह अंत में दीन होते हैं।

राजर्षि मृगध्वज यद्यपि चन्द्रशेखर का संपूर्ण हाल जानते थे किन्तु उस सम्बन्ध में एक भी शब्द नहीं बोले। कारण कि, शुकराज ने वह बात पूछी ही नहीं थी। केवली महाराज पूछे बिना ऐसी बात कभी नहीं कहते। जगत् में सभी जगह उदासीनता रखना यही केवलज्ञान का फल है।

तदनन्तर शुकराज ने बालक की तरह पिता के पांव में गिरकर पूछा कि, 'हे तात! आपका दर्शन हो जाने पर भी मेरा राज्य जावे यह कैसी बात है? साक्षात् धन्वन्तरि वैद्य के प्राप्त होने पर भी यह रोग का कैसा उपद्रव? प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष के पास होते हुए यह कैसी दरिद्रता? सूर्य के उदय हो जाने पर यह कैसा अंधकार? इसलिए हे प्रभो! मुझे ऐसा कोई उपाय बताइये कि किसी भी अंतराय के बिना शीघ्र वह राज्य वापस मुझे मिल जाय।' इत्यादि वचनों से शुकराज ने बहुत आग्रह किया तब राजर्षि मृगध्वज बोले, 'दुःसाध्य कार्य भी धर्मकृत्य से सुसाध्य होता है। तीर्थ शिरोमणि ऐसा विमलाचल यहां से पास ही है। वहां जाकर श्री आदिनाथ भगवान् की भक्ति से वन्दनापूर्वक स्तुति कर। तथा इस पर्वत की गुफा में छः मास तक परमेष्ठी मंत्र का जाप करे तो वह मंत्र स्वतंत्रता से सर्व प्रकार की सिद्धियों का देनेवाला होता है। चाहे कैसा ही शत्रु हो तो वह भी भयभीत सियाल की तरह अपना जीव लेकर भाग जाता है और उसके सर्व कपट निष्फल हो जाते हैं। जिस समय गुफा में प्रकाश हो तब तू समझ लेना कि 'कार्यसिद्धि' हो गयी। मन में यह निश्चय कर ले कि कैसा ही दुर्जय शत्रु हो, तो भी यह उसके जीतने का उपाय है।'

केवली के ये वचन सुनकर शुकराज को ऐसा आनन्द हुआ जैसा कि किसी पुत्रहीन पुरुष को पुत्रप्राप्ति की बात सुनकर होता है। तत्पश्चात् वह विमान में बैठकर विमलाचल पर गया। वहां योगीन्द्र की तरह निश्चल रहकर उसने परमेष्ठि मंत्र का जाप किया। केवली के वचनानुसार छः मास के अनन्तर चारों ओर उसने प्रकाश देखा, मानो उस समय उसका प्रताप उदय हुआ हो। उसी समय चन्द्रशेखर पर प्रसन्न हुई गोत्रदेवी निष्प्रभाव हो उससे कहने लगी कि 'हे चन्द्रशेखर! तेरा शुक-स्वरूप चला गया इसलिए अब तू शीघ्र अपने स्थान को चला जा' यह कहकर गोत्रदेवी अदृश्य हो

गयी। चन्द्रशेखर अपने मूलस्वरूप में हो गया। किसी पुरुष की सर्व लक्ष्मी चली गयी हो उस प्रकार उद्विग्न, चिन्ताक्रान्त और हर्ष रहित होकर चोर की तरह चुपचाप बाहर निकलने लगा इतने में ही वास्तविक शुकराज वहां आया, मंत्री आदि सर्वलोगों ने उसका पूर्ण सत्कार किया। सर्व लोगों को केवल इतना ही ज्ञात हुआ कि कोई दुष्ट राजमंदिर में घुसा था परन्तु वह अभी भाग गया। इससे विशेष वृत्तान्त किसीने न जाना। इसके बाद विमलाचल तीर्थ का प्रत्यक्ष फल देखनेवाला शुकराज नये तथा देदीप्यमान नाना प्रकार के विमान तथा अन्य बहुत से आडम्बर से सर्व मांडलिक राजा, स्वजनवर्ग विद्याधर आदिके साथ अनुपम उत्सव करता विमलाचल की यात्रा को चला। अपना कुकर्म कोई नहीं जानता है यह विचारकर शीलवान् पुरुष की तरह लेशमात्र शंका न रखकर राजा चंद्रशेखर भी उत्सुकता से उसके साथ आया।

वहां पहुंचकर शुकराज ने जिनेश्वर भगवान की पूजा, स्तुति तथा महोत्सवकर सबको सुनाकर कहा कि 'इस तीर्थ में मंत्र साधन करने से मैंने शत्रु पर विजय प्राप्त किया इसलिए सर्व बुद्धिमान् लोगों को इस तीर्थ का नाम 'शत्रुंजय' प्रकट करना चाहिए।' इस प्रकार इस तीर्थ का नाम 'शत्रुंजय' पड़ा और यह जगत् में अत्यंत प्रसिद्ध हो गया।

जिनेश्वर भगवान के दर्शन करके अपने दुष्कर्म की निंदा करते चंद्रशेखर को पश्चात्ताप हुआ। दुष्कर्म के क्षय से अपने महान उदय की इच्छाकर शुद्ध चित्त हो उसने महोदय नामक मुनि से अपने पाप प्रकटकर पूछा कि, 'हे मुनिराज! क्या किसी प्रकार मेरी शुद्धि हो सकती है? मुनिराज ने उत्तर दिया—'जो तू सम्यग् रीति से पाप की आलोचनाकर इस तीर्थ में तीव्र तपस्या करेगा तो तेरी शुद्धि हो जायेगी, कहा है कि—

जन्मकोटिकृतमेकहेलया, कर्म तीव्रतपसा विलीयते।

किं न दाह्यमति बह्वपि क्षणादुच्छिखेन शिखिनाऽत्र दह्यते? ॥१॥८८९॥

तीव्र तपस्या करोड़ों जन्म के किये हुए कर्मों का क्षणमात्र में विनाश कर देती है। क्या प्रदीप्त अग्नि चाहे कितने ही काष्ठ को थोड़े ही समय में नहीं जला सकती? यह सुन चंद्रशेखर ने प्रथम उन्हीं के पास आलोचना की व दीक्षा ग्रहण की, तथा मासखमण आदि तपस्याकर वहीं वह मोक्ष में गया।

शुकराज शत्रुरहित राज्य को भोगता हुआ जिनप्रणीत धर्मावलंबी, सम्यग्दृष्टि राजाओं में एक दृष्टान्तरूप हो गया। उसने अर्द्धयात्रा, रथयात्रा, तीर्थयात्रा ये तीनों प्रकार की यात्रा, अशन, पान, खादिम, स्वादिम इन चारों प्रकार से चतुर्विध संघ की भक्ति तथा जिनेश्वर भगवान की विविध प्रकार की पूजा इत्यादि धर्मकृत्य बार-बार किये। पट्टरानी पद्मावती, वायुवेगा अन्य बहुत सी राजपुत्रियां तथा विद्याधर की पुत्री इतनी उसकी रानियां थीं। रानी पद्मावती को साक्षात् लक्ष्मी के निवास स्थान पद्म सरोवर के समान पद्माकर नामक पुत्र हुआ तथा वायुवेगा रानी को नामानुसार

गुणधारक वायुसार नामक प्रसिद्ध पुत्र हुआ। पूर्वकाल में हुए कृष्ण के पुत्र शांब और प्रद्युम्न की तरह दोनों ने 'यथा पिता तथा पुत्रः' इस कहावत को अपने अनुपम गुणों से सत्य कर दिखाया। शुकराज ने अनुक्रम से प्रसन्नतापूर्वक बड़े पुत्र पद्माकरकुमार को राज्य व दूसरे पुत्र वायुसार को युवराज पद पर स्थापित किया और कर्मशत्रु को जीतने के निमित्त स्त्रियों के साथ दीक्षा लेकर स्थिरता से शत्रुंजय तीर्थ को चला गया। पर्वत पर शुक्लध्यान से चढ़ते ही उसे शीघ्र केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। महात्मा पुरुषों की लब्धि अद्भुत होती है। पश्चात् चिरकाल तक पृथ्वी पर विहार करता और भव्यजीवों के मोहान्धकार को दूर करता हुआ राजर्षि शुकराज दोनों स्त्रियों के साथ मोक्ष में गया।

हे भव्यप्राणियों! प्रथम भद्रकपन इत्यादि गुणों से क्रमशः उत्तम समकित की प्राप्ति, पश्चात् उसका निर्वाह इत्यादि शुकराज को मिला हुआ अपूर्व फल श्रवणकर तुम भी उन गुणों को उपार्जन करने का आदर पूर्वक उद्यम करो।

॥ इति भद्रकपनादिक ऊपर शुकराज की कथा ॥

जन्मसन्तानसम्प्रादि विवाहादि विधायिनः ।

स्वाः परेऽस्य सकृत्प्राणहारिणो न परे परे ॥८४॥

- आत्मानुशासन

हे आत्मन्!

तूने जिसको अपना माना है, वे ही मेरे स्वजन हैं ऐसा तूने माना है।

विचार कर ले कि "जो तेरे पास विवाहादि पापकार्य करवाकर

अशुभ कर्म उपार्जन करवाते हैं।

एक बार प्राण हरणकारक शत्रु नहीं भी है क्योंकि वह तो

कर्मकर्ज से मुक्त कर देता है। पर जो बार-बार उपरोक्त

कार्य करवाकर भवो भव कर्मबंध की श्रृंखला में जकड़

देने से उनके समान कोई वैरी-शत्रु नहीं है।

श्रावक का स्वरूप

मूलगाथा - ४

नामाईचउभेओ, सङ्घो भावेण इत्थ अहिगारो।

तिविहो अ भावसङ्घो, दंसण-वय-उत्तरगुणेहिं ॥४॥

भावार्थ : १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य तथा ४ भाव, ऐसे चार प्रकार का श्रावक होता है। जिसमें शास्त्र में कहे अनुसार श्रावक के लक्षण नहीं अथवा जैसे कोई ईश्वरदास नाम धारण करे पर हो दरिद्री का दास, वैसे ही जो केवल 'श्रावक' नाम से जाना जाता है वह नामश्रावक १। चित्रित की हुई अथवा काष्ठ पाषाणादिक की जो श्रावक की मूर्ति हो वह स्थापनाश्रावक २। चण्डप्रद्योतन राजा की आज्ञा से अभयकुमार को पकड़ने के लिए कपटपूर्वक श्राविका का वेष करनेवाली गणिका की तरह अन्दर से भावशून्य और बाहर से श्रावक के कार्य करे, वह द्रव्यश्रावक ३। जो भाव से श्रावक की धर्मक्रिया करने में तत्पर हो, वह भावश्रावक ४।

केवल नामधारी, चित्रवत् अथवा जिसमें गाय के लक्षण नहीं, वह गाय जैसे अपना काम नहीं कर सकती, वैसे ही १ नाम, २ स्थापना तथा ३ द्रव्यश्रावक कभी अपना इष्ट धर्मकार्य नहीं कर सकते, इसलिए यहां केवल भावश्रावक का अधिकार समझना चाहिए। भावश्रावक के तीन भेद हैं—१ दर्शनश्रावक, २ व्रतश्रावक ३ उत्तरगुणश्रावक।

श्रेणिकादिक की तरह केवल सम्यक्त्वधारी हो, वह १ दर्शनश्रावक। सुरसुन्दरकुमार की स्त्रियों की तरह सम्यक्त्वमूल पांच अणुव्रत का धारक हो वह २ व्रतधारक। सुरसुन्दरकुमार की स्त्रियों की संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—

सुरसुन्दर शेट की स्त्रियों की कथा :

एक समय कोई मुनिराज सुरसुन्दर की स्त्रियों को पांच अणुव्रत का उपदेश देते थे। उस समय चुपचाप एकान्त में खड़े होकर देखते हुए सुरसुन्दर के मन में मुनिराज के ऊपर ईर्ष्या उत्पन्न हुई। उसने मन में सोचा कि, 'इस मुनि के शरीर पर मैं पांच प्रहार करूंगा।' मुनिराज ने प्रथम 'प्राणातिपात विरमण नामक अणुव्रत दृष्टान्त सहित कहा, तो उन स्त्रियों ने अंगीकार किया। इससे सुरसुन्दर ने विचार किया कि, ये स्त्रियां कुपित हो जायेंगी तो भी व्रत ग्रहण किया है इससे मुझे मारेंगी नहीं।' यह सोच प्रसन्नता से पांच में से एक प्रहार कम किया। और इसी तरह एक-एक व्रत के साथ एक-एक प्रहार कम किया। उन स्त्रियों ने पांचों अणुव्रत लिये। 'तब मुझे धिक्कार है! मैंने नीच विचार

किया।' इस प्रकार सुरसुन्दर अत्यन्त पश्चात्तापकर, मुनिराज से क्षमा मांग, व्रत लेकर क्रमशः स्त्रियों सहित स्वर्ग में गया।

सुदर्शन श्रेष्ठ श्रावक की तरह जो सम्यक्त्वमूल पांच अणुव्रत तथा उत्तरगुण अर्थात् तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत ऐसे बारह व्रत धारण करे, वह ३ उत्तरगुणश्रावक है। अथवा सम्यक्त्वमूल बारह व्रत को धारण करे, वह व्रतश्रावक है। तथा आनन्द, कामदेव, कार्तिकश्रेष्ठि इत्यादिक की तरह जो सम्यक्त्वमूल बारहव्रत तथा सर्वसचित्त परिहार, एकाशन पचक्खाण, चौथाव्रत, भूमिशयन, श्रावकप्रतिमादिक और दूसरे विशेष अभिग्रह को धारण करता हो तो वह भाव से ३ उत्तरगुण श्रावक है। बारहव्रत में एक, दो इत्यादि व्रत अंगीकार करे तो भी भाव से व्रतश्रावकपन होता है। यहां बारहव्रत के एकेक, द्विक, त्रिक, चतुष्क इत्यादि संयोग से द्विविध त्रिविध इत्यादि भंग तथा उत्तरगुण और अविरति रूप दो भेद मिलाने से श्रावकव्रत के सब मिलकर तेरह सौ चौरासी करोड़ बारह लाख सत्यासी हजार दो सौ दो भंग होते हैं।

त्रिविध का समाधान :

शंका : श्रावक व्रत में त्रिविध त्रिविध इत्यादि भंगों का भेद क्यों नहीं सम्मिलित हुआ?

समाधान : श्रावक स्वयं ने पूर्व में किये हुए अथवा पुत्रादिक ने किये हुए आरंभिक कार्य में अनुमति का निषेध नहीं कर सकता, अतएव त्रिविध-त्रिविध भंग नहीं लिया गया। पञ्जप्त्यादि ग्रंथ में श्रावक को त्रिविध त्रिविध पचक्खाण भी कहा है, वह विशेषविधि है। यथा-जो श्रावक दीक्षा लेने की ही इच्छा करता हो, परंतु केवल पुत्रादिक संतति का पालन करने के हेतु ही गृहवास में अटक रहा हो वही त्रिविध त्रिविध प्रकार से श्रावक प्रतिमा का अंगीकार करते वक्त पचक्खाण करे, अथवा कोई श्रावक स्वयंभूरमण समुद्र में रहनेवाले मत्स्य के मांसादिक का किंवा मनुष्य क्षेत्र से बाहर स्थूलहिंसादिक का किसी अवस्था में पचक्खाण करे तो वही त्रिविध-त्रिविध भंग से करे। इस प्रकार त्रिविध-त्रिविध का विषय बहुत अल्प होने से वह यहां कहने की आवश्यकता न रखी। महाभाष्य में भी कहा है कि, बहुत से कहते हैं कि, 'श्रावक को त्रिविध-त्रिविध पचक्खाण नहीं है' परंतु ऐसा नहीं, कारण कि, पन्नति में विशेष आश्रय से त्रिविध-त्रिविध का कथन किया है। कोई श्रावक विशेष अवस्था में स्वयंभूरमण समुद्र के अंदर रहनेवाले मत्स्य के मांस की तरह मनुष्य क्षेत्र से बाहर हस्तिदंत, सिंहचर्म, इत्यादि न मिल सके ऐसी वस्तु का अथवा कौवे का मांस आदि प्रयोजन रहित वस्तु का पचक्खाण त्रिविध-त्रिविध प्रकार से करे तो दोष नहीं। बहुत से यह कहते हैं कि कोई पुरुष दीक्षा लेने को तत्पर हो, तो भी केवल पुत्रादि संतति का रक्षण करने के ही हेतु से (दीक्षा न लेकर) ग्यारहवीं श्रावक प्रतिमा प्राप्त करे तो उसे भी त्रिविध-त्रिविध पचक्खाण होता है।'

चार-चार भेद से श्रावक :

शंका : आगम में अन्य प्रकार से श्रावक के भेद सुनने में आते हैं। श्री ठाणांगसूत्र में कहा है कि श्रमणोपासक चार प्रकार के होते हैं, यथा—१ माता-पिता समान, २ बंधु समान, ३ मित्र समान और ४ सपत्नी (सौत) समान। (अथवा अन्य रीति से) १ आरिसा (दर्पण) समान, २ ध्वजा समान, ३ स्तंभ (खंभा) समान और ४ खरंटक (विष्टादिक) समान।

समाधान : ऊपर कहे हुए भेद श्रावक का साधु के साथ जो व्यवहार है उसके आश्रित हैं।

शंका : ऊपर के भेद आपके कहे हुए भेद में से किस भेद में सम्मिलित होते हैं?

समाधान : व्यवहारनय के मत से ये भावश्रावक ही हैं, क्योंकि वैसा ही व्यवहार है। निश्चयनय के मत से सपत्नी समान और खरंटक समान ये दो प्रायः मिथ्यादृष्टि समान द्रव्यश्रावक और शेष सब भावश्रावक हैं। कहा है कि—

चित्तं जईकज्जाइ, न दिट्ठखलिओवि होइ निन्नेहो।

एगंतवच्छलो जइजणस्स जणणीसमो सद्धो ॥१॥

हिअए ससिणेहो च्चिअ, मुणीण मंदायरो विणयकम्मे।

भायसमो साहूणं, पराभवे होइ सुसहाओ ॥२॥

मित्तसमाणो माणा ईसिं रूसइ अपुच्छिओ कज्जे।

मन्नंतो अप्पाणं, मुणीण सयणाउ अब्भहिअं ॥३॥

थद्धो छिइप्पेही, पमायखलिआणि निच्चमुच्चरइ।

सद्धो सवत्तिकप्पो साहुजणं तणसमं गणइ ॥४॥

द्वितीयचतुष्के—गुरुभणिओ सुत्तत्थो, बिंबिज्जइ अविताहो मणे जस्स।

सो आयंससमाणो, सुसावओ वन्निओ समए ॥१॥

पवणेण पडागा इव, भामिज्जइ जो जणेण मूढेण।

अविणिच्छियगुरुवयणो, सो होइ पडाइआतुल्लो ॥२॥

पडिवन्नमसग्गाहं, न मुअइ गीअत्थसमणुसिद्धो वि।

थाणुसमाणो एसो, अपओसी मुणिजणे नवरं ॥३॥

उम्मग्गदेसओ निन्हवोसि मूढोसि मंदधम्मोसि।

इअ संमंपि कहंतं खरंटेए सो खरंटसमो ॥४॥

जह सिढिलमसुइदव्वं, छुप्पंतं पिहु नरं खरंटेइ।

एवमणुसासगं पिहु दूसंतो भन्नइ खरंटो ॥५॥

निच्छयओ मिच्छती, खरंटतुल्लो सवत्तितुल्लो वि।

ववहारओ उ सद्धा, वयंति जं जिणगिहाईसु ॥६॥

साधु के जो कुछ कार्य हों उनका मन में विचार करे, यदि साधु का कोई प्रमाद

स्खलित दृष्टि में आवे तो भी साधुपर से राग कम न करे और जैसे माता अपने पुत्र पर वैसे ही मुनिराज पर अतिशय हित के परिणाम रखे वह श्रावक माता-पिता के समान है १। जो श्रावक साधु के ऊपर मन में तो बहुत राग रखे पर बाहर से विनय करने में मंद आदर दिखावे, परन्तु यदि कोई साधु का पराभव करे तो उस समय शीघ्र वहां जाकर मुनिराज को सहायता करे वह श्रावक बंधु के समान है २। जो श्रावक अपने को मुनि के स्वजन से भी अधिक समझे, तथा कोई कार्य में मुनिराज इसकी सलाह न ले तो मन में अहंकार से रोष करे, वह श्रावक मित्र समान है ३। जो भारी अभिमानी श्रावक साधु के छिद्र देखा करे, प्रमाद वश हुई उनकी भूल हमेशा कहा करे तथा उनको तृणवत् समझे वह श्रावक सपत्नी समान है ४। दूसरे चार प्रकारों में—गुरु का कहा हुआ सूत्रार्थ जैसा कहा हो वैसा ही उसके मन में उतरे उस सुश्रावक को सिद्धांत में आरिसा (दर्पण) समान कहा है १। जो श्रावक गुरु के वचनों का निर्णय न करने से पवन जैसे ध्वजा को इधर-उधर करता है वैसे ही अज्ञानी पुरुष उन्हें इधर-उधर घुमावें वह ध्वजासमान है २। गीतार्थ मुनिराज चाहे कितना ही समझावें परन्तु जो अपना हठ न छोड़े और साथ ही मुनिराज पर द्वेष भाव न रखे वह श्रावक स्तंभ के समान है ३। जो श्रावक सद्धर्मापदेशक मुनिराज पर भी 'तू उन्मार्ग दिखावेवाला, मूर्ख, अज्ञानी तथा मंदधर्मी है' ऐसे निन्द्य वचन कहे, वह श्रावक खरंटक (विष्टादिक) के समान है ४। जैसे पतला (विष्टादि अशुचि) द्रव्य, स्पर्श करनेवाले मनुष्य को भी लग ही जाता है वैसे उत्तम उपदेश करनेवाले को भी जो दोष दे वह खरंटक (विष्टादिक) के समान कहलाता है। निश्चयनय मत से सपत्नीसमान व खरंटकसमान इन दोनों को मिथ्यात्वी (द्रव्यश्रावक) समझना चाहिए और व्यवहारनय से श्रावक कहलाते हैं, कारण कि वे जिन मंदिरादिक में जाते हैं।

श्रावक शब्द का अर्थ :

स्रवन्ति यस्य पापानि, पूर्वबद्धान्यनेकशः।

आवृत्तश्च ब्रतैर्नित्यं, श्रावकः सोऽभिधीयते ॥१॥

संपत्तदंसणार्हं, पइदिअहं जइजणा सुणेई आ।

सामायारि परमं, जो खलु तं सावगं बिंति ॥२॥

श्रद्धालुतां श्राति पदार्थचिन्तनाद्भनानि पात्रेषु वपत्यनारतम्।

किरत्यपुण्यानि सुसाधुसेवनादतोऽपि तं श्रावकमाहुरुत्तमाः ॥३॥

यद्वा-श्रद्धालुतां श्राति शृणोति शासनं, दानं वपत्याशु वृणोति दर्शनम्।

कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमं, तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः ॥४॥

श और स इन दोनों को समान मानकर श्रावक शब्द का अर्थ इस प्रकार होता है—प्रथम सकार मानकर 'स्रवति अष्ट प्रकारं कर्मेति श्रावकः' अर्थात् दान, शील, तप, भावना इत्यादि शुभयोग से आठ प्रकार के कर्म का त्याग करे, वह श्रावक है। दूसरा

शकार मानकर, 'शृणोति यतिभ्यः सम्यक् सामाचारीमिति श्रावकः' अर्थात् साधु के पास से सम्यक् प्रकार से सामाचारी सुने वह श्रावक है। ये दोनों अर्थ भावश्रावक की अपेक्षा से ही हैं। कहा है कि—जिसके पूर्व संचित अनेक पाप क्षय होते हैं, अर्थात् जीवप्रदेश से बाहर निकल जाते हैं, और जो निरन्तर व्रतों से घिरा हुआ है, वही श्रावक कहलाता है।

जो पुरुष सम्यक्त्वादिक पाकर प्रतिदिन मुनिराज के पास उत्कृष्ट सामाचारी सुनता है, उसे चतुर मनुष्य श्रावक कहते हैं। जो पुरुष 'श्रा' अर्थात् सिद्धांत के पद का अर्थ सोचकर अपनी आगम ऊपर की श्रद्धा परिपक्व करे, 'व' अर्थात् नित्य सुकार्य में धन का व्यय करे, तथा 'क' अर्थात् श्रेष्ठ मुनिराज की सेवा करके अपने दुष्कर्मों का नाश कर डाले याने खपावे, इसी हेतु से श्रेष्ठपुरुष उसे श्रावक कहते हैं। अथवा जो पुरुष 'श्रा' अर्थात् पद का अर्थ मनन करके प्रवचन ऊपर श्रद्धा परिपक्व करे, तथा सिद्धांत श्रवण करे, 'व' अर्थात् सुपात्र में धन व्यय करे, तथा दर्शन समकित ग्रहण करे 'क' अर्थात् दुष्कर्म का क्षय करे, तथा इन्द्रियादिक का संयम करे उसे श्रावक कहते हैं।

श्राद्धशब्द का अर्थ :

जिसकी सद्धर्म में श्रद्धा है, वह 'श्राद्ध' कहलाता है। (मूल शब्द श्रद्धा था उसमें 'प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तेर्णः' इस व्याकरण सूत्र से 'ण' प्रत्यय लगाया, तो प्रत्यय के णकार का लोप और आदि वृद्धि होने से 'श्राद्ध' यह रूप होता है।) श्रावक शब्द की तरह 'श्राद्ध' शब्द का उपरोक्त अर्थ भावश्रावक की ही अपेक्षा से है। इसीलिए गाथा में कहा है कि 'यहां भावश्रावक का अधिकार है।'

इस तरह चौथी गाथा में श्रावक का स्वरूप बताया। अब दिवसकृत्य, रात्रिकृत्य, आदि जो छः विषय हैं उसमें से प्रथम 'दिवसकृत्य' की विधि कहते हैं—

दिनकृत्य - मूलगाथा - ५

नवकारेण विबुद्धो, सरेइ सो सकुलधम्मनियमाई।

पडिक्कमिअ सुई पूइअ, गिहे जिणं कुणइ संवरणं ॥५॥

भावार्थः 'नमो अरिहंताणं' इत्यादि नवकार की गणनाकर जागृत हुआ श्रावक अपने कुल, धर्म, नियम इत्यादि का चिन्तन करे।

गाथा पूर्वार्ध तात्पर्यार्थ—प्रथम श्रावक को निद्रा का त्याग करना। पिछली रात्रि में एक प्रहर रात्रि रहने पर उठना। ऐसा करने में इस लोक तथा परलोक संबंधी कार्य का यथावत् विचार होने से उस कार्य की सिद्धि तथा अन्य भी अनेक गुण हैं और ऐसा न करने से इस लोक व परलोक सम्बन्धी कार्य की हानि आदि बहुत दोष हैं। लोक में भी कहा है कि—

कम्पीणां धणं संपडइ, धम्पीणां परलोअ जिहिं।

सुतां रवि उग्गमइ, तिहिं नरआऊ न ओअ ॥१॥

अर्थ: मजदूर लोग जो जलदी उठकर काम में लगे तो उनको धन मिलता है, धर्मीपुरुष जलदी उठकर धर्मकार्य करें तो उनको परलोक का श्रेष्ठ फल मिलता है, परन्तु जो सूर्योदय हो जाने पर भी नहीं उठते वे बल, बुद्धि, आयुष्य तथा धन को खो देते हैं ॥१॥

निद्रावश होने से अथवा अन्य किसी कारण से जो पूर्व कहे हुए समय पर न उठ सके तो पन्द्रह मुहूर्त की रात्रि में जघन्य से चौदहवें ब्राह्ममुहूर्त में (चार घड़ी रात्रि बाकी रहते) उठना। उठते ही द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से तथा भाव से उपयोग करना। यथा—

'मैं श्रावक हूँ, कि अन्य कोई हूँ?' ऐसा विचार करना वह द्रव्य से उपयोग। 'मैं अपने घर में हूँ कि दूसरे के घर? मेड़े [उपरी मंजिले]पर हूँ कि भूमितले?' ऐसा विचार करना वह क्षेत्र से उपयोग। 'रात्रि है, कि दिन है?' ऐसा विचार करना सो काल से उपयोग। 'काया के, मन के अथवा वचन के दुःख से मैं पीड़ित हूँ कि नहीं?' ऐसा विचार करना सो भाव से उपयोग।

इस प्रकार चतुर्विध उपयोग दिये पश्चात् निद्रा बराबर न गयी हो तो नासिका पकड़ के श्वासोश्वास रोके, जिससे निद्रा शीघ्र चली जाये, अनन्तर द्वार देखकर कार्य चिन्ता आदि करना। साधु की अपेक्षा से ओघनिर्युक्ति में कहा है कि—द्रव्यादि उपयोग व श्वासोश्वास का निरोध करना। रात्रि में जो किसीको कुछ काम काज कहना हो तो वह मन्दस्वर से ही कहना, उच्च स्वर से खांसी, खुंखार, हुंकार अथवा कोई भी शब्द न करना। कारण कि वैसा करने से छिपकली आदि हिंसक जीव जागकर मक्खी आदि क्षुद्र जीव पर उपद्रव करते हैं तथा पडौस के मनुष्य भी जागृत होकर अपना-अपना काम आरंभ करने लगते हैं, जैसे—पानी लाने वाली, रसोई बनाने वाली, व्यापारी, शोक करने वाली, मुसाफिर, कृषक, माली, रहेट चलानेवाला, घड़ा आदि यंत्र चलानेवाला, सिलावट, गांछी (सूत कांतनेवाला), धोबी, कुम्हार, लोहार, सुतार, जुआरी, शस्त्र बनानेवाला, कलाल, मांझी (धीवर), कसाई, पारधी, घातपात करनेवाला, परस्त्रीगामी, चोर, डाकू इत्यादि लोगों को परंपरा से अपने-अपने नीच व्यापार में प्रवृत्ति कराने का तथा अन्य भी बहुत से निरर्थक दोष लगते हैं। श्री भगवती सूत्र में कहा है कि—धर्मी पुरुष जागते तथा अधर्मी पुरुष सोते हों तो उत्तम है। इसी प्रकार श्री महावीर स्वामी ने वत्सदेश के राजा शतानीक की बहन जयन्ती को कहा है।

निद्रा जाती रहे तब स्वरशास्त्र के ज्ञाता पुरुष को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश इन पांच तत्त्वों में से कौनसा तत्त्व श्वासोश्वास में चलता है सो ज्ञात करना। कहा है कि—पृथ्वीतत्त्व और जलतत्त्व में निद्रा का छेद हो तो वह कल्याण के लिए है, परंतु आकाश वायु के अग्नितत्त्व में हो तो वह दुःखदायक है। शुक्ल पक्ष के प्रातःकाल में वाम (चंद्र) नाड़ी और कृष्ण पक्ष के प्रातःकाल में दक्षिण (सूर्य) नाड़ी उत्तम है। शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्ष में अनुक्रम से तीन दिन (पड़वा, बीज, तीज) तक प्रातःकाल

में चन्द्रनाडी और सूर्यनाडी शुभ है। शुक्लप्रतिपदा (उजेली पड़वा) से लेकर प्रथम तीन (तीज) तक चन्द्रनाडी में वायुतत्त्व रहता है, उसके पश्चात् तीन दिन (चौथ, पंचमी, छठ) तक सूर्यनाडी में वायुतत्त्व रहता है, इसी प्रकार आगे चले तो शुभ है, परन्तु इससे उलटा अर्थात् पहिले तीन दिन सूर्य नाडी में वायुतत्त्व और पिछले तीन दिन चन्द्रनाडी में वायुतत्त्व इस अनुक्रम से चले तो दुःखदायी है।

चन्द्रनाडी में वायुतत्त्व चलते हुए जो सूर्योदय होवे तो सूर्यनाडी में अस्त होना शुभ है। तथा जो सूर्योदय के समय सूर्यनाडी चलती हो तो अस्त के समय चन्द्रनाडी शुभ है। किसी-किसी के मत में वार के क्रम से सूर्यचन्द्रनाडी के उदय के अनुसार फल कहा है। यथा—रवि, मंगल, गुरु और शनि इन चार वारों में प्रातःकाल में सूर्यनाडी तथा सोम, बुध और शुक्र इन तीन वारों में प्रातःकाल में चन्द्रनाडी हो तो वह शुभ है। किसी-किसी के मत में संक्रांति क्रम से सूर्यचन्द्रनाडी का उदय कहा है, यथा—मेषसंक्रांति में प्रातःकाल में सूर्यनाडी और वृषभसंक्रांति में चन्द्रनाडी शुभ है इत्यादि। किसी-किसी के मत में चन्द्रराशि के परावर्तन के क्रम से नाडी का विचार है, कहा है कि—सूर्योदय से लेकर प्रत्येक नाडी अढ़ाई घड़ी निरन्तर चलती है। रहें के घड़े की तरह नाडियां भी अनुक्रम से फिरती रहती हैं। छत्तीस गुरुवर्ण (अक्षर) का उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतना समय प्राणवायु को एक नाडी में से दूसरी नाडी में जाते लगता है। इस प्रकार पांच तत्त्वों का स्वरूप जानो। अग्नितत्त्व ऊंचा, जलतत्त्व नीचा, वायुतत्त्व आड़ा, पृथ्वीतत्त्व नासिकापुट के अन्दर और आकाशतत्त्व चारों तरफ रहता है। चलती हुई सूर्य और चन्द्रनाडी में क्रमशः वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तथा आकाश ये पांच तत्त्व बहते हैं, यह नित्य का अनुक्रम है। पृथ्वीतत्त्व पचास, जलतत्त्व चालीस, अग्नितत्त्व तीस, वायुतत्त्व बीस और आकाशतत्त्व दस पल बहता है। सौम्य (उत्तम) कार्य में पृथ्वी व जलतत्त्व से फल की उन्नति होती है, क्रूर तथा स्थिर कार्य में अग्नि, वायु और आकाश इन तीन तत्त्वों से शुभफल होता है। आयुष्य, जय, लाभ, धान्य की उत्पत्ति, वृष्टि, पुत्र, संग्राम का प्रश्न, जाना, आना, इतने कार्यों में पृथ्वीतत्त्व और जलतत्त्व शुभ हैं, पर अग्नितत्त्व और वायुतत्त्व अशुभ है। पृथ्वीतत्त्व हो तो कार्य सिद्धि धीरे-धीरे और जलतत्त्व हो तो शीघ्र होती है। पूजा, द्रव्योपार्जन, विवाह, किल्लादि अथवा नदी का उल्लंघन, जाना, आना, जीवन, घर, क्षेत्र इत्यादि का संग्रह, खरीदना, बेचना, वृष्टि, राजादिक की सेवा, कृषि, विष, जय, विद्या, पट्टाभिषेक इत्यादि शुभकार्य में चन्द्रनाडी शुभ है। किसी कार्य का प्रश्न अथवा कार्यारम्भ के समय वाम (डावी) नासिका वायु से पूर्ण होवे तथा उसके अन्दर वायु का आवागमन ठीक तरह से चलता हो तो निश्चय कार्यसिद्धि होती है। बन्धन में पड़े हुए, रोगी, अपने अधिकार से भ्रष्ट ऐसे पुरुषों का प्रश्न, संग्राम, शत्रु का मिलाप, आकस्मिक भय, स्नान, पान, भोजन, गयी वस्तु की शोध पुत्र के निमित्त रतिक्रीड़ा, विवाद तथा कोई भी क्रूर कर्म इतनी वस्तुओं में सूर्यनाडी शुभ है। किसी जगह ऐसा लिखा है कि,

विद्यारंभ, दीक्षा, शस्त्राभ्यास, विवाद, राजा का दर्शन, गीत आदि, मंत्र यंत्रादिक का साधन इतने कार्यों में सूर्यनाड़ी शुभ है। दाहिनी अथवा बायी जिस नासिका में प्राणवायु एक सरीखा चलता हो उस तरफ का पैर आगे रखकर अपने घर में से निकलना। सुख, लाभ और जय इसके चाहनेवाले पुरुषों को अपने देनदार, शत्रु, चोर, विवाद करनेवाला इत्यादिक को अपनी शून्य (श्वसोश्वास रहित) नासिका के तरफ रखना। कार्यसिद्धि के इच्छुक पुरुषों को स्वजन, अपना स्वामी, गुरु तथा अन्य अपने हितचिन्तक इन सर्व लोगों को अपनी चलती हुई नासिका के तरफ रखना। पुरुष को बिछौने पर से उठते समय जो नासिका पवन के प्रवेश से परिपूर्ण हो उस नासिका के तरफ का पैर प्रथम भूमि पर रखना।

जाप कैसे करें? :

श्रावक ने इस विधि से निद्रा का त्याग करके परम मंगल के निमित्त आदरपूर्वक नवकारमंत्र का अव्यक्तवर्ण सुनने में न आवे इस प्रकार स्मरण करना। कहा है कि—

परमिद्धिचिंतणं सिञ्जागण कायव्वं।

सुत्ताऽविणयपविती निवारिआ होइ एवं तु ॥१॥

बिछौने पर बैठे हुए पुरुष को पंचपरमेष्ठि का चिंतवन मन में ही करना। ऐसा करने से परम आराध्य श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में अविनय की प्रवृत्ति रुकती है। दूसरे आचार्य तो ऐसी कोई भी अवस्था नहीं कि, जिसमें नवकार मंत्र गिनने का अधिकार न हो—ऐसा मानकर 'नवकार मंत्र को सभी अवस्था में गिनना' ऐसा कहते हैं। ये दोनों मत प्रथम पंचाशक की वृत्ति में कहे हैं। श्राद्धदिनकृत्य में तो ऐसा कहा है कि, शय्या का स्थान छोड़कर नीचे भूमिपर बैठना और भावबन्धु तथा जगत् के नाथ ऐसे परमेष्ठि का वर्णन जिसमें है ऐसे नवकार को गिनना। यतिदिनचर्या में तो इस प्रकार कहा है कि, रात्रि के पिछले प्रहर में बाल, वृद्ध इत्यादि सब लोग जागते हैं, इसलिए उस समय मनुष्य प्रथम सात आठ बार नवकार मंत्र कहते हैं। नवकार गिनने की यह विधि है।

निद्रा लेकर उठा हुआ पुरुष मन में नवकार गिनता हुआ शय्या से उठकर पवित्र भूमि पर खड़ा रहे अथवा पद्मासनादि सुखासन से बैठे। पूर्वीदिशा में, उत्तर दिशा में अथवा जहां जिन प्रतिमा हो उस दिशा की ओर मुख करे, और चित्त की एकाग्रता आदि होने के निमित्त कमलबंध से अथवा हस्तजाप से नवकार मंत्र गिने। उसमें कल्पित अष्टदलकमल की कर्णिका ऊपर प्रथम पद स्थापन करना, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, तथा उत्तर दिशा के दल पर अनुक्रम से दूसरा, तीसरा, चौथा और पांचवां पद स्थापन करना, और अग्नि, नैऋत्य, वायव्य और ईशान इन चार उपदिशाओं में शेष चार पद अनुक्रम से स्थापन करना। श्री हेमचन्द्रभूरिजी ने आठवें प्रकाश में कहा है कि, "आठ पंखुडियों के श्वेतकमल की कर्णिका में चित्त स्थिर रखकर वहां पवित्र सात अक्षर के मंत्र—(नमो अरिहंताणं) का चिन्तन करना। (पूर्वीदि) चारदिशा की चार पंखुडियों में क्रमशः सिद्धादि चार पद का और उपदिशाओं में शेष चार पद का चिन्तन करना। मन,

वचन काया की शुद्धि से जो इस प्रकार से एकसौ आठ बार मौन रहकर नवकार का चिन्तन करे, तो भोजन करने पर भी अवश्य उपवास का फल पाता है। नंदावर्त, शंखावर्त, इत्यादि प्रकार से हस्त जाप करे, तो भी इष्टसिद्धि आदिक बहुत से फल की प्राप्ति होती है। कहा है कि—

करआवत्ते जो पंचमंगलं साहुपडिमसंखाए।

नववारा आवत्तइ छलंति तं नो पिसायाई ॥१॥

जो मनुष्य हस्तजाप में नंदावर्त बारह संख्या को नव बार अर्थात् हाथ ऊपर फिरते हुए बारह स्थानों में नव फेरा याने एकसौ आठ बार नवकार मंत्र जपे, उसको पिशाचादि व्यंतर उपद्रव नहीं करे। बन्धनादि संकट हो तो नंदावर्त के बदले उससे विपरीत (उलटा) शंखावर्त से अथवा मंत्र के अक्षर किंवा पद के विपरीत क्रम से नवकार मंत्र का लक्षादि संख्या तक जाप करने से भी क्लेश का नाश आदि शीघ्र होता है।

ऊपर कहे अनुसार कमलबंध अथवा हस्तजाप करने की शक्ति न हो तो, सूतर रत्न, रुद्राक्ष इत्यादि की जपमाला (नवकारवाली) अपने हृदय की समश्रेणी में पहने हुए वस्त्र को व पांव को स्पर्श न करे, इस प्रकार धारण करना, और मेरु का उल्लंघन न करते जाप करना। कहा है कि—

अङ्गुल्यग्रेण यज्जप्तं, यज्जप्तं मेरुलङ्घने।

व्यग्रचित्तैन यज्जप्तं, तत्प्रायोऽल्पफलं भवेत् ॥१॥

सङ्कुलाद्विजने भव्यः सशब्दात्मनवान् शुभः।

मौनजापान्मानसः श्रेष्ठो, जापः श्लाघ्यः परः परः ॥२॥

अंगुलि के अग्रभाग से, व्यग्रचित्त से तथा मेरु के उल्लंघन से किया हुआ जाप प्रायः अल्पफल का देनेवाला होता है। लोक समुदाय में जाप करने की अपेक्षा एकांत में, मंत्राक्षर का उच्चारण करने की अपेक्षा मौन से तथा मौन से करने की अपेक्षा भी मन के अंदर जाप करना श्रेष्ठ है, इन तीनों में प्रथम से दूसरा और दूसरे से तीसरा जाप श्रेष्ठ है। जाप करते हुए थक जाय तो ध्यान करना तथा ध्यान करते थक जाय तो जाप करना, वैसे ही दोनों से ही थक जाय तो स्तोत्र कहना ऐसा गुरु महाराज ने कहा है। श्रीपादलिमसूरिजी ने निजरचित प्रतिष्ठाप्रद्धति में भी कहा है कि, मानस, उपांशु और भाष्य इस प्रकार जाप के तीन भेद हैं। केवल मनोवृत्ति से उत्पन्न हुआ तथा मात्र स्वयं ही जान सके वह मानस जाप, दूसरा न सुन सके इस प्रकार अंदर बोलना वह उपांशु जाप तथा दूसरा सुन सके इस प्रकार किया हुआ भाष्य जाप है। इनमें प्रथम का शान्ति आदि उत्तमकार्य में, दूसरे का पुष्ट्यादि मध्यम कार्य में तथा तीसरे का अभिचार, जारण, मारण आदि अधमकार्य में उपयोग करना। मानस जाप यत्नसाध्य है और भाष्यजाप अल्पफल देनेवाला है, इसलिए साधारण होने से उपांशु जाप का ही उपयोग करना। नवकार के पांच अथवा नव पद अनानुपूर्वी (विपरीतक्रम) भी चित्त

की एकाग्रता के लिए गिनना। उसका (नवकार का) एक-एक अक्षर, पद इत्यादि भी गिनना। आठवें प्रकाश में कहा है कि पंचपरमेष्ठि के नाम से उत्पन्न हुई सोलह अक्षर की विद्या है, उसका दो सौ जाप करे, तो उपवास का फल मिलता है। 'अरिहंतसिद्धआयरिअ-उवज्झायसाहु' ये सोलह अक्षर हैं। इसी तरह मनुष्य तीनसौ बार छः अक्षर के मंत्र का, चारसौ बार चार अक्षर के मंत्र का और पांचसौ बार 'अ' इस वर्ण का एकाग्रचित्त से जाप करे तो उपवास का फल पाता है। यहां 'अरिहंतसिद्ध' यह छः अक्षर का तथा 'अरिहंत' यह चार अक्षर का मंत्र जानो। ऊपर कहा हुआ फल केवल जीव को प्रवृत्त करने के लिए ही दर्शाया है। परमार्थ से तो नवकार मंत्र के जाप का फल स्वर्ग तथा मोक्ष है। वैसे ही कहा है कि—नाभिकमल में सर्वतोमुखि "अ" कार, शिरःकमल में "सि" कार, मुखकमल में "आ" कार, हृदयकमल में "उ" कार, कंठपंजर में "सा" कार रहता है ऐसा ध्यान करना। तथा दूसरे भी सर्व कल्याणकारी मंत्र बीजों का चिंतन करना। इस लोक संबंधी फल की इच्छा करनेवाले मनुष्यों को (नवकार) मंत्र ॐ सहित पठन करना और जो निर्वाणपद के इच्छुक हों उनको ॐकार रहित पठन करना। इस तरह चित्त स्थिर होने के लिए इस मंत्र के वर्ण और पद क्रमशः पृथक् करना। जपादिक का बहुत फल कहा है, यथा—करोड़ों पूजा के समान एक स्तोत्र है, करोड़ों स्तोत्र के समान एक जाप है, करोड़ों जप के समान ध्यान है और करोड़ों ध्यान के समान लय (चित्त की स्थिरता) है। चित्त की एकाग्रता होने के निमित्त जिनेश्वर-भगवान् की कल्याणकादि भूमि इत्यादि तीर्थ का अथवा अन्य किसी चित्त को स्थिर करनेवाले पवित्र एकांत स्थान का आश्रय करना। ध्यानशतक में कहा है कि-

तरुण स्त्री, पशु, नपुंसक और कुशीलपुरुष इनसे सर्वदा रहित ऐसा पवित्र एकांत स्थान मुनिराज का होता है। ध्यान करने के समय ऐसा ही स्थान विशेष आवश्यक है। जिनके मन, वचन, काया के योग स्थिरता पाये हों और इसीसे ध्यान में निश्चल मन हुआ हो उन मुनिराज को तो मनुष्य की भीड़वाले गांव तथा शून्यअरण्य में कोई भी विशेषता नहीं। अतएव जहां मनवचनकाया के योग स्थिर रहें व किसी जीव को बाधा न होती हो वही स्थान ध्यान करनेवाले के लिए उचित है। जिस समय मनवचनकाया के योग उत्तम समाधि में रहते हों, वही समय ध्यान के लिए उचित है। ध्यान करनेवाले को दिन का अथवा रात का ही समय चाहिए इत्यादि नियम (शास्त्र में) नहीं कहा। देह की अवस्था ध्यान के समय जीव को बाधा देनेवाली न हो उसी अवस्था में, चाहे बैठकर, खड़े रहकर अथवा अन्य रीति से भी ध्यान करना। कारण कि साधुजन सर्वदेशों में, सर्वकाल में और सर्वप्रकार की देह की चेष्टा में पापकर्म का क्षय करके सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञान को प्राप्त हुए। इसलिए ध्यान के संबंध में देश, काल और देह की

१. इस ग्रंथ के रचना काल के समय 'असिआउसा' का जाप प्रारंभ हो गया था। यह इस कथन से स्पष्ट हो रहा है। यहाँ यह कथन कहाँ कहा गया है इसका स्पष्टीकरण भी नहीं है।

अवस्था का कोई भी नियम सिद्धांत में नहीं कहा। जैसे मनवचनकाथा के योग समाधि में रहे, वैसे ही ध्यान करने का प्रयत्न करना। नवकार मंत्र इस लोक में तथा परलोक में अति ही गुणकारी है। महानिशीथ सूत्र में कहा है कि—

नासेइ चौरसावयविसहरजलजलणबंधणभयाई।

चिंतिज्जंतो रक्खसरणरायभयाई भावेण ॥१॥

अन्यत्रापि-जाएवि जो पढिज्जइ, जेण जायस्स होइ फलरिद्धी।

अवसाणे वि पढिज्जइ, जेण मओ सुग्गइ जाइ ॥१॥

आवइहिंपि पढिज्जइ, जेण य लंघेइ आवइसयाई ।

रिद्धीए वि पढिज्जइ, जेण य सा जाइ वित्थारं ॥२॥

नवकारइक्कअक्खरपावं फेडेइ सत्त अयराणं।

पन्नासं च पएणं, पंचसयाई समग्गेणं ॥३॥

जो गुणइ लक्खमेगं, पूएइ विहीइ जिणनमुक्कारं।

तित्थयरनामगोअं, सो बंधइ नत्थि संदेहो ॥४॥

अट्टेव य अट्ट सया अट्टसहस्सं च अट्ट कोडीओ।

जो गुणइ अट्ट लक्खे, सो तइअभवे लहइ सिद्धिं ॥५॥

नवकार मंत्र का भाव से चिंतवन किया हो तो वह चोर, श्वापद (जंगली जानवर), सर्प, जल, अग्नि, बंधन, राक्षस, संग्राम तथा राजा इनके द्वारा उत्पन्न भय का नाश करता है। अन्य स्थान में भी कहा है कि, जीव को जन्मसमय में भी नवकार गिनना (सुनाना), कारण कि उससे उत्पन्न होनेवाले [बालक] जीव को उत्तम फल की प्राप्ति होती है। देहांत के समय में भी नवकार गिनना, कारण कि, उससे मरनेवाला जीव सुगति को जाता है। आपत्ति के समय भी नवकार गिनना, कारण कि इससे सैंकड़ों आपत्तियों का नाश होता है। बहुत सी ऋद्धि हो तो भी गिनना, कारण कि इससे ऋद्धि की वृद्धि होती है। नवकार का एक अक्षर गिने तो सात सागरोपम की स्थितिवाला, एक पद गिने तो पचास सागरोपम की स्थितिवाला और समग्र नवकार गिने तो पांचसौ सागरोपम स्थितिवाला पापकर्म नाश को प्राप्त होता है। जो मनुष्य एक लक्ष नवकार गिने और विधिपूर्वक जिनेश्वर की पूजा करे वह तीर्थंकर नामगोत्र संचित करे इसमें संशय नहीं। जो जीव आठ करोड़, आठ लाख, आठ हजार, आठ सौ आठ (८०८०८८०८) बार नवकार मंत्र गिने वह तीसरे भव में मुक्ति पाता है।

नवकार माहात्म्य के ऊपर इसलोक संबंध में श्रेष्ठि पुत्र शिवकुमारादिक का दृष्टांत है, श्रेष्ठिपुत्र शिवकुमार जूआ आदि व्यसन में आसक्त होने से उसके पिता ने उसे शिक्षा दी कि, कोई संकट आ पड़े तो नवकार मंत्र का जाप करना। कुछ काल में पिता के मर जाने के बाद व्यसन से निर्धन हुआ शिवकुमार धन के निमित्त किसी त्रिदंडी के कहने से उत्तर साधक हुआ। कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि में स्मशान में मृत

कलेवर के पैरों में घृत की मालिश करते उस शब को खड़े होने की चेष्टा करते देख भयभीत हुआ, जिससे उसने उसी समय नवकार मंत्र का जाप किया। उससे खड़े होते शब की शक्ति उस पर नहीं चली तब शब ने त्रिदंडी को मार डाला और उसी त्रिदंडी का सुवर्णपुरुष (सोने का पुरुष) हो गया। उससे अत्यन्त ऋद्धिशाली होकर शिवकुमार ने इस लोक में जिनमंदिरादि बनवाये।

परलोक के सम्बन्ध में बड़ में रहनेवाली शबलिकादि (समडी) का दृष्टान्त जानों, जैसे—वह (बटशबलिका) जब यवन के बाण से विद्ध हुई तब उसको मुनिराज ने नवकार मंत्र सुनाया। जिससे वह सिंहलाधिपति राजा की मान्य पुत्री हुई। एक समय किसी श्रेष्ठि (सेठ) ने छीक आते अपने आप ही नवकार का प्रथम पद कहा। वह सुनने से राजकन्या को जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ। जिससे उसने पचास नौका द्रव्य से भरी हुई साथ ले भृगुकच्छ में आकर शकुनिकाविहार का उद्धार कराया।

इसलिए निद्रा से जागते ही प्रथम नवकारमंत्र का जाप करना पश्चात् धर्मजागरिका करना। वह इस प्रकार है—

धर्मजागरिका :

कोऽहं? का मम जाई? किं च कुलं? देवया च? के गुरुणो?।

को मम धम्मो? के वा, अभिग्गहा? का अवत्था मे? ॥११॥

किं मे कडं? किंच मे किच्चसेसं?, किं सङ्कणिज्जं न समायरामि?।

किं मे परो पासइ? किं च अप्पा?, किं वाहं खलिनं न विवज्जयामि? ॥१२॥

मैं कौन हूँ? मेरी जाति क्या है? कुल क्या है? देव कौन? गुरु कौन? धर्म कौनसा? अभिग्रह कौनसा? और अवस्था कैसी? मैंने अपना कौन कर्तव्य किया? और मेरा कौन कार्य शेष है? करने की शक्ति होते हुए भी मैं (प्रमाद से) करता नहीं ऐसा क्या है? दूसरे मनुष्य मेरी ओर किस दृष्टि से देखते हैं? मैं स्वयं अपना क्या (अच्छा कि बुरा) देखता हूँ? कौनसा दोष मैं नहीं छोड़ता? वैसे ही आज क्या तिथि है? अरिहंत का कल्याणक कौनसा है? तथा आज मुझे क्या करना चाहिए? इत्यादि विचार करे। इस धर्मजागरिका में भाव से अपने कुल, धर्म, व्रत इत्यादि का चिन्तन द्रव्य से सदगुरु आदि का चिन्तन, क्षेत्र से 'मैं किस देश में? पुर में? ग्राम में? अथवा स्थानक में हूँ? यह विचार तथा काल से 'अभी प्रभात काल है? कि रात्रि बाकी है?' इत्यादि विचार करना।

प्रस्तुत गाथा के 'सकुलधम्मनियमाई' इस पद में 'आदि' शब्द है, इससे ऊपर कहे हुए सर्व विचार का यहां संग्रह किया। ऐसी धर्मजागरिका करने से अपना जीव सावधान रहता है और उससे विरुद्ध कर्म का तथा दोषादिक का त्याग, अपने किये हुए व्रत का निर्वाह, नये गुण का लाभ और धर्म की उपाार्जना इत्यादिक श्रेष्ठ परिणाम होते हैं। सुनते हैं कि, आनंद, कामदेव इत्यादिक धर्मी मनुष्य भी धर्मजागरिका करने से बोध पाये व श्रावक-प्रतिमादि विशेष धर्म का आचरण करने लगे। यहां तक प्रस्तुत गाथा के पूर्वाद्ध की व्याख्या हुई।

उत्तरार्द्ध की व्याख्या

धर्मजागरिका कर लेने के अनन्तर प्रतिक्रमण करनेवाले श्रावक को रात्रिप्रतिक्रमण करके, तथा न करनेवाले को भी 'श्रागादिमय कुस्वप्न, 'द्वेषादिमय दुःस्वप्न तथा बुरे फल का देनेवाला स्वप्न इन तीनों में से प्रथम के परिहार के निमित्त एक सौ आठ श्वासोश्वास का काउस्सगग करना। प्रतिक्रमण विधि आगे वर्णन करेंगे। व्यवहार भाष्य में कहा है कि—प्राणातिपात (हिंसा), मृषावाद (असत्य वचन), अदत्तादान (चोरी), मैथुन (रतिक्रीड़ा), तथा परिग्रह (धन-धान्यादि का संग्रह) ये पांचों स्वप्न में स्वयं किये, कराये अथवा अनुमोदन किया हो तो पूरे सौ श्वासोश्वास का काउस्सगग करना। मैथुन (रतिक्रीड़ा) स्वयं किया हो तो सत्ताइस श्लोक (एकसौ आठ श्वासोश्वास) का काउस्सगग करना। काउस्सगग में पच्चीस श्वासोश्वास प्रमाणवाला (चंदेसु निम्पलयरा तक) लोगस्स चार बार गिनना अथवा पच्चीस श्लोक प्रमाणवाले दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन में किये हुए पंचमहाव्रत का चिन्तन करना अथवा स्वाध्याय के रूप में चाहे कोई पच्चीस श्लोक गिनना। इस तरह व्यवहार भाष्य की वृत्ति में कहा है। प्रथम पंचाशक की वृत्ति में भी कहा है कि—किसी समय मोहनीय कर्म के उदय से स्त्रीसेवारूपी कुस्वप्न आवे तो उसी समय उठकर ईरियावहिपूर्वक प्रतिक्रमणकर एकसौ आठ श्वासोश्वास (सप्तरवरगंभीरा तक चार लोगस्स) का काउस्सगग करना। काउस्सगग करने के अनन्तर और रात्रिप्रतिक्रमण का समय हो तब तक अति निद्रा आदि प्रमाद हो तो पुनः काउस्सगग करना। किसी समय दिन में निद्रा लेते कुस्वप्न आवे तो भी इसी प्रकार से काउस्सगग करना ऐसा ज्ञात होता है; परन्तु वह उसी समय करना? कि संध्या समय प्रतिक्रमण के अवसर पर करना? यह बहुश्रुत जाने।

स्वप्न विचार :

विवेकविलासादि ग्रंथ में तो यह कहा है कि, उत्तम स्वप्न देखा हो तो पुनः सोना नहीं, और सूर्योदय होने पर वह स्वप्न गुरु को कहना। दुःस्वप्न देखने में आये तो इससे प्रतिकूल करना, अर्थात् देखते ही पुनः सो जाना, और किसी के संमुख कहना भी नहीं। जिसके शरीर में कफ, वात, पित्त का प्रकोप अथवा किसी जाति का रोग न हो तथा जो शान्त, धार्मिक और जितेन्द्रिय हो उसी पुरुष के शुभ अथवा अशुभ स्वप्न सच्चे होते हैं। १ अनुभव की हुई बात से, २ सुनी हुई बात से, ३ देखी हुई बात से, ४ प्रकृति के अजीर्णादि विकार से, ५ स्वभाव से, ६ निरन्तर चिन्ता से, ७ देवतादिक के उपदेश से, ८ धर्मकार्य के प्रभाव से तथा ९ अतिशय पाप से, ऐसे नौ कारणों से मनुष्य को नौ प्रकार के स्वप्न आते हैं। प्रथम के छः कारणों से देखे हुए शुभ अथवा अशुभ स्वप्न निष्फल

१. स्वप्न में स्त्री को भोगना अथवा अन्य कोई कामचेष्टा करना उसे शास्त्र में कुस्वप्न कहते हैं।
२. स्वप्न में किसी के साथ वैर मत्सर करना अथवा किसी भी प्रकार द्वेषादिक से प्रकट करना उसे दुःस्वप्न कहते हैं।

होते हैं, और अन्त के तीन कारणों से देखे हुए शुभ अथवा अशुभ स्वप्न अपना फल देनेवाले होते हैं। रात्रि के प्रथम, दूसरे, तीसरे और चौथे प्रहर में देखे हुए स्वप्न क्रम से बारह, छ, तीन और एक मास में अपना फल देते हैं। रात्रि की अंतिम दो घड़ी में देखे हुए स्वप्न दस दिन में फल देते हैं, और सूर्योदय के समय देखा हुआ स्वप्न तो तत्काल फल देता है। एकके ऊपर एक आये हुए, दिन में देखे हुए, मन की चिंता से, शरीर की किसी व्याधि से अथवा मलमूत्रादिक के रोकने से आये हुए स्वप्न निरर्थक हैं। प्रथम अशुभ और पश्चात् शुभ आवे अथवा प्रथम शुभ और पश्चात् अशुभ आवे, तो भी पीछे से आये वही स्वप्न फल का देनेवाला है। बुरा स्वप्न आये तो उसकी शांति करनी चाहिए। स्वप्नचिंतामणि शास्त्र में भी कहा है कि, अनिष्ट स्वप्न देखते ही रात्रि हो तो पुनः सो जाना, वह स्वप्न कभी किसी को नहीं कहना। कारण कि, वैसा बुरा स्वप्न का बुरा फल कदाचित् नहीं भी होता है। जो पुरुष प्रातःकाल उठकर जिन भगवान् का ध्यान अथवा स्तुति करता है किंवा पांच नवकार गिनता है उसका दुःस्वप्न निरर्थक हो जाता है। देवगुरु की पूजा तथा शक्ति के अनुसार तपस्या करना। इस प्रकार जो मनुष्य धर्मकृत्य में रत रहते हैं उनको आये हुए बुरे स्वप्न भी उत्तमफल को देनेवाले हो जाते हैं। देवगुरु उत्तमतीर्थ तथा आचार्य इनका नाम लेकर तथा स्मरणकर जो मनुष्य निद्रा लेते हैं उनको कभी भी बुरा स्वप्न नहीं आता।

माता-पिता को प्रणाम :

पश्चात् खुजली आदि हुई हो तो उस पर थूक लगाकर मलना, और शरीर के अवयव दृढ़ होने हेतु अंगमर्दन करना। पुरुष प्रातःकाल में प्रथम अपना दाहिना हाथ देखे तथा स्त्री बायां हाथ देखे। क्योंकि वह अपना पुण्य प्रकट बतलाता है। जो मनुष्य मातापिता इत्यादि वृद्धपुरुषों को नमस्कार करता है उसे तीर्थयात्रा का फल प्राप्त होता है। इसलिए उनको नित्य नमस्कार करना चाहिए। जो मनुष्य वृद्धपुरुषों की सेवा नहीं करते उनसे धर्म दूर रहता है और जो मनुष्य राजा महाराजादि की सेवा नहीं करते उनसे लक्ष्मी दूर रहती है, और जो मनुष्य वेश्या के साथ मित्रता रखता है उससे आनंद दूर रहता है।

व्रत-नियम :

रात्रि प्रतिक्रमण करनेवाले को पच्चक्खाण का उच्चारण करने के पूर्व सचित्तादि चौदह नियम लेने चाहिए। प्रतिक्रमण न करे उसको भी सूर्योदय के पूर्व चौदह नियम ग्रहण करना, शक्ति के अनुसार नवकारसी, गण्डिसहिअ, (मुद्रिसहिअ) बियासणा, एकासणा इत्यादिक पच्चक्खाण करना। तथा सचित्त द्रव्य का और विगई आदि का जो नियम रखा हो, उसमें संक्षेप करके देशावकाशिक व्रत करना, विवेकी पुरुष को प्रथम सद्गुरु के पास यथाशक्ति समकित मूल बारहव्रतरूप श्रावक धर्म का ग्रहण अवश्य करना, कारण कि, ऐसा करने से सर्वचिरति (चारित्र) के लाभ होने का संभव रहता है। विरति का फल बहुत ही बड़ा है। मन-वचन-काया के व्यापार न चलते हो तो भी

अविरति से निगोद आदि (अत्यन्त सूक्ष्म कीटाणु) जीव की तरह बहुत कर्मबंधन, तथा दूसरे महान् दोष होते हैं, कहा है कि—

भाविना भविना येन, स्वल्पापि विरतिः कृता।

स्पृहयन्ति सुरास्तस्मै, स्वयं तां कर्तुमक्षमाः ॥११॥

जो व्यक्ति भाव से विरति की (देशविरति को अथवा सर्वविरति को) अंगीकार करे उसकी विरति करने में असमर्थ ऐसे देवता बहुत प्रशंसा करते हैं। एकेन्द्रिय जीव कवलाहार बिलकुल नहीं करते, तो भी उनको उपवास का फल नहीं मिलता, यह अविरति का फल है। एकेन्द्रिय जीव, मन-वचन-काया से सावद्य व्यापार नहीं करते, तो भी उनको उत्कृष्ट से अनन्तकाल तक उसी काया में रहना पड़ता है, इसका कारण अविरति ही है। जो परभव में विरति की होती तो तिर्यच जीव इस भव में चाबुक, अंकुश, परोणी इत्यादिक का प्रहार तथा वध, बंधन, मारण आदि सेंकड़ों दुःख न पाते। सद्गुरु का उपदेश आदि सर्व सामग्री होते हुए भी अविरति कर्म का उदय हो तो देवता की तरह विरति स्वीकार करने का परिणाम नहीं होता। इसीलिए श्रेणिक राजा क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हुए तथा वीर भगवान का वचन सुनना इत्यादि उत्कृष्ट योग होते हुए भी मात्र कौवे के मांस तक की भी बाधा न ले सका। अविरति को विरति से ही जीत सकते हैं और विरति अभ्यास से साध्य होती है, अभ्यास से ही सर्व क्रियाओं में निपुणता उत्पन्न होती है। लिखना, पढ़ना, गिनना, गाना, नाचना इत्यादि सर्वकलाकौशल में यह बात मनुष्यों को अनुभव सिद्ध है।

अभ्यासेन क्रियाः सर्वाः, अभ्यासात्सकलाः कलाः।

अभ्यासाद् ध्यानमौनादि, किमभ्यासस्य दुष्करम्? ॥१२॥

अभ्यास से सर्व क्रियाएं सिद्ध होती हैं, अभ्यास से ही सर्व कलाएं आती हैं और अभ्यास से ही ध्यान, मौन, इत्यादि गुणों की प्राप्ति होती है। अतएव ऐसी कौनसी बात है जो अभ्यास से न हो सके? जो निरन्तर विरति के परिणाम रखने का अभ्यास करे, तो परभव में भी उस परिणाम की अनुवृत्ति होती है। कहा है कि—

जीव इस भव में जिस किसी गुण अथवा दोष का अभ्यास करता है उस अभ्यास के योग से ही वह वस्तु परभव में पाता है। इसलिए जैसी इच्छा हो उसके अनुसार भी विवेकी पुरुष को बारह व्रत सम्बन्धी नियम ग्रहण करना चाहिए।

इस स्थान पर श्रावक तथा श्राविकाओं ने अपनी इच्छा से कितना प्रमाण रखना, इसकी सविस्तार व्याख्या करना आवश्यक है। जिससे कि अच्छी प्रकार समझकर परिणाम रखकर नियम स्वीकार करे तो उसका भंग न हो। विचार-करके उतना ही नियम लेना चाहिए जितने का पालन हो सके। सर्व नियमों में 'सहस्रानाभोगादि चार आगार हैं, वे ध्यान में रखना। इसलिए अनुपयोग से अथवा सहसागारादिक से नियम

में रखी हुई वस्तु नियम से अधिक लेने में आवे तो भी नियम भंग नहीं होता, परन्तु मात्र अतिचार होता है। समझ बुझकर यदि लेशमात्र भी नियम से अधिक ग्रहण करे तो नियमभंग होता है। कोई समय पापकर्म वश जानते हुए नियमभंग हो जाय तो भी धर्मार्थी जीवों को उस नियम का पालन अवश्य करना चाहिए। पड़वा, पंचमी और चौदश इत्यादि पर्वतिथि को जिसने उपवास करने का नियम लिया है, उसको किसी समय तपस्या की तिथि के दिन अन्यतिथि की भ्रांति आदि होने से, जो सचित्त जलपान, ताम्बूल भक्षण, स्वल्प भोजन आदि हो जाय और पश्चात् तपस्या का दिन ज्ञात हो तो मुख में ग्रास हो उसे न निगलते निकालकर प्रासुक जल से मुखशुद्धि करना और तपस्या की रीत्यानुसार रहना। जो कदाचित् भ्रांतिवश तपस्या के दिन पूरा-पूरा भोजन कर लिया जाय तो दंड के निमित्त दूसरे दिन तपस्या करना और समाप्ति के अवसर पर वह तप वर्द्धमान जितने दिन कम हो गये हों, उतने की वृद्धि करके करना। ऐसा करने से अतिचार मात्र लगता है परन्तु नियम भंग नहीं होता। 'आज तपस्या का दिन है' यह जान लेने पर यदि एक दाना भी निगल जावे, तो नियमभंग होने से नरकगति का कारण होता है। 'आज तपस्या का दिन है कि नहीं? अथवा यह वस्तु लेनी है कि नहीं?' ऐसा मन में संशय आवे, और वह (वस्तु) ले तो नियमभंगादि दोष लगता है। बहुत ही रोगी, भूतपिशाचादिक का उपद्रव होने से विवशता तथा सर्पदंशादिक से मूर्च्छित होने से तप न हो सके तो भी चौथे आगार (सव्वसमाहिवत्तियागारेणं) का उच्चारण किया है अतः नियम का भंग नहीं होता। इस प्रकार सर्व नियमों का विचार करना चाहिए। कहा है कि—

वयभंगे गुरुदोसो थोवस्सवि पालणा गुणकरी अ।

गुरू लाषवं च नेअं, धम्ममि अओ अ आगारा ॥२॥

नियम भंग होने से बड़ा दोष लगता है इसलिए थोड़ा ही नियम लेकर उसका यथोचित्त पालन करना उत्तम है। धर्म के सम्बन्ध में तारतम्य अवश्य जानना चाहिए। इसीलिए (पच्चक्खाण में) आगार रखे हैं।

यद्यपि कमलश्रेष्ठि ने 'पड़ौस में रहनेवाले कुम्हार के सिर की टाल (गंज) देखे बिना मैं भोजन नहीं करूंगा।' ऐसा नियम कौतुकवश लिया था तथापि उससे उसे अर्ध निधान की प्राप्ति हुई, और उसीसे नियम सफल हुआ। तो पुण्य के निमित्त जो नियम लिया जाये उसका कितना फल हो? कहा है कि—पुण्य के इच्छुक व्यक्ति को कुछ भी नियम अवश्य ग्रहण करना चाहिए, वह (नियम) अल्पमात्र हो तो भी कमलश्रेष्ठि की तरह बहुत लाभदायक होता है। परिग्रहपरिमाणव्रत में दृढ़ता रखने पर रत्नसार श्रेष्ठि का दृष्टान्त आगे वर्णन किया जायेगा। नियम इस प्रकार लेना चाहिए—

व्रत लेने का स्वरूप :

प्रथम मिथ्यात्व का त्याग कर देना। पश्चात् नित्य शक्ति के अनुसार दिन में तीन, दो अथवा एक बार भगवान् की पूजा, देवदर्शन, संपूर्ण देववन्दन अथवा चैत्यवन्दन

करने का नियम लेना। ऐसे ही सामग्री (योग) हो तो सद्गुरु को द्वादशावृत वंदन या थोभवंदन करना। योग न हो तो सद्गुरु का नाम ग्रहण करके नित्य वन्दन करना, नित्य वर्षाकाल के चातुर्मास में अथवा 'पंचपर्वी' इत्यादिक में अष्टप्रकारी पूजा करना। जीवन पर्यन्त नया आया हुआ अन्न, पक्वान्न अथवा फलादिक भगवान् को अर्पण किये बिना नहीं लेना। नित्य नैवेद्य, सुपारी आदि भगवान् के संमुख रखना। नित्य तीनों चातुर्मास में अथवा वार्षिक (संवत्सरी) तथा दीपोत्सवादिक (दीवाली आदिक) पर अष्ट मंगलिक (अक्षत की बनाकर) रखना। नित्य पर्वतिथि को अथवा वर्ष में कभी कभी खाद्य, स्वाद्य आदि सर्व वस्तु देव तथा गुरु को अर्पणकर शेष अपने उपभोग में लेना। प्रतिमास अथवा प्रतिवर्ष ध्वजा चढ़ाकर विस्तार से स्नात्रमहोत्सवपूर्वक पूजा तथा रात्रि जागरण आदि करना। नित्य अथवा महिने में अथवा वर्ष में कभी चैत्यशाला को प्रमार्जन करना व समारना इत्यादि। प्रतिमास अथवा प्रतिवर्ष मंदिर में अंगलूछणा, दीपक के लिए रूई, दीपक के लिए तैल, चंदन, केशर इत्यादिक देना, तथा पौषधशाला में मुंहपत्ति, नक्कारवाली, आसन, चरवला इत्यादि के लिए कुछ वस्त्र, सूतर, कम्बल, ऊन इत्यादि रखना। वर्षाकाल में श्रावक आदि लोगों के बैठने के लिए पाट आदि कराना। प्रतिवर्ष सूत्रादिक से भी संघ की पूजा करना तथा साधर्मिक वात्सल्य करना। प्रतिदिन कायोत्सर्ग करना, तथा तीनसो गाथा की सज्झाय इत्यादि करना। नित्य दिन में नक्कारसी आदि तथा रात्रि में दिवसचरिम पच्चक्खाण करना, नित्य दो बार प्रतिक्रमण करना इत्यादि नियम श्रावक को प्रथम लेने चाहिए। पश्चात् यथाशक्ति बारह व्रत ग्रहण करना। उसमें सातवें (भोगोपभोगपरिमाण) व्रत में सचित्त, अचित्त व मिश्रवस्तु जो कही है उसे इस प्रकार जानना। जैसे—

सचित्त-अचित्त का वर्णन :

प्रायः सर्वधान्य, धनिया, जीरा, अजवान, सौंफ, सुवा, राई, खसखस इत्यादि सर्वकण, सर्वफल व पत्र, नमक, खारी, खारा (नमक विशेष) सैंधव, संचल आदि अकृत्रिम क्षार, मट्टी, खडिया, गेरू वैसे ही हरे दांतौन आदि व्यवहार से सचित्त हैं। पानी में भिगोये हुए चने तथा गेहूं आदि धान्य तथा चने, मूंग आदि [की दाल] पानी में भिगोये हुए हो तो भी किसी जगह अंकुर की संभावना से वह मिश्र है। प्रथम लवणादिक का हाथ अथवा बाफ दिये बिना किंवा रेंती में डाले बिना सेके हुए चने, गेहूं, ज्वार इत्यादिक की धानियां, क्षारादिक दिये बिना तिल, चने के छोड़, गेहूं की बालें, पोहे, सेकी हुई फली, पपड़ी आदि, मिर्च, राई आदि का बघार (छौंक) मात्र दिये हुए चिभड़े आदि तथा जिसके अंदर बीज सचित्त है ऐसे सर्व पके हुए फल मिश्र (कुछ सचित्त कुछ अचित्त) हैं। जिस दिन तिलपापड़ी की हो, उस दिन वह मिश्र होती है, अन्न अथवा रोटी आदि में डाली हो तो वह दो घड़ी के उपरांत अचित्त होती है, दक्षिण, मालवा इत्यादि देशों में बहुत सा गुड़ डालने से तत्काल की हुई तिलपापड़ी उसी दिन

भी अचित्त मानने का व्यवहार है। वृक्ष पर से तत्काल लिया हुआ गोंद, लाख, छाल आदि तथा तत्काल निकाला हुआ निम्बू, नीम, नारियल, आम, सांटा आदि का रस वैसे ही तत्काल निकाला हुआ तिलादिक का तैल, तत्काल तोड़ा हुआ व निर्बीज किया हुआ नारियल, सिंघाडा, सुपारी आदि निर्बीज किये हुए पके फल, विशेष कूटकर कण रहित किया हुआ जीरा, अजमान आदि दो घड़ी तक मिश्र और पश्चात् अचित्त ऐसा व्यवहार है।

दूसरी भी जो वस्तु प्रबल अग्नि के संयोग बिना अचित्त की हुई हो वह, दो घड़ी तक मिश्र और पश्चात् अचित्त हो जाती है, ऐसा व्यवहार है। वैसे ही कच्चे फल, कच्चे धान्य, बहुत बारीक पिसा हुआ नमक इत्यादि वस्तुएं कच्चे पानी की तरह अग्नि आदि प्रबलशस्त्र के बिना अचित्त नहीं होती। श्री भगवती सूत्र के उन्नीसवें शतक के तीसरे उद्देशा में कहा है कि—वज्रमयी शिला पर अल्प पृथ्वीकाय रखकर उसको वज्रमय पत्थर से ही [चक्रवर्ती की दासी द्वारा] जो इक्कीस बार चूर्ण किया जाय तो उस पृथ्वीकाय में कितने ही ऐसे जीव रहते हैं कि जिनको पत्थर का स्पर्श भी नहीं होता। हरड़े, खारिक, किसमिस, द्राक्ष, खजूर, मिर्च, पीपल, जायफल, बादाम, वावडिंग, अखरोट, निमजां, अंजीर, चिलगोंजा, पिस्ता, कबाबचीनी, स्फटिक के समान सैंधव आदि सज्जीक्षार, बिड़ नमक आदि कृत्रिम (बनावटी) खार, कुम्हार आदि लोगों ने तैयार की हुई मिट्टी आदि, इलायची, लौंग, जावित्री, नागरमोथा, कोकन आदि देश में पके हुए केले, उकाले हुए सिंघाडे, सुपारी आदि वस्तु सो योजन ऊपर से आयी हुई हो तो, अचित्त मानने का व्यवहार है। श्रीकल्प में कहा है कि, लवण आदि वस्तु सो योजन जाने के उपरान्त (उत्पत्ति स्थान में मिलता था वह) आहार न मिलने से, एक पात्र से दूसरे पात्र में डालने से अथवा एक कोठे में से दूसरे कोठे में डालने से, पवन से, अग्नि से, तथा धुंए से अचित्त हो जाती है (इसी बात को विस्तार से कहते हैं) लवण आदिक वस्तु अपने उत्पत्ति स्थान से परदेश जाते हुए प्रतिदिन प्रथम थोड़ी, पश्चात् उससे अधिक, तत्पश्चात् उससे भी अधिक, इस प्रकार क्रमशः अचित्त होते हुए सो योजन पर पहुंचती है तब तो वे सर्वथा अचित्त हो जाती हैं।

शंका : शस्त्र का सम्बन्ध न हो और केवल सो योजन पर जाने से ही लवणादिक, वस्तु अचित्त किस प्रकार हो जाती है?

समाधान : जो वस्तु जिस देश में उत्पन्न होती है उसको वह देश, वहां का जल वायु आदि अनुकूल रहते हैं। उसी वस्तु को वहां से परदेश ले जाने से उसको पूर्व में उस देश में जलवायु आदि का जो पौष्टिक आहार मिलता था, उसका विच्छेद होने से वह वस्तु अचित्त हो जाती है। एक पात्र से दूसरे पात्र में अथवा एक कोठे में से दूसरे कोठे में इस तरह बारम्बार फिराने से लवणादि वस्तु अचित्त हो जाती है। वैसे ही पवन से, अग्नि से तथा रसोई आदि के स्थान में धुआं लगने से भी लवणादि वस्तु अचित्त हो जाती है। 'लवणादि' इस पद में 'आदि' शब्द ग्रहण किया है इससे हरताल, मनशिल, पीपल,

खजूर, दाख, हरड़ ये वस्तुएं भी सो योजन ऊपर जाने से अचित्त हो जाती हैं, ऐसा समझना चाहिए। पर इसमें कितनेक आचीर्ण (वापरने योग्य) और कितनेक अनाचीर्ण (न वापरने योग्य) हैं। पीपल, हरड़ इत्यादि आचीर्ण हैं तथा खजूर, नमक, द्राक्ष आदि अनाचीर्ण हैं।

अब सब वस्तुओं के परिणाम होने का साधारण (जो वस्तु साधारण को लागू पड़े) कारण कहते हैं—गाड़ी में अथवा बैल-आदि की पीठ पर बारम्बार चढ़ाने उतारने से, गाड़ी में अथवा बैलपर लादे हुए लवणादि वस्तु के बोझ में मनुष्य के बैठने से, बैल तथा मनुष्य के शरीर की उष्णता लगने से, जिस वस्तु का जो आहार है वह न मिलने से और उपक्रम से लवणादि वस्तु का परिणाम होता है अर्थात् वे अचित्त हो जाती हैं। उपक्रम याने शस्त्र। वह (शस्त्र) १ स्वकाय, २ परकाय और ३ उभयकाय ऐसे तीन भेद से तीन प्रकार का है। लवणजल (खारा पानी) मीठे जल का शस्त्र है, यह स्वकाय शस्त्र है। अथवा कृष्णभूमि (काली जमीन) पांडुभूमि (सफेद भूमि) का स्वकाय शस्त्र है। जल का अग्नि तथा अग्नि का जल जो शस्त्र है वह परकाय शस्त्र है। मिट्टी से मिश्र हुआ जल शुद्धजल का शस्त्र है, इसे उभयकाय शस्त्र कहते हैं। सचित्त वस्तु के परिणाम (अचित्त) होने के इत्यादिक कारण हैं। उत्पल (कमल विशेष) और पद्म (कमल विशेष) जलयोनि होने से धूप में रखे जाय तो एक प्रहर भर भी सचित्त नहीं रहते अर्थात् प्रहर पूरा होने के पूर्व ही अचित्त हो जाते हैं। मोगरा, चमेली, तथा जुही के फूल उष्णयोनि होने से उष्णप्रदेश में रखे जाय तो बहुत काल तक सचित्त रहते हैं। मगदन्तिका के फूल पानी में रखें तो एक प्रहरभर भी सचित्त नहीं रहते। उत्पलकमल तथा पद्मकमल पानी में रखें तो बहुत समय तक सचित्त रहते हैं। पत्ते, फूल, बीज न पड़े हुए फल तथा वत्थुला (शाकविशेष) आदि हरितकाय अथवा सामान्यतः तृण तथा वनस्पतिका गड्ढा डालने से उगनेवाला अथवा मूल नाल (जड़) सूखने पर अचित्त हुए समझना चाहिए। इस प्रकार कल्पवृत्ति में कहा है। श्री भगवती सूत्र के छठे शतक के सातवें उद्देशा में शालि (साल) आदि धान्य का सचित्त अचित्त विभाग इस प्रकार कहा है—

सचित्त अचित्त विभाग :

प्रश्न—हे भगवंत! शालि (साल-चावल की जाति), व्रीहि (सर्व जाति के सामान्य साल), गोधूम (गेहूं), जव (छोटे जव), जव-जव (एक जात के बड़े जव), ये धान्य कोठी में, बांस से बनाये हुए टोकने में, थोड़े से ऊंचे ऐसे मंचों में और अधिक ऊंचे ऐसे माले में ढक्कन के पास गोबर आदि से लिपे हुए अथवा चारों ओर गोबर से लिपे हुए, मुद्रित (मुंह परसे बंद किये हुए) ऐसे में रख दिये जाय तो उनकी योनि कितने समय तक रहती है?

उत्तर—हे गौतम! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से तीन वर्ष (योनि रहती है)। तदनंतर योनि सूख जाय तब वे (धान्य) अचित्त हो जाते हैं और बीज अबीज हो जाते हैं।

प्रश्न—हे भगवंत! बटला(बटाणा), मसूर, तिल, मूंग, उड़द, चाल, कुलथी, चवला, तूवर, काले चने इत्यादि धान्य शाल के समान कोठी में रखें तो उनकी योनि कितने समय तक रहती है?

उत्तर—हे गौतम! जघन्य से अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से पांच वर्ष तक (योनि रहती है) तदनंतर योनि सूखने पर (वे धान्य) अचित्त होते हैं और बीज अभीज होते हैं।

प्रश्न—हे भगवंत! अलसी, कुसुंभक, कोदों (कोदरा), कांगणी, बंटी, रालक, कोडूसग (कोदों की एक जाति), सन (शण), सरसों, मूले के बीज इत्यादि धान्य शाल के समान रखें तो उनकी योनि कितने समय तक रहती है?

उत्तर—हे गौतम! जघन्य से अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से सात वर्ष (योनि रहती है।) तदनंतर योनि सूख जाये तब (वे धान्य) अचित्त हो जाते हैं, और बीज हैं वे अभीज हो जाते हैं।

इस विषय में पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार गाथाएं रची हैं, यथा—

जज्वजवगोहुमसालिवीहिधण्णाण कुड्ढमा[या]ईसु।

खिविआण उक्कोसं, वरिसतिगं होइ सजिवत्तं ॥१॥

तिलमुग्गमसूरकलायमासचवलयकुलत्थतुवरीणं।

तह वट्टचणयवल्लाण वरिसपणगं सजीवत्तं ॥२॥

अयसीलट्टाकंगूकोडूसगसणवरहसिद्धत्था।

कुड्ढवरालय मूलगबीआणं सत्त वरिसाणि ॥३॥

(इन तीनों गाथाओं का अर्थ ऊपर के प्रश्नों में आ गया है।)

कपास तीसरे वर्ष में अचित्त होता है। श्री कल्पबृहद्वाष्य में कहा है कि, कपास तीसरे वर्ष लेते हैं। अर्थात् कपास तीसरे वर्ष का अचित्त हुआ लेना मानते हैं।

आटे का अचित्त, मिश्र इत्यादि प्रकार पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार कहा हैं—आटा छाना हुआ न हो तो श्रावण तथा भाद्रवा मास में पांच दिन, आश्विन मास में चार दिन, कार्तिक, मार्गशीर्ष और पौष मास में तीन दिन, माह और फाल्गुण मास में पांच प्रहर, चैत्र तथा वैशाख मास में चार प्रहर और ज्येष्ठ तथा आषाढ मास में तीन प्रहर मिश्र (कुछ सचित्त कुछ अचित्त) होता है तदनंतर अचित्त हो जाता है। छाना हुआ आटा तो दो घड़ी के बाद अचित्त हो जाता है।

शंका : अचित्त भोजन करनेवाले को अचित्त हुआ आटा आदि कितने दिन तक ग्राह्य है?

समाधान : सिद्धान्त में इस विषय के सम्बन्ध में कोई दिन का नियम सुना नहीं। परन्तु द्रव्य से धान्य के नये-जूनैपन के ऊपर से, क्षेत्र से सरस-निरस खेत के ऊपर से, काल से वर्षाकाल, शीतकाल तथा उष्णकाल इत्यादि के ऊपर से और भाव से कही हुई वस्तु के अमुक-अमुक परिणाम पर से पक्ष, मास इत्यादिक अवधि जहां तक वर्ण, गंध, रसादिक में फेरफार न हो, और इली आदि जीव की उत्पत्ति न हो वहां तक कहना

(लेना कल्पे)। साधु को लक्षकर सत्तु-सेके हुए धान्य के आटे की यतना कल्पवृत्ति के चौथे खंड में इस प्रकार कही है—

जिस देश, नगर इत्यादि में सत्तु के अंदर जीव की उत्पत्ति होती हो, वहां उसे न लेना। लिये बिना निर्वाह न होता हो तो उसी दिन किया हुआ लेना। ऐसा करने पर भी निर्वाह न हो तो दो तीन दिन का किया हुआ पृथक्-पृथक् लेना। चार पांच इत्यादि दिन का किया हुआ हो तो इकट्ठा लेना वह लेने की विधि इस प्रकार है—

रजस्त्राण नीचे बिछाकर उसपर पात्र कंबल रख उसपर सत्तु को बिखेरना, पश्चात् ऊपर के मुख से पात्र को बांधकर, एक बाजू जाकर जो इली (जीव विशेष) आदि कहीं लगी हो तो निकालकर ठीकरे में रखना। इस तरह नौ बार प्रतिलेखन करने पर भी जो जीव नजर न आवे तो, वह सत्तु भक्षण करना। और जो जीव दीखे तो पुनः नौ बार प्रतिलेखन करना, फिर भी जीव दीखे तो पुनः नौ बार प्रतिलेखन करना। इस प्रकार शुद्ध हो तो भक्षण करना और न हो तो परठ देना, परन्तु जो खाये बिना निर्वाह न होता हो तो, शुद्ध हो तब तक प्रतिलेखनकर शुद्ध होने पर खाना निकाली हुई इली घट्टे आदि के पास फोतरे का बहुत सा ढेर हो, वहां ले जाकर यत्न से रखना। पास में घट्टा न हो तो ठीकरे आदि के ऊपर थोड़ा सत्तु बिखेरकर जहां अबाधा न हो ऐसे स्थान में रखना। पक्वान्न इत्यादि के उद्देश्य से इस प्रकार कहा है—

वासासु पनरदिवसं सीउण्हकालेसु मास दिणवीसं।

ओगाहिमं जईणं, कप्पइ आरब्भ पढमदिणा ॥१॥

घृतपक्वादि पक्वान्न साधु मुनिराज को वर्षाकाल में, किये हुए दिन से लेकर पन्द्रह दिन तक, शीतकाल में एक मास तक और उष्णकाल में बीस दिन तक लेना ग्राह्य है। कोई कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि यह गाथा मूल कौन से ग्रंथ में है? सो ज्ञात नहीं होता, इसलिए जब तक वर्ण, गंध, रसादिक न पलटें तब तक घृतपक्वादि वस्तु शुद्ध जानना चाहिए।

जइ मुग्गमासपभिई, विदलं कच्चंमि गोरसे पडइ।

ता तसज्जीवुप्पत्तिं, भणंति दहिए वि दुदिणुवरिं ॥१॥

जंमि उ पीलिज्जंते, नेहो नहु होइ बिंति तं विदलं।

विदले वि हु उप्पन्नं, नेहजुअं होइ नो विदलं ॥२॥

जो मूंग, उडद आदि द्विदल कच्चे गौरस में पड़े तो उसमें और दो दिन उपरान्त रहे हुए दही में भी त्रस जीव की उत्पत्ति हो जाती है ऐसा पूर्वाचार्य कहते हैं। इस गाथा में 'दुदिणुवरि' (दो दिन के उपरान्त) के बदले 'तिदिणुवरि' (तीन दिवस के उपरान्त) ऐसा भी पाठ कही है, परन्तु वह ठीक नहीं ऐसा मालूम होता है, कारण कि, 'दध्यहर्द्धितयातीतम्' ऐसा हेमचन्द्राचार्य महाराज का वचन है। घानी में पीलने पर जिसमें से तैल नहीं

निकलता उसे 'द्विदल' कहते हैं। द्विदलजाति में उत्पन्न हुआ हो तो भी जिसमें तैल निकलता हो उसे द्विदल में नहीं गिनना। द्विदल की पूषि का (आटे का पदार्थ विशेष) आदि, केवल पानी में पकाया हुआ भात तथा ऐसी ही अन्य वस्तुएं बासी हो तो, वैसे ही सड़ा हुआ अन्न, फूला हुआ भात और पक्वान्न अभक्ष्य होने से श्रावक को उसका उपयोग न करना। बावीस अभक्ष्य का तथा बत्तीस अनन्तकाय का प्रकट स्वरूप 'स्वकृतश्राद्धप्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति' से जान लेना। विवेकी पुरुष को जैसे अभक्ष्य का उपयोग न करना, वैसे ही बैंगन, सचित मिट्टि, टेमरू, जामुन, बित्त्व फल, हरे पीलू, पके हुए करौंदे, गोंदे, पिचु, महुआ, मकुर (आम्रादि की महोर), वाल्हउली (शेके हुए ओले), बड़े बेर, कच्चा कोठिंबड़ा, खसखस, तिल, सचित लवण इत्यादिक वस्तु बहुबीज तथा जीवाकुल होने से त्यागना। लालिमा आदि होने से जिसपर बराबर तेज नहीं ऐसे गिलोड़े, करेले, फणस आदि वस्तु जिस देश, नगर इत्यादि में कड़वा तुम्बा, भूरा कुम्हडा आदि लोक विरुद्ध हो तो वे भी श्रावक को त्यागना, कारण कि, वैसा न करने से जैनधर्म की निंदा आदि होने की संभावना होती है। बावीस अभक्ष्य तथा बत्तीस अनन्तकाय दूसरे के घर अचित्त किये हुए हों तो भी ग्रहण नहीं करना। कारण कि, उससे अपनी क्रूरता प्रकट होती है, तथा 'अपने को अचित्त अनन्तकाय आदि लेना है' ऐसा जानकर वे लोग विशेष अनन्तकायादि का आरंभ करें, इत्यादि दोष होना संभव है। उकाला हुआ पकाया हुआ अद्रक, सूरन, बैंगन इत्यादिक सर्व अचित्त हो तो भी त्यागना चाहिए। कदाचित् कुछ दोष हो जाये वह टालने के निमित्त मूल के पंचांग (मूल, पत्र, फूल, फल तथा दांडी) त्यागना। सोंठ आदि तो नाम तथा स्वाद में भेद हो जाने से ग्रहण करते हैं।

उसिणोदगमणुवत्ते, दंडे वासे अ पडिअमित्तंमि।

मुत्तूणादेसतिगं, चाठलउदगं बहु पसन्नं ॥१॥

गरम जल तो तीन उकाले न आये तब तक मिश्र होता है। पिंडनिर्मुक्ति में कहा है कि, तीन उकाले न आये हो तबतक गरम पानी मिश्र होता है। उसके उपरान्त अचित्त होता है। वैसे ही वृष्टि पड़ते ही ग्राम, नगर इत्यादिक में जहां मनुष्य का अधिक प्रचार होता है, उस स्थान में पड़ा हुआ जल जब तक बहता नहीं तब तक मिश्र होता है। अरण्य में तो जो प्रथम वृष्टि का जल पड़ता है, वह सब मिश्र और पीछे से पड़े वह सचित्त होता है।

तंडुलोदक (चावल का पानी) तो तीन आदेश छोड़कर बहुत स्वच्छ न हो तो मिश्र और बहुत स्वच्छ होवे तो अचित्त है। तीन आदेश इस प्रकार हैं—

कोई कोई कहते हैं कि, तंडुलोदक—जिस पात्र में चावल धोये हो, उस पात्र में से दूसरे पात्र में निकाल लेने पर धारा से टूटकर आसपास लगे हुए बिन्दु जब तक टिके

रहें, तब तक मिश्र होता है। दूसरे यह कहते हैं कि, तंडुलोदक दूसरे पात्र में निकालते वक्त आये हुए पर्पोटे जब तक रहें, तब तक मिश्र होता है। तीसरे यह कहते हैं कि, जब तक धोये हुए चावल पकाये न हो, तब तक मिश्र होता है। ये तीनों आदेश बराबर नहीं हैं, इसलिए अनादेश समझना चाहिए। कारण कि पात्र रुक्ष (सूखा) हो अथवा पवन या अग्नि का स्पर्श हो तो बिन्दु थोड़ी ही देर तक स्थित रहते हैं, और पात्र स्निग्ध (चिकना) हो तथा पवन या अग्नि का स्पर्श न हो तो बहुत देर तक स्थित रहते हैं। तात्पर्य यह है कि, इन तीनों आदेश में काल-नियम का अभाव है, अतएव अतिशय स्वच्छ हो वही तंडुलोदक अचित्त मानना चाहिए।

नीत्रोदक धुएं से कुछ धूपवर्ण तथा सूर्यकिरण के सम्बन्ध से कुछ-कुछ गरम होता है, इससे अचित्त है, इसलिए लेने में (संयम की) कुछ भी विराधना नहीं। कोई-कोई कहते हैं कि उसे अपने पात्र में ग्रहण करना। यहां आचार्य कहते हैं कि, नीत्रोदक अशुद्धि होने से अपने पात्र में लेने की मनायी है। इसलिए गृहस्थ की कुंडी आदि में ही लेना। वृष्टि हो रही हो उस समय यह मिश्र होता है। इसलिए वृष्टि-बंद होने के दो घड़ी पश्चात् लेना। शुद्धजल तीन उकाले आने पर अचित्त होता है, तो भी तीन प्रहर के अनन्तर (चातुर्मास में) वह पुनः सचित्त हो जाता है, इसलिए उसमें राख (चूना) डालना जिससे वह जल स्वच्छ भी रहता है। ऐसा पिंडनियुक्ति की वृत्ति में कहा है।

तंडुलोदक पहिला, दूसरा और तीसरा तत्काल का निकाला हुआ हो तो मिश्र और निकालने के पश्चात् बहुत समय तक रहा हो तो अचित्त होता है। चौथा, पांचवां इत्यादि तंडुलोदक बहुत समय रहने पर भी सचित्त होता है। प्रवचनसारोद्धारादिक ग्रंथों में अचित्त जलादिक का कालमान इस प्रकार कहा है—

उसिणोदसं त्रिदंडुक्कलिअं फासुअजलं जईकप्पं।

नवरि गिलाणाइकए पहरतिगोवरिवि धरियव्वं ॥१॥

जायइ सचित्तया से, गिम्हासु पहरपंचगस्सुवरिं।

चउपहरुवरिं सिसिरे, वासासु जलं तिपहरुवरिं ॥२॥

गरम पानी त्रिदंड (तीन उकाले आया हुआ) उकाला हुआ हो तो अचित्त होने से साधु को ग्राह्य है, परंतु ग्लानादिक के निमित्त तीन प्रहर उपरान्त भी रखना। अचित्त जल ग्रीष्मऋतु में पांच प्रहर उपरान्त, शीतऋतु में चार प्रहर उपरान्त और वर्षाऋतु में तीन प्रहर उपरान्त सचित्त होता है। ग्रीष्मऋतु में काल अत्यन्त शुष्क होने से जल में जीव की उत्पत्ति होने में बहुत समय (पांच प्रहर) लगता है। शीतऋतु में काल स्निग्ध होने से ग्रीष्म की अपेक्षा थोड़ा समय (चार प्रहर) लगता है, और वर्षाऋतु में काल अतिशय स्निग्ध होने से शीतऋतु की अपेक्षा भी थोड़ा समय (तीन प्रहर) लगता है। जो उपरोक्त काल से अधिक रखना हो तो, उसमें राख (चूना) डालना, जिससे पुनः सचित्त न हो। ऐसा १३६ वें द्वार में कहा है। जो अप्कायादिक (जलआदि) अग्नि आदिक बाह्य शस्त्र का सम्बन्ध हुए बिना स्वभाव से ही अचित्त हो गया हो, उसे केवली,

मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी तथा श्रुतज्ञानी अचित्त है, ऐसा मानते हैं तो भी मर्यादा भंग के प्रसंग से उसका सेवन नहीं करते। सुनते हैं कि काई तथा त्रस जीव से रहित और स्वभाव से अचित्त हुए पानी से भरा हुआ भारी द्रव पास होने पर भी भगवान् श्री वर्द्धमान स्वामी ने अनवस्था-दोष टालने के निमित्त और श्रुतज्ञान प्रमाणभूत है ऐसा दिखाने के लिए तृषा से अत्यन्त पीड़ित तथा उसीसे प्राणांत संकट में पड़े हुए अपने शिष्यों को उसका पानी पीने की आज्ञा नहीं दी। वैसे ही क्षुधा से पीड़ित शिष्यों को अचित्त तिल से भरी हुई गाड़ी तथा वैसे ही बड़ी नीति (दीर्घशंका) की संज्ञा से पीड़ित शिष्यों को अचित्त ऐसी स्थंडिल की भूमि उपयोग में लेने की भी आज्ञा नहीं दी। इसका खुलासा इस प्रकार है कि, श्रुतज्ञानी साधु बाह्य शस्त्र का सम्बन्ध हुए बिना जलादिक वस्तु को अचित्त नहीं मानते। इसलिए बाह्य सम्बन्ध होने से जिसके वर्ण, गंध, रस आदि बदल गये हों ऐसा ही जलादिक ग्रहण करना।

हरडे,.... इत्यादि वस्तु अचेतन हो तो भी अविनिष्ट (नाश न पायी) योनि के रक्षण निमित्त तथा क्रूरता आदि टालने के हेतु दांत आदि से नहीं तोड़ना। श्री ओघनिर्युक्ति में पंचहत्तरवीं गाथा की वृत्ति में कहा है कि—

शंका : अचित्त वनस्पतिकाय की यतना रखने का प्रयोजन क्या है?

समाधान : वनस्पतिकाय अचित्त हो, तो भी गिलोय कंकटुक मूंग, इत्यादि कितनी ही वनस्पति की योनि नष्ट नहीं होती। जैसे गिलोय सूखी हो तो भी जल छीटने से अपने स्वरूप को पाती दिखायी देती है। ऐसे कंकटुक मूंग भी जानो। इसलिए योनि का रक्षण करने के हेतु अचित्त वनस्पतिकाय की भी यतना रखनी यह न्याय की बात है।

इस प्रकार सचित्त अचित्त वस्तु का स्वरूप जानकर सचित्तादिक सर्व भोग्य वस्तु नाम लेकर निश्चयकर, तथा अन्य भी सर्व बात ध्यान में रखकर सातवां व्रत जैसे आनन्द कामदेव आदि ने अंगीकार किया वैसे ही श्रावक को अंगीकार करना चाहिए। इस प्रकार सातवां व्रत लेने की शक्ति न हो तो साधारणतः एक, दो इत्यादि सचित्त वस्तु, दस बारह आदि द्रव्य, एक दो इत्यादि विगई आदि का नियम सदैव करना, परन्तु प्रतिदिन नाम न लेते साधारणतः अभिग्रह में एक सचित्त वस्तु रखे और नित्य पृथक्-पृथक् एक सचित्त वस्तु ले तो फेरफार से एक-एक वस्तु लेते सर्व सचित्त वस्तु का भी ग्रहण हो जाता है, ऐसा करने से विशेष विरति नहीं होती, इसलिए नाम देकर सचित्त वस्तु का नियम किया हो तो नियम में रखी हुई से अन्य सर्व सचित्त वस्तु से यावज्जीव विरति होती है, यह अधिक फल स्पष्ट दीखता है। कहा है कि—

पुष्पफलाणं च रसं, सुराह मंसाण महिलिआणं च।

जागता जे विरया, ते दुष्करकारे वंदे ॥१॥

पुष्प, फल, मद्यादिक, मांस और स्त्री का, रस जानते हुए भी जो उससे विरति पाये, उन दुष्करकारक भव्यजीवों को वन्दना करता हूँ।

सब सचित्त वस्तुओं में नागरवेल के पान छोड़ना बहुत कठिन है, कारण कि,

बाकी सर्व सचित्त वस्तु उसमें भी विशेषकर आम आदिक अचित्त हो जाय तो भी उसमें प्रायः मीठास स्वाद आदि रहता है, परन्तु नागरवेल के पान में तो बिलकुल नहीं रहता इससे वे सचित्त ही प्रायः खाते हैं। सचित्त नागरवेल के पान में जल की आर्द्रता आदि नित्य रहने से नीली (लीलफूल) तथा कुंथुआ आदि जीवों की उत्पत्ति होने से बहुत विराधना होती है, इसीलिए पापभीरू पुरुष रात्रि के समय तो उस (पान) का उपयोग करते ही नहीं और जो व्यवहार में लाते हैं, वे भी रात्रि में खाने के पान दिन में पूर्ण रूप से देखकर रखे हुए ही वापरते हैं। ब्रह्मचारी (चतुर्थव्रतधारी) श्रावक को तो कामोत्तेजक होने से नागरवेल के पान अवश्य छोड़ने चाहिए। ये (नागरवेल के पान) प्रत्येक वनस्पति हैं अवश्य, पर प्रत्येक पान, फूल, फल इत्यादिक हर एक वनस्पति में उसकी निश्रा से रहे हुए असंख्य जीव की विराधना होने का संभव है। कहा है कि—

जं भणिअं पज्जत्तगनिस्साए वुक्कमंतऽपज्जत्ता।

जत्थेगो पज्जत्तो, तत्थ असंखा अपज्जत्ता ॥१॥

पर्याप्तजीव की निश्रा से अपर्याप्त जीवों की उत्पत्ति होती है। जहां एक पर्याप्त जीव, वहां असंख्य अपर्याप्त जीव जानो। बादर एकेन्द्रियों के विषय में यह कहा। सूक्ष्म में तो जहां एक अपर्याप्त, वहां उसकी निश्रा से असंख्य पर्याप्त होते हैं। यह बात आचारांग सूत्र वृत्ति आदि ग्रंथों में कही है। इस प्रकार एक भी पत्र, फल इत्यादिक में असंख्याता जीव की विराधना होती है। जल लवण इत्यादि वस्तु असंख्यात जीवरूप है। पूर्वाचार्यों का ऐसा वचन है कि, तीर्थकरों ने एक जलबिन्दु में जो जीव कहे हैं, वे जीव सरसों के बराबर हो जायें तो जंबूद्वीप में न समावें। हरे आँवले के समान पृथ्वीकायपिंड में जो जीव होते हैं वे कबूतर के बराबर हो जायें तो जंबूद्वीप में न समावें। सर्व सचित्त का त्याग करने के ऊपर अंबड परिव्राजक के सातसो शिष्यों का दृष्टान्त है।

श्रावक धर्म अंगीकारकर अचित्त तथा किसीके न दिये हुए अन्न जल का भोग नहीं करनेवाले वे (अंबड के शिष्य) एक समय एक वन में से दूसरे वन में फिरते ग्रीष्म ऋतु में अत्यन्त तृषातुर हो गंगा नदी के किनारे आये। वहां 'गंगा नदी का जल अचित्त तथा अदत्त (किसीका न दिया हुआ) होने से, चाहे जो हो हम ग्रहण नहीं करेंगे' ऐसे दृढ़निश्चय से अनशनकर वे सब ही पांचवें ब्रह्मदेवलोक में इन्द्र समान देवता हुए। इस प्रकार सचित्त वस्तु के त्याग में यत्न रखना चाहिए।

सचित्तादि चौदह नियम :

जिसने पूर्व में चौदह नियम लिये हों, उन्होंने उन नियमों में प्रतिदिन संक्षेप करना और अन्य भी नये नियम यथाशक्ति ग्रहण करना। चौदह नियम इस प्रकार है—१ सचित्त, २ द्रव्य, ३ विगई, ४ उपानह (जूते), ५ तांबूल (खाने का पान आदि), ६ वस्त्र, ७ फूल (खुशबो), ८ वाहन, ९ शयन (खाट आदि), १० विलेपन, ११ ब्रह्मचर्य, १२

१. यह कथन उस समय के व्रतधारी राजा-महाराजाओं को दृष्टि में रखकर किया हुआ है ऐसा लगता है।

दिशापरिमाण, १३ स्नान (न्हाना), १४ भक्त (खाना)।

१ सुश्रावक को मुख्यमार्ग से तो सचित्त का सर्वथा त्याग करना चाहिए, वैसा करने की शक्ति न हो तो नाम लेकर अथवा साधारणतः एक, दो इत्यादि सचित्त वस्तु का नियम करना। कहा है कि—

सचित्त-द्रव्य-विगई-वाणह-तंबोल-वत्थ-कुसुमेसु।

वाहण-सयण-विलेवण-बंभ-दिसि-ण्हाण-भत्तेसु ॥११॥

निरवज्जाहारेणं, निज्जीवेणं परित्तमीसेणं।

अत्ताणुसंघणपरा सुसावगा ररिसा हुंति ॥२॥

सच्चित्तनिमित्तेणं मच्छा गच्छंति सत्तमिं पुढविं।

सच्चित्तो आहारो, न खमो मणसावि पत्थेठं ॥३॥

श्रावक सर्व प्रथम तो निरवद्याहार लेनेवाले हो, ऐसा न हो तो अचित्ताहार ले, ऐसा भी न हो तो प्रत्येक वनस्पति का मिश्राहार ले और आत्मा का श्रेयः करना यही साध्य रखे, वे उत्कृष्ट श्रावक गिने जाते हैं। सचित्त आहार के कारण मत्स्य सप्तमनरक चले जाते हैं इससे मन में भी सचित्त आहार की इच्छा नहीं करनी चाहिए। २ सचित्त और विगई छोड़कर जो कोई शेष वस्तु मुख में डाली जाती है, वह सर्व द्रव्य है। खिचड़ी, रोटी, लड्डू, लापशी, पापड़, चूरमा, दही-भात, खीर इत्यादिक वस्तु बहुत से धान्यादिक से बनी हुई होती हैं, तो भी रसादिक का अन्य परिणाम होने से एक ही मानी जाती हैं। पोली (फलका), जाड़ी रोटी, मांडी, बाटी, घूघरी, ढोकला, थूली, खाकरा, कणक आदि वस्तु एक धान्य की बनी हुई होती है तो भी प्रत्येक का पृथक् नाम पड़ने से तथा स्वाद में अंतर होने से पृथक्-पृथक् द्रव्य माने जाते हैं। फला, फलिका इत्यादिक में नाम एक ही है, तो भी स्वाद भिन्न है, उससे तथा रसादिक का परिणाम भी अन्य होने से वे बहुत से द्रव्य माने जाते हैं। अथवा अपने अभिप्राय तथा संप्रदाय के ऊपर से किसी अन्य रीति से भी द्रव्य जानना। धातु की शलाका (सलाई) तथा हाथ की अंगुली आदि द्रव्य में नहीं गिने जाते। ३ भक्षण करने के योग्य विगई छ हैं, यथा—१ दूध, २ दही, ३ घी, ४ तैल, ५ गुड तथा ६ घी अथवा तैल में तली हुई वस्तु। ये छः विगई हैं। ४ उपानह जूते अथवा मौजे, खडाऊं (पावडियां) आदि तो जीव की अतिशय विराधना की हेतु होने से श्रावक को तो पहनना योग्य नहीं। ५ ताम्बूल अर्थात् नागरवेल का पान, सुपारी, कत्था, चूना आदि से बनी हुई स्वादिम वस्तु जानना। ६ वस्त्र अर्थात् पंचागादि वेष जानना। (पूजा-सामयिक के उपकरण) धोती, पोती तथा रात्रि को पहनने के लिए रखा हुआ वस्त्र आदि वेष में नहीं गिने जाते हैं। ७ फूल सिर पर तथा गले में पहनने के और गूथकर शय्या पर अथवा तकिये पर बिछाने के लायक लेना। फूल का नियम किया हो तो भी भगवान् की पूजा वगैरह में पुष्प चढ़ाने कल्पते हैं। ८ वाहन याने रथ, घोड़ा, बैल, पालकी (वर्तमान में सायकल, मोटर) आदि समझना। ९ शयन याने खाट आदि। १० विलेपन शरीर पर लगाने के लिए तैयार किया

हुआ चूआ, चंदन, जवासादि, कस्तूरी इत्यादिक वस्तु लेना। विलेपन का नियम लिया हो तो भी भगवान् की पूजा आदि कार्य में तिलक, हस्तकंकण, धूप आदि करना ग्राह्य है। ११ ब्रह्मचर्य (चतुर्थ व्रत) दिन में सर्वथा तथा रात्रि में अपनी स्त्री आदि अपेक्षा से जानें। १२ दिशापरिमाण चारों तरफ अथवा अमुक दिशा को इतने गांव तक अथवा इतने योजन तक जाना ऐसी मर्यादा करना। १३ स्नान तेल लगाकर अथवा बिना तैल नहाना। १४ भक्त पकाया हुआ अन्न तथा सुखडी आदि लेना। इस भक्त के नियम में सब मिलकर तीन चार सेर अथवा इससे अधिक अन्न यथासंभव रखना। खरबूजा आदि लेने से तो बहुत सेर हो जाता है। इन चौदह वस्तु का नियम करना। जिसमें दो, तीन अथवा इससे अधिक सचित्त वस्तु का नाम लेकर अथवा सामान्यतः नियम करने को जैसे ऊपर कहा है, वैसे द्रव्यादिक चौदह वस्तु का नियम वस्तु का नाम देकर अथवा साधारणतः यथाशक्ति युक्तिपूर्वक करना। उपरोक्त चौदह नियम यह एक नियम की दिशा बतायी है। इसीके अनुसार अन्य भी शाक, फल, धान्य आदि वस्तु के प्रमाण का तथा आरम्भ का निश्चय आदि कर यथाशक्ति नियम ग्रहण करने चाहिए।

पच्चक्खाण लेने की विधि :

इस प्रकार से नियम लेने के अनन्तर यथाशक्ति पच्चक्खाण करना। उसमें नवकारसी, पोरसी आदि कालपच्चक्खाण, जो सूर्योदय के पूर्व किया हो, तो शुद्ध होता है, अन्यथा नहीं। शेष पच्चक्खाण तो सूर्योदय के अनन्तर भी किये जाते हैं। नवकारसी पच्चक्खाण जो सूर्योदय के पूर्व किया हो तो उसके पूर्ण होने पर भी अपनी अपनी कालमर्यादा में पोरसी आदि सब कालपच्चक्खाण किये जा सकते हैं। नवकारसी पच्चक्खाण पूर्व नहीं किया हो, तो सूर्योदय होने के बाद दूसरे कालपच्चक्खाण शुद्ध नहीं होते। जो सूर्योदय के पूर्व नवकारसी पच्चक्खाण बिना पोरिसी आदि पच्चक्खाण किया हो तो, वह पूरा होने के अनन्तर दूसरा कालपच्चक्खाण शुद्ध नहीं होता, परन्तु सूर्योदय के पूर्व किये हुए पच्चक्खाण के पूर्ण होने के पूर्व, दूसरा कालपच्चक्खाण ले तो शुद्ध होता है। ऐसा वृद्ध पुरुषों का व्यवहार है। नवकारसी पच्चक्खाण का दो घड़ी का काल है, इतना समय उसे थोड़े आगार ऊपर से ही प्रकट ज्ञात होता है। नवकारसी पच्चक्खाण करने के अनन्तर दो घड़ी उपरान्त भी नवकार का पाठ किये बिना भोजन करे तो पच्चक्खाण का भंग हो जाता है, कारण कि, पच्चक्खाण दंडक में 'नमुक्कारसहिअं' ऐसा कहा है।

गंठसी पच्चक्खाण का लाभ :

जिसे प्रमाद छोड़ने की इच्छा हो उसे क्षणमात्र भी पच्चक्खाण बिना रहना उचित नहीं। नवकारसी आदि कालपच्चक्खाण पूरा होने के समय, 'गंठिसहिअं' आदि करना। जिसको बार-बार औषधि लेनी पड़ती हो, ऐसे बालक, रोगी इत्यादिक से भी ग्रंथिसहित पच्चक्खाण सरलता से हो ऐसा है। इससे हमेशा प्रमाद रहितपना रहता है, अतएव इसका विशेष फल है। एक सालवी मद्य, मांस आदि व्यसनों में बहुत

आसक्त था, वह केवल एक ही बार ग्रंथिसहित पच्चक्खाण करने से कपर्दी यक्ष हुआ। कहा है कि—

जे निच्चमप्पमत्ता, गंठिं बंधति गंठिसहिअस्स।

सग्गापवग्गसुक्खं, तेहिं निबद्धं सगंठिमि ॥१॥

जो पुरुष प्रमाद रहित होकर ग्रंथिसहित पच्चक्खाण की ग्रंथि (गांठ) बांधते हैं, उन्होंने मानों स्वर्ग का और मोक्ष का सुख अपनी गांठ में बांध लिया है। जो धन्य पुरुष भूले बिना नवकार की गणना करके ग्रंथिसहित पच्चक्खाण की ग्रंथि छोड़ते हैं वे अपने कर्मों की गांठ छोड़ते हैं। जो मुक्ति पाने की इच्छा हो तो इस प्रकार पच्चक्खाणकर प्रमाद छोड़ने का अभ्यास करना चाहिए। सिद्धान्तज्ञानी पुरुष इसका पुण्य उपवास के समान कहते हैं। जो पुरुष रात्रि में चौविहार पच्चक्खाण और दिन में ग्रंथिसहित पच्चक्खाण ले एकस्थान पर बैठ एकबार भोजन तथा तांबूल आदि भक्षण करना, और पश्चात् विधिपूर्वक मुख शुद्धि करना, इस प्रकार एकाशन करे, उसे एक मास में उन्तीस चौविहार (तिविहार) उपवास करने का फल प्राप्त होता है।

भुंजइ अणांतरेणं, दुत्ति उ वेलाउ जो नियोगेणं।

सो पावइ उववासा, अट्ठावीसं तु मासेणं ॥१॥

वैसे ही उपरोक्त विधि के अनुसार रात्रि में चौविहार पच्चक्खाण और दिन में बियासणा करे तो उसे एक मास में अट्ठावीस चौविहार (तिविहार) उपवास करने का फल प्राप्त होता है। ऐसा वृद्ध लोग कहते हैं। भोजन, तांबूल, पानी आदि वापरते नित्य दो-दो घड़ी लगना संभव है, इस प्रकार गिनते एकाशन करनेवाले की साठ घड़ी और बियासणा करनेवाले की एक सौ बीस घड़ी एक महिने के अन्दर खाने-पीने में जाती है (ठाणपाणी करे तो)। वह निकालकर शेष क्रमशः उन्तीस, अट्ठाइस दिन चौविहार उपवास में गिना जाना स्पष्ट है। पद्मचरित्र में कहा है कि जो मनुष्य लगातार बियासणे का पच्चक्खाण लेकर प्रतिदिन दो बार भोजन करे, वह एक मास में अट्ठाइस उपवास का फल पाता है। जो मनुष्य दो घड़ी तक प्रतिदिन चौविहार पच्चक्खाण करे, वह एक मास में एक उपवास का फल पाता है, और उस (फल) को देवलोक में भोगता है। किसी अन्य देवता की भक्ति करनेवाला जीव तपस्या से जो देवलोक में दशहजार वर्ष की स्थिति पावे, तो जिनधर्मी जीव जिनेश्वर की कही हुई उतनी ही तपस्या से करोड़ पत्न्योपम की स्थिति पाता है। इस प्रकार यथाशक्ति दो-दो घड़ी चौविहार बढ़ावे, और उसी अनुसार नित्य करे तो उसे एक मास में पच्चक्खाण के काल-मान की वृद्धि के प्रमाण से उपवास, छट्ठ, अष्टम इत्यादिक शास्त्रोक्त फल होता है। इस युक्ति से ग्रंथिसहित पच्चक्खाण का उपरोक्त फल विचार लेना चाहिए। ग्रहण किये हुए सर्व पच्चक्खाण का बार-बार स्मरण करना। पच्चक्खाण की अपनी-अपनी काल मर्यादा पूरी होते ही मेरा अमुक पच्चक्खाण पूर्ण हुआ, ऐसा विचार करना। भोजन के समय भी पच्चक्खाण का स्मरण करना। ऐसा न करने से कदाचित्

पच्वक्खाण आदि का भंग होना संभव है।

अशनादि चार का विभाग :

अशन, पान, खादिम, स्वादिम इत्यादि का विभाग इस प्रकार है। अन्न खाजा, मक्खन, बड़ा आदि पक्वान्न, मांडी, सत्तू आदि सर्व जो कुछ क्षुधा का शीघ्र उपशमन करते हैं, उन्हें अशन कहते हैं। (१) छाछ की आस, पानी, मद्य, कांजी का पानी आदि सर्व पान हैं। (२) सब जाति के फल, सांटा, पोहे, सुखडी (पंचमेल मिठाई) आदि खाद्य हैं। (३) तथा सोंठ, हरडे, पीपल, मिर्च, जीरा, अजवान, जायफल, जावित्री, कसेरू, कत्था, खदिरवडिका, मुल्हेटी, तज, तमालपत्र, इलायची, लौंग, बायबिडंग, विडनमक, अजमोद, कुलिंजन, पीपलामूल, कबाबचीनी, कचूर, मोथा, कपूर, संचल, हरडे, बहेड़ा, धमासा, खेर, खेजड़ा आदि की छाल, नागरवेल के पान, सुपारी, हिंघवष्टक, हिंगुतेवीसा, पंचकोल, पुष्करमूल, जवासा, बावची, तुलसी, कपूरीकंद इत्यादिक स्वादिम हैं। (४) भाष्य और प्रवचनसारोद्धार इन दो ग्रंथों के अभिप्राय से जीरा स्वाद्य है, और कल्पवृत्ति के अभिप्राय से खाद्य है। अजमान भी खाद्य है, ऐसा बहुत से कहते हैं। सर्व स्वाद्य वस्तु और इलायची कपूर इत्यादिक का जल दुविहार पच्वक्खाण में ग्राह्य है। बेसन, सौंफ, सुवा, कोठवडी, आमला, आंबागोली, कोठपत्र, नीम्बूपत्र, इत्यादि खाद्य होने से दुविहार पच्वक्खाण में अग्राह्य है। तिविहार में तो केवल जल ग्राह्य है। फूंकानल तथा सीकरी, कपूर, इलायची, कत्था, खादिर चूर्ण, कसेरू, पाटल, इत्यादिक का जल निथरा हुआ अथवा छाना हुआ हो तभी ग्राह्य है, अन्यथा नहीं।

शस्त्र में शहद, गुड़, शक्कर, मिश्री, आदि खाद्य में और द्राक्ष, मिश्री इत्यादिक का जल तथा [छाछ की आस] आदि पान में कहा है। परन्तु ये दुविहार आदि में ग्राह्य नहीं हैं। नागपुरीयगच्छ के पच्वक्खाण भाष्य में कहा है कि, जो भी शास्त्र में द्राक्षपानकादिक पान में और गुड़ आदि स्वादिम में कहा है, तो भी वे तृप्तिकारक होने से तिविहारादिक उपवास आदि प्रत्याख्यान एवं रात के दुविहार तिविहार प्रत्याख्यान में अनाचरित हैं, इसलिए पूर्वाचार्यों ने नहीं लिया। स्वस्त्री से रतिक्रीड़ा करने से चौविहार का भंग नहीं होता, परन्तु बालादिक के ओष्ठ, गाल इत्यादि का चुम्बन करने से (चौविहार-तिविहार) भंग हो जाता है। दुविहार में तो स्वस्त्री से रतिक्रीड़ा तथा बालादिक का चुम्बन भी ग्राह्य है। चौविहारादि पच्वक्खाण तो कवलाहार का ही है। लोमादिक आहार का नहीं। ऐसा न हो तो शरीर में तैल लगाने से तथा फोडे, फुंसी ऊपर पुल्टिस बांधने से भी अनुक्रम से आंबिल तथा उपवास का भंग होने का प्रसंग आवे, ऐसा मानने का व्यवहार भी नहीं है। कदाचित् कोई ऐसा माने तो, लोमाहार निरन्तर चलने का संभव होने से पच्वक्खाण के अभाव का प्रसंग आ जाता है।

अणाहार वस्तु :

अणाहार वस्तुएं व्यवहार में ली गयी हैं, वे इस प्रकार—नीम पंचांग (जड़, छाल,

पत्र, फूल, फल), मूत्र, गिलोय, कुटकी(कडु), चिरायता(करियातु), अतिविष, कूडा, चित्रक, चंदन, रक्षा (राख) हलदी, रोहिणी, उपलेट, वच, त्रिफला, बबूल की छाल, धमासा, नाय, असगंध, रिंगणी(उभी-बैठी), एलुवा(आलीयो), गुग्गुल, हरडेदल, वउणी(कपास का वृक्ष), बोर, छालमूल, कथेरीमूल, केरडामूल, पंवाड, बोडथेरी, चीड़, आठी, मजीठ, बोल, बीड(काष्ठ), घीकुंवार, कुंदरू, इत्यादिक अनिष्ट स्वाद की वस्तु रोगादि संकट होवे तो चौविहार में भी ग्राह्य है।

एकांगिक आहारादि :

श्रीकल्प में तथा उसकी वृत्ति में चौथे खंड में शिष्य पूछता है कि, आहार और अनाहार वस्तु का लक्षण क्या है? आचार्य कहते हैं—ओदन (भात) आदि शुद्ध अकेला ही क्षुधा का शमन करे, उसे आहार कहते हैं। वह अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम इन भेदों से चार प्रकार का है। तथा इस आहार में दूसरी जो वस्तुएं पड़ती हैं, वे भी आहार ही कहलाती हैं। अब एकांगिक चतुर्विध आहार की व्याख्या करते हैं। ओदन (भात) एकांगिक अर्थात् शुद्ध अकेला ही क्षुधा का नाश करता है, इसलिए यह अशन आहाररूप प्रथम भेद जानों (१)। छाछ, जल, मद्यादिक वस्तु भी एकांगिक अर्थात् शुद्ध अकेली क्षुधा का नाश करती है, अतएव यह पानआहाररूप दूसरा भेद है (२)। फल, मांस इत्यादिक वस्तु एकांगिक अर्थात् शुद्ध अकेली ही क्षुधा का नाश करती है, इसलिए यह खादिम आहाररूप तीसरा भेद है (३)। शहद, फाणित (अग्नि पर पकाकर गाढ़ा किया हुआ सांठे का रस, राब) इत्यादि वस्तु एकांगिक अर्थात् शुद्ध अकेली ही क्षुधा का नाश कर सकती है। इसलिए यह स्वादिम आहाररूप चौथा भेद जानों (४)। आहार में जो दूसरी वस्तु पड़ती है, वह भी आहार कहलाता है, ऐसा जो कहा, उसकी व्याख्या इस प्रकार है—जो लवणादिक एकांगिक वस्तु क्षुधा की शान्ति करने को समर्थ न हो, परन्तु चतुर्विध आहार में काम आती हो, वह वस्तु चाहे आहार में मिश्रित हो अथवा पृथक् हो, तो भी आहार में ही गिनी जाती है। ओदन (भात) आदि अशन में लवण, हींग, जीरा इत्यादिक वस्तु आती है, पानी आदि पान में कपूर आदि वस्तु आती हैं, आम आदि के फलरूप खादिम में नीमक आदि वस्तु आती है तथा मूंगफली तथा सौंठ आदि खादिम में गुड़ इत्यादि वस्तु आती है। ये अंदर आने वाली कपूरादि वस्तुएं स्वयं क्षुधा का शमन नहीं कर सकतीं, तथापि क्षुधा का शमन करनेवाले आहार को मदद करती हैं, इसलिए इनको भी आहार में ही गिना है। इस चतुर्विध आहार को छोड़कर शेष सब वस्तुएं अनाहार कहलाती हैं। अथवा क्षुधापीडित जीव जो कुछ पेट में डालता है, वह सर्व आहार है। औषधि आदि का विकल्प है, याने औषधि में कुछ तो आहार है और कुछ अनाहार है। उसमें मिश्री और गुड़ आदि औषधि आहार में गिनी जाती हैं और सर्प के काटे हुए मनुष्य को माटी आदि औषधि दी जाती है वे अनाहार हैं। अथवा जो वस्तु क्षुधा से पीडित मनुष्य को खाने में स्वादु जान पड़े वे सर्व आहार हैं। और 'मैं यह वस्तु भक्षण करूं' ऐसी किसीको खाने की इच्छा न हो, तथा जो जीभ का

भी स्वाद में बुरी लगे, वे सर्व वस्तुएं अनाहार हैं। यथा—कायिकी, निम्ब आदि की छाल, पंचमूलादिक, आमला, हरड़ा, बहेड़ा इत्यादिक फल ये सब अनाहार हैं। निशीथचूर्ण में तो ऐसा कहा है कि—नीम आदि वृक्षों की छाल उनके निम्बोली आदि फल, उन्हीं का मूल इत्यादि सर्व अनाहार हैं।

पच्वक्खाण के स्थान :

अब पच्वक्खाण के उच्चारण में पांच स्थान हैं, उनका वर्णन करते हैं। प्रथम स्थान में नवकारसी, पोरसी आदि तेरह काल पच्वक्खाण का उच्चारण किया जाता है। कालपच्वक्खाण यह प्रायः सर्व चौविहार (चतुर्विध आहार त्यागरूप) होता है। दूसरे स्थान में विगई, नीवी और आंबिल इनका पाठ आता है। विगई का पच्वक्खाण का विगई का नियम रखनेवाले और न रखनेवाले इन सबको भी होता है, कारण कि श्रावक मात्र को प्रायः चार अभक्ष्य विगई का त्याग होता ही है। तीसरे स्थान में एकाशणा, बियासणा और एकलठाणे का पाठ आता है, इसमें दुविहार, तिविहार तथा चौविहार आते हैं। चौथे स्थान में 'पाणस्स लेवेण' इत्यादि अचित्त पानी के छः आगार का पाठ आता है। पांचवें स्थान में पूर्व में ग्रहण किये हुए सचित्त द्रव्य इत्यादि चौदह नियम में संक्षेप करने रूप देशावकाशिक व्रतों का प्रातः सायं पाठ आता है।

पच्वक्खाण में तिविहार, चौविहार का नियम :

उपवास, आंबिल और नीवी ये तीनों पच्वक्खाण प्रायः तिविहार अथवा चौविहार होते हैं; परन्तु अपवाद से तो नीवी पोरिसी, इत्यादिक पच्वक्खाण दुविहार भी होते हैं। कहा है कि—

साहूणं रयणीए, नवकारसहिअं चउव्विहाहारं।

भवचरिमं उपवासो, अंबिल तिह चउव्विहाहारं ॥१॥

सेसा पच्वक्खाणा, दुहतिहचउहावि हुंति आहारे।

इअ पच्वक्खाणेसु, आहारविगप्पणा नेआ ॥२॥

साधुओं को रात्रि में और प्रातः को नमस्कार सहित चौविहार ही होता है, और भवचरिम, उपवास तथा आंबिल ये तीनों पच्वक्खाण तिविहार तथा चौविहार होते हैं। शेष पच्वक्खाण दुविहार, तिविहार तथा चौविहार भी होते हैं। इस प्रकार पच्वक्खाण में आहार के भेद जानों।

नीवी, आंबिल इत्यादिक में कौनसी वस्तु ग्राह्य है, अथवा कौनसी अग्राह्य है? इस बात का निर्णय अपनी अपनी सामाचारी के ऊपर से जानना। अनाभोग, सहसात्कार, इत्यादिक आगार का पच्वक्खाण भाष्यादिक में कहा हुआ प्रकट स्वरूप सिद्धांत के अनुसार भली प्रकार मन में रखना, ऐसा न करे तो पच्वक्खाण शुद्ध होने का संभव नहीं।

पवित्र होने की विधि :

मूलगाथा के उतरार्द्ध में आये हुए 'पडिकमिअ' इस पद की इस प्रकार विस्तृत

व्याख्या हुई। अब 'सुई पूइअ' इत्यादि पद की व्याख्या करते हैं। मल-मूत्र का त्याग, दांतन करना, जीभ घिसना, कुल्ला करना, सर्वस्नान अथवा देश स्नान इत्यादिक करके पवित्र हुआ। यहां पवित्र होना यह लोक प्रसिद्ध होने से शास्त्र उसे करने का उपदेश नहीं करता। जो वस्तु लोकसंज्ञा से नहीं प्राप्त होती, उसी वस्तु का उपदेश करना यह अपना कर्तव्य है ऐसा शास्त्र समझता है। मलमलीन शरीर हो तो नहाना, भूख लगे तो खाना, ऐसी बातों में शास्त्रोपदेश की बिलकुल आवश्यकता नहीं। लोकसंज्ञा से अप्राप्त ऐसे इहलोक परलोक हितकारी धर्ममार्ग का उपदेश करने से ही शास्त्र की सफलता होती है। शास्त्रोपदेश करनेवालों को सावद्य आरंभ की वचन से अनुमोदना करना यह भी अयोग्य है। कहा है कि—

सावज्जाणवज्जाणं, वयणाणं जो न जाणइ विसेसं।

वोत्तुपि तस्स न खमं, किमंग पुण देसणं काठं? ॥११॥

जो सावद्य और अनवद्य वचन के भेद विशेषतः जानता नहीं, वह मुंह में से एक वचन भी बोलने के योग्य नहीं है, फिर भला उपदेश करने की तो बात ही कौनसी?

मलमूत्रादिक त्याग की विधि :

मल-मूत्र का त्याग तो मौन रहकर तथा योग्य स्थान देखना आदि की विधि पूर्वक करना ही उचित है। कहा है कि—

मूत्रोत्सर्गं मलोत्सर्गं, मैथुनं स्नानभोजने।

सन्ध्यादिकर्म पूजां च, कुर्याज्जापं च मौनवान् ॥१२॥

मल-मूत्र का त्याग, मैथुनसेवन, स्नान, भोजन, संध्यादि कर्म, देवपूजा और जाप इतने कार्य मौन रखकर ही करने चाहिए। विवेकविलास में भी कहा है कि— प्रातःकाल, सायंकाल तथा दिन में भी उत्तरदिशा में और रात्रि में दक्षिणदिशा में मुखकर मौन रखकर तथा वस्त्र ओढ़कर मल-मूत्र का त्याग करना। संपूर्ण नक्षत्रों के निस्तेज होने पर सूर्यबिम्ब का आधा उदय हो तब तक प्रभातसंध्या का समय कहलाता है। सूर्यबिम्ब के आधे अस्त से लेकर दो तीन नक्षत्र आकाश में न दीखें, तब तक सायंसंध्या का समय है। मल-मूत्र का त्याग करना हो तो जहां राख, गोबर, गायों का रहेठाण, राफड़ा, विष्ठा आदि हो, वह स्थान तथा उत्तम वृक्ष, अग्नि, मार्ग, तालाब इत्यादिक, स्मशान, नदी तट तथा स्त्रियों तथा अपने वडीलों की जहां दृष्टि पड़ती हो, ऐसे स्थान को छोड़ना। ये नियम उतावल न हो तो पालना, उतावल होने पर सर्व नियम पालना ही चाहिए ऐसा नहीं।

श्री ओघनिर्युक्ति आदि ग्रंथों में भी साधुओं के उद्देश्य से कहा है कि—जहां किसी मनुष्य का आवागमन नहीं, तथा जिस स्थान पर किसी की दृष्टि भी नहीं पड़ती, जहां किसीको अप्रीति उपजने से शासन की हिलना का कारण और ताड़नादिक होने का संभव नहीं, समभूमि होने से गिरने की शंका नहीं, जो तृण आदि से ढका हुआ

नहीं, जहां बिच्छू, कीड़ी आदि का उपद्रव नहीं, जहां की भूमि अग्नि आदि के ताप से थोड़े समय की अचित्त की हुई है, जिसके नीचे कम से कम चार अंगुल भूमि अचित्त है, जो वाड़ी, बंगला आदि के समीप भाग में नहीं है, कम से कम एक ही हाथ विस्तार वाला, चूहे कीड़ी आदि के बिल, त्रसजीव तथा जहां बीज (सचित्त धान्य के दाने आदि) नहीं ऐसे स्थान में मल-मूत्र का त्याग करना। ऊपर तृण आदि से ढंका हुआ स्थान न हो, ऐसा कहने का कारण यह है कि, ढंका हुआ स्थान हो तो वहां बिच्छू आदि का काटना संभव है, तथा मल आदि से चींटी आदि चली जाती है इसीलिए तृणादिक से ढंका हुआ नहीं चाहिए। वैसे ही जहां की भूमि थोड़े समय की अचित्त की हुई हो, ऐसा कहने का कारण यह है कि, अग्नि का ताप आदि करके अचित्त की हुई भूमि, दो मास तक अचित्त रहती है, पश्चात् मिश्र हो जाती है। जिस भूमि पर चौमासे में गांव बसा हो वह भूमि बारह वर्ष तक शुद्धस्थंडिलरूप होती है। और भी कहा है कि—दिशा विचारकर बैठना, पवन, ग्राम तथा सूर्य इनकी तरफ पीठ करके नहीं बैठना, छाया में तीन बार पूंजकर, 'अणुजाणह जस्सुग्गहो' कहकर, अपने शरीर की शुद्धि हो वैसे मल मूत्र का त्याग करना। उत्तर व पूर्वीदिशा की ओर मुख करना ठीक है। रात्रि में दक्षिण दिशा में पीठ करके करे तो राक्षस, पिशाचादिक आकर पीड़ा करते हैं। पवन के सन्मुख मुख करे तो नाक में अर्शआदि की पीड़ा हो, सूर्य और ग्राम के सन्मुख पीठ करे तो निंदा हो। जो ठल्ले जीव उत्पत्ति वाली हो तो वहां से अलग जाकर किसी वृक्षादि की छाया में त्याग करना, छाया न हो तो धूप में ही अपनी छाया में त्याग करना, त्याग करके एक मुहूर्त (दो घड़ी) तक वहां बैठना।

अणावायमसंलोए, परस्सऽणुवघाइए।

समे अङ्गुसिरे वावि, अचिरकालकयंमि अ ॥१॥

विच्छिन्ने दूरमोगाढे, नासन्ने बिलवज्जिए।

तसपाणबीअरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे ॥२॥

मुत्तनिरोहे चक्खू, वच्चनिरोहे अ जीवियं चयइ।

उद्धनिरोहे कुड्डं, गेलन्नं वा भवे तिसु वि ॥३॥

लघुनीति (मूत्र) रोकने से नेत्र पीड़ा होती है, और बड़ी नीति (मल) रोके तो प्राणहानि है, ऊर्ध्ववायु (डकार) रोके तो कुष्ठरोग होता है, अथवा तीनों के रोकने से उन्माद (पागलपन) होता है। बड़ीनीति, लघुनीति, सलेखम (नाक का मल) आदि का त्याग करने के पूर्व 'अणुजाणह जस्सुग्गहो' ऐसा कहना, तथा त्याग करने के अनन्तर तुरंत 'वोसिरे' ऐसा तीन बार मन में चिन्तन करना। सलेखम इत्यादि को धूल से ढांकने की भी यतना करना, न करने से उसमें असंख्य संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति होती है तथा उनकी विराधना आदि दोष लगता है। श्री पन्नवणा सूत्र के प्रथम पद में कहा है कि—

प्रश्न—हे भगवंत! संमूर्च्छिम मनुष्य किस प्रकार उत्पन्न होते हैं?

उत्तर—हे गौतम! पिसतालीश लाख योजन वाले मनुष्य क्षेत्र में ढाई द्वीप समुद्र के अंदर पंद्रह कर्मभूमि में तथा छप्पन अंतर्द्वीप में, गर्भज मनुष्य की विष्टा, मूत्र, बलखा, नासिका का मल, वमन, पित्त, वीर्य, पुरुषवीर्य में मिश्रित स्त्रीवीर्य (रक्त), बाहर निकाले हुए पुरुष वीर्य के पुद्गल, जीव रहित कलेवर, स्त्री पुरुष का संयोग, नगर की खाल तथा सब अशुचि स्थान इनमें संमूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। अंगुल के असंख्यातवर्गे भाग समान अवगाहना वाले, असंज्ञी, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, सर्व पर्याप्ति से अपर्याप्त और अंतर्मुहूर्त आयुष्य वाले ऐसे वे संमूर्च्छिम मनुष्य (अंतर्मुहूर्त में) काल करते हैं। ऊपर 'सर्व अशुचि स्थान' कहा है यानि जो कोई स्थान मनुष्य के संसर्ग से अशुचि होते हैं वे सर्व स्थान लेना, ऐसा पन्नवणा की वृत्ति में कहा है।

दांतन की विधि :

दांतन आदि करना हो तो दोष रहित (अचित्त) स्थान में ज्ञातवृक्ष के अचित्त और कोमल दंतकाष्ठ से अथवा दांत की दृढ़ता करनेवाली अंगूठे की पास की तर्जनी अंगुली से घिस कर करना। दांत तथा नाक का मल डाला हो, उसपर धूल ढांकना आदि यतना अवश्य रखना। व्यवहार शास्त्र में तो इस प्रकार कहा है कि—

दांत की दृढ़ता के निमित्त प्रथम तर्जनी अंगुली से दांत की दाढ़ें घिसना पश्चात् यत्नपूर्वक दातन करना। जो पानी के प्रथम कुल्ले में से एक बिन्दु कंठ में चला जावे तो समझना कि, आज भोजन अच्छा मिलेगा। सरल, गांठ बिना, अच्छी कूची बनजावे ऐसा पतली नोकवाला, दश अंगुल लम्बा, टचली कनिष्ठा अंगुली की नोक के बराबर जाड़ा, ऐसा ज्ञातवृक्ष के दांतन को कनिष्ठिका और उसकी पास की अनामिका अंगुली के बीच में लेकर दांतन करना। उस समय दाहिनी अथवा बायी दाढ़ के नीचे घिसना, दांत के मसूड़ों को कष्ट न देना। स्वस्थ होकर घिसने में ही मन रखना। उत्तर अथवा पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठना, बैठने का आसन स्थिर रखना, और घिसते समय मौन रहना। दुर्गंध युक्त, पोला सूखा मीठा, खट्टा और खाटा ऐसा दातन त्यागना। व्यतिपात, रविवार, सूर्यसंक्रान्ति, चन्द्र सूर्य का ग्रहण, नवमी, अष्टमी, पड़वा, चौदश, पूर्णिमा और अमावस्या इन छः दिनों में दातन नहीं करना। दातन न मिले तो बारह कुल्ले करके मुख शुद्धि करना और जीभ के ऊपर का मल तो नित्य उतारना। जीभ साफ करने की पट्टी से अथवा दातन की फाड़ से धीरे-धीरे जीभ घिसकर दातन फेंक देना। दातन अपने सन्मुख अथवा शान्त दिशा में पड़े किंवा ऊंचा रहे तो सुख के हेतु जानना, और इससे विपरीत किसी प्रकार पड़े तो दुखदायी समझना। क्षणमात्र ऊंचा रहकर जो पड़ जावे तो उस दिन मिष्ठान्न का लाभ मिलता है, ऐसा शास्त्रज्ञ मनुष्य कहते हैं। खांसी, श्वास, ज्वर, अजीर्ण, शोक, तृषा (प्यास), मुखपाक (मुंह आना), ये जिसको हुए हों अथवा जिसको शिर, नेत्र, हृदय और कान का रोग हुआ हो, उस मनुष्य को दातन नहीं करना।

पश्चात् स्थिर रहकर नित्य केश (बाल) समारना, अपने सिर के बाल स्वयं समकाल में दोनों हाथों से नहीं समारे। तिलक देखने के लिए अथवा मंगल के हेतु दर्पण में मुख देखा जाता है। जो अपना शरीर दर्पण में मस्तक रहित दृष्टि आवे तो पन्द्रह दिन के बाद अपनी मृत्यु होगी ऐसा समझना। उपवास, पोरिसी इत्यादि पञ्चकक्षाण करनेवाले को तो दातन आदि किये बिना ही शुद्धि जानना, कारण कि, तपस्या का फल बहुत बड़ा है। लोक में भी उपवासादिक होने पर दातन आदि किये बिना भी देवपूजादि की जाती है। लौकिक शास्त्र में भी उपवासादि के दिन दातन आदि का निषेध किया है। विष्णुभक्तिचन्द्रोदय में कहा है कि—

प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु मध्याह्ने नवमीतिथौ।

संक्रान्तिदिवसे प्राप्ते, न कुर्याद्दन्तधावनम् ॥११॥

उपवासे तथा श्राद्धे, न कुर्याद्दन्तधावनम्।

दन्तानां काष्ठसंयोगो, हन्ति सप्त कुलानि वै ॥१२॥

ब्रह्मचर्यमहिंसा च, सत्यमामिषवर्जनम्।

व्रते चैतानि चत्वारि, चरितव्यानि नित्यशः ॥१३॥

पड़वा, अमावस्या, छ्ठी और नवमी इन तिथियों में, मध्याह्न के समय, तथा संक्रान्ति का, उपवास का, और श्राद्ध का दिन हो तो दातन नहीं करना, कारण कि, उपरोक्त दिनों में दातन करे तो सात कुल का नाश होता है। व्रत में ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य वचन और मांस का त्याग ये चार नियम नित्य पालन करना। बार-बार पानी पीने से, एक वक्त भी तांबूल भक्षण करने से, दिन में सोने से और स्त्रीसंग करने से उपवास में दोष लगता है।

स्नान की विधि :

जहां चींटियों का समूह, लीलफूल, कुंथुआ इत्यादिक जीवों की उत्पत्ति न हो, तथा जहां ऊंचा नीचापन, पोलाई आदि दोष न हो ऐसे स्थान पर संपातिम मक्षिकादि जीवों की रक्षा आदि यत्न रखकर परिमित तथा वस्त्र से छाने हुए पानी से स्नान करना। दिनकृत्य में कहा है कि, जहां त्रस आदि जीव नहीं, ऐसे शुद्ध भूमिभाग में अचित्त अथवा छाने हुए सचित्त पानी से विधि के अनुसार नहाकर स्नान करना इत्यादि। व्यवहारशास्त्र में तो ऐसा कहा है कि—नग्न, रोगी, चलकर आया हुआ, उत्तम वस्त्र तथा अलंकार पहिना हुआ, भोजन किया हुआ, अपने सम्बन्धियों को पहुँचाकर आया हुआ और कुछ भी मांगलिक कार्य किया हुआ इतने मनुष्यों को स्नान नहीं करना चाहिए। अपरिचित, विषम मार्गवाला, चांडालादिक शुद्र लोगों से छुआ हुआ, वृक्षों से ढका हुआ, काईवाला ऐसे पानी में नहाना योग्य नहीं। ठंडे पानी से नहाकर तुरन्त उष्ण अन्न तथा गरम पानी से नहाकर तुरन्त ठंडा अन्न भक्षण नहीं करना। और चाहे जैसे पानी से नहाने के अनंतर तैल कभी भी न लगाना। नहाये हुए पुरुष की छाया जो छिन्न-

भिन्न और विद्रुप दीखे, परस्पर दांत घिसाय, और शरीर से मृतशब के समान गंध आवे तो तीन दिन में उसकी मृत्यु होती है। नहाने के बाद जो तुरन्त छाती और दोनों पग सूख जायें, तो छठे दिन मृत्यु होती है इसमें संशय नहीं। स्त्रीसंग किया हो, उलटी हुई हो, स्मशान में चिता का धुंआ लगा हो, बुरा स्वप्न आया हो और हजामत कराई हो तो छाने हुए शुद्ध जल से नहाना चाहिए।

तैलमर्दन, स्नान और भोजनकर तथा आभूषण पहन लेने के बाद, यात्रा तथा संग्राम के अवसर पर, विद्यारंभ में, रात्रि को, संध्या के समय, किसी पर्व के दिन तथा (एकबार हजामत कराने के बाद) नवमें दिन हजामत नहीं कराना चाहिए। पखवाड़े में एकबार दाढी, मूछ, सिरके बाल तथा नख निकलवाना, परन्तु श्रेष्ठ मनुष्यों को चाहिए कि अपने हाथ से अपने बाल तथा अपने दांत से अपने नख कभी न निकाले।

जल स्नान (जल से नहाना) शरीर को पवित्र करना, सुख उत्पन्न करना परम्परा से भावशुद्धि का कारण होता है। श्री हरिभद्रसूरिजी ने दूसरे अष्टक में कहा है कि प्रायः अन्य त्रस आदि जीवों को उपद्रव न हो, उस प्रकार शरीर के त्वचा (चर्म आदि भाग) की क्षणमात्र शुद्धि के निमित्त जो पानी से नहाया जाता है, उसे द्रव्यस्नान कहते हैं। सावद्य व्यापार करनेवाला गृहस्थ यह द्रव्यस्नान यथाविधि करके देव व साधु की पूजा करे तो उसे यह स्नान भी शुद्धिकारक है। कारण कि, यह द्रव्य स्नान भावशुद्धि का कारण है और द्रव्यस्नान से भावशुद्धि होती है यह बात अनुभव सिद्ध है। अतएव द्रव्यस्नान में कुछ अप्कायविराधनादि दोष हैं, तो भी अन्य समकित शुद्धि आदि अनेक गुण होने से यह गृहस्थ को शुभकारक है। कहा है कि पूजा में जीव हिंसा होती है, और वह निषिद्ध भी है, तो भी जिनेश्वर भगवान की पूजा समकित शुद्धि का कारण है, अतएव शुद्धि (निरवद्य) है। अतः यह सिद्ध हुआ कि, देवपूजादि कार्य करना हो तभी गृहस्थ को द्रव्यस्नान की अनुमोदना (सिद्धान्त से अनुमति) कही है। इसलिए द्रव्यस्नान पुण्य के निमित्त है, ऐसा जो कोई कहते हैं, उसे निकाल दिया, ऐसा जाने। तीर्थ में पवित्र होने की बुद्धि से किये हुए स्नान से देह की शुद्धि होती है, परंतु जीव की तो एक अंशमात्र भी शुद्धि नहीं होती। स्कन्दपुराण में काशीखंड के अंदर छठे अध्याय में कहा है कि—

मृदो भारसहस्रेण जलकुम्भशतेन च।

न शुध्यन्ति दुराचाराः, स्नातास्तीर्थशतैरपि ॥१॥

जायन्ते च मियन्ते च जलेष्वेव जलौकसः।

न च गच्छन्ति ते स्वर्गमविशुद्धमनोमलाः ॥२॥

चित्तं शमादिभिः शुद्धं, वदनं सत्यभाषणैः।

ब्रह्मचर्यादिभिः कायः, शुद्धो गङ्गां विनाप्यसौ ॥३॥

चित्तं रागादिभिः क्लिष्टमलीकवचनैर्मुखम्।

जीवहिंसादिभिः कायो, गङ्गा तस्य पराङ्मुखी ॥४॥

परदारपरद्रव्यपरद्रोहपराङ्मुखः।

गङ्गाप्याह कदाऽऽगत्य, मामयं पावयिष्यति? ॥५॥

दुराचारी पुरुष हजारों भार (तोल विशेष) मिट्टी से, सैकड़ों घड़े पानी से तथा सैकड़ों तीर्थों के जल से नहावे तो भी शुद्ध नहीं होते। जलचर जीव जल में ही उत्पन्न होते हैं, और जल में ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं; परन्तु मन का मेल नहीं धुलने से वे स्वर्ग में भी नहीं जाते। जिनका चित्त शमदमादिक से, मुख सत्यवचन से और शरीर ब्रह्मचर्य से शुद्ध है, वे गंगानदी में गये बिना भी शुद्ध ही हैं। जिनका चित्त रागादिक से, वचन असत्यवचन से और शरीर जीवहिंसादिक से मलीन हो, उन पुरुषों से गंगा नदी भी अलग रहती है। जो पुरुष परस्त्री से, परद्रव्य से, और दूसरे के परद्रोह से दूर रहता है, उसको लक्ष करके गंगा नदी भी कहती है कि—ये महानुभाव कब आकर मुझे पवित्र करेंगे?

इसके ऊपर एक कुलपुत्र का दृष्टांत है, यथा—

तुम्ब स्नान दृष्टांत :

एक कुलपुत्र गंगादि तीर्थ को जाता था। उसे उसकी माता ने कहा कि, 'हे वत्स! तू जहां स्नान करे, वहां मेरे इस तुम्बे को भी नहलाना।' यह कहकर उसकी माता ने उसे एक तुम्बा दिया। कुलपुत्र भी गंगा आदि तीर्थ में जाकर माता की आज्ञानुसार अपने साथ तुम्बे को नहलाकर घर आया। तब माता ने उस तुम्बे का शाक बनाकर पुत्र को परोसा। पुत्र ने कहा, 'बहुत ही कड़वा है।' माता ने कहा, 'जो सैकड़ों बार नहलाने से भी इस तुम्बे की कटुता नहीं गयी, तो स्नान करने से तेरा पाप किस प्रकार चला गया? वह (पाप) तो तपस्यारूपी क्रियानुष्ठान से ही जाता है।' माता के इन वचनों से कुलपुत्र को प्रतिबोध हुआ।

असंख्यात जीवमय जल, अनंत जीवमय काई आदि और बिना छाना पानी हो तो उसमें रहने वाले पोरों आदि त्रस जीव, इनकी विराधना होने से स्नान दोषमय है। यह बात प्रसिद्ध है। जल जीवमय है, यह बात लौकिक में भी कही है। उत्तरमीमांसा में कहा है कि—

लूतास्यतन्तुगलिते, ये बिन्दौ सन्ति जन्तवः।

सूक्ष्मा भ्रमरमानास्ते, नैव मान्ति त्रिविष्टपे ॥१॥

मकड़ी के मुख में से निकले हुए तंतु के ऊपर से छनकर पड़े हुए पानी के एक बिन्दु में जो सूक्ष्म जीव हैं, वे जो भ्रमर के बराबर हो जायें तो तीनों जगत् में न सम्मार्थ, इत्यादि।

भावस्नान :

अब भावस्नान की व्याख्या करते हैं—ध्यानरूपी जल से कर्मरूपी मल दूर करने से जीव को जो सदाकाल शुद्धता का कारण होता है उसे भावस्नान कहते हैं। कोई पुरुष को द्रव्यस्नान करने पर भी जो फोड़े आदि बहते हों तो उसे अपने पास से

चंदन, केशर, पुष्प प्रमुख सामग्री देकर दूसरे मनुष्य के द्वारा भगवान की अंगपूजा करवाना; और अग्रपूजा तथा भावपूजा स्वयं करना। शरीर अपवित्र हो तो पूजा के बदले आशातना होना संभव है, इसलिए स्वयं अंगपूजा करने का निषेध किया है। कहा है कि—

निःशुकत्वादशौचोऽपि, देवपूजां तनोति यः।

पुष्पैर्भूपतितैर्युक्त, भवतः श्रपचाविमौ ॥१॥

जो अपवित्र पुरुष संसार में पड़ने का भय न रखते हुए देवपूजा करते हैं, और जो पुरुष भूमि पर पड़े हुए फूल से पूजा करते हैं, वे दोनों चांडाल होते हैं, यथा-

अपवित्रता से पूजन में चांडाल का दृष्टांत :

कामरूप नगर में एक चांडाल को पुत्र हुआ। जन्म से ही उसके पूर्वभव के बैरी किसी व्यंत्तरदेवता ने उसे हरणकर जंगल में डाल दिया। इतने में कामरूपनगर का राजा जो कि शिकार खेलने गया था उसने वन में उस बालक को देखा। राजा पुत्र हीन था इससे उसने उसे ले लिया। पालन किया तथा उसका पुण्यसार नाम रखा। जब पुण्यसार तरुणावस्था को प्राप्त हुआ तब राजा ने उसका राज्याभिषेककर स्वयं दीक्षा ले ली। कुछ काल के अनन्तर उक्त कामरूप के राजा केवली होकर वहां आये। पुण्यसार उनको वंदना करने गया। सर्व नगरवासी मनुष्य भी वन्दना करने आये तथा पुण्यसार की माता वह चांडालिनी भी वहां आयी। पुण्यसार राजा को देख उस चांडालिनी के स्तन में से दूध झरने लगा। तब राजा (पुण्यसार)ने केवली भगवान् से इसका कारण पूछा। केवली ने कहा—'हे राजन्! यह तेरी माता है, तू वन में पड़ा हुआ मेरे हाथ लगा।' पुण्यसार ने पुनः प्रश्न किया, 'हे भगवान्! मैं किस कर्मवश चांडाल हुआ?' केवली ने उत्तर दिया, 'पूर्वभव में तू व्यापारी था। एक समय भगवान् की पूजा करते 'भूमिपर पड़ा हुआ फूल नहीं चढ़ाना चाहिए।' ऐसा जानते हुए भी तूने भूमि पर पड़ा हुआ फूल अवज्ञा से भगवान् के ऊपर चढ़ाया। उससे तू चांडाल हुआ। कहा है कि—

उच्छिष्टं फलकुसुमं, नेविज्जं वा जिणस्स जो देइ।

सो नीअगोअकम्मं, बन्धइ पायन्नजम्ममि ॥१॥

पुरुष ऐंठा (उच्छिष्ट) फल, फूल अथवा नैवेद्य भगवान् को अर्पण करे, वह प्रायः परभव में नीचगोत्र कर्म बांधता है। तेरी माता ने पूर्वभव में रजस्वला होते हुए देवपूजा की, उस कर्म से यह चांडालिनी हुई। केवली के ऐसे वचन सुन वैराग्य से पुण्यसार राजा ने दीक्षा ली। इसलिए भूमि पर पड़ा हुआ फूल सुगन्धित हो तो भी वह भगवान् को नहीं चढ़ाना चाहिए। तथा किंचित् मात्र भी अपवित्रता हो तो भी भगवान् को नहीं छूना। विशेषकर स्त्रियों को रजस्वला अवस्था में प्रतिमा को बिलकुल स्पर्श न करना चाहिए। कारण कि, भारी आशातनादि दोष लगता है।

पूजा में पहनने के वस्त्र की विधि :

नहा लेने के बाद पवित्र, कोमल और सुगंधित काषायिकादि वस्त्र से अंग पोंछ, धोती उतार, दूसरा पवित्र वस्त्र पहनकर इत्यादि युक्ति से धीरे-धीरे चलते जलार्द्र-भूमि को स्पर्श न करते पवित्र स्थान में आना। उत्तरदिशा को मुख करके चमकदार, नया, पूर्ण, अजोड़ और चौड़ा ऐसे दो श्वेत वस्त्र में से एक पहिनना तथा दूसरा ओढ़ना। कहा है कि—

विशुद्धिं वपुषः कृत्वा, यथायोगं जलादिभिः।

धौतवस्त्रे च सीते द्वे, विशुद्धे धूपधूपिते ॥१२॥

अवसर के अनुसार जलादिक से शरीर शुद्ध करके धोये हुए, धूप से सुगंधित किये हुए और पवित्र ऐसे दो वस्त्र धारण करना। लोक में भी कहा है कि, 'हे राजन! देवपूजा में संधा हुआ, जला हुआ, और फटा हुआ वस्त्र न लेना, तथा दूसरे का वस्त्र भी धारण नहीं करना। एक बार पहना हुआ वस्त्र, जो वस्त्र पहिनकर मलोत्सर्ग, मूत्र तथा स्त्रीसंग किया हो, वह वस्त्र देवपूजा में उपयोग में न लेना। एक ही वस्त्र धारण करके खाना नहीं, तथा पूजा नहीं करना। स्त्रियों को भी कांचली बिना देवपूजा नहीं करना। इस परसे यह सिद्ध हुआ कि, पुरुषों को दो वस्त्र बिना और स्त्रियों को तीन वस्त्र बिना देवपूजादि नहीं करनी चाहिए। धुला हुआ वस्त्र मुख्यपक्ष से तो क्षीरोदक प्रमुख बहुत ऊंचा और वह श्वेतवर्ण रखना। उदायन राजा की रानी प्रभावती आदि का भी श्वेत वस्त्र ही निशीथादिक ग्रंथ में कहा है। दिनकृत्यादिक ग्रंथों में भी कहा है कि— 'सेअवत्थनिअंसणोत्ति' (अर्थात् श्वेतवस्त्र पहननेवाला आदि) क्षीरोदक आदि वस्त्र रखने की शक्ति न हो तो, दुकुल (रेशमी) आदि श्रेष्ठ वस्त्र ही रखना। पूजाषोडशक में कहा है कि, 'सितशुभवस्त्रेणेति' इसकी टीका में भी कहा है कि—श्वेत और शुभ वस्त्र पहन कर पूजा करना। यहां शुभवस्त्र पट्टयुग्मादिक लाल, पीला आदि लिया जाता है। 'एगसाडिअं उत्तरासंगं करेई' (अर्थात् एक साड़ी उत्तरासन करे) इत्यादिक सिद्धान्त के प्रमाणभूत वचन हैं इससे उत्तरीय वस्त्र अखंड ही रखना। दो या अधिक टुकड़े जुड़ा हुआ न रखना। 'दुकुल (रेशमी) वस्त्र पहिनकर भोजनादिक करे तो भी वह अपवित्र नहीं होता,' यह लोकोक्ति इस (पूजा के) विषय में प्रमाणभूत नहीं मानना। परन्तु अन्य वस्त्र की तरह दुकुल वस्त्र भी भोजन, मल, मूत्र तथा अशुचि वस्तु का स्पर्श इत्यादि से बचाकर रखना चाहिए। वापरने पर धोना, धूप देना इत्यादि संस्कार करके पुनः पवित्र करना, तथा पूजा सम्बन्धी वस्त्र थोड़े समय ही वापरना। पसीना, नाक का मल आदि इस वस्त्र से नहीं पोंछना, कारण कि, उससे अपवित्रता होती है। पहने हुए अन्य वस्त्रों से इस वस्त्र को अलग रखना। प्रायः पूजा का वस्त्र दूसरे का नहीं लेना। विशेष कर बालक, वृद्ध, स्त्रियों आदि का तो कदापि नहीं लेना चाहिए।

दूसरे का पहना वस्त्र न पहनने पर कुमारपाल का दृष्टान्त :

सुनते हैं कि, कुमारपाल राजा का उत्तरीयवस्त्र बाहड़ मंत्री के छोटे भाई चाहड़ ने

पहना, तब राजा ने कहा कि, 'मुझे नवीन वस्त्र दे' चाहड़ ने कहा—'ऐसा नवीन वस्त्र सवालक्षदेश की बेबेरापुरी में ही मिलता है, और वह वहां से वहां के राजा का पहना हुआ ही यहां आता है।' पश्चात् कुमारपाल ने बंबेरा के राजा के पास से एक बिना बापरा दुकुल वस्त्र मांगा, परंतु उसने नहीं दिया। तब कुमारपाल राजा ने रुष्ट हो चाहड़ को 'बहुत दान न करना' ऐसा कहकर साथ में सैन्य देकर भेजा। तीसरे दिन चाहड़ ने भंडारी के पास से लक्ष द्रव्य मांगा, तो उसने नहीं दिया, अतः उसे निकाल दिया, और यथेच्छ दान देकर रात्रि को चौदह सौ ऊंट सवार के साथ बंबापुर को घेर लिया। उस दिन नगर में सातसो कन्याओं का विवाह था। उसमें विघ्न न आये, इस हेतु से वह रात्रि बीत जाने तक विलम्ब करके प्रातःकाल होते ही चाहड़ ने दुर्ग (किल्ला) हस्तगत किया। तथा बंबेरा के राजा से सात करोड़ स्वर्णमुद्रा व ग्यारहसो घोड़े लिये तथा किल्ले को तोड़कर चूर्ण-चूर्ण कर दिया। उस देश में अपने स्वामी कुमारपाल की आज्ञा प्रचलित की तथा सातसौ सालवियों को साथ लेकर उत्सव सहित अपने नगर में आया। कुमारपाल ने कहा—'अतिउदारता यह तेरे में एक दोष है। वही दोष दृष्टिदोष से अपनी रक्षा करने का तेरा एक मंत्र है ऐसा मैं जानता हूँ, कारण कि तू मेरी अपेक्षा से भी अधिक द्रव्य का व्यय करता है।' चाहड़ ने कहा, 'मुझे मेरे स्वामी का बल है इससे मैं अधिक व्यय करता हूँ। आप किसके बल से अधिक व्यय करें?' चाहड़ के इस चतुरतापूर्ण उत्तर से कुमारपाल बहुत प्रसन्न हुआ और उसको सन्मानपूर्वक 'राजघरष्ट' की पदवी दी। दूसरे का पहना हुआ वस्त्र न लेना इस पर यह दृष्टांत है।

पूजावसर में सप्त प्रकार की शुद्धि :

वैसे ही स्वयं उत्तम स्थान से, अथवा स्वयं जिसके गुण का ज्ञाता हो ऐसे अच्छे मनुष्य से पात्र, ढक्कन, लानेवाली व्यक्ति, मार्ग आदि सर्व की पवित्रता की यतना रखना आदि युक्ति से पानी, फूल इत्यादिक वस्तु लाना। फूल आदि देनेवाले को यथोचित मूल्य आदि देकर प्रसन्न करना। वैसे ही, श्रेष्ठ मुखकोश बांध, पवित्र भूमि देख युक्ति से जिसमें जीव की उत्पत्ति न हो ऐसी केशर, कर्पूर आदि वस्तु से मिश्रित चंदन घिसना। चुने हुए तथा ऊंचे अखंड चावल, शोधित धूप व दीप, सरस स्वच्छ नैवेद्य तथा मनोहर फल इत्यादि सामग्री एकत्रित करना। यह द्रव्यशुद्धि है। राग द्वेष, कषाय, ईर्ष्या, इस लोक तथा परलोक की इच्छा, कौतुक तथा चित्त की चपलता इत्यादि दोष त्यागकर चित्त की एकाग्रता रखना, सो भावशुद्धि है। कहा है कि—

मनोवाक्कायवस्त्रोर्वोपूजोपकरणस्थितेः।

शुद्धिः सप्तविधा कार्या, श्रीअर्हत्पूजनक्षणे ॥१॥

मन, वचन, काया, वस्त्र, भूमि, पूजा के उपकरण और स्थिति (आसन आदि) इन सातों की शुद्धि भगवान की पूजा करते समय रखनी चाहिए।

इस प्रकार द्रव्य तथा भाव से शुद्ध हुआ मनुष्य गृह चैत्य (घरमंदिर) में प्रवेश

करे', कहा है कि—पुरुष दाहिना पैर आगे रखकर दाहिनी ओर यतना से प्रवेश करे, और स्त्री वाम पग आगे धरकर बायीं ओर प्रवेश करे। पूर्व अथवा उत्तर दिशा को मुख करके वाम नाडी चलते मौनकर सुगंधित और मधुर द्रव्य से भगवान की पूजा करनी चाहिए। इत्यादि वचन से कहे अनुसार निसीही कहकर, तीन प्रदक्षिणा करना तथा अन्य भी विधि सम्पूर्णकर पवित्र पाटले आदि आसन पर पद्मासनादिक सुखकारक आसन से बैठना। पश्चात् चन्दन के पात्र में से थोड़ा चन्दन अन्यपात्र में अथवा हाथ पर ले ललाट (कपाल) पर तिलककर तथा हाथ को स्वर्ण कंकण और चंदन का लेपकर तथा धूप देकर दोनों हाथों से जिनेश्वर भगवान् की अग्रपूजा, अंगपूजा तथा भावपूजा करनी चाहिए। तत्पश्चात् पूर्व में किया हुआ, धारा हुआ अथवा न किया हुआ हो तो जो लेना हो वह पञ्चवखाण भगवान् के सन्मुख उच्चरना।

मूलगाथा - ६

विहिणा जिणं जिणगिहे, गंतुं अच्चेइ उचिअचिंतरओ।

उच्चरइ पञ्चवखाणं, दढपंचाचारगुरुपासे ॥६॥

भावार्थ : उपरोक्त गाथा में 'विधिना' (विधि से) यह पद है, उसे सब जगह मिलाना।

यथा—पश्चात् विधि से जिनमंदिर जाकर, विधि से उचित चिन्ता (विचार)

करता हुआ, विधि से भगवान् की पूजा करे। वह विधि इस प्रकार है—

जो राजा प्रमुख भारी ऋद्धिशाली पुरुष हो तो 'सर्व ऋद्धि से, सर्व दीप्ति से, सर्व द्युति से, सर्व बल से, सर्व पराक्रम से' इत्यादि आगमवचन है, इससे वह पुरुष जिनशासन की प्रभावना के निमित्त सर्वोत्कृष्ट ऋद्धि से दशार्णभद्र राजा की तरह जिनमंदिर में जावे।

सर्व ऋद्धि से जिनवन्दन में दशार्णभद्र का दृष्टान्त :

जैसे दशार्णभद्र राजा 'पूर्व में किसीने वन्दन न किया हो ऐसी उच्च ऋद्धि से मैं वीर भगवान् को वन्दन करूँ' ऐसे अहंकार से सर्वोपरि ऋद्धि सजाकर अपने अंतःपुर की स्त्रियों को सर्वांग में शृंगार पहनाकर, उत्तम हाथी, घोड़े, रथ, आदि चतुरंग सेना साथ में लेकर हाथीदांत की, चांदी की तथा सोने की पांचसो पालखियों के साथ श्री वीर भगवान् को वन्दन करने आया। उसका मद दूर करने हेतु सौधर्मेन्द्र ने श्री वीर भगवान् को वन्दन करने को आते हुए दिव्य ऋद्धि की रचना की। बृहत् ऋषिमंडलस्तव में कहा है कि—चौसठ हजार हाथी, प्रत्येक हाथी को पांचसो बारह मुख, प्रत्येक मुख में आठ दांत, प्रत्येक दांत में आठ बावड़ियां, प्रत्येक बावड़ी में लक्ष पंखुड़ी के आठ कमल, प्रत्येक पंखुड़ी के ऊपर बत्तीसबद्ध दिव्यनाटक, प्रत्येक कर्णिका में एक-एक दिव्य प्रासाद, और प्रत्येक प्रासाद में अग्रमहिषी के साथ इन्द्र श्रीवीर भगवान् के गुण गाता है। ऐसी ऋद्धि से ऐरावत हाथी ऊपर बैठकर आते हुए इन्द्र को देखकर जिसकी

१. इस विधान से प्रत्येक घर में जिनमूर्ति आवश्यक है यह सिद्ध होता है।

प्रतिज्ञा पूर्ण न हुई ऐसे दशार्णभद्र राजा ने दीक्षा ग्रहण की। इस विषय में पूर्वाचार्यों की की हुई हाथी के मुख आदि वस्तु की गिनती बतानेवाली गाथाएं हैं।

इन्द्र के नाटक का वर्णन :

उनका अर्थ यह है—एक हाथी को पांचसो बारह मुख, चार हजार छियान्नवे दांत, बत्तीस हजार सातसो अड़सठ बावड़ियां, दो लाख बासठ हजार एकसो चुम्मालीश कमल, कर्णिका प्रासाद के अंदर आये हुए नाटक की संख्या कमल के ही समान, छब्बीस सो करोड़ इकवीस करोड़ और चुम्मालीश लाख इतनी एक हाथी के कमल दल की संख्या शक्रेन्द्र की जानो। अब चौसठ हजार हाथी के सबके मुख, दांत प्रमुख वस्तु संख्या इकट्टी कहनी चाहिए। सर्व हाथियों के मुख तीन करोड़ सत्तावीस लाख, अड़सठ हजार। सब के दांतों की संख्या छब्बीस करोड़, इक्कीस लाख, चुम्मालीश हजार। सर्व बावड़ियों की संख्या दो सो करोड़, नौ करोड़, एकहत्तर लाख, बावन हजार सर्व कमलों की संख्या एक हजार करोड़, छःसो करोड़, सतहत्तर करोड़, बहत्तर लाख, सोलह हजार। सर्व पंखुड़ियों की तथा नाटक की संख्या सोलह कोड़ाकोड़ी, सतहत्तर लाख करोड़, बहत्तर हजार करोड़, एक सो साठ करोड़। सर्व नाटक के रूप की संख्या पांचसो कोड़ाकोड़ी, छत्तीस कोड़ाकोड़ी, सत्यासी लाख करोड़, नव हजार करोड़, एक सो करोड़ और बीस करोड़। यह सर्व संख्याएं आवश्यकचूर्णि में कही हैं। प्रत्येक प्रासाद में आठ अग्रमहिषी के साथ इन्द्र भगवान् के गुण गाता है, ऐसा कहा, वहां अग्रमहिषी की संख्या कमल के समान जानना। इंद्राणी की संख्या तो तेरह हजार करोड़, चारसौ इक्कीस करोड़, सतहत्तर लाख, अट्ठाइस हजार इतनी हैं। प्रत्येक नाटक में समान रूप, शृंगार और नाट्योपकरण युक्त एकसो आठ दिव्यकुमार तथा उतनी ही देव-कन्याएं हैं।

वाद्यों का वर्णन :

ऐसे ही १ शंख, २ शृंग, ३ शंखिका, ४ पेया, ५ परिपरिका, ६ पणव, ७ पडह, ८ भंभा, ९ होरंभा, १० भेरी, ११ झल्लरी, १२ दुन्दुभी, १३ मुरज, १४ मृदंग, १५ नांदीमृदंग, १६ आलिंग, १७ कुस्तुम्ब, १८ गौमुख, १९ मादल, २० बिपंची, २१ वल्लकी, २२ भ्रामरी, २३ षड्भ्रामरी, २४ परिवदिनी, २५ बब्बीसा, २६ सुघोषा, २७ नंदिघोषा, २८ महती, २९ कच्छपी, ३० चित्रवीणा, ३१ आमोट, ३२ झांझ, ३३ नकुल, ३४ तूणा, ३५ तुंबवीणा, ३६ मुकुंद, ३७ हुडुक्का, ३८ चिच्चिकी, ३९ करटीका, ४० डिंडिम, ४१ किणित, ४२ कडंबा, ४३ दर्दरक, ४४ दर्दरिका, ४५ कुस्तुंबर, ४६ कलसिका, ४७ तल, ४८ ताल, ४९ कांस्यताल, ५० गिरिसिका, ५१ मकरिका, ५२ शिशुमारिका, ५३ वंश, ५४ वाली, ५५ वेणु, ५६ परिली, ५७ बंधूक इत्यादि विविध वाद्यों के बजाने वाले प्रत्येक में एक सो आठ जानो। ३ शंखिका याने तीक्ष्ण स्वरवाला छोटा शंख होता है और शंख का तो गंभीर स्वर होता है। ४ पेया यह बड़ी काहला को कहते हैं। ५ परिपरिका, याने मकड़ी के पड़ से बंधा हुआ एक मुख वाजिंत्र है। ६ पणव, यह पडह विशेष अथवा

भांडपड़ह जानो। ८ भंभा याने दक्का, ९ होरंभा याने महादक्का, १० भेरी यह ढक्के के आकार का वाद्यविशेष है। ११ झल्लरी यह चमड़े से मढ़ी हुई पहोली और वलयाकार होती है। १२ दुंदुभी, यह संकडे मुंह का तथा भेरी के आकार का देववाद्य होता है। १३ मुरज अर्थात् बड़ा मादल, १४ मृदंग याने छोटा मादल, १५ नांदीमृदंग, यह एक ओर से संकडा व दूसरी ओर से चौड़ा होता है। १६ आलिंग, यह मुरज की एक जाति है। १७ कुस्तुम्ब, यह चमड़े से बंधा हुआ घड़े के समान एक बाजा होता है। १९ मादल, यह दोनों ओर से समान होता है, २० विपंची, यह तीन तांत की वीणा होती है। २१ वल्लकी अर्थात् सामान्य वीणा, २४ परिवादिनी याने सात तांत की वीणा, २८ महती याने सो तार की वीणा, ३५ तुम्बवीणा, तुम्बे वाली वीणा को कहते हैं। ३६ मुकुन्द यह एक जात का मुरज है, जो प्रायः बहुत लीन होकर बजाया जाता है। ३७ हुडुका, यह प्रसिद्ध है। ४० डिंडिम, यह प्रस्तावना सूचक एक वाद्य है। ४२ कडंबा, ३९ करटिना और ४३ दर्दरक ये प्रसिद्ध है। ४४ दर्दरिका याने छोटा दर्दरक ४७ तल याने हस्तताल। ५४ वाली यह एक प्रकार का मुका वाजिन्त्र है, ५७ बंधूक, यह भी तूण सदृश मुख वाजिन्त्र है। बाकी के भेद लोक में प्रसिद्ध हों उसके अनुसार जान लेना चाहिए। सब वाद्यों के भेद उन पचास जाति के वाद्यों में समाते हैं। जैसे वंश में वाली, वेणु, परिली और बन्धूक इनका समावेश होता है। शंख, शृंग शंखिका, खरमुखी, पेया और परपरिका ये वाद्य बड़े भारी शब्द से, फूंकने पर बजते हैं। पड़ह और पणव ये दो डंकों से बजते हैं। भंभा और होरंभा ये दो आस्फालन करने से बजते हैं। भेरी, झल्लरी और दुंदुभी ये तीन ठोकने से बजते हैं। मुरज, मृदंग और नांदीमृदंग ये तीन आलाप करने से बजते हैं। आलिंग, कुस्तुम्ब, गौमुखी और मर्दल ये चार जोर से ठोकने पर बजते हैं। विपंची, वीणा, और बल्लकी ये तीन मूर्च्छना करने से बजते हैं। भ्रामरी, षड्भ्रामरी और परिवादिनी ये तीन किंचित् हिलाने से बजते हैं। बब्बीसा, सुघोषा और नंदीघोषा ये तीन फिराने से बजते हैं। महती, कच्छपी और चित्रवीणा ये तीन कूटने से बजते हैं। आमोट, झंझा और नकूल ये तीन मरोड़ने से बजते हैं। तूण और तुम्बवीणा ये दो स्पर्श करने से बजते हैं। मुकुद, हुडुक और चिच्चिकी ये तीन मूर्च्छना करने से बजते हैं। करटी, डिंडिम, किणित और कर्दबा ये चार बजाने से बजते हैं। दर्दरक, दर्दरिका, कुस्तुंब और कलशिका ये चार बहुत पीटने से बजते हैं। तल, ताल और कांस्यताल ये तीनों परस्पर लगाने से बजते हैं। रिंगिसिका, लत्तिका, मकरिका और शिशुमारिका ये चार घिसने से बजते हैं। वंश, वेणु, बाली, पिटली और बंधूक ये पांच फूंकने से बजते हैं।

नाटक के नाम :

सर्व दिव्य कन्या और कुमार साथ-साथ गायन और नृत्य करते हैं, इस प्रसंग में बत्तीसबद्धनाटक के नाम इस प्रकार हैं—स्वस्तिक, श्रीवत्स, नंदावर्त, वर्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्ययुग्म, दर्पण, इन आठ मंगलिकों की विचित्र रचना यह मंगलभक्ति चित्र नामक प्रथम भेद [१] आवर्त, (दक्षिणावर्त) प्रत्यावर्त (वामावर्त)

श्रेणी (समपंक्ति) प्रश्रेणी (उलटी पंक्ति), स्वस्तिक, सौवस्तिक, पुष्पमान (लक्षणविशेष) वर्धमान, मत्स्यांडक (मत्स्य के अंडे) मकरांडक (मगर के अंडे), जारमार (मणिविशेष) पुष्पावली, पद्मपत्र, सागरतरंग, वासंतोलता, और पद्मलता, इनकी विचित्र रचना-रूप दूसरा भेद [२] इहामृग (वरुभेड़िया), ऋषभ (बैल), अश्व, मनुष्य, मगर, पक्षी सर्प, किन्नर, रुरु (हरिणभेद), शरभ-अष्टापद, चमर (सुरागाय) हस्ती, वनलता पद्मलता इनकी विचित्र रचनारूप तीसरा भेद [३] एकतोवक्र (एक तरफ टेढ़ा) एकतःखड्ग (एक तरफ धारवाला), एकतःचक्रवाल (एक तरफ चक्राकार) द्विधा चक्रवाल (दोनों तरफ चक्राकार) चक्रार्द्धचक्रवाल ऐसी रचना रूप चौथा भेद [४] चन्द्रावलि (चंद्र की पंक्ति) सूर्यावलि (सूर्य की पंक्ति), वलयावली, तारावली, हंसावलि, एकावलि, मुक्तावलि, कनकावलि, रत्नावलि, यह आवलिप्रविभक्ति (पंक्तिरचना) नामक पांचवां भेद [५] चंद्रोदयप्रविभक्ति (चंद्रोदय की रचना) सूर्योदयप्रविभक्ति (सूर्योदय की रचना) यह उदय प्रविभक्तिनामक छठा भेद [६] चंद्रागमनप्रविभक्ति (चंद्र के आगमन की रचना) सूर्यागमनप्रविभक्ति (सूर्य के आगमन की रचना) यह गमना-गमनप्रविभक्तिनामक सातवां भेद [७] चंद्रावरणप्रविभक्ति (चंद्र के आवरण की रचना), सूर्यावरणप्रविभक्ति (सूर्य के आवरण की रचना) यह आवरणप्रविभक्तिनामक आठवां भेद [८] चंद्रास्तमनप्रविभक्ति (अस्त होते चंद्र की रचना) सूर्यास्तमनप्रविभक्ति (सूर्यास्त की रचना) यह अस्तमनप्रविभक्तिनामक नववां भेद [९] चंद्रमंडलप्रविभक्ति (चंद्रमंडल की रचना), सूर्यमंडलप्रविभक्ति (सूर्यमंडल की रचना), नागमंडलप्रविभक्ति, यक्षमंडलप्रविभक्ति, भूतमंडलप्रविभक्ति, राक्षसमहोरगगंधर्वमंडलप्रविभक्ति यह मंडलप्रविभक्ति (मंडल की रचना) नामक दशवां भेद [१०] ऋषभललितविक्रान्त (बैल की एकजाति की गति) सिंहललितविक्रान्त (सिंह की विशेषगति), अश्वविलंबित (घोड़े की विशेषगति), गजविलंबित (हाथी की विशेषगति), मत्तहयविलसित (मस्त घोड़े की चेष्टा), मत्तगयविलसित (मस्त हाथी की चेष्टा), यह द्रुतविलंबित नामक ग्यारहवां भेद [११] शकटोपधिप्रविभक्ति (गाड़ी के उपकरण की रचना), सागरप्रविभक्ति (समुद्र की रचना), नगरप्रविभक्ति (नगर की रचना), यह सागरनगरप्रविभक्तिनामक बारहवां भेद [१२] नंदाप्रविभक्ति, चंपाप्रविभक्ति यह नंदाचंपाप्रविभक्ति नामक तेरहवां भेद [१३] मत्स्यांडप्रविभक्ति (मत्स्य के अंडे की रचना), करमांडप्रविभक्ति, जारमारप्रविभक्ति यह मत्स्यांडादिप्रविभक्तिनामक चौदहवां भेद है [१४]। कखगघङ्गप्रविभक्ति यह पन्द्रहवां भेद [१५] चञ्जझञ्जप्रविभक्ति यह सोलहवां भेद [१६] टठडढणप्रविभक्ति यह सत्रहवां भेद [१७] तथदधनप्रविभक्ति यह अट्ठारहवां भेद [१८] पफबभमप्रविभक्ति यह उन्नीसवां भेद [१९] अशोकपल्लवप्रविभक्ति (आसोपालव की रचना), आम्रपल्लवप्रविभक्ति (आम के पत्ते की रचना), जम्बूपल्लवप्रविभक्ति, कोशंपल्लवप्रविभक्ति, यह पल्लवप्रविभक्तिनामक बीसवां भेद [२०] पद्मलता-प्रविभक्ति, नागलताप्रविभक्ति, अशोकलताप्रविभक्ति, चंपकलताप्रविभक्ति,

आम्रलताप्रविभक्ति, वनलताप्रविभक्ति, कुंदलताप्रविभक्ति, अतिमुक्तलताप्रविभक्ति और श्यामलताप्रविभक्ति यह लताप्रविभक्ति नामक इक्कीसवां भेद [२१] द्रुतनृत्य (उतावला नाच) यह बाइसवां भेद [२२] विलंबितनृत्य (धीरे नाचना) यह तेइसवां भेद [२३] द्रुतविलंबित नृत्य यह चौइसवां भेद [२४] अंचितनृत्य नामक पच्चीसवां भेद [२५] रिभितनृत्यनामक छब्बीसवां भेद [२६] अंचितरिभितनृत्यनामक सत्ताइसवां भेद [२७] आरभटनृत्यनामक अट्ठाइसवां भेद [२८] भसोलनृत्यनामक उन्तीसवां भेद [२९] आरभटभसोलनृत्यनामक तीसवां भेद [३०] उत्पात (ऊंचा चढ़ना) निपात (नीचे पड़ना) प्रसक्त (अटकना), संकुचित (अंग संकोचना) प्रसारित (अंग प्रसारना), रेचक, आरचित, भ्रांत (बहकना), संभ्रांत (अत्यंत बहकना), यह उत्पातादिनृत्यनामक इकतीसवां भेद [३१] तीर्थकरादि महापुरुषों के चरित्र का अभिनय करना यह बत्तीसवां भेद [३२] इस प्रकार रायपसेणीसूत्र में बत्तीसबद्धनाटक के भेद कहे हैं।

पांच अभिगम :

इस प्रकार राजा आदि ऋद्धिशाली श्रावक जिनमंदिर जाये। परन्तु जो साधारण ऋद्धिवन्त हो, उसने तो लोकपरिहास टालने के निमित्त अहंकार का त्याग कर अपने कुल तथा द्रव्य के उचित आडंबर रख, भाई, मित्र, पुत्रादिक परिवार को साथ लेकर जिनमंदिर को जाना। वहां जाने में (१) फूल, तांबूल, सरशव, दूर्वा (दूब), तथा छरी, पादुका, मुकुट, वाहन प्रमुख सचित्त और अचित्त वस्तु का त्याग करे। यह प्रथम अभिगम है। (२) मुकुट को छोड़कर शेष अलंकार आदि अचित्त द्रव्य का त्याग न करे यह दूसरा अभिगम है। (३) एक (बिना जोड़का) तथा चौड़े वस्त्र से उत्तरासंग करे, यह तीसरा अभिगम है। (४) भगवान को देखने पर दोनों हाथ जोड़ 'गमो जिणाणं' यह कहता हुआ वंदन करे, यह चौथा अभिगम है। (५) मन को एकाग्र करे, यह पांचवां अभिगम है। ऐसे पांच अभिगम पूर्ण करे तथा निसीहि कहकर जिनमंदिर में प्रवेश करे। इस विषय में पूर्वाचार्यों के वचन इस प्रकार है—सचित्त द्रव्य का त्याग करना (१), अचित्त द्रव्य का त्याग नहीं करना (२), एकशाट (एकपने का बिना जोड़) उत्तरासंग करना (३), भगवान् को देखते ही दोनों हाथ जोड़ने (४), और मन की एकाग्रता करना (५) इत्यादि, राजा आदि को तो जिनमंदिर में प्रवेश करे उसी समय राज चिन्ह त्याग देना चाहिए। कहा है कि—खड्ग, छत्र, जूता, मुकुट और चंवर ये श्रेष्ठ राजचिन्ह त्यागकर... इत्यादि।

प्रदक्षिणा :

मंदिर के प्रथम द्वार में प्रवेश करते, मन, वचन, काया से घर सम्बन्धी व्यापार का निषेध किया जाता है, ऐसा बताने हेतु तीन बार निसीही की जाती है, परन्तु यह निसीही एक ही गिनी जाती है, कारण के, एक घर सम्बन्धी व्यापार का ही उसमें निषेध किया है। पश्चात् मूलनायकजी को वन्दनाकर 'कल्याण के इच्छुक लोगों को सर्व उत्कृष्ट वस्तुएं प्रायः दाहिनी ओर ही रखना' ऐसी नीति है, अतएव मूलनायकजी

को अपनी दाहिनी ओर कर ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य इन तीनों की आराधना करने हेतु तीन प्रदक्षिणा दे। उसके अनन्तर भक्ति से परिपूर्ण मन से 'नमो जिणाणं' ऐसा प्रकट कहे और अर्धवन्त (जिसमें आधा शरीर नमता है ऐसा) अथवा पंचांग प्रणाम करे, पश्चात् पूजा के उपकरण हाथ में ले भगवान् के गुणगण से रचे हुए स्तवनों को अपने परिवार के साथ मधुर व गंभीर-स्वर से गाता हुआ, हाथ में योगमुद्रा धारण किये हुए, कदम-कदम पर जीव रक्षा का उपयोग रखते हुए और एकाग्र मन से भगवान् के गुणगण का चिन्तन करता हुआ तीन प्रदक्षिणा दे। घर देरासर में इस प्रकार प्रदक्षिणा आदि क्रिया करना नहीं बनता। दूसरे बड़े मंदिर में भी कारणवश ये किये न जावे, तो भी बुद्धिशाली मनुष्य ने ये सर्व क्रियाएं निरन्तर करने का परिणाम रखना चाहिए, भाव छोड़ना नहीं। सुश्रावक प्रदक्षिणा देने के अवसर पर समवसरण में बैठे हुए चतुर्मुख भगवान् का ध्यान करता हुआ मूलगभारे में और भगवान् की पीठ तथा बायीं ओर दाहिना भाग इन तीनों दिशाओं में स्थित जिनबिम्ब को वन्दन करे। इस हेतु से सब जिनमंदिर समवसरण के स्थान पर होने से मूलगभारे के बाहर के भाग में तीनों दिशाओं में मूलनायकजी के नाम से जिनबिम्ब कराये जाते हैं, 'अरिहंत की पीठ छोड़ना' ऐसा कहा है, जिससे चारों दिशाओं को अरिहंत की पीठ रहने से पीठ की ओर रहने का दोष टलता है।

प्रमुपूजन :

पश्चात् जिनमंदिर का पूजना, स्वयं सीलक आदि का नामा लिखना इत्यादि आगे कहा जायेगा उसके अनुसार यथायोग्य चैत्य चिन्ता तथा पूजा की संपूर्ण सामग्री प्रथम से ही तैयार करके मुख्यमंडपादिक में चैत्यव्यापारनिषेधरूपी दूसरी निसीहि कहें। और मूलनायकजी को तीन बार वन्दनकर पूजा करे। भाष्य में कहा है कि—उसके अनंतर प्रथम निसीहिकर, मुखमंडप में प्रवेशकर, जिनभगवान् के संमुख घुटने और हाथ भूमि को लगा यथाविधि तीन बार वन्दन करे। पश्चात् आनन्द से प्रफुल्लित हो सुश्रावक मुखकोश करके जिनेन्द्रप्रतिमा के उपर रात्रि में रहे हुए वासी फूल आदि निर्माल्य मोरपंख से उतारे। तत्पश्चात् स्वयं जिनेश्वर के मंदिर को पूंजे, अथवा दूसरे से पुंजावे। तदुपरान्त सुविधा के अनुसार जिनबिम्ब की पूजा करे। मुखकोश आठ पड़ का मुख तथा नासिका का निश्वास रोकने के निमित्त बांधना। बरसात के समय निर्माल्य में कुंधुआ आदि जीवों की उत्पत्ति भी हो जाती है, इसलिए वैसे समय में निर्माल्य तथा स्नात्र का जल जहां प्रमादी मनुष्य की हलचल न हो ऐसे पवित्रस्थान में पूर्ण रूप से जीवरहित भूमि देखकर परठना। ऐसा करने से जीव रक्षा होती है और आशातना भी टलती है। घर देरासर में तो प्रतिमा को ऊंचे स्थान पर भोजनादि कृत्यों में व्यवहार में न आनेवाले पवित्रपात्र में स्थापनकर दोनों हाथों से पकड़े हुए पवित्र कलशादिक के जल से अभिषेक करना। उस समय—

'बालतणमि सामिअ। सुमेरुसिहरमि कणयकलसेहिं।

तिअसासुरेहिं ण्हविओ, ते धन्ना जेहिं दिड्ढोसि ॥२॥

इत्यादि बातों का मन में चिन्तन करना। पश्चात् यतना पूर्वक जिनबिम्ब ऊपर के चन्दनादिक उतारकर पुनः प्रक्षाल करके दो [तीन] अंगलूछणा से (अंगपूछने का वस्त्र) जिनबिम्ब ऊपर का सर्व पानी पोंछ लेना पश्चात् पांव के दो अंगूठे, दो घुटने, हाथ की दो कलाई, दो कंधे और मस्तक इतने स्थान की अनुक्रम से पूजा करना, ऐसा कहा है अतः आगे वर्णन किया जायगा उसके अनुसार सीधे क्रम से नवों अंगों में चंदन, केशर, आदि वस्तुओं से पूजा करे। कोई कोई आचार्य कहते हैं कि प्रथम ललाट पर तिलककर पश्चात् नवाङ्ग की पूजा करना। श्रीजिनप्रभसूरि ने लिखी हुई पूजा की विधि में तो सरस और सुगन्धित चंदन से भगवान् का दाहिना घुटना, दाहिना कंधा, कपाल बांया कन्धा और बांया घुटना इन पांच अथवा हृदय सहित 'छः अंग में पूजाकर ताजा फल और वासक्षेप इन दो द्रव्यों से पूजा करे, ऐसा कहा है। जो पूर्व में किसीने पूजा की हो, और अपने पास पूर्व पूजा से श्रेष्ठ पूजा करने की सामग्री न हो-तो वह पूजा दूर नहीं करनी, कारण कि, उस (सुंदर) पूजा के दर्शन से भव्यजीवों को होनेवाले पुण्यानुबंधिपुण्य के अनुबंध को अन्तराय करने का प्रसंग आता है। अतएव प्रथम की पूजा न उतारकर अपने पास की सामग्री से उसे बढ़ाना। बृहद्भाष्य में कहा है कि-जो प्रथम किसीने बहुत सा द्रव्य व्यय करके पूजा की हो, तो वही पूजा जिस तरह विशेष शोभायमान हो उसी प्रकार अपनी पूजा सामग्री का उपयोगकर पूजा करना। ऐसा करने से प्रथम पूजा निर्माल्य भी नहीं मानी जाती, कारण कि, उसमें निर्माल्य का लक्षण नहीं आता। गीतार्थ आचार्य उपभोग लेने से निरुपयोगी हुई वस्तु को निर्माल्य कहते हैं। इसीलिए वस्त्र, आभूषण, दोनों कुंडल इत्यादि बहुत सी वस्तुएं एक बार उतारी हुई पुनः जिनबिम्ब पर चढ़ाते हैं। ऐसा न हो तो एक गंधकाषायिकावस्त्र से एक सो आठ जिनप्रतिमा की अंगलूछणा करनेवाले विजयादिक देवता का जो वर्णन सिद्धान्त में किया है, वह कैसे घटित हो? जिनबिम्ब पर चढ़ायी हुई जो वस्तु फीकी, दुर्गन्धित, देखनेवाले को भली न लगे तथा भव्यजीव के मन को हर्षित न करे ऐसी हो गयी हो, उसीको श्रुतज्ञानी पुरुष निर्माल्य कहते हैं ऐसा संघाचारवृत्ति में कहा है। प्रद्युम्नसूरि रचित विचारसार प्रकरण में तो इस प्रकार कहा है कि चैत्यद्रव्य (देवद्रव्य) दो प्रकार के हैं—एक पूजाद्रव्य और दूसरा निर्माल्यद्रव्य। पूजा के निमित्त लाकर जो द्रव्य एकत्रित किया हो वह पूजा द्रव्य है, और अक्षत, फल, बलि (मिठाई आदि), वस्त्र आदि संबंधी जो द्रव्य, वह निर्माल्यद्रव्य कहलाता है। उसका जिनमंदिर में उपयोग जानना। इस

१. हे स्वामिन्! चौसठ इन्द्रोंने बाल्यावस्था में मेरु पर्वत पर सुवर्णकलश से आपको स्नान कराया, उस समय जिन्होंने आपको देखा, वे जीव धन्य हैं।
२. इस सूत्र के रचना काल में छ अंग एवं नवांगी पूजा दोनों प्रकार प्रचलित थे। नौ अंग भी मस्तक तक पूर्ण हो जाते थे।

वचन में प्रतिमा के सन्मुख धरे हुए अक्षतआदि द्रव्य को भी निर्माल्य कहा है, परन्तु अन्य स्थान में, आगम में, प्रकरण में अथवा चरित्रादिक में कहीं भी यह बात दृष्टि में नहीं आती। स्थविर के संप्रदायादिक से भी कोई गच्छ में यह रीति नहीं पायी जाती। साथ ही जो देहातादिक में द्रव्यप्राप्ति का उपाय नहीं होता, वहां प्रतिमा के सन्मुख धरे हुए अक्षतआदि वस्तु के द्रव्य से ही प्रतिमा पूजा जाती है। जो अक्षतादि निर्माल्य होते तो उससे प्रतिमा की पूजा भी कैसे होती? अतः उपभोग करने से निरुपयोगी हुई वस्तु को ही निर्माल्य कहना वही युक्ति संगत है। और "भोगविण्टुं दव्वं, निम्मल्लं बिंति गीअत्था" यह आगमवचन भी इस बात का आधारभूत है। तत्त्व तो केवली जाने। चंदन-फूल आदि वस्तु से पूजा इस प्रकार करना कि, जिससे प्रतिमा के नेत्र तथा मुख सुखपूर्वक देखे जा सकें और पूर्व की अपेक्षा विशेष शोभा हो, कारण कि, वैसा करने से ही दर्शक को हर्ष, पुण्य की वृद्धि इत्यादि होना संभव है।

अंगपूजा, अग्रपूजा और भावपूजा ऐसे पूजा के तीन प्रकार हैं। जिसमें प्रथम अंगपूजा में कौन-कौन सी वस्तु आती है उसका वर्णन करते हैं। निर्माल्य उतारना, पूंजनी से पूंजना, अंग प्रक्षालन करना, वालाकूंची से केशर आदि द्रव्य उतारना, केशरादिक द्रव्य से पूजा करना, पुष्प चढ़ाना, पंचामृत स्नात्र करना, शुद्धजल से अभिषेक करना, धूप दिये हुए निर्मल तथा कोमल ऐसे गंधकाषायिकादि वस्त्र से अंग लूँछना (पोंछना), कपूर, कुकुंम प्रमुख वस्तु से मिश्र किये हुए गोशीर्षचन्दन से विलेपन करना, आंगीआदि की रचना करना, गोरोचन कस्तूरी आदि द्रव्य से तिलक तथा पत्रवल्ली (पील) आदि की रचना करना, सर्वोत्कृष्ट रत्नजडित स्वर्ण तथा मोती के आभूषण और सोने चांदी के फूल आदि चढ़ाना। जैसे कि श्रीवस्तुपाल मंत्री ने अपने बनवाये हुए सवा लाख जिनबिम्ब पर तथा श्रीसिद्धाचलजी ऊपर आयी हुई सर्व प्रतिमाओं पर रत्नजडित सुवर्ण के आभरण चढ़ाये, तथा जैसे दमयंती ने पूर्वभव में अष्टपद तीर्थ पर आयी हुई चौबीस प्रतिमाओं पर रत्न के तिलक चढ़ाये, वैसे ही सुश्रावक ने जिस प्रकार से अन्य भव्य प्राणी भाव वृद्धि को प्राप्त हों उस प्रकार से आभरण चढ़ाना। कहा है कि—

पवरोहिं साहणेहिं, पायं भावोवि जायए पवरो।

न य अन्नो उवओगो, एणसिं सयाण लट्ठयरो ॥१॥

प्रशंसनीय साधनों से प्रायः प्रशंसनीय भाव उत्पन्न होते हैं। प्रशंसनीय साधनों का इसके अतिरिक्त अन्य उत्तम उपयोग नहीं। तथा पहरेखणी, चन्द्रोदय आदि अनेक प्रकार के दुकूलादि वस्त्र चढ़ाना, श्रेष्ठ, ताजा और शास्त्रोक्त विधि के अनुसार लाये हुए शतपत्र (कमल की जाति), सहस्रपत्र (कमल विशेष), जाड़, केतकी, चंपा आदि फूलों की गुंथी हुई, धिरी हुई, पूरी हुई तथा एकत्रित की हुई ऐसी चार प्रकार की माला, मुकुट शिखर, फूलघर आदि की रचना करना, जिनेश्वर भगवान् के हाथ में सोने के बिजौर, नारियल, सुपारी, नागरवेल के पान, सुवर्णमुद्रा, अंगूठियां, मोदक (स्वर्णादि

के) आदि रखना, धूप उखेवना, सुगन्धित वासक्षेप करना इत्यादि सर्व उपचार अंगपूजा में होते हैं। बृहद्भाष्य में कहा है कि—

गृहवणविलेवणआहरणवत्थफलगंधधूपपुष्पेहिं।

कीरइ जिणंगपूआ, तत्थ विही एस नायव्वो ॥१॥

वत्थेण बंधिऊणं, नासं अहवा जहासमाहीए।

वज्जेअव्वं तु तथा देहमिवि कंदुअणमाई ॥२॥

स्नात्र, विलेपन, आभरण, वस्त्र, फल, सुगन्धित चूर्ण (वासक्षेप) धूप तथा पुष्प इतने उपचारों से, जिनेश्वर भगवान की अंगपूजा की जाती है। उसकी विधि इस प्रकार है—

वस्त्र से नासिका बांधकर अथवा जिस प्रकार चित्त की समाधि रहे वैसा करके पूजा करना। उस समय शरीर में खुजली आदि क्रिया का अवश्य त्याग करना चाहिए। अन्य स्थान पर भी कहा है कि—जगबंधु श्री जिनेश्वर भगवान् की पूजा करते समय शरीर में खुजाना, खंखार डालना और स्तुति स्तोत्र बोलना ये तीन बातें वर्जित हैं। देवपूजा के समय मौन रहना ही श्रेष्ठ मार्ग है, कदाचित् वैसा न किया जा सके तो सावद्यवचन तो सर्वथा छोड़ना। कारण कि निसीहि करने में गृहव्यापार का निषेध किया है। उसके लिए हस्त, मुख, नेत्र प्रमुख अवयव से पापहेतु संज्ञा भी न करना, करने से अनुचितपने का प्रसंग आता है। यहां जिणहा श्रेष्ठि का दृष्टान्त कहते हैं—

जिणहा की कथा :

धोलका नगर में जिणहा नामक अतिदरिद्री श्रेष्ठी रहता था। वह घी के मटके, कपास की गांठे आदि बोझ उठाकर अपना निर्वाह करता था। भक्तामर प्रमुखस्तोत्र के स्मरण से प्रसन्न हुई चक्रेश्वरी देवी ने उसको एक वशीकरण रत्न दिया। उस रत्न के प्रभाव से जिणहा ने मार्ग में रहनेवाले तीन प्रसिद्ध दुष्ट चोरों को मार डाला। वह आश्चर्यकारी वृत्तान्त सुन पाटण के भीमदेव राजा ने आदर सहित उसे बुलाकर देश की रक्षा के लिए एक खड्ग दिया, तब शत्रुतुल्य नामक सेनापति ने डाहवश कहा कि—

खांडउ तासु समप्पिइ, जसु खंडइ अब्भास।

जिणहा इक्कु समप्पिइ, तुल चेलउ कप्पास ॥१॥

खड्ग उसीको देना चाहिए कि, जिसे उसका अभ्यास हो जिणहा को तो घी तेल के मटके, वस्त्र और कपास ये ही देना चाहिए।

यह सुन जिणहा ने उत्तर दिया कि—

असिधर [धणुधर] कुंतधर, सत्तिधरा य बहूआ।

सतुसल रणि जे सूरनर, जणणिति विरलपसू अ ॥२॥

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वाणी वीणा नरक्ष नारी च।

पुरुषविशेषं प्राप्ता भवन्त्ययोग्याश्च योग्याश्च ॥२॥

तलवार, धनुष्य और भाले को पकड़नेवाली तो संसार में बहुत व्यक्ति हैं, परंतु

शत्रुओं के शल्यरूप ऐसे हे सेनानि रणभूमि में शूरवीर पुरुषों को प्रसव करनेवाली तो कोई-कोई ही माता होती है।

अश्व, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाणी, नर और स्त्री इतनी वस्तुएं योग्य पुरुष के हाथ में जायें तो श्रेष्ठ योग्यता पाती हैं, और अयोग्य पुरुषों के हाथ में जाये तो योग्यता नहीं पाती। जिणहा के ऐसे वचन से भीमदेव राजा ने हर्षित हो उसे कोतवाल का अधिकार दिया। इसके बाद जिणहा ने गुजरात देश में चोर का नाममात्र भी रहने न दिया।

एक दिन सोरठ देश के किसी चारण ने जिणहा की परीक्षा करने हेतु ऊंट की चोरी की। जिणहा के सिपाही उसे पकड़कर देवपूजा के समय प्रातःकाल में उसके संमुख लाये। उसने (जिणहा ने) फूल का बीट तोड़कर सूचना दी कि 'इसे मार डालो' तब चारण ने कहा—

जिणहाओ नइ जिणवरह, न मिले तारो तारा।

जिण कर जिणवर पूजिए, ते किम मारणहार? ॥१॥

चारण का यह वचन सुन शर्मिदा होकर जिणहा ने 'फिर से चोरी न करना' यह कह उसे छोड़ दिया। चारण बोला—

इक्का चोरी सा किया, जा खोलडे न माय।

बीजी चोरी किम करे? चारण चोर न थाय ॥४॥

चारण की इस प्रकार चतुरतापूर्ण उक्ति सुनकर जिणहा ने उसे इनाम दिया। पश्चात् जिणहा ने तीर्थयात्राएं की, जिनमंदिर बंधाये, पुस्तकें लिखवायीं, तथा अन्य भी बहुत सा पुण्य किया। जिणहा ने पोटली ऊपर का दाण (कर, महसूल) छुड़ाया आदि बातें अभी तक लोक में प्रचलित हैं। यह जिणहा का प्रबंध हुआ।

प्रथम मूलनायक की पूजा :

मूलनायकजी की सविस्तार पूजाकर लेने के बाद क्रमशः सामग्री के अनुसार सब जिनबिम्ब की पूजा करना। द्वार पर के समवसरण के जिनबिम्ब की पूजा भी गभारे में से बाहिर निकलते समय करना उचित है, परंतु प्रथम नहीं। कारण कि, मूलनायकजी की ही प्रथम पूजा करना उचित है। द्वारपर का बिम्ब द्वार में प्रवेश करते समय प्रथम पास आता है, इससे उसकी प्रथम पूजा करना, ऐसा जो कदापि कहे तो बड़े जिनमंदिर में प्रवेश करते तो बहुत से जिनबिम्ब प्रथम आते हैं, जिससे उनकी भी प्रथम पूजा करने का प्रसंग आयेगा, और वैसा किया जाय तो पूषादिक सामग्री थोड़ी हो तो मूलनायकजी तक पहुंचते सामग्री पूरी हो जाने से मूलनायकजी की पूजा भी न हो सके। वैसे ही श्री सिद्धाचलजी, गिरनार आदि तीर्थों में प्रवेश करते मार्ग में समीप बहुत से चैत्य आते हैं, उनके अंदर रही हुई प्रतिमाओं का प्रथम पूजन करे तो अंतिम किनारे मूलनायकजी के मंदिर में जाना हो सके, यह बात योग्य नहीं। अगर यह योग्य भी माने तो उपाश्रय में प्रवेश करते गुरु को वंदन करने के पूर्व समीपस्थ साधुओं को प्रथम वंदना करने का प्रसंग आता है। समीपस्थ प्रतिमाओं को मूलनायकजी की पूजा

करने से पूर्व मात्र प्रणाम करना योग्य है। संघाचार में तीसरे उपांग में कही हुई विजयदेवता की वक्तव्यता में भी द्वार और समवसरण के जिनबिम्ब की पूजा मूलनायकजी की पूजा कर लेने के अनंतर कही है। यथा—

पश्चात् सुधर्मसभा में जाकर जिनेश्वर भगवान् की दाढ़ देखते ही वंदना करे खोलकर मोरपंख की पूंजणी से प्रमार्जना करे, सुगंधित जल से इक्कीस बार प्रक्षालनकर गोशीर्षचंदन का लेप करे और पश्चात् सुगंधित पुष्पआदि द्रव्य से पूजा करे। तदुपरान्त पांचों सभाओं में पूर्वानुसार द्वार प्रतिमा की पूजा करे, द्वार की पूजा आदि का वर्णन तीसरे उपांग में से समझ लेना। इसलिए मूलनायकजी की पूजा अन्य सर्व प्रतिमाओं से प्रथम और विशेष शोभा से करना। कहा है कि—

उचिअत्तं पूआए, विसेसकरणं तु मूलबिंबस्स।

जं पडइ तत्थ पढमं, जणस्स दिड्डी सहमणेणं ॥१॥

मूलनायकजी की पूजा में विशेष शोभा करना उचित है; कारण कि, मूलनायकजी में ही भव्य जीवों की दृष्टि और मन प्रथम आकर पड़ता है।

शिष्य पूछता है कि, 'पूजा, वन्दन आदि क्रिया एक की करके पश्चात् बाकी के अन्य सबको करने में आयें, तो उससे तीर्थकरों में स्वामी सेवक भाव किया हुआ प्रकट दृष्टि में आता है। एक प्रतिमा की अत्यादर से विशिष्ट पूजा करना और दूसरी प्रतिमाओं की सामग्री के अनुसार थोड़ी करना, यह भी भारी अवज्ञा होती है, यह बात निपुणबुद्धि पुरुषों के ध्यान में आवेगी।'

आचार्य समाधान करते हैं कि—'सर्व जिन-प्रतिमाओं का प्रातिहार्य आदि परिवार समान ही है, उसे प्रत्यक्ष देखनेवाले ज्ञानी पुरुषों के मन में तीर्थकरों में परस्पर स्वामी सेवकभाव है ऐसी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती। मूलनायकजी की प्रतिष्ठा प्रथम हुई इसलिए उनकी पूजा प्रथम करना यह व्यवहार है, इससे बाकी रही तीर्थकर की प्रतिमाओं का नायकपन नहीं जाता। उचित प्रवृत्ति करनेवाला पुरुष एक प्रतिमा को वंदना पूजा तथा बलि अर्पण करे तो, उससे दूसरी प्रतिमाओं की आशातना देखने में आती नहीं। जैसे मिट्टी की प्रतिमा की पूजा, अक्षत आदि वस्तु से ही करना उचित है और सुवर्ण आदि धातु की प्रतिमा को तो स्नान, विलेपन इत्यादिक उपचार भी करना उचित है। कल्याणक इत्यादिक का महोत्सव हो तो एक ही प्रतिमा की विशेष पूजा करे तो जैसे धर्मज्ञानी पुरुषों के मन में शेष प्रतिमाओं में अवज्ञा परिणाम नहीं आते, इस प्रकार उचित प्रवृत्ति करनेवाले पुरुष को मूलनायकजी की प्रथम और विस्तार से पूजा करने में भी शेष प्रतिमाओं की अवज्ञा और आशातना नहीं होती।

जिनमंदिर में जिनप्रतिमा की पूजा की जाती है, वह जिनेश्वर भगवान् के हेतु नहीं परन्तु बोध पाये हुए पुरुषों को शुभ भावना उत्पन्न करने तथा बोध न पाये हुए पुरुषों को बोध प्राप्त करने हेतु की जाती है। कोई-कोई भव्य जीव चैत्य के दर्शन से, कोई-कोई प्रशान्त जिनबिम्ब देखने से, कोई-कोई पूजा का अतिशय देखने से और कोई-कोई

जीव जिनेश्वर महाराज के दर्शन हेतु आये हुए मुनि महाराज के उपदेश से प्रतिबोध को प्राप्त होते हैं।

जिनमंदिर की मनोहरता :

अतः बड़े मंदिर व घर देरासर तथा उनमें रही हुई सर्व प्रतिमाएं तथा विशेषकर मूलनायकजी की प्रतिमा ये सब अपने सामर्थ्य, देश तथा काल इनके अनुसार सर्वोत्कृष्ट बनवाना। घर देरासर तो पीतल, तांबा आदि धातु का अभी भी बनाना योग्य है। धातु का कराने की शक्ति न हो तो हस्तिदन्त आदि वस्तु का करवाना, अथवा हस्तिदन्त की भमरी आदि की रचना से शोभित पीतल की पट्टी से व हिंगूलकरंग से सुन्दर देखाव वाला तथा श्रेष्ठ चित्रकारी से रमणीय ऐसा काष्ठादिक का घर देरासर करवाना। बड़े जिनमंदिर में तथा घर देरासर में भी प्रतिदिन चारों तरफ से पूंजना, वैसे ही बांधकाम में आयी हुई लकड़ियां उज्ज्वल करने के हेतु उन पर तैल लगाना, दीवारों पर रंग लगाना, जिनेश्वर भगवान् के जीवन चरित्र दीवारों पर बनवाना, पूजा की समस्त सामग्री बराबर संचित कर रखना, पड़दे तथा चन्द्रवे बांधना आदि मंदिर के काम इस प्रकार करना कि जिससे मंदिर तथा प्रतिमा की विशेष शोभा बढ़े।

आशातना से बचना :

घर देरासर के ऊपर धोतियां, पछेड़ी आदि वस्तुएं भी न डालना, कारण कि, बड़े चैत्य की तरह उसकी (घर देरासर की) भी चौरासी आशातना टालना आवश्यक है।

प्रतिमा की स्वच्छता :

पीतल, पाषाण आदि की प्रतिमा हो तो उसको नहला लेने के अनन्तर नित्य एक अंगलूछणे से सर्व अवयव जल रहित करना और उसके बाद दूसरे कोमल और उज्ज्वल अंगलूछणे से बार-बार प्रतिमा के सर्वाङ्ग को स्पर्श करना। ऐसा करने से प्रतिमाएं उज्ज्वल रहती हैं। जहां जल की जरा भी आर्द्रता रहती है वहीं डाघ पड़ जाता है इसलिए जल की आर्द्रता सर्वथा दूर करना। विशेष केशर युक्त चन्दन का लेप करने से भी प्रतिमाएं अधिकाधिक उज्ज्वल होती हैं। पंचतीर्थो, चतुर्विंशति पट्ट इत्यादि स्थल में स्नात्रजल का परस्पर स्पर्श होता है, इससे कोई आशातना की भी शंका मन में न लाना।

श्री रायपसेणी सूत्र में सौधर्मदेवलोक में सूर्याभदेवता के अधिकार में तथा जीवाभिगम में भी विजयापुरी राजधानी में विजय देवता के अधिकार में भृंगार (नालवाला कलश) मोरपंख, अंगलूछणा, धूपदान आदि जिनप्रतिमा के तथा जिनेश्वर भगवान् की दाढ़ की पूजा का उपकरण एक ही होता है। निर्वाण पाये हुए जिनेश्वर भगवान् की दाढ़ें देवलोक की डिबिया में तथा तीनों लोक में हैं, वे परस्पर एक दूसरी से लगी हुई हैं, इसीसे उनके स्नान का जल भी परस्पर स्पर्श करता है। पूर्वधर आचार्यों के समय में बनवायी हुई प्रतिमाएं आदि किसी नगर में अभी हैं।

प्रतिमाओं के संज्ञावाचक नाम :

उनमें कितनी ही प्रतिमाएं एक ही भगवान की होने से व्यक्ता नामकी हैं, कितनी ही चौबीसी होने से क्षेत्रानाम की हैं तथा कितनी ही १७० भगवान की होने से महानाम की हैं। और दूसरी भी ग्रंथोक्त प्रतिमाएं हैं। अरिहंत की एक ही पाट पर एक ही प्रतिमा हो तो उसे व्यक्ता कहते हैं, एक ही पाट आदि पर चौबीस प्रतिमाएं हो तो उन्हें क्षेत्रा कहते हैं और एक ही पाट आदि पर एकसो सत्तर प्रतिमाएं हो तो उनको महा कहते हैं। फूल की वृष्टि करते हुए मालाधर देवताओं की जो प्रतिमाएं जिनबिम्ब के सिर पर होती हैं उनका स्पर्श किया हुआ जल भी जिनबिम्ब को स्पर्श करता है, तथा जिनबिम्ब के चित्रवाली पुस्तकें भी एक दूसरे के ऊपर रहती हैं तथा एक दूसरी को स्पर्श करती हैं। इसलिए चौबीसपट्ट आदि प्रतिमाओं के स्नान का जल परस्पर स्पर्श करे उसमें कुछ भी दोष ज्ञात नहीं होता। कारण कि, ग्रंथों में उस विषय का पाठ है और आचरणा की युक्तियां भी हैं।

प्रतिमा की संख्या :

बृहद्भाष्य में भी कहा है कि कोई भक्तिमान् श्रावक जिनेश्वर भगवान् की ऋद्धि दिखाने के हेतु देवताओं का आगमन तथा अष्ट प्रातिहार्य सहित एक ही प्रतिमा कराता है, कोई दर्शन, ज्ञान व चारित्र इन तीनों की आराधना के हेतु तीन प्रतिमाएं कराता है, कोई पंचपरमेष्ठि नमस्कार के उजमणे में पंचतीर्थी (पांच प्रतिमा) कराता है। कोई भरतक्षेत्र में चौबीस तीर्थकर होते हैं अतः बहुमान से कल्याणक तप के उजमणे में चौबीस प्रतिमाएं कराता है, कोई धनाढ्य श्रावक मनुष्य क्षेत्र में उत्कृष्ट एक सो सत्तर तीर्थकर विचरते हैं, इसलिए भक्ति से एक सो सत्तर प्रतिमाएं कराता है, अतएव त्रितीर्थी (तीन प्रतिमाएं), पंचतीर्थी (पांच प्रतिमाएं), चतुर्विंशतिपट्ट (चौबीस प्रतिमाएं) आदि करना न्याययुक्त है। इति अंगपूजा।

अग्रपूजा :

विविध प्रकार का ओदन (भात) आदि अशन, मिश्री, गुड़ आदि का पान, पक्वान्न मिठाई तथा फल आदि खाद्य और ताम्बूल आदि स्वाद्य, ऐसा चार प्रकार का नैवेद्य भगवान के संमुख रखना। जैसे श्रेणिक राजा प्रतिदिन सोने के एकसौ आठ जव (अक्षत्) से अष्टमांगलिक (स्वस्तिक) आलिखता था, वैसे ही सोने अथवा चांदी के चावल, सफेद सरशव, चावल इत्यादिक वस्तु से अष्टमंगलिक आलिखना, अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना के हेतु पाटले आदि वस्तु में श्रेष्ठ अखंड चावल के क्रमशः तीन पुंज (ढगलियां) करके डालना। गोशीर्षचन्दन के रस से पांचों अंगुलियों सहित हथेली से मंडल रचना आदि, तथा पुष्पांजलि आरती आदि सर्व अग्रपूजा में आते हैं। भाष्य में कहा है कि गायन, नृत्य, वाजिंत्र, नमक उतारना, जल तथा आरती दीप आदि जो कुछ किया जाता है, उस सबका अग्रपूजा में समावेश होता है। नैवेद्यपूजा तो नित्य सुखपूर्वक की जा सके ऐसी है, तथा उसका फल भी बहुत ही बड़ा

है, कारण कि, साधारण धान्य तथा विशेषकर पकाया हुआ धान्य जगत् का जीवन होने से सर्वोत्कृष्ट रत्न कहा जाता है, इसीलिए वनवास से आने पर रामचन्द्रजी ने महाजन से अन्न की कुशलता पूछी थी। कलह का अभाव और प्रीति आदि परस्पर भोजन कराने से दृढ़ होते हैं। विशेषकर देवता भी नैवेद्य से ही प्रसन्न होते हैं। सुनते हैं कि—अग्निवैताल सो मूड़ा धान्य के नैवेद्य आदि से ही विक्रमराजा के वश में हुआ था। भूत, प्रेत, पिशाच आदि भी खीर, खिचड़ी, बड़ां इत्यादि अन्न का ही उतारा आदि मांगते हैं, वैसे ही दिक्पाल का तथा तीर्थकर का उपदेश होने के अनन्तर जो बलि कराया जाता है वह भी अन्न से ही कराते हैं।

नैवेद्य पूजा का प्रण :

एक निर्धन कृषक साधु के वचन से समीपस्थ जिनमंदिर में प्रतिदिन नैवेद्य धरता था। एक दिन देर हो जाने से अधिष्ठायक यक्ष ने सिंह के रूप से तीन भिक्षु बताकर उसकी परीक्षा की। परीक्षा में निश्चल रहा इससे संतुष्ट यक्ष के वचन से सातवें दिन स्वयंवर में कन्या, राजजय और राज्य ये तीनों वस्तुएं उसे मिलीं। लोक में भी कहा है कि—

धूपो दहति पापानि, दीपो मृत्युविनाशनः।

नैवेद्ये विपुलं राज्यं, सिद्धिदात्री प्रदक्षिणा ॥१॥

धूप पापों को भस्म कर देता है, दीप मृत्यु को नाश करता है, नैवेद्य देने से विपुल राज्य मिलता है और प्रदक्षिणा से कार्यसिद्धि होती है।

अन्न आदि सर्व वस्तुएं उत्पन्न होने का कारण होने से जल अन्नादिक में भी अधिक श्रेष्ठ है। इसलिए वह भी भगवान् के सन्मुख धरना। नैवेद्य धरने का एवं आरती आदि करने का आगम में भी कहा है। आवश्यकनियुक्ति में कहा है कि—'कीरइ बली' याने 'बलि की जाती है' इत्यादि, निशीथ में भी कहा है कि—उसके अनन्तर प्रभावती रानी बलि आदि सर्व करके कहा कि 'देवाधिदेव वर्द्धमानस्वामी की प्रतिमा हो तो प्रकट हो।' ऐसा कहकर (पेटी ऊपर) कुल्हाड़ा पटका। जिससे (पेटी के) दो भाग हुए और उसके अन्दर सर्व अलंकारों से सुशोभित भगवन्त की प्रतिमा देखने में आयी। निशीथपीठिका में भी कहा है कि—बलि अर्थात् उपद्रव शमन के हेतु कूर (अन्न) किया जाता है। निशीथचूर्ण में भी कहा है कि—संप्रति राजा रथयात्रा करने से पूर्वं विविध प्रकार के फल, मिठाई, शालिदालि, कोड़ा, वस्त्र आदि भेंट करता है। कल्प में भी कहा है कि—

साहम्मिओ न सत्था, तस्स कयं तेण कप्पइ जईणं।

जं पुण पडिमाण कए, तस्स कहा का अजीवत्ता? ॥१॥

तीर्थकर भगवान् लिंग से साधर्मिक नहीं हैं इससे उनके लिये किया हुआ साधु ले सकते हैं तो पीछे अजीव प्रतिमा के लिए जो किया गया है वह लेने में क्या हरज है? इससे जिनेश्वर का बली पका हुआ ही समझना।

श्रीपादलिप्तसूरि ने प्रतिष्ठाप्राभृत में से उद्धृत प्रतिष्ठा पद्धति में कहा है कि—
'आगम में कहा है कि, आरती उतार, मंगलदीपकर, पश्चात् चार स्त्रियों ने मिलकर गीतगान आदि विधि के अनुसार करना। महानिशीथ में तीसरे अध्ययन में कहा है कि—
—अरिहंत भगवन्त की गंध, माल्य, दीप, संमार्जन (पुंजना), विलेपन, विविध प्रकार का बलि, वस्त्र, धूप आदि उपचार से आदर पूर्वक प्रतिदिन पूजा करते हुए तीर्थ की उन्नति करनी चाहिए।'

इति अग्रपूजा।



भावपूजा :

जिसके अंदर जिनेश्वर भगवान की पूजा सम्बन्धी व्यापार का निषेध आता है ऐसी तीसरी निशीथि कहकर पुरुष को भगवान की दाहिनी ओर और स्त्री को बायीं ओर, आशातना टालने के हेतु व्यवस्था हो तो जघन्य से भी नव हाथ, घर देरासर हो तो एक हाथ अथवा आधा हाथ और उत्कृष्ट से तो साठ हाथ अवग्रह से बाहर रहकर चैत्यवन्दन, श्रेष्ठस्तुतियां इत्यादि बोलने से भावपूजा होती है। कहा है कि—चैत्यवन्दन करने के उचित स्थान पर बैठ अपनी शक्ति के अनुसार विविध आश्चर्यकारी गुणवर्णनरूप स्तुति स्तोत्र आदि कहकर देववन्दन करे वह तीसरी भावपूजा कहलाती है। निशीथ चूर्णि में भी कहा है कि—वह गंधारश्रावक स्तवन स्तुति से भगवान् की स्तवना करता हुआ वैताढ्यगिरि की गुफा में रात्रि में रहा। वैसे ही वसुदेवहिंडि में भी कहा है कि—वसुदेव राजा ने प्रभात में सम्यक्त्वपूर्वक श्रावक के सामायिक प्रमुख व्रत को अंगीकारकर पञ्चवक्त्राण लेकर के कायोत्सर्ग स्तुति तथा वन्दना की। इस प्रकार बहुत से स्थानों में 'श्रावक आदि मनुष्यों ने कायोत्सर्ग, स्तुति आदि करके चैत्यवन्दन किया' ऐसा कहा है, चैत्यवन्दन जघन्यादि भेद से तीन प्रकार का है। भाष्य में कहा है कि—

नमुकारेण जहन्ना, चिइवंदण मज्झ दंडथुइजुअला।

पणदंडथुइचउक्कग-थयपणिहाणेहिं उक्कोसा ॥१॥

अर्थ : नमस्कार अर्थात् हाथ जोड़कर सिर नमाना इत्यादि लक्षणवाला प्रणाममात्र करने से अथवा 'नमो अरिहंताणं' ऐसा कह नमस्कार करने से, किंवा श्लोकादिरूप एक अथवा बहुत से नमस्कार से, किंवा प्रणिपातदंडकनामक शक्रस्तव (नमुत्थुणं) एकबार कहने से जघन्य चैत्यवन्दन होता है। चैत्यस्तवदंडक अर्थात् 'अरिहंतचेइयाणं' कहकर अंत में प्रथम एक ही स्तुति (थुइ) (वही स्तुति युगल है) बोले तो मध्यम चैत्यवन्दन होता है। पांच दंडक अर्थात् १ शक्रस्तव, २ चैत्यस्तव (अरिहंत चेइयाणं), ३ नामस्तव (लोगस्स), ४ श्रुतस्तव (पुक्खरवरदी), ५ सिद्धस्तव (सिद्धाणं बुद्धाणं) ये पांच दंडक कहकर अंत में प्रणिधान अर्थात् जयवीरयाय

कहने से उत्कृष्ट चैत्यवन्दन होता है।'

दूसरे आचार्य ऐसा कहते हैं कि—एक शक्रस्तव से जघन्य, दो अथवा तीन शक्रस्तव से मध्यम और चार अथवा पांच शक्रस्तव से उत्कृष्ट चैत्यवन्दन होता है। इरियावही के प्रथम अथवा प्रणिधान (जयवीयराय) के अंत में शक्रस्तव कहना, और द्विगुण चैत्यवन्दन के अन्त में भी शक्रस्तव कहने से तीन शक्रस्तव होते हैं। एकबार वन्दना में और पूर्व में तथा अंत में शक्रस्तव कहने से चार शक्रस्तव होते हैं अथवा द्विगुण चैत्यवन्दन में और प्रथम तथा अंत में शक्रस्तव बोलने से चार शक्रस्तव होते हैं, शक्रस्तव इरियावही और द्विगुणचैत्यवन्दन में तीन शक्रस्तव, स्तुति, प्रणिधान और शक्रस्तव मिलकर पांच शक्रस्तव होते हैं।

महानिशीथसूत्र में साधु को प्रतिदिन सात चैत्यवन्दन कहे हैं, तथा श्रावक को भी उत्कृष्ट से सात ही कहे हैं। भाष्य में कहा है कि—रात्रिप्रतिक्रमण में १, जिनमंदिर में २, आहारपानी के समय ३, दिवसचरिमपच्चव्खाण के समय ४, दैवसिकप्रतिक्रमण में ५, सोने के पूर्व ६, तथा जागने के बाद ७ इस प्रकार साधुओं को रात्रिदिन में मिलकर सात बार चैत्यवन्दन होता है। प्रतिक्रमण करनेवाले श्रावक को प्रतिदिन सात बार चैत्यवन्दन होता है, यह उत्कृष्ट मार्ग है। प्रतिक्रमण न करनेवाले को पांच बार होता है, यह मध्यम मार्ग है। त्रिकाल पूजा में प्रत्येक पूजा के अन्त में एक-एक मिलकर तीन बार चैत्यवन्दन करे वह जघन्य मार्ग है। सात चैत्यवन्दन इस प्रकार हैं—दो प्रतिक्रमण के समय दो, सोते व जागते मिलकर दो, त्रिकाल पूजा में प्रत्येक पूजा के अंत में एक-एक मिलकर तीन। इस प्रकार रातदिन में सब मिलकर सात चैत्यवन्दन श्रावक आश्रयी हुए। एक बार प्रतिक्रमण करता हो तो छः होते हैं, सोते समय आदि न करे तो पांच, चार आदि भी होते हैं। जिनमंदिर बहुत से हो तो प्रतिदिन सात से भी अधिक चैत्यवन्दन होते हैं। श्रावक को, कदाचित् तीन समय पूजा करना न बने तो तीन समय देववन्दन अवश्य करना चाहिए। आगम में कहा है कि—देवानुप्रिय! आज से लेकर यावज्जीव तक तीनों समय विक्षेप रहित और एकाग्रचित्त से देववन्दन करना, हे देवानुप्रिय! अपवित्र, अशाश्वत और क्षणभंगुर ऐसे मनुष्यत्व से यही सार लेने योग्य है। प्रभात में प्रथम जब तक साधु तथा देव को वन्दन न किया जाय, तब तक पानी नहीं पीना। मध्याह्न के समय जब तक देव व साधु को वन्दन न किया जाय, तब तक भोजन न करना। वैसे ही पिछले प्रहर देव को वन्दन किये बिना सज्जातले (बिछौने पर) न जाया जाय। ऐसा नियम करना, कहा है कि—

सुपभाए समणोवासगस्स पाणंपि कप्पइ न पाठं।

नो जाव चेइआई, साहूवि अ वंदिआ विहिणा ॥१॥

१. यहाँ पर श्री रत्नशेखर सूरेश्वरजी ने 'शुद्धउक्कग' शब्द की व्याख्या को सर्वथा छोड़कर प्रणिधान की बात कहकर इत्यादि लिखा है। यह विचारणीय है। मूल पत्रांक १२४

मञ्जुङ्गे पुणरवि वंदिरुण नियमेण कप्पए भुत्तुं।

पुण वंदिरुण ताई, पओससमयंमि तो सुअइ ॥२॥

प्रातःकाल जब तक श्रावक देव तथा साधु को विधिपूर्वक वन्दन न करे तब तक पानी भी पीना योग्य नहीं, मध्याह्न के समय पुनः वन्दनकर निश्चय से भोजन करना ग्राह्य है, संध्या समय भी पुनः देव तथा साधु को वन्दनकर पश्चात् सो जाना उचित है।

गीत, नाटक आदि जो अग्रपूजा में कहा है वह भावपूजा में भी आता है। वे (गीत, नाटक) महान फल के कारण होने से मुख्यमार्ग से तो उदायनराजा की रानी प्रभावती की तरह स्वयं ही करना। निशीथचूर्णि में कहा है कि—प्रभावती रानी स्नानकर, कौतुक मंगलकर, उज्ज्वल वस्त्र पहिनकर यावत् अष्टमी तथा चतुर्दशी को भक्तिराग से स्वयं ही रात्रि में भगवान् के सामने नाटकरूप उपचार करती थी और राजा (उदायन) भी रानी की अनुवृत्ति से स्वयं मृदंग बजाता था।

पूजा करते समय अरिहंत की छद्मस्थ, केवली और सिद्ध इन तीन अवस्थाओं की भावना करना। भाष्य में कहा है कि—

ण्हवणच्चगेहिं छउमत्थवत्थ पडिहारगेहिं केवलिअं।

पलिअंकुस्सगोहि अ, जिणस्स भाविज्ज सिद्धत्तं ॥१॥

अर्थः प्रतिमा के ऊपर भगवान् को स्नान करानेवाले परिवार में रचे हुए जो हाथ में कलश ले हाथी ऊपर चढ़े हुए ऐसे देवता, तथा उसी परिवार में रचे हुए जो फूल की माला धारण करनेवाले पूजक देवता, उनका मन में चिंतनकर भगवान् की छद्मस्थ अवस्था की भावना करना। छद्मस्थ अवस्था तीन प्रकार की है। एक जन्मावस्था, दूसरी राज्यावस्था और तीसरी श्रामण्यावस्था—उसमें परिवार में रचित स्नान करानेवाले देवता के ऊपर से भगवान् की जन्मावस्था की भावना करना। परिवार में रचे हुए ही मालाधारक देवता के ऊपर से भगवान् की राज्यावस्था की भावना करना, तथा भगवान् के मस्तक व मुख का लोच किया हुआ देखने से भगवान् की श्रामण्यावस्था (दीक्षा ली उस समय की अवस्था) तो सुख से ज्ञात हो सके ऐसी है। ऐसे ही परिवार की रचना में पत्रवेल की रचना आती है, वह देखकर अशोकवृक्ष, मालाधारी देवता देखकर पुष्पवृष्टि और दोनों ओर वीणा तथा बांसुरी धारण करनेवाले देवता देखकर दिव्य ध्वनि की कल्पना करना। शेष चामर, आस्त्र आदि प्रातिहार्य तो प्रकट ज्ञात होते हैं। ऐसे आठ प्रातिहार्य ऊपर से भगवान् की केवली अवस्था की भावना करना। पद्मासन से बैठे हुए अथवा काउस्सगकर खड़े हुए भगवान् का ध्यानकर सिद्धावस्था की भावना करना। इति भावपूजा।

बृहद्भाष्य में कहा है कि—पांच प्रकारी, अष्टप्रकारी तथा विशेष ऋद्धि होने पर सर्वप्रकारी पूजा भी करना। उसमें फूल, अक्षत, गंध, धूप, दीप, इन पांच वस्तुओं से

पांच प्रकारी पूजा होती है। फूल, अक्षत, गंध, दीप, धूप, नैवेद्य, फल व जल इन आठ वस्तुओं से आठ कर्मों का क्षय करनेवाली अष्टप्रकारी पूजा होती है। स्नात्र, अर्चन, वस्त्र, आभूषण, फल, नैवेद्य, दीप, नाटक, गीत, आरती आदि उपचार से सर्वप्रकारी पूजा होती है। इस प्रकार बृहद्भाष्यादि ग्रंथों में कहे हुए पूजा के तीन प्रकार हैं तथा फल, फूल आदि पूजा की सामग्री स्वयं लावे वह प्रथम प्रकार, दूसरे के पास से मंगावे वह दूसरा प्रकार और मन में सर्व सामग्री की कल्पना करना यह तीसरा प्रकार। इस रीति से मन, वचन, काया के योग से करना, कराना तथा अनुमोदना से कहे हुए तीन प्रकार, वैसे ही पुष्प, आमिष (अशनादि प्रधान भोग्य वस्तु), स्तुति और प्रतिपत्ति (भगवान् की आज्ञा पालना) इस रीति से चार प्रकार की पूजा है वह यथाशक्ति करना। ललितविस्तरादिक ग्रंथों में तो पुष्पपूजा, आमिषपूजा, स्तोत्रपूजा और प्रतिपत्तिपूजा इन चारों पूजाओं में उत्तरोत्तर एक से एक पूजा श्रेष्ठ है ऐसा कहा है। आमिषशब्द से श्रेष्ठ अशनादिक भोग्य वस्तु ही लेना। गौड़कोश में कहा है कि—

'उत्कोचे पलले न स्त्री, आमिषं भोग्यवस्तुनि'

अर्थात्— स्त्रीलिंग नहीं हो ऐसे आमिष शब्द के लांच, मांस और भोग्यवस्तु ऐसे तीन अर्थ होते हैं। प्रतिपत्ति शब्द का अर्थ 'तीर्थकर भगवान् की आज्ञा सर्व प्रकार से पालना' ऐसा कहा है। इस प्रकार आगम में कहे हुए पूजा के चार प्रकार हैं। वैसे ही जिनेन्द्र भगवान् की पूजा द्रव्य से और भाव से इस रीति से दो प्रकार की है। जिसमें फूल, अक्षत आदि द्रव्य से जो पूजा की जाती है वह द्रव्यपूजा और भगवान् की आज्ञा पालना वह भावपूजा है इस तरह कही हुई दो प्रकार की पूजा वैसे ही फूल चढ़ाना, चन्दन चढ़ाना इत्यादिक उपचार से कही हुई इक्कीस प्रकार की पूजा, तथा स्नात्र, विलेपन आदि उपचार से कही हुई इक्कीस प्रकार की पूजा, इन सर्व पूजा के प्रकारों का, अंगपूजा, अग्रपूजा और भावपूजा इन सर्वव्यापक पूजा के तीन प्रकारों में समावेश हो जाता है। सत्रहप्रकारी पूजा के भेद इस प्रकार हैं—

१ स्नात्र व विलेपन करना, २ वासपूजा में दो नेत्र चढ़ाना, ३ फूल चढ़ाना, ४ फूल की माला चढ़ाना, ५ वर्णक (गंध विशेष) चढ़ाना, ६ जिनेश्वर भगवान् को चूर्ण चढ़ाना, ७ मुकुट आदि आभरण चढ़ाना, ८ फूलघर करना, ९ फूल का ढेर करना, १० आरती तथा मंगलदीप करना, ११ दीप करना, १२ धूप करना, १३ नैवेद्य करना, १४ उत्तम फल धरना, १५ गायन करना, १६ नाटक करना, १७ वाजिंत्र (बाजे) बजाना। इक्कीस प्रकारी पूजा की विधि भी इस तरह कही है, यथा...

इक्कीस प्रकारी पूजा (श्री उमास्वाति कृत पूजा प्रकरण) :

पश्चिमदिशा को मुख करके दातन करना, पूर्वीदिशा में मुख करके स्नान करना,

१. श्राद्धविधि ग्रंथ की रचना काल तक प्रतिदिन पक्षाल करना ही फरजियात नहीं हुआ था। अतः जल पूजा आठवें नंबर पर दर्शायी है। उस समय दोनों रीतियाँ प्रचलित थी। ऐसा लगता है।

उत्तरदिशा में मुख करके उज्ज्वल वस्त्र पहनना, और पूर्व अथवा उत्तरदिशा में मुख करके भगवान् की पूजा करना। घर में प्रवेश करते शाल्य वर्जित बायें भाग में डेढ़ हाथ ऊंची भूमि पर घर देरासर करना। जो नीचे भूमि से लगता हुआ देरासर करे (मंदिर बनाये) तो उसका वंश क्रमशः नीचे जाता है अर्थात् धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है। पूजा करनेवाला मनुष्य पूर्व अथवा उत्तर दिशा की तरफ मुख करके बैठे, परंतु दक्षिणदिशा में तथा चारों उपदिशाओं में मुख करके न बैठे। जो पश्चिमदिशा में मुख करके भगवान् की पूजा करे तो मनुष्य की चौथी पीढ़ी में उसका क्षय होता है; और दक्षिणदिशा में मुख करे तो उस मनुष्य की संतति वृद्धि नहीं पाती। अग्निकोण तरफ मुख करके पूजा करे, उस मनुष्य की दिन प्रतिदिन धनहानि होती है। वायव्य कोण तरफ मुख करे, तो संतति नहीं होती। नैऋत्य कोण तरफ मुख करे तो कुलक्षय होता है और ईशान कोण तरफ मुख करे तो बिलकुल संतति नहीं होती है। प्रतिमा के दो पग, दो घुटने, दो हाथ, दो कंधे और मस्तक इन नौ अंगों की अनुक्रम से पूजा करना। श्रीचंदन बिना किसी समय भी पूजा न करना, कपाल, कंठ, हृदय, कंधे और पेट (उदर)-इतनी जगह तिलक करना। नव तिलक से हमेशा पूजा करना। ज्ञानीपुरुषों ने प्रभातकाल में प्रथम वासक्षेपपूजा करना, मध्याह्न समय में फूल से पूजा करना और संध्या समय में धूपदीप से पूजा करना ऐसा कहा है। धूप भगवान् की बायीं ओर रहकर रखना। अग्रपूजा में रखते हैं वे सब वस्तुएं भगवान् के संमुख रखना। भगवान् की दाहिनी ओर दीप रखना। ध्यान तथा चैत्यवंदन भगवान् की दाहिनी ओर करना। हाथ से गिरा हुआ, वृक्षपर से भूमि पर पड़ा हुआ, किसी तरह पांव को लगा हुआ, सिरपर उठाकर लाया हुआ, खराब वस्त्र में रखा हुआ, नाभि से नीचे पहिने हुए वस्त्र आदि में रखा हुआ, दुष्ट मनुष्यों का स्पर्श किया हुआ बहुत लोगों द्वारा उठाने से खराब किया हुआ और कीड़ियों का काटा हुआ ऐसा फल, फूल, तथा पत्र भक्ति से भगवान् की प्रीति के धारण करने के निमित्त नहीं चढ़ाना। एक फूल के दो भाग नहीं करना। कली भी नहीं तोड़ना। चंपा और कमल इनके दो भाग करने से बहुत दोष लगता है। गंध, धूप, दीप, अक्षत, मालाएं, बलि, नैवेद्य, जल और श्रेष्ठ फल इतनी वस्तुओं से श्री जिन भगवान् की पूजा करना। शांति के निमित्त लेना हो तो पुष्प फल आदि श्वेत लेना, लाभ के हेतु पीला लेना, शत्रु को जीतने के लिए श्यामवर्ण, मंगलिक के लिए लाल और सिद्धि के हेतु पंचवर्ण लेना। पंचामृत का स्नात्र आदि करना, और शांति के निमित्त घी गुड़ सहित दीपक करना। शांति तथा पुष्टि के निमित्त अग्नि में नमक डालना उत्तम है। खंडित, जुड़ा हुआ, फटा हुआ, लाल तथा भयंकर ऐसा वस्त्र पहनकर किया हुआ दान, पूजा, तपस्या, होम आवश्यक आदि अनुष्ठान सर्व निष्फल हैं। पुरुष पद्मासन से बैठ, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखकर, मौनकर, वस्त्र से मुखकोश बांधकर जिनेश्वर भगवान् की पूजा करें। १ स्नात्र, २ विलेपन, ३ आभूषण, ४ फूल, ५ वास, ६ धूप, ७ दीप, ८ फल, ९ अक्षत, १० पत्र, ११ सुपारी, १२ नैवेद्य, १३ जल, १४ वस्त्र, १५ चामर, १६ छत्र, १७

वाजिंत्र, १८ गीत, १९ नाटक, २० स्तुति, २१ भंडार की वृद्धि। इन इक्कीस उपचारों से इक्कीस प्रकारी पूजा होती है। सर्व जाति के देवता ऐसी भगवान् की इक्कीस प्रकार की प्रसिद्ध पूजा निरंतर करते हैं; परंतु कलिकाल के दोष से कुमति जीवों ने खंडित कर दी है। इस पूजा में अपने को जो वस्तु प्रिय हो, वह वस्तु भगवान् को अर्पण करना, इक्कीस प्रकारी पूजा का यह प्रकरण उमास्वातिवाचकजी ने किया ऐसी प्रसिद्धि है।

पूजा कैसे न करनी :

'ईशान कोण में देवमंदिर करना।' ऐसा विवेकविलास में कहा है। वैसे ही विषम आसन पर बैठकर, पग पर पग चढ़ाकर, खड़े पग से बैठकर अथवा बायां पग ऊंचा रखकर पूजा करना नहीं। तथा बायें हाथ से भी पूजा न करना।'

पुष्प कैसे चढ़ाना :

सूखे, भूमिपर पड़े हुए, सड़ी हुई पंखुड़ीवाले, नीचलोगों के स्पर्श किये हुए, खराब व बिना खिले हुए, कीड़ी से खाये हुए, बाल से भरे हुए, सड़े हुए, बासी, मकड़ी के जालवाले, दुर्गन्धित, सुगंध रहित, खट्टी गंध के, 'मलमूत्र के संपर्क से अपवित्र हुए ऐसे फूल पूजा में न लेना।

स्नात्रविधि :

सविस्तार पूजा करने के समय, प्रतिदिन तथा विशेषकर पर्व के दिन तीन, पांच अथवा सात पुष्पांजली चढ़ाकर भगवान् को स्नात्र करना। उसकी विधि इस प्रकार है—प्रभातसमय प्रथम निर्माल्य उतारना, प्रक्षालन करना, संक्षेप से पूजा आरती और मंगलदीप करना। पश्चात् स्नात्र आदि सविस्तार अन्य पूजा करना। पूजा के आरंभ में प्रथम भगवान् के संमुख कुंकुमजल से भरा हुआ कलश स्थापन करना। पश्चात्—

'मुक्तालङ्कारविकारसारसौम्यत्वकान्तिकमनीयम्।

सहजनिजरूपनिर्जितजगत्त्रयं पातु जिनबिम्बम् ॥१॥

यह मंत्र कहकर अलंकार उतारना।

'अवणिअकुसुमाहरणं, पयइपइड्डिअमणोहरच्छायं।

जिणरूवं मज्जणपीठसंठिअं वो सिवं दिसउ ॥१॥

ऐसा कहकर निर्माल्य उतारना। पश्चात् पूर्वोक्त कलश ढोलना और संक्षेप से पूजा करना, तदनंतर धोये हुए व सुगंधित धूप दिये हुए कलशों में स्नात्र योग्य सुगंधित जल भरना और उन सर्वकलशों को एकपंक्ति में स्थापनकर उनके ऊपर शुद्ध, उज्वल वस्त्र

१. किसीका दाहिना हाथ कट गया हो तो बायें हाथ की अनामिका अंगुली से पूजा की जा सकती है।
२. बड़ी नीति लघुनीति करते समय पास में रखे हुए।
३. अलंकार के सम्बंध रहित और क्रोधादिक सहित परंतु सारभूत सौम्यकांति से रमणीय और अपने स्वाभाविक सुंदररूप से जगत्त्रय को जीतनेवाला जिनबिंब तुम्हारी रक्षा करे।
४. फूल तथा आभरण से रहित, परन्तु स्वभावसिद्ध रही हुई मनोहरकांति से शोभित और स्नात्रपीठ ऊपर रहा हुआ ऐसा जिनबिम्ब तुमको शिवसुख दे।

ढांकना पश्चात् सर्व श्रावक अपने चंदन धूप आदि सामग्री से तिलककर, हाथ में सुवर्णकंकण पहिनकर, हाथ को धूप देकर तथा ऐसी ही अन्य क्रियाएँ करके पंक्तिबद्ध खड़े रहें और कुसुमांजलि का पाठ बोलें। यथा—

'सयवत्तकुंदमालइ-बहुविहकुसुमाई पंचवन्नाई।

जिणनाहणहवणकाले, दिंति सुरा कुसुमंजली हिद्धा ॥१॥

ऐसा कहकर भगवान् के मस्तक पर फूल चढ़ाना।

'गंधायद्धिअमहुयरमणहरझंकारसद्दसंगीआ।

जिणचलणोवरि मुक्का, हरउ तुम्ह कुसुमंजली दुरिअं ॥१॥

इत्यादि पाठ कहना, गाथादिक का पाठ हो जाय, तब प्रत्येक समय भगवान् के चरण ऊपर एक-एक श्रावक को कुसुमांजलि के फूल चढ़ाना। प्रत्येक पुष्पांजलि का पाठ होने पर तिलक, फूल, पत्र, धूप आदि पूजा का विस्तार जानना। पश्चात् ऊंचे व गंभीर स्वर से प्रस्तुत जिन भगवान् की स्नात्र पीठ ऊपर स्थापना करके उनका जन्माभिषेक कलश का पाठ बोलना। पश्चात् घी, सांटे का रस, दूध, दही और सुगन्धित जल मिश्रित पंचामृत से स्नात्र करना। स्नात्र करते बीच में भी धूप देना, तथा स्नात्र चलता हो तब भी जिनबिंब के मस्तक पर पुष्प अवश्य रखना।

वादिवेताल श्री शांतिसूरिजी ने कहा है कि—स्नात्र पूरा हो तब तक भगवान् का मस्तक फूल से ढका हुआ रखना, श्रेष्ठ सुगन्धित फूल उस पर इस प्रकार रखना कि, जिससे ऊपर पड़ती जलधारा दृष्टि पर न आवे। स्नात्र चलता हो तब शक्ति के अनुसार एक सरीखा चामर, संगीत, वाजिंत्र आदि आडंबर करना। सर्व लोगों के स्नात्रकर लेने पर शुद्ध जल की धारा देना। उसका पाठ यह है—

'अभिषेकतोयधारा, धारेव ध्यानमण्डलाग्रस्य।

भवभवनभित्तिभागान्, भूयोऽपि भिनतु भागवती ॥१॥

पश्चात् अंगलूछणाकर विलेपन आदि पूजा, पूर्व की अपेक्षा अधिक करना। सर्वजाति के धान्य के पक्वान्न, शाक, घी, गुड़ आदि विगई तथा श्रेष्ठ फल आदि बलि भगवान् के संमुख धरना। ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीनों रत्नों के मालिक ऐसे तीनों लोक के स्वामी भगवान् के संमुख छोटे बड़े के क्रम से प्रथम श्रावकों को तीन पुंज (ढगली) करके उचित स्नात्र पूजादिक करना। पश्चात् श्राविकाओं को भी अनुक्रम से करना। भगवान् के जन्माभिषेक के अवसर पर प्रथम अच्युत इन्द्र भी अपने

१. देवता कमल, भोगरे के पुष्प, मालति आदि पांचवर्ण के बहुत सी जाति के फूल की पुष्पांजलि जिन भगवान् को स्नात्र में देते हैं।
२. सुगन्धी से आकर्षित भ्रमरों के मनोहर गुंजारवरूप संगीत से युक्त ऐसी भगवान् के चरणों पर रखी हुई पुष्पांजलि तुम्हारा पाप हरण करे।
३. ध्यानरूप मंडल की धारा के समान भगवान् के अभिषेक की जलधारा संसाररूपी महल की भीतों को बारम्बार तोड़ डाले।

देवपरिवार युक्त स्नात्रादि करता है। और उसके अनन्तर क्रमशः दूसरे इन्द्र करते हैं। शेषा (चढ़ाई हुई पुष्पमाला) की तरह स्नात्र जल सिर पर छीटे तो 'उसमें कोई दोष लगेगा' ऐसी कल्पना नहीं करना। हेमचन्द्र कृत वीरचरित्र में कहा है कि—सुर, असुर, मनुष्य और नागकुमार इन्होंने उस स्नात्र-जल को बारम्बार वंदन किया, और अपने सर्वाङ्ग पर छीटा, श्री पद्मचरित्र में भी उन्नीसवें उद्देश में आषाढ शुद्धि अष्टमी से लेकर दशरथ राजा ने कराये हुए अष्टाई महोत्सव के चैत्य-स्नात्रोत्सव के अधिकार में कहा है कि—दशरथ राजा ने वह शान्तिकारक न्हवण जल अपनी स्त्रियों की तरफ भेजा। तरुण दासियों ने शीघ्र जाकर दूसरी रानियों के सिर पर उसे (न्हवण-जल) छीटा, परन्तु बड़ी रानी को पहुंचाने का जल कंचुकी (अन्तःपुर रक्षक) के हाथ में आया, वृद्धावस्था होने के कारण उसे पहुंचने में विलम्ब हुआ, तब बड़ी रानी को शोक तथा कोप हुआ। पश्चात् कंचुकी ने आकर क्रोधित रानी पर उस न्हवण-जल का अभिषेक किया, तब उसका चित्त और शरीर शीतल हुए तथा कंचुकी पर हृदय प्रसन्न हुआ।

बृहच्छांतिस्तव में भी कहा है कि—स्नात्र-जल मस्तक को लगाना, सुनते हैं कि—श्री नेमिनाथ भगवान के वचन से कृष्णजी ने नागेन्द्र की आराधना करके पाताल में से श्री पार्श्वनाथजी की प्रतिमा शंखेश्वरपुर में लाकर उसके न्हवण-जल से अपना सैन्य जो कि जरासंध की जरा से पीड़ित हुआ था उसे जरा से मुक्त किया। आगम में भी कहा है कि—जिनेश्वर भगवान् की देशना के स्थान पर राजा आदि लोगों ने उछाला हुआ अन्न का बलि भूमि पर पड़ने के पूर्व ही देवता उसका आधा भाग लेते हैं। आधे का आधा भाग राजा लेता है और शेष भाग अन्य लोग लेते हैं। उसका एक दानामात्र भी सिरपर रखने से रोग नष्ट होता है तथा छः मास तक अन्य कोई रोग नहीं होता। पश्चात् सद्गुरु ने स्थापन किया हुआ, भारी महोत्सव से लाया हुआ, और दुकूलादि श्रेष्ठ वस्त्र से सुशोभित ऐसा महाध्वज तीन प्रदक्षिणा तथा बलिवान आदि विधि करके चढ़ाना। वहां सर्व लोगों को शक्ति के अनुसार प्रभावना देना। पश्चात् भगवान् के संमुख मंगलदीप सहित आरती का उद्योत करना। उसके पास अग्निपात्र (सिगड़ी) रखना। उसमें नमक व जल डालना।

'उवणैठ मंगलं वो, जिणाण मुहरालिजालसंवलिया।

तिथपवत्तणसमए, तिअसविमुक्का कुसुमवुट्ठी ॥१॥

यह मंत्र कहकर प्रथम पुष्पवृष्टि करना। पश्चात्—

'उयह पडिगपसरं, पयाहिणं मुणिवइं करेरुणं।

पडइ स लोणत्तेण लज्जिअं व लोणं हुअवहमि ॥२॥

1. तीर्थकर की तीर्थप्रवृत्ति के अवसर पर शब्द करते ध्रमरों के समुदाय से युक्त ऐसी देवता की करी हुई पुष्पवृष्टि तुम्हारा मंगल करे।
2. देखो, लवण मानो अपने लवणपन से लज्जित हुआ और कोई उपाय न रहने से भगवान् को तीन प्रदक्षिणा देकर अग्नि में पड़ता है।

इत्यादि पाठ कहकर जिनेश्वर भगवान् के ऊपर से तीन बार फूल सहित लवण जल उतारना आदि करना। तत्पश्चात् आरती करना। वह इस प्रकार—आरती के समय धूप करना, दोनों दिशाओं में ऊंची और अखंड कलशजल की धारा देना। श्रावकों को फूल बिखेरना। श्रेष्ठपात्र में आरती रखकर—

‘भरगयमणिघडियविसालथालमणिक्कमंडिअपईवं।

ण्हवणयरकरुक्खित्तं, भमठ जिणारत्तिअं तुम्ह ॥११॥

इत्यादि पाठ कहकर प्रधानपात्र में रखी हुई आरती तीन बार उतारना। त्रिषष्ठीय-चरित्रादि ग्रंथ में कहा है कि—पश्चात् इन्द्र ने कृतकृत्यपुरुष की तरह कुछ पीछे सरक के पुनः आगे आकर भगवान् की आरती ग्रहण की। जलते हुए दीपों की कान्ति से शोभायमान आरती हाथ में होने से, देदीप्यमान औषधि के समुदाय से चमकते हुए शिखर से सुशोभित इन्द्र मेरुपर्वत के समान दृष्टि आया। श्रद्धालु देवताओं के पुष्प वृष्टि करते हुए इन्द्र ने भगवान् के ऊपर से तीन बार आरती उतारी। मंगलदीप भी आरती की तरह पूजा जाता है।

‘कोसंबिसंठिअस्स व, पयाहिणं कुणइ मठलिअपईवो।

जिण! सोमदंसणे दिणयरुव्व तुह मंगलपईवो ॥१२॥

‘भामिज्जंतो सुरसुंदरीहिं तुह नाह! मंगलपईवो।

कणयायलस्स नज्जइ, भाणुव्व पयाहिणं दिंतो ॥१२॥

इसका पाठ कहकर मंगलदीप आरती के अनुसार उतारकर देदीप्यमान ऐसा ही जिन भगवान् के संमुख रखना। आरती तो बुझा दी जाती है। उसमें दोष नहीं। मंगलदीप तथा आरती आदि मुख्यतः तो धी, गुड़, कपूर आदि वस्तु से किये जाते हैं। कारण कि, ऐसा करने में विशेष फल है। लोक में भी कहा है कि—भक्तिमान पुरुष देव के सन्मुख कपूर का दीप प्रज्वलित करके अश्वमेघ का पुण्य पाता है तथा कुल का भी उद्धार करता है। यहां ‘मुक्तालंकार’ इत्यादि गाथाएं हरिभद्रसूरिजी की रची हुई होंगी ऐसा अनुमान किया जाता है, कारण कि, उनके रचे हुए समरादित्य चरित्र के आरंभ में ‘उवणेउ मंगलं वो’ ऐसा नमस्कार दृष्टि आता है। ये गाथाएं तपापक्ष आदि गच्छ में प्रसिद्ध हैं, इसलिए मूलपुस्तक में सब नहीं लिखी गयी। स्नात्र आदि धर्मानुष्ठान में सामाचारी के भेद से नानाविध विधि दिखती हैं, तो भी उससे भव्यजीव को मनमें व्यामोह (मुंझाना, षबराना) नहीं करना। कारण कि सबको अरिहंत की भक्ति रूप धर्म

१. भरकत और मणियों का बड़े थाल में माणिक्य जैसा दीपक जिसमें है वैसी और स्नात्रकार ने हाथ में ली हुई आरती हे जिनेश्वर! आपके आगे फिरो।
२. सौम्य दृष्टिवंत ऐसे हे जिनचन्द्र! जैसे कोशांबी में रहे हुए आपके दर्शन में सूर्य ने आकर प्रदक्षिणा की थी वैसे ही कलिका समान दीपवाला यह मंगलदीप आपको प्रदक्षिणा करता है।
३. हे नाथ! देवियों का घुमाया हुआ आपका मंगलदीप मेरु को प्रदक्षिणा करते सूर्य के समान दिखता है।

की ही साधना करती है। 'गणधरों की सामाचारी में भी बहुत भेद होते हैं, इसलिए जिस-जिस आचरण से धर्मादिक को विरोध न आवे, और अरिहंत की भक्ति की पुष्टि हो वह आचरण किसीको भी अस्वीकार नहीं। यही न्याय सर्व धर्मकृत्यों में जानना। इस पूजा के अधिकार में लवण, आरती आदि का उतारना संप्रदाय से सभी गच्छ में तथा पर-दर्शन में भी सृष्टि (दाहिनी ओर) से ही कराता दृष्टि आ रहा है। श्री जिनप्रभसूरि रचित पूजाविधि में तो इस प्रकार है कि—पादलिप्तसूरि आदि पूर्वाचार्यों ने लवणादिक का उतारना संहार से करने की अनुज्ञा दी है, तो भी सांप्रत सृष्टि(दाहिनी ओर) से ही किया जाता है।

स्नात्र करने में सर्व प्रकार की सविस्तार पूजा तथा ऐसी प्रभावना इत्यादि होने का संभव है, कि जिससे परलोक में उत्कृष्टफल प्रकट है। तथा जिनेश्वर भगवान् के जन्म-कल्याणक के समय स्नात्र करनेवाले चौसठ इन्द्र तथा उनके सामानिक देवता आदि का अनुकरण यहां मनुष्य करते हैं, यह इस लोक में भी फलदायक है। इति स्नात्रविधि।

प्रतिमाएं विविध प्रकार की हैं, उनकी पूजा करने की विधि में सम्यक्त्व प्रकरण ग्रंथ में इस प्रकार कहा है कि—

गुरुकारिआइ केई, अन्ने सयकारिआइ तं बिंति।

विहिकारिआइ अन्ने, पडिमाए पूअणविहाणं ॥१॥

अर्थात् : बहुत से आचार्य गुरु अर्थात् मा, बाप, दादा आदि लोगों ने करायी हुई प्रतिमा की, तथा दूसरे बहुत से आचार्य स्वयं करायी हुई प्रतिमा की तथा दूसरे आचार्य विधिपूर्वक की हुई प्रतिमा की पूजा करना ऐसा कहते हैं। परंतु अंतिमपक्ष में यह निर्णय है कि, बाप, दादा ने करायी हुई यह बात निरर्थक है इसलिए ममत्व तथा कदाग्रह को त्यागकर सर्व प्रतिमाओं को समानबुद्धि से पूजना। कारण कि, सर्व-प्रतिमाओं में तीर्थकर का आकार है, जिससे 'यह तीर्थकर है' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है। ऐसा न करते अपने कदाग्रह से अरिहंत की प्रतिमा की भी अवज्ञा करते हैं तो बलात्कार दुरंत संसाररूप दंड भोगना पड़ता है, जो ऐसा करे तो अविधि से की हुई प्रतिमा की भी पूजन करने का प्रसंग आता है, जिससे अविधिकृत प्रतिमा में अनुमति देने से भगवान् की आज्ञाभंग करने का दोष आता है ऐसा कुतर्क नहीं करना, कारण कि सभी प्रतिमा को मानने का आंगम में प्रमाण है। श्रीकल्पभाष्य में कहा है कि—

निस्सकडमनिस्सकडे, चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि।

वेलं च चेइआणि अ, नाउं इक्किक्किआ वावि ॥१॥

अर्थ : निश्राकृत अर्थात् गच्छ प्रतिबद्ध और अनिश्राकृत अर्थात् गच्छप्रतिबन्ध

रहित ऐसे चैत्य में सब जगह तीन स्तुति कहना।' यदि सब जगह तीन स्तुति करते-करते ज्यादा समय लगे तो, अथवा वहां चैत्य बहुत हों तो समय और चैत्य इन दोनों का विचार करके प्रत्येक चैत्य में एक-एक स्तुति से चैत्यवन्दन करना।

चैत्य में जो मकड़ी के जाले आदि हो जायें तो उन्हें निकालने की विधि कहते हैं—

सीलेह मंखफलप, इयरे चोईति तंतुमाईसु।

अभिजोईति सवित्तिसु, अणिच्छ फेडंतऽदीसंता ॥१॥

अर्थ: साधु, मंदिर में मकड़ी के जाले आदि हो तो मंदिर की व्यवस्था करनेवाले अन्य गृहस्थी लोगों को प्रेरणा करे, वह इस प्रकार कि—'तुम मंखफलक (चित्रकार का पटिया) के समान मंदिर को उज्ज्वल रखो। जैसे चित्रकार के चित्र का पटिया स्वच्छ हो तो सभी लोग उसकी प्रशंसा करते हैं, वैसे ही तुम जो मंदिरों को बारम्बार संमार्जन करके उज्ज्वल रखोगे तो बहुत लोग तुम्हारी पूजा, सत्कार करेंगे।' और मंदिर के सेवक लोगों को, जो कि मंदिर के, घर खेत आदि वृत्ति भोगते हैं, उनको ठपका देना। वह इस प्रकार—'एक तो तुम मंदिर की वृत्ति भोगते हो, और दूसरे मंदिर की संमार्जन आदि व्यवस्था भी करते नहीं।' ऐसा कहने के उपरांत भी जो वे लोग मकड़ी के जाले आदि न निकाले, तो जिसमें जीव दिखायी न देते हों ऐसे तंतूजालों को साधु स्वयं निकाल डालें। ऐसे सिद्धान्त वचन के प्रमाण से साधु को भी नष्ट होते हुए चैत्य की सर्वथा उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, ऐसा सिद्ध हुआ। चैत्य में जाना, पूजा करना, स्नात्र करना इत्यादि की जो ऊपर विधि कही है वह सब ऋद्धिमान् श्रावक के लिए है। कारण कि उसीसे, यह सब बन सकना संभव है। ऋद्धिरहित श्रावक तो अपने घर ही सामायिक लेकर किसीका कर्ज अथवा किसीके साथ विवाद आदि न हो तो ईर्यासमिति आदि में उपयोग रखकर साधु की तरह तीन निसीहि आदि भावपूजा का अनुसरणकर विधि से मंदिर जाये। पुष्प आदि सामग्री न होने से वह श्रावक द्रव्य पूजा करने को असमर्थ होता है, इसलिए फूल गुंधना आदि काम, काया से बन सके ऐसा हो तो सामायिक पार (छोड़) कर करे।

शंका: सामायिक छोड़कर द्रव्यस्तव करना किस प्रकार उचित हो सकता है?

समाधान: ऋद्धिरहित श्रावक को सामायिक करना अपने हाथ में होने से चाहे उसी वक्त कर सकता है, परंतु मंदिर का कार्य तो समुदाय के अधीन होने से किसी-किसी समय ही करने का प्रसंग आता है, अतएव प्रसंग आने पर उसे करने से विशेष पुण्य का

१. जिनमंदिर में चैत्यवन्दन में तीन स्तुति करने का विधान दर्शाया है।

लाभ होता है। आगम में कहा है कि—

जीवाण बोधिलाभो, समद्विष्टीण होइ पिअकरणं।

आणा जिणिंदमत्ती, तित्थस्स पभावणा चेव ॥११॥

(द्रव्यस्तव से) ध्व्यजीवों को बोधिलाभ होता है, सम्यग्दृष्टि जीवों का प्रिय किया ऐसा होता है, भगवान् की आज्ञा का पालन होता है, जिनेश्वर भगवान् की भक्ति होती है और शासन की प्रभावना होती है, इस तरह द्रव्यस्तव में अनेक गुण हैं, अतएव वही करना चाहिए। दिनकृत्य सूत्र में भी कहा है कि—इस प्रकार यह सर्व विधि ऋद्धिवन्त श्रावक की कही। सामान्य श्रावक तो अपने घर पर ही सामायिक लेकर जो किसी का देना न हो, और किसी के साथ विवाद न हो तो साधु की तरह उपयोग से जिनमंदिर को जाये।

काएणं अत्थि जइ किंचि, कायव्वं जिणमंदिरे।

तओ सामाइअं मोत्तुं, करे जं करणिज्जयं ॥११॥

जो जिनमंदिर में काया से बन सके ऐसा कोई कार्य हो तो सामायिक पारकर जो कार्य हो वह करे। सूत्रगाथा में 'विधिना' ऐसा पद है, उससे भाष्यादि ग्रंथ में चौबीस मूल द्वार से और दो हजार चौहत्तर प्रतिद्वार से कही हुई, दशत्रिक तथा पांच अभिगम आदि सर्व विधि इस स्थान पर लेना। यथा—१ तीन' निसीहि, २ तीन' प्रदक्षिणा, ३ तीन' प्रणाम, ४ त्रिविध 'पूजा, ५ अरिहंत' की तीन अवस्था की भावना, ६ तीन दिशा' देखने-से विमुख रहना, ७ पग' के नीचे की भूमि तीन बार पुंजना, ८ तीन 'वर्णादिक, ९

१. तीन निसीहि इस प्रकार—मंदिर के मूलद्वार में प्रवेश करते अपने घर संबंधी व्यापार का त्याग करने रूप प्रथम निसीहि है १, गभारे के अन्दर प्रवेश करते मंदिर को पुंजने समारने के कार्य का त्याग करने रूप दूसरी निसीहि है २, चैत्यवंदन करते समय द्रव्य पूजा का त्याग करनेरूप तीसरी निसीहि है ३।
२. जिनप्रतिमा की दाहिनी ओर से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधनारूप तीन प्रदक्षिणा देना।
३. तीन प्रकार के प्रणाम इस प्रकार—जिनप्रतिमा को देखते ही दोनों हाथ जोड़कर ललाट को लगाकर प्रणाम करना, यह प्रथम अंजलिबद्ध प्रणाम १, कमर के ऊपर का भाग कुछ नमाकर प्रणाम करना यह दूसरा अर्धावनतप्रणाम २, दोनों घुटने, दोनों हाथ और मस्तक ये पंचांग नमाकर खभासमण देना यह तीसरा पंचांग प्रणाम ३।
४. तीन प्रकार की पूजा-भगवान् के अंग पर केशर, चंदन, पुष्प आदि चढ़ाना वह प्रथम अंगपूजा १; धूप, दीप और नैवेद्यादि भगवान् के सन्मुख रखना वह दूसरी अग्रपूजा २; भगवान् के संमुख स्तुति, स्तोत्र, गीतगान नाटक आदि करना वह तीसरी भावपूजा ३।
५. तीन अवस्था—पिंडस्थ अर्थात् छद्मस्थावस्था १; पदस्थ अर्थात् केवलीअवस्था २; रूपस्थ अर्थात् सिद्धावस्था ३।
६. जिस दिशा में जिनप्रतिमा हो उसे छोड़ अन्य तीन दिशाओं को न देखना।
७. चैत्यवंदनादिक करते पग रखने की भूमि तीन बार पुंजना।
८. नमुत्थुणं आदि सूत्र शुद्ध बोलना १; उसके अर्थ विचारना २; जिन प्रतिमा का स्वरूप-आलंबन धारना ३।

तीन 'मुद्रा और १० त्रिविध' प्रणिधान, ये दश त्रिक हैं। इत्यादि विधिपूर्वक किया हुआ देवपूजा, देववन्दन आदि धर्मानुष्ठान महान् फलदायी है। और विधिपूर्वक न करे तो अल्प फल होता है, वैसे ही अतिचार लगे तो प्रायः श्रेष्ठ फल के बदले उलटा अनर्थ उत्पन्न होता है, कहा है कि—

धर्मानुष्ठानवैतथ्यात्, प्रत्यपायो महान् भवेत्।

रीद्रदुःखौघजननो, दुष्प्रयुक्तादिवौषधात् ॥१॥

जैसे औषधि अविधि से दी जाय तो उलटा अनर्थ हो जाता है, वैसे ही धर्मानुष्ठान में अविधि हो तो नरकादिक के दुःख समुदाय उत्पन्न करनेवाला बड़ा अनर्थ होता है। चैत्यवन्दन आदि धर्मानुष्ठान में अविधि हो तो सिद्धांत में उसका प्रायश्चित्त भी कहा है। महानिशीथसूत्र के सातवें अध्ययन में कहा है कि—जो अविधि से चैत्यवन्दन करे, तो उसे प्रायश्चित्त लगता है कारण कि, अविधि से चैत्यवन्दन करनेवाला पुरुष अन्य साधर्मिकों को अश्रद्धा उत्पन्न करवाता है। देवता, विद्या और मंत्र की आराधना भी विधि से करने से ही फल सिद्धि होती है, अन्यथा तत्काल अनर्थादि होते हैं। यथा—

अयोध्या नगरी में सुरप्रिय नामक यक्ष था। प्रतिवर्ष यात्रा के दिन उसका यक्षायतन जो रंगाया जाता था तो रंगनेवाले चित्रकार को मार डालता था, और न रंगाया जाता था तो नगरवासियों को मारता था। उस भय से चित्रकार नगर से भागने लगे। तब राजा ने परस्पर जमानत आदि देकर सब चित्रकारों को मानो बंदी की तरह नगर में रखे। पश्चात् यह नियम किया कि एक घड़े में सबके नाम की चिट्ठी डालें उसमें से जिसके नाम की चिट्ठी निकले, वही यक्षायतन में यक्ष की मूर्ति एवं यक्षायतन को रंगे। एक वक्त किसी वृद्ध स्त्री के पुत्र के नाम की चिट्ठी निकली। इतने में कुछ दिन से कोशंबीनगरी से अतिथि के रूप में एक चित्रकार का पुत्र उसके घर आया हुआ था, उसने 'निश्चय अविधि से यक्ष रंगा जाता है' ऐसा विचारकर वृद्ध स्त्री को दृढ़ता से कहा कि—'मैं यक्ष को रंगूंगा' तदनंतर उसने छट्ट तप किया, शरीर, वस्त्र, तरह-तरह के रंग, कलमें (ब्रश) आदि सर्व वस्तुएं पवित्र देखकर ली, मुख पर आठपट का मुखकोष बांधा और अन्य भी उपयोग करके विधिपूर्वक उस यक्ष के चित्र को रंगा, और पांव छूकर खमाया। इससे सुरप्रिय यक्ष बड़ा ही प्रसन्न हुआ और वरदान मांगने को कहा,

१. दोनों हाथों की दशों अंगुलियां परस्पर मिलाकर कमल के डोड़े के आकार से हाथ जोड़ पेट पर कोहनी रखना यह प्रथम योगमुद्रा १; दोनों पैर की अंगुलियों के बीच में आगे से चार अंगुल का और पीछे से कुछ कम अन्तर रख काउस्सग करना, यह दूसरी जिनमुद्रा २; दोनों हाथ मिलाकर ललाट को लगाना, यह तीसरी मुक्ताशुक्तिमुद्रा ३।

१०. तीन प्रणिधान—'जावन्ति चेइयाइ' इस गाथा से चैत्यवन्दन करनेरूप प्रथम प्रणिधान १; 'जावन्त केवि साहू' इस गाथा से गुरु को वन्दन करनेरूप दूसरा प्रणिधान २; 'जय वीयराय' कहनेरूप तीसरा प्रणिधान ३; अथवा मन वचन और काया का एकाग्र करना ये तीन प्रणिधान जानो।

तब उसने कहा कि, 'हे यक्ष! मारने का उपद्रव न करना अर्थात् अब किसीको मत मारना।' यक्ष ने यह बात स्वीकार की तथा प्रसन्नता से चित्रकार पुत्र को कोई भी वस्तु के अवयव का अंशमात्र देखने से वस्तु का पूर्ण आकार चित्रित किया जा सके ऐसी अद्भुत चित्रकला दी।

एक वक्त कोशम्बीनगरी में राजसभा में गये हुए उस चित्रकार पुत्र ने झरोखे में से मृगावती रानी का अंगूठा देखा, उसके ऊपर से रानी का यथावस्थितरूप चित्रित किया। राजा ने मृगावती की जांघ पर तिल था वह भी चित्र में निकाला हुआ देखा, अनाचार शंका से क्रुद्ध होकर चित्रकार पुत्र को मार डालने की आज्ञा दी। दूसरे सर्व चित्रकारों ने राजा को यक्ष के वरदान की बात कही। तब राजा ने परीक्षा के हेतु एक कुब्जादासी का मुख मात्र दिखाकर चित्र निकालने को कहा। वह भी चित्रकार पुत्र ने बराबर चित्रित किया देखकर क्रोध शमने पर भी राजा ने उसका दाहिना हाथ काट डाला। तब चित्रकार पुत्र ने अयोग्य शिक्षा से रुष्ट हो पुनः यक्ष की आराधनाकर वरदान प्राप्तकर मृगावती का रूप फिर से बांये हाथ से चित्रित किया और वह चंडप्रद्योत राजा को बताया। राजा चंडप्रद्योत ने मृगावती की मांगणी करने के लिए कोशांबी नगरी में दूत भेजा। उसका तिरस्कार हुआ देखकर उसने अपनी सेना द्वारा चारों ओर से कोशांबीनगरी को घेर ली। शतानीक राजा मर गया, तब चंडप्रद्योत ने मृगावती के कहने से 'उज्जयिनी से ईंटे मंगाकर कोट कराया और नगर में अन्न तथा घास बहुत सा भर रखा।' चंडप्रद्योत ने वैसा किया इतने में वीरभगवान् का समवसरण हुआ। भिल्ल के पूछने से भगवान् का कहा हुआ 'या सा सा सा का' सम्बन्ध सुनकर मृगावती रानी तथा चंडप्रद्योत की अंगारवती आदि आठ पत्नियों ने दीक्षा ली। इस प्रकार विधि अविधि के ऊपर दृष्टांत कहा।

इसके ऊपर से 'अविधि से करने की अपेक्षा न करना उत्तम है' ऐसे विरुद्धपक्ष की कल्पना भी न करना। कहा है कि—

अविहिकया वरमकयं, असूयवयणं भणंति समयन्।

पायच्छित्तं अकर, गुरुअं वितहं कर लहुअं ॥४॥

अविधि से करना, उसकी अपेक्षा न करना यही ठीक है, यह वचन गुण को भी दोष कहनेवाला है ऐसा सिद्धांत ज्ञाता आचार्य कहते हैं। कारण कि, न करने से बहुत प्रायश्चित्त लगता है, और अविधि से करने में थोड़ा लगता है, इसलिए धर्मानुष्ठान नित्य करना ही चाहिए। पर उसमें पूर्णशक्ति से विधी पूर्वक करने की यतना रखना यही श्रद्धावन्त जीवों का लक्षण है। कहा है कि—श्रद्धावंत और शक्तिमान् पुरुष विधि से ही सर्व धर्म क्रियाएं करता है, और कदाचित् द्रव्यादि दोष लगे तो भी वह 'विधि से ही करना' ऐसी विधि के विषय में ही पक्षपात करता है।

धन्नाणं विहिजोगो, विहिपक्खाराहगा सया धन्ना।

विहिबहुमाणा धन्ना, विहिपक्खअदूसगा धन्ना ॥१॥

आसन्नसिद्धिआणं, विहिपरिणामो उ होई सयकालं।

विहिचाओ अविहिभत्ती, अभव्वजिअदूरभव्वाणं ॥१२॥

जिनको विधिपूर्वक धर्मक्रिया करने का परिणाम प्रतिपल होता है वे पुरुष तथा विधिपक्ष की आराधना करनेवाले, विधिपक्ष का सत्कार करनेवाले और विधिपक्ष को दोष न देनेवाले पुरुष भी धन्य हैं। आसन्नसिद्धिजीवों को ही विधि से धर्मानुष्ठान करने का सदा परिणाम होता है। तथा अभव्य और दुरभव्य हो उसको तो विधि का त्याग और अविधि की सेवा करने का ही परिणाम होता है। खेती, व्यापार, सेवा आदि तथा भोजन, शयन, बैठना, आना, जाना, बोलना इत्यादि क्रिया भी द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि विधि से की हो तो फलदायक होती हैं, अन्यथा अल्प फलवाली होती हैं।

इस बात पर दृष्टान्त सुनते हैं कि—दो मनुष्यों ने द्रव्य के निमित्त देशांतर को जाकर एक सिद्धपुरुष की बहुत सेवा की। जिससे प्रसन्न हो उस सिद्धपुरुष ने उनको अद्भुत प्रभावशाली तुम्बी-फल के बीज दिये। उनकी सर्व आम्नाय भी कही। जैसे - सौ बार जोते हुए खेत में धूप न हो वैसे अमुक वार नक्षत्र का योग हो, तब ये बीज बोना। बेल हो जाने पर बीजों का संग्रह कर लेना फिर उस स्थान पर ऐसा संस्कार यानि उन बेलों के नीचे ऐसा पदार्थ रखना कि उस बेल को जलाने पर राख व्यर्थ न जाय फिर पत्र, पुष्प, फल सहित बेलड़ी को उसी खेत में जला देना। उसकी बनी हुई भस्म एक माषा भर ले चौसठ माषा भर तांबे में डाल देना उससे जात्य (सो टच का) सोना हो जाता है। ऐसी सिद्धपुरुष की शिक्षा लेकर वे दोनों व्यक्ति घर आये। उनमें से एक को तो बराबर विधि के अनुसार क्रिया करने से जात्यसुवर्ण हो गया, दूसरे ने विधि में कुछ कसर की जिससे चांदी हुई। इसलिए सर्व कार्यों में विधि भली प्रकार जानना चाहिए व अपनी सर्वशक्ति से उस विधि अनुसार क्रिया करनी चाहिए।

पूजा आदि पुण्यक्रिया करने के अनंतर सर्वकाल विधि की कोई आशातना हुई हो, उसके लिए मिथ्यादुष्कृत देना। पूर्वाचार्य अंगपूजादि तीन पूजाओं का फल इस रीति से कहते हैं—प्रथम अंगपूजा विघ्न की शांति करनेवाली है, दूसरी अग्रपूजा अभ्युदय करनेवाली है और तीसरी भावपूजा निर्वाण की साधक है। इस प्रकार तीनों पूजाएं नाम के अनुसार फल देनेवाली हैं। यहां पूर्वोक्त अंगपूजा तथा अग्रपूजा और चैत्य कराना, उनमें जिनबिम्ब की स्थापना कराना, तीर्थ यात्रा करना इत्यादि सर्व द्रव्यस्तव है। कहा है कि—

जिणभवणबिंबठवणाजत्तापूआइ सुत्तओ विहिणा।

दव्वत्थओ त्ति नेओ, भावत्थयकारणत्तेण ॥१२॥

जिनमंदिर की और जिनबिंब की प्रतिष्ठा, यात्रा, पूजा आदि धर्मानुष्ठान सूत्रों में कही हुई विधि के अनुसार करना। ये सर्व यात्रा आदि द्रव्यस्तव हैं ऐसा जानना, कारण कि, ये भावस्तव के कारण हैं। यद्यपि संपूर्ण पूजा प्रतिदिन परिपूर्णतया नहीं की जा

सकती, तथापि अक्षत दीप इत्यादि से तो नित्य पूजा करनी। जल का एकबिंदु महासमुद्र में डालने से वह जैसे अक्षय हो जाता है, वैसे ही वीतराग में पूजा अर्पण करे तो वह अक्षय हो जाती है। सर्व भव्यजीव इस पूजा रूपी बीज से इस संसाररूपी वन में दुःख न पाकर अत्यंत उदार भोग भोगकर सिद्धि (मोक्ष) पाते हैं।

पूआए मणसंती, मणसंती ए य उत्तमं ज्ञाणं।

सुहृद्भागेण य मुक्खो मुक्खे सुक्खं निराबाहं ॥११॥

पुष्पाद्यर्चा तदाज्ञा च, तद्द्रव्य परिरक्षणं।

उत्सवास्तीर्थयात्रा च, भक्तिः पञ्चविधा जिने ॥२॥

पूजा से मन को शांति होती है, मन की शांति से शुभ ध्यान होता है, शुभ ध्यान से मुक्ति प्राप्त होती है और मुक्ति पाने से निराबाध सुख होता है। जिनभक्ति पांच प्रकार की होती है। एक फूल आदि वस्तु से पूजा करना, दूसरी भगवान की आज्ञा पालना, तीसरी देवद्रव्य की अच्छी तरह रक्षा करना, चौथी जिनमंदिर में उत्सव करना, पांचवी तीर्थयात्रा करना।

आभोग-अनाभोग द्रव्यस्तव :

द्रव्यस्तव आभोग से और अनाभोग से दो प्रकार का है। कहा है कि-भगवान् के गुण का ज्ञाता पुरुष वीतराग पर बहुत भाव रखकर विधि से पूजा करे, उसे आभोग द्रव्यस्तव कहते हैं। इस आभोग द्रव्यपूजा से सकल कर्म का नाश कर सके ऐसे चारित्र का लाभ शीघ्र होता है। अतः सम्यग्दृष्टि जीवों को इस पूजा में अच्छी तरह प्रवृत्त होना चाहिए। पूजा की विधि बराबर न हो, जिन भगवान के गुणों का भी ज्ञान न हो, और केवलमात्र शुभपरिणाम से की हुई पूजा वह अनाभोग द्रव्यपूजा कहलाती है। इस रीति से की हुई यह अनाभोग द्रव्यपूजा भी गुणस्थान का स्थानक होने से गुणकारी ही है, कारण कि, इससे क्रमशः शुभ शुभतर परिणाम होते हैं, और सम्यक्त्व का लाभ होता है।

असुहृद्विषयं धणिअं, धन्नाणं आगामेसि मद्दाणं।

अमुणिअगुणेऽवि नूणं, विसए पीई समुच्छलइ ॥१०॥

भावी काल में कल्याण पानेवाले धन्य जीवों को ही 'गुण नहीं जानने पर भी पूजादि में जैसे अरिहंत के बिंब में तोते के जोड़े को बुद्धि उत्पन्न हुई' वैसे ही अशुभ कर्म के क्षय से ही प्रीति उत्पन्न होती है। भारे कर्मी और भवाभिनेदी जीवों को-तो पूजादि विषय में जैसे निश्चय से मृत्यु समीप आने पर रोगी मनुष्य को पथ्य में द्वेष उत्पन्न होता है, वैसे ही द्वेष उत्पन्न होता है। इसलिए तत्त्वज्ञ पुरुष जिनबिंब में अथवा जिनेंद्रप्रणीत धर्म में अशुभपरिणाम का अभ्यास होने के भय से लेशमात्र द्वेष से भी दूर रहता है।

दूसरे के प्रति जिनपूजा का द्वेष करनेवाली कुंतलारानी का दृष्टांत इस प्रकार है—

कुंतला रानी :

अवनिपुर में जितशत्रु राजा की अत्यंत धर्मीनिष्ठ कुंतला नामक पट्टरानी थी। वह दूसरों को धर्म में प्रवृत्त करानेवाली थी, अतएव उसके वचन से उसकी सर्व सपत्नियां (सौते) धर्मीनिष्ठ हो गयी तथा कुंतला को बहुत मानने लगीं। एक समय सर्व रानियों ने अपने-अपने पृथक् सर्व अंगोपांगयुक्त नये जिनमंदिर तैयार करवाये। जिससे कुंतला रानी के मन में बहुत ही ईर्ष्या उत्पन्न हुई। वह अपने मंदिर में ही उत्तम पूजा, गीत नाटक आदि करती और अन्य रानियों की पूजा आदि से द्वेष करने लगी। बड़े खेद की बात है कि, मात्सर्य कैसा दुस्तर है? कहा है कि—

पोता अपि निमज्जन्ति, मत्सरे मकराकरे।

तत्तत्र मज्जनेऽन्येषां, दुषदामिव किं नवम्? ॥१॥

विद्यावाणिज्यविज्ञानवृद्धिऋद्धिगुणादिषु।

जातौ ख्यातौ प्रोन्नतौ च, धिग् धिग् धर्मोऽपि मत्सरः ॥२॥

मात्सर्यरूपी सागर में ज्ञानीपुरुष की नौका भी डूब जाती है। तो फिर पत्थर के समान अन्य जीव डूब जाये इसमें क्या विशेषता है? विद्या, व्यापार, कलाकौशल, वृद्धि, ऋद्धि, गुण, जाति, ख्याति, उन्नति इत्यादिक में मनुष्य, मात्सर्य (अदेखाई) करें वह बात अलग है, परंतु धर्म में भी मात्सर्य करते हैं! उन्हें धिक्कार है!!! सपत्नियां सरल स्वभावी होने से वे सदैव कुंतला रानी के पूजादि शुभकर्म की अनुमोदना करती थीं, ईर्ष्या से भरी हुई कुंतला रानी तो दुर्दैववश असाध्यरोग से पीड़ित हुई, राजा ने उसके पास की आभरणादि सर्व मुख्य-मुख्य वस्तुएं ले ली, पश्चात् वह बहुत असह्य वेदना से मृत्यु को प्राप्त होकर सपत्नियों की पूजा का द्वेष करने से कुत्ती हुई, वह पूर्वभव के अभ्यास से अपने चैत्य के द्वार में बैठी रहती थी। एक समय वहां केवली का आगमन हुआ। रानियों ने केवली से पूछा कि, 'कुंतला रानी मरकर किस गति में गयी? केवली ने यथार्थ बात थी वह कह दी। जिससे रानियों के मन में बहुत वैराग्य उत्पन्न हुआ। वे नित्य उस कुत्ती को खाने-पीने को देतीं और स्नेह से कहतीं कि, 'हा हा! धर्मिष्ठ! तूने क्यों ऐसा व्यर्थ द्वेष किया जिससे तेरी यह अवस्था हुई?' ये वचन सुन तथा अपने चैत्य को देखकर उसे (कुत्ती को) जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। तब संवेग पाकर उसने सिद्धादिक की साक्षी से अपने किये हुए दोष आदि अशुभ कर्मों की आलोचना की, और अनशनकर मृत्यु को प्राप्त होकर वैमानिक देवता हुई। द्वेष के ऐसे कड़वे फल हैं। इसलिए द्वेष को त्याग देना चाहिए। यह सब द्रव्यपूजा का अधिकार कहा।

आज्ञा पालन का महत्त्व :

इस जगह सर्व भावपूजा और जिनेश्वर की आज्ञा पालन इसे भावस्तव जानना। जिनाज्ञा भी स्वीकाररूप तथा परिहाररूप ऐसी दो प्रकार की है। जिसमें शुभकर्म का सेवन करना वह स्वीकाररूप आज्ञा है और निषिद्ध का त्याग करना वह परिहाररूप

आज्ञा है। स्वीकाररूप आज्ञा की अपेक्षा परिहाररूप आज्ञा श्रेष्ठ है, कारण कि, निषिद्ध प्राणातिपात आदि सेवन करनेवाला मनुष्य चाहे कितना ही शुभ कर्म करे, तो भी उससे विशेष गुण नहीं होता। जैसे रोगी मनुष्य के रोग की चिकित्सा औषधि के स्वीकार व अपथ्य के परिहार इन दो रीति से की जाती है। रोगी को बहुत सारी औषधि देते हुए भी जो वह अपथ्य करे तो उसे आरोग्यलाभ नहीं होता। कहा है कि—बिना औषधि के केवल पथ्य से ही व्याधि चली जाती है, परंतु पथ्य न करे तो सैंकड़ों औषधियों से भी व्याधि नहीं जा सकती। इसी प्रकार जिन भगवान् की भक्ति भी निषिद्ध आचरण करनेवाले को विशेष फलदायक नहीं होती। जैसे पथ्य सेवन करनेवाले को औषधि से आरोग्य लाभ होता है, वैसे ही स्वीकाररूपी और परिहाररूपी दोनों आज्ञाओं का योग हो तो फल सिद्धि होती है। श्री हेमचन्द्रसूरि ने भी कहा है कि, हे वीतराग भगवान्! आपकी सेवा पूजा करने से भी आपकी आज्ञा का पालन करना ही श्रेष्ठ है कारण, कि आज्ञा का आराधन और विराधन ये दोनों क्रम से मोक्ष और संसार को देते हैं यानि आपकी सेवा हो तब ही मोक्ष हो अन्यथा न हो ऐसा नहीं है लेकिन आज्ञा के विषय में तो आज्ञा की आराधना से ही मोक्ष है अन्यथा संसारभ्रमण हो यह निश्चित है। हे वीतराग! आपकी आज्ञा सर्वदा त्याज्य वस्तु के त्यागरूप और ग्राह्यवस्तु के आदररूप होती है।

द्रव्यस्तव-भावस्तव का फल :

पूर्वाचार्यों ने द्रव्यस्तव तथा भावस्तव का फल इस प्रकार कहा है—द्रव्यस्तव की उत्कृष्टता से आराधना की हो तो प्राणी बारहवें अच्युत देवलोक तक जाता है, और भावस्तव की उत्कृष्टता से आराधना की हो तो अंतर्मुहूर्त में निर्वाण को प्राप्त होता है। द्रव्यस्तव करते यद्यपि कुछ षट्कायजीवों की उपमर्दनादिक से विराधना होती है, तथापि कुएँ के दृष्टान्त से गृहस्थजीव को वह (द्रव्यस्तव) करना उचित है। कारण कि, उससे कर्त्ता (द्रव्यस्तव करनेवाला), दृष्टा (द्रव्यस्तव को देखनेवाला), और श्रोता (द्रव्यस्तव का सुननेवाला) इन तीनों को अगणित पुण्यानुबंधि पुण्य का लाभ होता है।

कुएँ का दृष्टान्त इस प्रकार है—एक नये गांव में लोगों ने कुआ खोदना शुरू किया, तब उनको तृषा, थकावट, कीचड़ से मलिनता आदि सहन करना पड़ा। परन्तु जब कुएँ में से जल निकला, तब केवल उन्हीं की तृष्णादिक तथा शरीर और वस्त्र आदि वस्तु पर चढ़ा हुआ मेल दूर हुआ, इतना ही नहीं, बल्कि अन्य सर्व लोगों का भी तृषादिक और मल दूर हो गया, और नित्य के लिए सर्व प्रकार से सुख हो गया। ऐसा ही द्रव्यस्तव की बात में भी जानना। आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है कि—सर्वविरति न पाये हुए देशविरति जीवों का संसार कम करनेवाला यह द्रव्यस्तव कुएँ के दृष्टान्तानुसार उत्तम है। अन्य स्थान पर भी कहा है कि—आरंभ में लिपटे हुए, षट्कायजीवों की विराधना से विरति न पाये हुए और इसीसे संसार वन में पड़े हुए जीवों को द्रव्यस्तव ही

एक बड़ा भारी अवलम्बन है।

स्थेयो वायुचलेन निर्वृत्तिकरं निर्वाणनिर्घातिना।

स्वायत्तं बहुनायकेन सुबहु स्वल्पेन सारं परम्।

निस्सारेण धनेन पुण्यममलं कृत्वा जिनाभ्यर्चनं।

यो गृह्णाति वणिक् स एव निपुणो वाणिज्यकर्मण्यलम् ॥२॥

जो वणिक् वायु के समान चंचल, निर्वाण का अंतराय करनेवाले, बहुत से नायकों के अधीन रहे हुए, स्वल्प व असार ऐसे धन से स्थिर, मोक्ष को देनेवाला स्वतंत्र अत्यंत व सारभूत ऐसी जिनेश्वर भगवान् की पूजा करके निर्मल पुण्य उपार्जित करता है, वही वणिक् वाणिज्य कर्म में अतिनिपुण है।

दर्शन पूजन का फल :

यास्याम्यायतनं जिनस्य लभते ध्यायंश्चतुर्थं फलं,

षष्टं चोत्थित उद्यतोऽष्टममथो गंतुं प्रवृत्तोऽध्वनि।

श्रद्धालुर्दशमं बहिर्जिनगृहात्प्राप्तस्ततो द्वादशं,

मध्ये पाक्षिकमीक्षिते जिनपतौ मासोपवासं फलम् ॥३॥

श्रद्धावन्त मनुष्य 'जिनमंदिर को जाऊंगा' ऐसा विचार करने से एक उपवास का, जाने के लिए उठते छट्ट का, जाने का निश्चय करते अड्डम का, मार्ग में जाते चार उपवास का, जिनमंदिर के बाहर भाग में जाते पांच उपवास का, मंदिर के अन्दर जाते पंद्रह उपवास का और जिनप्रतिमा का दर्शन करते एक मास के उपवास का फल प्राप्त करता है।

पद्मचरित्र में तो इस प्रकार कहा है कि—(तीर्थादि में) श्रद्धावन्त श्रावक 'जिनमंदिर को जाऊंगा' ऐसा मन में विचार करने से एक उपवास का, मार्ग को जाने से तीन उपवास का, जाने से चार उपवास का, थोड़ा मार्ग उल्लंघन करने से पांच उपवास का, आधा मार्ग जाने से पंद्रह उपवास का, जिनभवन का दर्शन करने से एक मास के उपवास का, जिनमंदिर के आंगने में प्रवेश करने से छः मास के उपवास का, मंदिर के बाहर जाते बारह मास के उपवास का, प्रदक्षिणा देने से सो वर्ष के उपवास का, जिनप्रतिमा की पूजा करने से हजार वर्ष के उपवास का फल प्राप्त करता है, और भगवान् की स्तुति करने से अनन्त पुण्य प्राप्त करता है। प्रमार्जन करते सौ उपवास का, विलेपन करते हजार उपवास का, माला पहनाते लाख उपवास का, और गीत, वाजिंत्र द्वारा पूजा करते अनन्त उपवास का फल पाता है।

तीन संध्या की पूजा का फल :

पूजा प्रतिदिन तीन बार करनी चाहिए। कहा है कि—

प्रातःकाल में की हुई जिनपूजा रात्रि में किये हुए पापों का नाश करती है, मध्याह्न समय में की हुई जिनपूजा जन्म से लेकर अभी तक किये हुए पापों को नष्ट करती है,

और सन्ध्या समय की हुई जिनपूजा सात जन्म के किये हुए पापों को दूर करती है। जलपान, आहार, औषध, निद्रा, विद्या, दान, कृषि ये सात वस्तुएं अपने-अपने समय पर हो तो श्रेष्ठ फल देती हैं; वैसे ही जिनपूजा भी अवसर पर ही की हो तो सत्फल देती है। त्रिकाल जिनपूजा करनेवाला भव्यजीव समकित को शोभित करता है, और श्रेणिकराजा की तरह तीर्थकर नामगोत्रकर्म उपार्जन करता है। जो पुरुष दोषरहित जिन-भगवान् की त्रिकाल पूजा करता है, वह तीसरे अथवा सातवें आठवें भव में सिद्धि सुख पाता है। चौसठ इन्द्र परम आदर से पूजा करते हैं, तो भी भगवान् यथार्थ नहीं पूजे जाते। कारण कि भगवान् के गुण अनन्त हैं। हे भगवन्! हम आपको नेत्र से देख सकते नहीं, और उत्तमोत्तम पूजा से परिपूर्णतः आपकी आराधना भी नहीं कर सकते; परन्तु गुरुभक्ति रागवश व आपकी आज्ञा पालने के हेतु से पूजादिक में प्रवृत्ति करते हैं।

विधि-बहुमान :

देव पूजादि शुभ कृत्य में प्रीति बहुमान और सम्यग् विधिविधान इन दोनों में खरे खोटे रूपये के दृष्टान्त के अनुसार चार शाखाएं हैं, यथा—

खरी चांदी और खरा सिक्का यह प्रथम शाखा, खरी चांदी और खोटी मुद्रा (सिक्का) यह दूसरी शाखा, खरा सिक्का और खोटी चांदी यह तीसरी शाखा तथा खोटी ही चांदी व खोटा ही सिक्का यह चौथी शाखा है। इसी प्रकार देवपूजादि कृत्यों में भी उत्तम बहुमान व उत्तम विधि हो तो प्रथम शाखा, उत्तम बहुमान हो परन्तु विधि उत्तम न हो तो दूसरी शाखा, विधि उत्तम हो परन्तु बहुमान उत्तम न हो तो तीसरी शाखा और बहुमान व विधि दोनों ही उत्तम न हो तो चौथी शाखा जानना। बृहद्भाष्य में कहा है कि—इस वन्दना में पुरुष के चित्त में स्थित बहुमान चांदी के समान है, और संपूर्ण बाह्यक्रिया सिक्केके समान है। बहुमान और बाह्य क्रिया इन दोनों का योग मिल जाये तो खरे रूपये की तरह उत्तम वन्दना जानना। मन में बहुमान होने पर भी प्रमाद से वन्दना करनेवाले की वन्दना दूसरी शाखा में कहे हुए रूपये के समान है। किसी वस्तु के लाभार्थ संपूर्ण बाह्यक्रिया उत्तम होने पर भी बहुमान न हो वह वन्दना तीसरी शाखा में कहे हुए रूपये के समान है। मन में बहुमान न हो और बाह्य क्रिया भी बराबर न हो तो इस तत्त्व से वन्दना नहीं के बराबर है। मन में बहुमान रखनेवाले पुरुष को देशकाल के अनुसार थोड़ी अथवा अधिक वन्दना विधिपूर्वक करना यह भावार्थ है।

अनुष्ठान के चार भेद :

इस जिनमत में धर्मानुष्ठान चार प्रकार का कहा है। एक प्रीतिअनुष्ठान, दूसरा भक्तिअनुष्ठान, तीसरा वचनअनुष्ठान और चौथा असंगअनुष्ठान, बालादिक की जैसी रत्न में प्रीति होती है, वैसे ही सरलप्रकृति पुरुष की जो

पूजा-वंदनादि अनुष्ठान करते मन में प्रीतिरस उत्पन्न हो, वह प्रीतिअनुष्ठान है। शुद्ध विवेकी भव्य जीव को बहुमान से पूजा-वंदनादि अनुष्ठान करते जो प्रीतिरस उत्पन्न हो तो वह भक्तिअनुष्ठान है। जैसे पुरुष अपनी माता का व स्त्री का पालन पोषण समान ही करता है, तो भी माता का पालनादिक भक्ति से (बहुमान से) करता है, और स्त्री का पालनादिक प्रीति से करता है। वैसे ही यहां प्रीतिअनुष्ठान और भक्तिअनुष्ठान में भी भेद जानना। जिनेश्वर भगवान के गुणों का ज्ञाता भव्यजीव सूत्र में कही हुई विधि से जो वंदना करे, वह वचनअनुष्ठान जानना। यह वचनानुष्ठान चारित्रवान् पुरुष को नियम से होता है। फल की आशा न रखनेवाला भव्यजीव श्रुतावलम्बन बिना केवल पूर्वाभ्यास के रस से ही जो अनुष्ठान करता है, वह असंगअनुष्ठान है। यह जिनकल्पि आदि को होता है। जैसे कुम्हार के चक्र का भ्रमण प्रथम दंड के संयोग से होता है, वैसे वचनानुष्ठान आगम से प्रवर्तता है। और जैसे दंड निकाल लेने पर भी पूर्वसंस्कार से चक्र फिरता रहता है वैसे ही आगम के केवल संस्कार से आगम की अपेक्षा न रखते असंगअनुष्ठान होता है, इतना भेद ही वचनअनुष्ठान में व असंगअनुष्ठान में होता है। प्रथम बालादिक को लेशमात्र प्रीति से ही अनुष्ठान संभव होता है, परंतु उत्तरोत्तर निश्चय से अधिक भक्ति आदि गुण की प्राप्ति होती है। अतएव प्रीति, भक्ति प्रमुख चारों प्रकार का अनुष्ठान प्रथम शाखा में कही हुई रुपये के अनुसार निश्चयपूर्वक जानना। कारण कि, पूर्वाचार्यों ने चारों प्रकार का अनुष्ठान मुक्ति के निमित्त कहा है। दूसरी शाखा में कहे हुए रुपये के समान धर्मानुष्ठान भी सम्यग्-धर्मानुष्ठान का कारण होने से बिलकुल ही दूषित नहीं है। कारण कि, पूर्वाचार्य कहते हैं कि, दंभकपटादि रहित भव्य जीव की अशुद्ध धर्म-क्रिया भी शुद्ध धर्म-क्रिया आदि का कारण होती है, और उससे अंदर स्थित निर्मल सम्यक्स्वरूपी रत्न कर्ममल का त्याग करता है। तीसरी शाखा में कहा हुआ धर्मानुष्ठान माया-मृषादि दोषयुक्त होने से छोटे रुपये से व्यवहार करने की तरह महान अनर्थ उत्पन्न करता है। यह (तीसरी शाखा में वर्णित रुपये समान) धर्मानुष्ठान प्रायः भवाभिनंदी जीवों को अज्ञान से अश्रद्धा से और भारेकर्मिपने से होता है। चौथी शाखा में कहे हुए रुपये के समान धर्मानुष्ठान तो निश्चय से विफल है, वह अभ्यास के वश से किसी समय एकाध जीव को शुभ के लिए होता है। जैसे किसी श्रावक का पुत्र कुछ भी पुण्यकर्म किये बिना केवल नित्य जिनबिंब को देखते-देखते मृत्यु को प्राप्त हुआ, और मत्स्य के भव में जाकर वहां प्रतिमाकार मत्स्य के दर्शन से सम्यक्त्व पाया। यह चौथी शाखा का दृष्टांत है। इस प्रकार देवपूजादि धर्मकृत्यों में एकांत से प्रीति व बहुमान हो तथा विधिपूर्वक क्रिया करे तो भव्यजीव यथोक्त फल पाता है, अतएव प्रीति, बहुमान और विधि विधान इन तीनों का पूरा-पूरा यत्न करना चाहिए, चालू विषय बहुमान एवं विधि पर धर्मदत्त राजा का दृष्टांत कहते हैं—

धर्मदत्त का कथानक :

चांदी के जिनमंदिर से सुशोभित ऐसे राजपुर नगर में चन्द्रमा की तरह शीतकर^१ और कुवलयविकासी^२ राजधर नामक राजा था। देवांगनाओं की रूप संपदा के समान सौन्दर्यवान् उस राजा के प्रीतिमती आदि पांचसो विवाहित रानियां थीं। प्रीतिमती रानी के अतिरिक्त शेष सब रानियों ने जगत् को आनन्दकारी पुत्र लाभ से चित्त को संतोष पाया, पर पुत्र न होने से वन्ध्या प्रीतिमती रानी बहुत ही दुःखित थी। पंक्तिभेद सहन करना कठिन है, और उसमें भी प्रमुख व्यक्ति का पंक्तिभेद हो तो वह बिलकुल ही असह्य है। अथवा जो वस्तु दैव के अधीन है, उसके विषय में मुख्य, अमुख्य का विचार करने से क्या लाभ हो सकता है? ऐसा होने पर भी उस बात से मन में दुःख धारण करनेवाले मूढ़ हृदय लोगों की मूर्खता को धिक्कार है! जब देवताओं की की हुई अनेक प्रकार की सभी मानताएं भी निष्फल हुई, तब तो प्रीतिमती का दुःख बहुत ही बढ़ गया। उपाय के निष्फल हो जाने पर, आशा सफल न होगी ऐसा जाना। एक समय हंस का बच्चा घर में बालक की तरह खेल रहा था, रानी ने उसे हाथ पर ले लिया तो भी मन में भय न रखते हंस ने मनुष्य-वाणी से रानी को कहा कि, 'हे भद्रे! मैं यहां यथेष्ट स्वतंत्रता से खेल रहा था, तू मुझे चतुर होकर भी खिलाने के रस से क्यों पकड़ती है? स्वतंत्र विहार करनेवाले जीवों को बन्धन में रहना निरन्तर मृत्यु के समान है। स्वयं वन्ध्या होते हुए भी पुनः ऐसा अशुभ-कर्म क्यों करती है? शुभकर्म से धर्म होता है, और धर्म से मनवांछित सफल होता है' प्रीतिमती ने चकित व भयभीत हो हंस से कहा कि, 'हे चतुर शिरोमणे! तू मुझे ऐसा क्यों कहता है? मैं तुझे थोड़ी देर में छोड़ दूंगी, परन्तु उसके पूर्व तुझे एक बात पूछती हूं कि, अनेक देवताओं की पूजा, अनेक प्रकार के दान आदि बहुत से शुभकर्म मैं हमेशा करती हूं, तो भी शाप पायी हुई स्त्री की तरह मुझे संसार में सारभूत पुत्र क्यों नहीं होता?, पुत्र के लिए मैं दुःखी हूं यह तू कैसे जानता है, और मनुष्यवाणी से तू किस प्रकार बोलता है?' हंस बोला, 'मेरी बात पूछने का तुझे क्या प्रयोजन? मैं तुझे हितकारी वचन कहता हूं, धन, पुत्र, सुख आदि सर्व वस्तु की प्राप्ति पूर्वभव में किए हुए कर्म के अधीन हैं, इस लोक में किया हुआ शुभकर्म तो बीच में आते हुए अंतराय को दूर करता है। बुद्धिमान् मनुष्य जिस किसी देवता की पूजा करते हैं, वह मिथ्या है, और उससे मिथ्यात्व लगता है। एक मात्र जिनप्रणीत धर्म ही जीवों को इस लोक में तथा परलोक में वांछित-वस्तु का दाता है। जो जिन-धर्म से विघ्न की शान्ति आदि न हो तो वह अन्य उपाय से कैसे हो सकती है? जो अंधकार सूर्य से दूर नहीं हो सकता वह क्या अन्यग्रह से दूर हो सकता है? अतएव

१. शीतकर पद का चंद्र तरफ 'ठंडी रश्मि का धारण करनेवाला' व राजा के तरफ 'लोगों से शान्ति से कर लेनेवाला' ऐसा अर्थ होता है।
२. कुवलय विकासी इस पद का चन्द्र तरफ 'कमल को खिलानेवाला' और राजा की ओर 'पृथ्वी को आनन्द देनेवाला' ऐसा अर्थ समझो।

तु कुपथ्य समान मिथ्यात्व को त्यागकर उत्तम पथ्य समान अर्हद्धर्म की आराधना कर, जिससे इस लोक में तथा परलोक में भी तेरे मनोरथ पूर्ण होंगे।'

यह कहकर पारे की तरह शीघ्र ही हंस कहीं उड़ गया। चकित हुई प्रीतिमती रानी पुनः पुत्र की आशा होने से प्रसन्न हुई। चित्त में कुछ दुःख हुआ हो तो धर्म, गुरु आदि पर अत्यन्त ही स्थिर आस्था रहती है। जीव का ऐसा स्वभाव होने से प्रीतिमती रानी ने सद्गुरु के पास से श्रावक धर्म अंगीकार किया। सम्यक्त्व धारण करनेवाली और त्रिकाल जिन-पूजा करनेवाली प्रीतिमती रानी अनुक्रम से सुलसा श्राविका के समान हो गयी। हंस की वाणी का मानो यह कोई महान् चमत्कारिक गुण है। अस्तु; एक समय राजधर राजा के चित्त में ऐसी चिन्ता उत्पन्न हुई कि, 'अभी तक पट्टरानी को एक भी पुत्र नहीं हुआ, और अन्य रानियों के तो सैंकड़ों पुत्र हैं। इसमें राज्य के योग्य कौनसा पुत्र होगा?' राजा इस चिन्ता में था, इतने में ही रात्रि को स्वप्न में मानो साक्षात् ही हो! ऐसे किसी दिव्यपुरुष ने आकर उसे कहा कि, 'हे राजन्! अपने राज्य के योग्य पुत्र की तू कुछ भी चिन्ता न कर। जगत् में कल्पवृक्ष के समान फलदायक ऐसे केवल जिनधर्म की ही तू आराधना कर। जिससे इसलोक परलोक में तेरी इष्ट सिद्धि होगी।' ऐसा स्वप्न देखने से राजधर राजा पवित्र होकर हर्ष से जिन-पूजादि से जिनधर्म की आराधना करने लगा। ऐसा स्वप्न देखने पर भला कौन प्रमाद करे? पश्चात् कोई उत्तम जीव ने, हंस जैसे सरोवर में अवतार लेता है, वैसे ही प्रथम अरिहंत की प्रतिमा स्वप्न में बताकर प्रीतिमती के गर्भ में अवतार लिया। इससे सर्वलोगों के मन में अपार हर्ष हुआ। गर्भ के प्रभाव से प्रीतिमती रानी को मणिरत्नमय जिनमंदिर तथा जिन-प्रतिमा कराना तथा उसकी पूजा करना इत्यादि दोहद' उत्पन्न हुए। फूल फल के अनुसार हो उसमें क्या विशेषता है?

देवताओं की कार्यसिद्धि मन में सोचते ही हो जाती है। राजाओं की कार्यसिद्धि मुख में से वचन निकलते ही होती है, धनवान लोगों की कार्यसिद्धि धन से तत्काल होती है, और शेष मनुष्यों की कार्यसिद्धि वे स्वयं अंग परिश्रम करें तब होती है। अस्तु; प्रीतिमती का दोहद दुःख से पूरा किया जाय ऐसा था, किन्तु राजा ने बड़े हर्ष से तत्काल उसे पूर्ण किया। जिस प्रकार मेरुपर्वत के ऊपर की भूमि परिजातकल्पवृक्ष का प्रसव करती है, वैसे ही प्रीतिमती रानी ने प्रारंभ से ही शत्रु का नाश करनेवाला पुत्ररत्न प्रसव किया। अनुक्रम से वह बहुत ही महिमावन्त हुआ।

पुत्र जन्म सुनकर राजा को अत्यन्त हर्ष हुआ। इससे उसने उस पुत्र का अपूर्व जन्ममहोत्सव किया और उसका शब्दार्थ को अनुसरता धर्मदत्त नाम रखा। एक दिन आनन्द से बड़े उत्सव के साथ पुत्र को जिनमंदिर में ले जाकर, अरिहंत की प्रतिमा को

१. गर्भवती स्त्री को गर्भावस्था के समय जो इच्छा उत्पन्न होती है उसे दोहला कहते हैं।

नमस्कार कराकर भेट के समान भगवान के सन्मुख रख दिया। तब अत्यन्त हर्षित प्रीतिमती रानी ने अपनी सखी को कहा कि, 'हे सखि! उस चतुर हंस ने चित्त में चमत्कार उत्पन्न करे ऐसा मुझ पर बहुत ही उपकार किया है। हंस के वचनानुसार करने से निर्धन पुरुष जैसे दैवयोग से अपने से कभी न छोड़ी जाय ऐसी निधि पावे, वैसे ही मैंने भी कभी न छोड़ा जा सके ऐसा जिन-धर्मरूपी एक रत्न और दूसरा यह पुत्र रत्न पाया। प्रीतिमती इतना कह ही रही थी कि इतने में रोगी मनुष्य की तरह वह बालक अकस्मात् आयी हुई मूर्छा से तत्काल बेहोश हो गया और उसके साथ ही प्रीतिमती भी असह्यदुःख से मूर्छित हो गयी। तुरन्त ही परिवार तथा समीप के लोगों ने 'दृष्टिदोष अथवा कोई देवता की पीड़ा होगी' ऐसी कल्पना कर बड़े खेद से ऊंचे स्वर से पुकार किया कि, 'हाय हाय!! माता व पुत्र इन दोनों को एकदम क्या हो गया?' क्षणमात्र में राजा, प्रधान आदि लोगों ने वहां आकर दोनों माता-पुत्र को शीतल उपचार किये जिससे थोड़ी देर में ही बालक व उसके बाद उसकी माता भी सचेतन हुई। पूर्वकर्म का योग बड़ा आश्चर्यकारी है। उसी समय सर्वत्र इस बात की बधाई हुई, राजपुत्र को उत्सव सहित घर ले आये, उस दिन राजपुत्र की तबियत ठीक रही, उसने बार-बार दूध पान आदि किया, परंतु दूसरे दिन शरीर की प्रकृति अच्छी होते हुए भी अरुचिवाले मनुष्य की तरह उसने दूध न पिया और चौविहार पचवक्खाण करनेवाले की तरह औषध आदि भी नहीं लिया। जिससे राजा, रानी, मंत्री तथा नगरवासी आदि बड़े दुःखित हुए; सभी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। इतने में मानो उस बालक के पुण्य से ही आकर्षित हुए हों ऐसे मुनिराज मध्याह्न के समय आकाश में से उतरे। प्रथम परमप्रीति से बालक ने, पश्चात् राजा आदि लोगों ने मुनिराज को वन्दना की। राजा ने बालक के दूध आदि त्याग देने का कारण पूछा। तो मुनिराज ने स्पष्ट कहा कि, 'हे राजन्! इस बालक को रोग आदि तथा अन्य कोई भी पीड़ा नहीं। इसको तुम जिन-प्रतिमा के दर्शन कराओ तभी यह दूध पानादि करेगा।' मुनिराज के वचनानुसार बालक को जिनमंदिर में ले जाकर दर्शन नमस्कार आदि कराया। पश्चात् वह पूर्वानुसार दूध पीने लगा। जिससे सब लोगों को आश्चर्य व संतोष हुआ। राजा ने पुनः मुनिराज से पूछा कि, 'यह क्या चमत्कार है?' मुनिराज ने कहा, 'हे राजन्! तुझे यह बात इसके पूर्वजन्म से लेकर कहता हूँ, सुन!

जिसमें निंछपुरुष थोड़े और उत्तमपुरुष बहुत ऐसी पुरिका नाम नगरी में दीन मनुष्यों पर दया और शत्रु पर क्रूरदृष्टि रखनेवाला कृप नामक राजा था। उसका बृहस्पति के समान बुद्धिमान चित्रमति नामक मंत्री था; और कुबेर के समान समृद्धिशाली वसुमित्र नामक श्रेष्ठी उस मंत्री का मित्र था। नाम से ही एक अक्षर कम, परन्तु ऋद्धि से बराबर ऐसा सुमित्र नामक एक धनाढ्य वणिक्पुत्र वसुमित्र का मित्र था। वणिक्पुत्र भी अनुक्रम से श्रेष्ठी की बराबरी का अथवा उसकी अपेक्षा अधिक उच्च भी होता है। उत्तमकुल में जन्म लेने से पुत्र के समान मान्य ऐसा एक धन्य नामक सुमित्र का सेवक

था। वह धन्य एक दिन स्नान करने के लिए सरोवर पर गया। उत्तम कमल, सुन्दर शोभा और निर्मल जल वाले उस सरोवर में हाथी के बच्चे की तरह क्रीड़ा करते उसे दिव्यकमल के समान अत्यन्त सुगन्धित सहस्रपंखुड़ी वाला कमल मिला। उसे लेकर सरोवर में से बाहर निकलकर हर्ष से धन्य चलता हुआ मार्ग में फूल उतारकर जाती हुई माली की चार कन्याएँ उसको मिली। पूर्व परिचित होने से उन कन्याओं ने कमल के गुण जानकर धन्य को कहा कि 'हे भद्र! भद्रशाल वन के वृक्ष का फूल जैसे यहां दुर्लभ है, वैसे ही यह कमल भी दुर्लभ है। यह श्रेष्ठ वस्तु श्रेष्ठपुरुषों के ही योग्य है, इसलिए इसका उपयोग ऐसे वैसे व्यक्ति पर मत करना' धन्य ने कहा 'इस कमल का उत्तम पुरुष पर ही मुकुट के समान उपयोग करूंगा।'

पश्चात् धन्य ने विचार किया कि, 'सुमित्र ही सर्व सज्जनों में श्रेष्ठ है, और इसीलिए वे मेरे पूज्य हैं।' जिसकी आजीविका जिस मनुष्य से चलती हो उसे उस मनुष्य के अतिरिक्त क्या दूसरा कोई श्रेष्ठ लगता है? अस्तु; सरलस्वभावी धन्य ने ऐसा विचारकर जैसे किसी देवता को भेंट करना हो, वैसे सुमित्र के पास जा विनयपूर्वक नमस्कारकर यथार्थ बात कहकर वह कमल भेंट किया। तब सुमित्र ने कहा कि, 'मेरे सेठ वसुमित्र सर्व लोगों में उत्कृष्ट हैं। उन्हीं को यह उत्तम वस्तु वापरने योग्य है। उनके मुझ पर इतने उपकार हैं कि, मैं अहर्निश उनका दासत्व करूँ तो भी उनके ऋण से मुक्त नहीं हो सकता।' सुमित्र के ऐसा कहने पर धन्य ने वह कमल वसुमित्र को भेंट किया। तब वसुमित्र ने भी कहा कि, 'इस लोक में मेरे सर्व कार्य सफल करनेवाला एक मात्र चित्रमति मंत्री सर्व श्रेष्ठ है।' तदनुसार धन्य ने वह कमल चित्रमति मंत्री को भेंट किया, तो चित्रमति ने भी कहा कि, 'मेरी अपेक्षा कृप राजा श्रेष्ठ है, कारण कि, पृथ्वी तथा प्रजा का अधिपती होने से उसकी दृष्टि का प्रभाव भी दैवगति की तरह बहुत चमत्कारिक है। उसकी क्रूरदृष्टि जो किसी पर पड़े तो वह चाहे कितना ही धनी हो तो भी कंगाल के समान हो जाता है, और उसकी कृपादृष्टि जिस पर पड़े वह कंगाल हो तो भी धनी हो जाय।' चित्रमति के ये वचन सुन धन्य ने वह कमल राजा को दिया। राजा कृप भी जिनेश्वर भगवान् तथा सद्गुरु की सेवा में तत्पर था, इससे उसने कहा कि, 'जिसके चरण-कमल में मेरे समान राजा भ्रमर के सदृश तल्लीन रहते हैं, वे सद्गुरु ही सर्व श्रेष्ठ हैं, पर उनका योग स्वातिनक्षत्र के जल की तरह स्वल्प ही मिलता है।' राजा यह कह ही रहा था कि, इतने में सब लोगों को चकित करनेवाले कोई चारण मुनि देवता की तरह आकाश में से उतरे। बड़े आश्चर्य की बात है कि, आशारूपी लता किस प्रकार सफल हो जाती है! राजादि सर्वलोकों ने सादर मुनिराज को आसन देकर, वन्दना आदि की व अपने-अपने उचित स्थान पर बैठ गये। पश्चात् धन्य ने विनयपूर्वक वह कमल मुनिराज को भेंट किया। तब चारणमुनि ने कहा कि, 'जो तारतम्यता से किसी भी मनुष्य में श्रेष्ठत्व आता हो तो उसका अन्त अरिहंत में ही आना योग्य है। कारण कि, अरिहंत त्रिलोक में पूज्य हैं। अतएव तीनों लोक में उत्तम ऐसे अरिहंत को ही

यह कमल धारण करना योग्य है। इस लोक तथा परलोक में वांछित वस्तु के दाता वह अरिहंत की पूजा एक नवीन उत्पन्न हुई कामधेनु के समान है।' भद्रक स्वभाववाला धन्य, चारणमुनि के वचन से हर्षित हुआ, व पवित्र होकर जिनमंदिर में जाकर उसने वह कमल भाव से छत्र के समान भगवान् के मस्तक पर चढ़ाया। उस कमल से भगवान् का मस्तक इस तरह सुशोभित हो गया मानो मुकुट पहनाया हो। उससे धन्य को बहुत ही आनन्द उत्पन्न हुआ। पश्चात् वह स्वस्थ चित्तकर क्षणमात्र शुभभावना का ध्यान करने लगा। इतने में माली की वे चारों कन्याएं फूल बेचने के लिए वहां आयी। उन्होंने धन्य का चढ़ाया हुआ कमल भगवान् के मस्तक पर देखा। इस शुभ-कर्म की अनुमोदना करके, उन चारों ने संपत्ति का मानो बीज ही हो ऐसा एक-एक श्रेष्ठ फूल उसी समय प्रतिमा पर चढ़ाया। ठीक है, शुभ अथवा अशुभ कर्म करना, पढ़ना, गुणना, देना, लेना, किसीको मान देना, शरीर सम्बंधी अथवा घर सम्बंधी कोई कार्य करना, इत्यादि कृत्यों में भव्य जीव की प्रवृत्ति प्रथम भगवान् का दर्शनकर के ही होती है। तदनंतर अपने जीव को धन्य मानना धन्य और वे चारों कन्याएं अपने-अपने घर गये।

उस दिन से धन्य यथाशक्ति नित्य भगवान् को वन्दना करने जाता, और ऐसी भावना भाता कि, 'जानवर की तरह निशदिन परतंत्रता में रहने से जिसको नित्य भगवान् को वन्दना करने का नियम भी नहीं लिया जाता, ऐसे मुझ अभागी को धिक्कार है!' अस्तु, कृपराजा, चित्रमति मंत्री, वसुमित्र श्रेष्ठी और सुमित्र वणिक्पुत्र इन चारों व्यक्तियों ने चारण-मुनि के उपदेश से श्रावक-धर्म ग्रहण किया और क्रमशः वे सौधर्मदेवलोक को गये। धन्य भी अरिहंत पर भक्ति रखने से सौधर्म देवलोक में महर्द्धिक देवता हुआ और वे चारों माली की कन्याएँ उसके (धन्य के) मित्र देवता हुईं। कृपराजा का जीव देवलोक से पतित होकर, जैसे स्वर्ग में देवराज इन्द्र है, वैसे वैताढ्य पर्वत पर स्थित गगनवल्लभ नगर में चित्रगति नामक विद्याधरों का राजा हुआ। मंत्री का जीव देवलोक से निकलकर चित्रगति का पुत्र हुआ। उस पर मातापिता बहुत ही स्नेह करने लगे। बाप से भी अधिक तेजस्वी उस पुत्र का नाम विचित्रगति रखा। विचित्रगति ने यौवनावस्था में आकर एक समय राज्य के लोभवश अपने बाप को मार डालने के लिए मजबूत व गुप्त विचार किया। धिक्कार है ऐसे पुत्र को! जो लोभान्ध हो पिता का अनिष्ट चिंतन करे! सुदैव वश गोत्रदेवी ने वह सर्व गुप्त विचार चित्रगति को कहा। अचानक भय आने से चित्रगति को उसी समय उज्ज्वल वैराग्य प्राप्त हुआ। और वह विचार करने लगा कि, हाय-हाय! अब मैं क्या करूँ? किसकी शरण में जाऊँ? किसको क्या कहूँ? पूर्वभव में पुण्य उपार्जन नहीं किया, जिससे अपने ही पुत्र के द्वारा मेरे भाग्य में पशु के समान मृत्यु और दुर्गति पाने का प्रसंग आया, तो अब भी मुझे चेत जाना चाहिए। ऐसा विचारकर मन के अध्यवसाय निर्मल होने से उसने उसी समय पंचमुष्टि लोच किया। देवताओं ने आकर साधु का वेष दिया। तब बुद्धिमान चित्रगति

ने पंच महाव्रत ग्रहण किये। पश्चात् विचित्रगति ने पश्चात्ताप करके चित्रगति को खमाया व पुनः राज्य पर बैठने की बहुत प्रार्थना की। चित्रगति ने चारित्र लेने का सभी कारण कह सुनाये, पश्चात् पवन की तरह अप्रतिबंध विहार किया। साधुकल्प के अनुसार विहार करते तथा महान कठिन तपस्या करते मुनिराज चित्रगति को अवधिज्ञान व उसीके साथ मानो स्पर्धा से ही मनःपर्यवज्ञान भी उत्पन्न हुआ। (चित्रगति मुनि राजा को कहते हैं कि) वही मैं ज्ञान से लाभ हो ऐसा समझकर तुम्हारा मोह दूर करने के लिए यहां आया हूं। अब मैं संपूर्ण वर्णन करता हूं। वसुमति का जीव देवलोक से च्यवकर तू राजा हुआ, और सुमित्र का जीव तेरी प्रीतिमती नामक रानी हुई इस प्रकार तुम दोनों की प्रीति पूर्वभव से ही दृढ़ हुई है अपना श्रेष्ठ श्रावकत्व बताने के लिए सुमित्र ने कभी कभी कपट किया इससे वह स्त्रीत्व को प्राप्त हुआ। बड़े खेद की बात है कि चतुर मनुष्य भी अपने हिताहित को भूल जाता है। 'मेरे से प्रथम मेरे छोटे भाई को पुत्र न हो।' सुमित्रने ऐसा चिन्तन किया, इसीसे इस भव में इतने विलम्ब से पुत्र हुआ। एक बार किसीका बुरा चिन्तन किया हो तो भी वह अपने को उसका कठिन फल दिये बिना नहीं रहता। धन्य के जीव ने देवता के भव में एक दिन सुविधि जिनेश्वर को पूछा कि, 'मैं यहां से च्यवकर कहां उत्पन्न होऊंगा?' तब भगवान ने उसे तुम दोनों का पुत्र होने की बात कही। तब धन्य के जीव ने विचार किया कि, 'मा बाप ही धर्म न पाये हों, तो पुत्र को धर्म की सामग्री कहां से मिले? मूल कुएँ में जो पानी हो तभी समीप के प्याऊ (जिसमें ढोर पानी पीते हैं) में सहज से मिल सकता है।' ऐसा विचार करके अपने को बोधिबीज का लाभ होने के लिए हंस का रूप धारणकर रानी को प्रस्तावोचित वचन से तथा तुझे स्वप्न दिखाकर बोध किया। इस रीति से भव्य प्राणी देवभव में होते हुए भी परभव में बोधिलाभ होने के निमित्त उद्यम करते हैं। अन्य कितने ही पुरुष मनुष्यभव में होते हुए भी पूर्वसंचित चिन्तामणि रत्न समान बोधिरत्न (सम्यक्त्व) को खो बैठते हैं।

वह सम्यक्त्वधारी देव (धन्य का जीव) स्वर्ग से च्यवकर तुम दोनों का पुत्र हुआ। इससे माता को उत्तमोत्तम स्वप्न आये तथा श्रेष्ठ इच्छाएं (दोहद) उत्पन्न हुई, उसका यही कारण है कि, जैसे शरीर के साथ छाया, पति के साथ पतिव्रता स्त्री, चन्द्र के साथ चन्द्रिका, सूर्य के साथ उसका प्रकाश व मेघ के साथ बिजली जाती है वैसे ही इसके साथ पूर्वभव से जिनभक्ति आयी हुई है इसीसे स्वप्नादि उत्तम आये। कल इसे जिनमंदिर ले गये, तब बार-बार जिन प्रतिमा को देखने से तथा हंस के आगमन की बात सुनने से इसे मूर्छा आयी और तत्काल जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ, जिससे पूर्वभव का सम्पूर्ण कृत्य इसे स्मरण हो आया। तब इसने अपने मन से ही ऐसा नियम लिया कि 'जिनेश्वर भगवान का दर्शन और वन्दन किये बिना मैं यावज्जीव मुख में कुछ भी नहीं डालूंगा।' नियम रहित धर्म की अपेक्षा से नियम सहित धर्म का अनन्तगुणा अधिक फल है। कहा है कि—नियम सहित और नियम रहित ऐसा दो प्रकार का धर्म

है, जिसमें प्रथम धर्म थोड़ा उपार्जन किया हो तो भी निश्चय से दूसरे की अपेक्षा अनंतगुणा फल देता है, और दूसरा धर्म बहुत उपार्जन किया हो, तो भी परिमित व अनिश्चित फल देता है। कुछ भी ठहराव किये बिना किसीको बहुत समय तक व बहुत सा द्रव्य कर्ज दिया हो, तो उससे किंचित् मात्र भी व्याज उत्पन्न नहीं होता, और जो कर्ज देते समय ठहराव किया हो तो उस द्रव्य की प्रतिदिन वृद्धि होती जाती है। ऐसे ही धर्म के विषय में भी नियम करने से विशेष फल वृद्धि होती है। तत्त्वज्ञानी पुरुष हो, तो भी अविरति का उदय होने पर श्रेणिक राजा की तरह उससे नियम नहीं लिया जा सकता और अविरति का उदय न हो तो लिया जाता है। तथापि कठिन समय आने पर दृढ़ता रखकर नियम भंग न करना, यह बात तो आसन्नसिद्धि जीव से ही बन सकती है। इस धर्मदत्त ने पूर्वभव से आयी हुई धर्मरुचि से तथा भक्ति से अपनी एक मास की ही उमर में कल नियम ग्रहण किया। कल जिनदर्शन तथा वन्दन कर लिया था इसलिए इसने दूध आदि पिया आज यद्यपि यह क्षुधा, तृषा से पीडित हुआ तथापि दर्शन व वन्दन का योग न मिलने से इसने मन दृढ़ रखकर दूध न पिया। मेरे वचन से इसका अभिग्रह पूर्ण हुआ तब इसने दूधपानादि किया। पूर्वभव में जो शुभाशुभ कर्म किया हो, अथवा करने का विचार किया हो, वह सब परभव में उसीके अनुसार मिल जाता है। इस महिमावन्त पुरुष को पूर्वभव में की हुई जिनेश्वर भगवान की अप्रकट भक्ति से भी चित्त को चमत्कार उत्पन्न करनेवाली परिपूर्ण समृद्धि मिलेगी। माली की चारों कन्याओं के जीव स्वर्ग से च्यवकर पृथक्-पृथक् बड़े-बड़े राजकुलों में उत्पन्न होकर इसकी रानियां होंगी। साथ में सुकृत करनेवालों का योग भी साथ ही रहता है।

मुनिराज की यह बात सुन तथा बालक के नियम की बात प्रत्यक्ष देख राजा आदि लोगों ने नियम सहित धर्म अंगीकार किया। 'पुत्र को प्रतिबोध करने के लिए जाता हूं।' यह कहकर वे मुनिराज गरुड़ की तरह वैताढ्य पर्वत को उड़ गये। 'जगत् को आश्चर्यकारक अपनी रूपसंपत्ति से कामदेव को भी लज्जित करनेवाला जातिस्मरण पाया हुआ धर्मदत्त, ग्रहण किये हुए नियम को मुनिराज की तरह पालता हुआ क्रमशः बढ़ने लगा। उसके सर्वोत्कृष्ट शरीर के साथ ही साथ उसके रूप, लावण्य आदि लोकोत्तर सद्गुणों की भी दिन प्रतिदिन वृद्धि होने लगी तथा धर्म करने से उसके सद्गुण विशेष सुशोभित हुए। कारण कि, इसने तीन वर्ष की उमर में ही 'जिनेश्वर भगवान की पूजा किये बिना भोजन नहीं करना।' ऐसा अभिग्रह लिया। निपुण धर्मदत्त को लिखना, पढ़ना आदि बहत्तर कलाएं मानो पूर्व में ही लिखी पढ़ी हों, वैसे सहज मात्र लीला से ही शीघ्र आ गयी। पुण्य भी अपार चमत्कारी है, तत्पश्चात् उसने यह विचार किया कि, 'पुण्यानुबंधी पुण्य से परभव में भी पुण्य की प्राप्ति सुख पूर्वक होती है' सद्गुरु के पास से स्वयं श्रावक-धर्म स्वीकार किया।

'धर्मकृत्य विधि बिना सफल नहीं होता।' यह विचारकर उसने त्रिकाल देवपूजा आदि शुभकृत्य श्रावक की सामाचारी के अनुसार करना शुरू किया। हमेशा धर्म पर

उत्कृष्ट-भाव रखनेवाला वह धर्मदत्त, अनुक्रम से माध्यमिक अवस्था को पहुंचा, तब मोटे सांटे की तरह उसमें लोकोत्तर मिठास आयी। एक दिन किसी परदेशी पुरुष ने धर्मदत्त के लिए इन्द्र के अश्व समान एक अश्व राजा को भेट किया। तब धर्मदत्त अपने समान यह अश्व भी स्वर्ग में दुर्लभ है ऐसा सोच योग्य वस्तु का योग करने की इच्छा से उसी समय पिता की आज्ञा लेकर उस अश्व पर चढ़ा। बड़े खेद की बात है कि, ज्ञानी मनुष्य को भी मोह वश में कर लेता है! अस्तु, धर्मदत्त के ऊपर चढ़ते ही मानों अपना अलौकिक वेग आकाश में भी दिखाने के निमित्त अथवा इन्द्र के अश्व को मिलने की उत्सुकता से ही वह अश्व एकदम आकाश में उड़ गया व क्षणमात्र में अदृश्य हो गया तथा हजारों योजन पारकर, धर्मदत्त को एक विकट जंगल में पटककर वह कहीं भाग गया। सर्प के फूंकार से, बन्दर की बुत्कार से (घुड़की से), सूअर की धुत्कार से, चीते की चित्कार से, चमरी गाय के भाँकार से, रोझ के त्राट्कार से व दुष्ट शियालियों के फेत्कार से बहुत ही भयंकर वन में भी स्वभाव से ही निडर धर्मदत्त को लेशमात्र भी भय न हुआ। सत्य है, सत्पुरुष विपत्तिकाल में बहुत ही धैर्य रखते हैं, और संपदा आने पर बिलकुल अहंकार नहीं रखते, वह गजेन्द्र की तरह उस वन में यथेच्छ फिरता हुआ, शून्यवन में भी मन को शून्य न रखते, जैसे अपने राज-मंदिर में रहता था, वैसे ही स्वस्थता से वहां रहा। परन्तु जिन प्रतिमा का योग मात्र न मिलने से वह दुःखी हुआ, तथापि शान्ति रखकर उस दिन फल आदि वस्तु भी न खाकर उसने पाप का नाश करनेवाला निर्जल उपवास (चौविहार उपवास) किया। शीतल जल व अनेक प्रकार के फल होने पर भी क्षुधा, तृषा से अत्यन्त पीड़ित धर्मदत्त को इसी प्रकार तीन उपवास हो गये। अपने ग्रहण किये हुए नियम सहित धर्म में यह कैसी आश्चर्यकारक दृढ़ता है! लूलगने से अत्यन्त मुरझाई हुई पुष्पमाला के समान धर्मदत्त का सर्वांग मुरझा गया था तथापि धर्म में दृढ़ता होने से उसका मन बहुत ही प्रसन्न था। इतने में एक देव प्रकट होकर उससे कहने लगा—

'अरे सत्पुरुष! बहुत श्रेष्ठ! बहुत श्रेष्ठ! तूने असाध्य कार्य साधन किया, अहो, कितना धैर्य! अपने जीवन की अपेक्षा न रखते ग्रहण किये हुए नियम में ही तेरी दृढ़ता अनुपम है। शक्रेन्द्र ने तेरी प्रकट प्रशंसा की वह योग्य है। वह बात मुझसे सहन न हुई, इसीलिए मैंने यहां वन में लाकर तेरी धर्म मर्यादा की परीक्षा की। हे सुजान! तेरी दृढ़ता से मैं प्रसन्न हूँ, अतएव मुख में से एक वचन निकालकर इष्ट वरदान मांग।' देवता का यह वचन सुन धर्मदत्त ने विचारकर कहा कि, 'हे देव! मैं जब तेरा स्मरण करूँ तब तू मेरा कार्य करना।'

पश्चात् वह देव 'यह धर्मदत्त अद्भुत भाग्य का निधि है, कारण कि, इसने मुझे इस तरह बिलकुल वश में कर लिया।' ऐसा सोचता हुआ धर्मदत्त का वचन अंगीकारकर उसी समय वहां से चला गया. तदन्तर धर्मदत्त 'अब मुझे मेरा स्थानादि कैसे मिलेगा?' इस विचार में था, कि इतने में उसने अपने आपको अपने ही महल में देखा। तब उसने

विचार किया कि अभी मैंने देवता का स्मरण नहीं किया था, तो भी उसने अपनी शक्ति से मुझे अपने स्थान को पहुंचा दिया। प्रसन्न हुए देवता को इतना सा कार्य करना क्या कठिन है?।

धर्मदत्त के मिलाप होने से उसके माता, पिता, कुटुम्बी, नौकर-चाकर आदि को बहुत ही आनंद हुआ, पुण्य की महिमा अद्भुत है। पश्चात् उसने पारणे के निमित्त उत्सुकता न रखकर उस दिन भी विधि के अनुसार जिन-प्रतिमा की पूजा की और उसके बाव पारणा किया। धर्मनिष्ठ पुरुषों का आचार अपार आश्चर्यकारी होता है।

उन चारों कन्याओं के जीव पूर्व, पश्चिम, दक्षिण व उत्तर इन चारों दिशाओं में स्थित देशों के चार राजाओं की सबको बहुमान्य, बहुत से पुत्रों पर कन्याएं हुईं। उनमें पहिली का नाम धर्मरति, दूसरी का धर्ममति, तीसरी का धर्मश्री और चौथी का धर्मिणी नाम था, नाम के अनुसार उनमें गुण भी थे। जब वे चारों तरुण हुईं तो ऐसी शोभा देने लगीं मानो लक्ष्मी देवी ने ही अपने चार रूप बनाये हों। एक दिन वे अनेक सुकृतकारी उत्सव के स्थानरूप जिनमंदिर में आयीं और अरिहंत की प्रतिमा देखकर जातिस्मरण ज्ञान को प्राप्त हुईं। जिससे 'जिन प्रतिमा की पूजा किये बिना हम भोजन नहीं करेंगी' ऐसा नियम लेकर हमेशा जिनभक्ति करती रही। तथा उन चारों कन्याओं ने एक दिल हो ऐसा नियम किया था कि, 'अपना पूर्व भव का परिचित वर वरेंगी'। यह ज्ञान पूर्वदेश के राजा ने अपनी पुत्री धर्मरति के लिए स्वयंवर मंडप किया, व उसमें समग्र राजाओं को निमंत्रित किया। पुत्र सहित राजधर राजा को आमंत्रण आया था, तो भी धर्मदत्त वहां नहीं गया। कारण कि, उसने विचारा कि, 'जहां फल प्राप्ति होने न होने का निश्चय नहीं ऐसे कार्य में कौन दौड़ता जावे?' इतने में ही विद्याधरेश विचित्रगति राजा चारित्रवंत हुए अपने पिता के उपदेश से पंच महाव्रत ग्रहण करने को तैयार हुआ। उसको एक कन्या थी। अतः उसने प्रज्ञप्ति विद्या को पूछा कि, 'मेरी पुत्री से विवाह कर मेरा राज्य चलाने योग्य कौन पुरुष है?' प्रज्ञप्ति ने कहा कि, 'तू तेरी पुत्री व राज्य सुपात्र धर्मदत्त को देना।' विद्या के इन वचनों से विद्याधर को बहुत हर्ष हुआ। तथा धर्मदत्त को बुलाने के लिए राजपुर नगर को आया। वहां धर्मदत्त के मुख से धर्मरति कन्या के स्वयंवर के समाचार सुन, विचित्रगति धर्मदत्त को साथ ले देवता की तरह अदृश्य हो धर्मरति के स्वयंवर मंडप में आया। वहाँ उन दोनों ने देखा कि वहां कन्या ने किसीको भी अंगीकार नहीं किया, इससे सब राजाओं को उदास व निस्तेज अवस्था में देखा। सब लोग आकुल व्याकुल हो रहे थे कि, 'अब क्या होगा?' इतने ही में प्रातःकाल के सूर्य की तरह विचित्रगति व धर्मदत्त प्रकट हुए। राजकन्या धर्मरति धर्मदत्त को देखते ही संतुष्ट हुई, और जैसे रोहिणी ने वसुदेव को वरा वैसे ही उसने धर्मदत्त के गले में वरमाला डाल दी। पूर्वभव का प्रेम अथवा द्वेष ये दोनों अपने-अपने उचित कर्मों में जीव को प्रेरणा करते हैं। बाकी तीनों दिशाओं के राजा वहां आये हुए थे। उन्होंने विद्याधर की सहायता से अपनी तीनों पुत्रियों को विमान में बिठाकर वहां बुलवायी

और बड़े हर्ष के साथ उसी समय धर्मदत्त को दी। पश्चात् धर्मदत्त ने विद्याधर के किये हुए दिव्य उत्सव में उन चारों कन्याओं का पाणिग्रहण किया। तदनन्तर विचित्रगति विद्याधर धर्मदत्त तथा अन्य सर्व राजाओं को लेकर वैताढ्य पर्वत पर गया। वहां विविध प्रकार के उत्सव करके उसने अपनी कन्या और राज्य धर्मदत्त को अर्पण किया तथा उसी समय उसकी दी हुई एक सहस्र विद्याएं धर्मदत्त को सिद्ध हुईं। इस प्रकार विचित्रगति आदि विद्याधरों की दी हुई पांचसो कन्याओं का पाणिग्रहण करके धर्मदत्त अपने नगर में आया, और वहां भी अन्य राजाओं की पांचसो कन्याओं से विवाह किया। पश्चात् राजधर राजा ने भी अपनी समग्र राज्यसंपदा अपने सद्गुणी पुत्र धर्मदत्त को सौंप दी और चित्रगति सद्गुरु के पास अपनी पट्टरानी प्रीतिमती सहित दीक्षा ली। विचित्रगति ने भी धर्मदत्त को पूछकर दीक्षा ग्रहण की। समय पाकर चित्रगति, विचित्रगति, राजधर राजा और प्रीतिमति रानी ये चारों अनुक्रम से मोक्ष में गये।

इधर धर्मदत्त ने हजारों राजाओं को जीत लिए, और वह दस हजार रथ, दस हजार हाथी, एक लक्ष घोड़े और एक करोड़ पैदल सैन्य का अधिपति हो गया। अनेक प्रकार की विद्याओं के मद को धारण करनेवाले सहस्रों विद्याधरों के राजा धर्मदत्त की सेवा में तत्पर हो गये। इस तरह बहुत समय तक इन्द्र की तरह उसने बहुत सा राज्य भोगा। उसने स्मरण करते ही आने वाले पूर्व प्रसन्न किये हुए देव की सहायता से अपने देश को देवकुरु क्षेत्र की तरह महामारी, दुर्भिक्ष इत्यादि से रहित कर दिया। पूर्वभव में भगवान् की सहस्रदल कमल से पूजा की उससे इतनी संपदा पाने पर भी वह यथाविधि त्रिकाल पूजा करने में नित्य तत्पर रहता था। 'अपने ऊपर उपकार करनेवाले का पोषण अवश्य करना चाहिए' ऐसा विचार कर धर्मदत्त ने नये-नये चैत्य में प्रतिमा स्थापन करवायी तथा तीर्थयात्रा, स्नात्रमहोत्सव आदि शुभकृत्य करके अपने ऊपर उपकार करनेवाली जिन-भक्ति का बहुत ही पोषण किया। उसके राज्य में अट्टारहों वर्णवाले 'यथा राजा तथा प्रजा' इस लोकोक्ति के अनुसार जैन धर्मी हो गये। जैनधर्म से ही इस भव तथा परभव में उदय होता है। धर्मदत्त ने अवसर पाकर पुत्र को राज्य देकर रानियों सहित दीक्षा ली और मन की एकाग्रता से तथा अरिहंत पर दृढभक्ति से तीर्थकर नामगोत्र कर्म उपार्जन किया। यहां दो लाख पूर्व का आयुष्य भोगकर वह सहस्रारदेवलोक में देवता हुआ। तथा वे चारों रानियां जिनभक्ति से गणधर बनने योग्य कर्म संचितकर उसी देवलोक में गयीं। पश्चात् उन पांचों का जीव स्वर्ग से च्युत हुआ, धर्मदत्त का जीव महाविदेह क्षेत्र में तीर्थकर हुआ और चारों रानियों के जीव उसके गणधर हुए। पश्चात् धर्मदत्त का जीव तीर्थकर नामगोत्र को भोगकर क्रम से गणधर सहित मुक्ति को गया। इन पांचों का क्या आश्चर्यकारी संयोग है? समझदार मनुष्यों को इस तरह जिनभक्ति का ऐश्वर्य जानकर धर्मदत्त राजा की तरह जिनभक्ति तथा अन्य शुभ-कर्म करने हेतु सदैव तत्पर रहना चाहिए।

॥ इति धर्मदत्त राजा की कथा ॥

जिनमंदिर की उचित चिंता :

मूल गाथा में 'उचिअचिंतरओ' अर्थात् 'उचित चिन्ता करने को तत्पर' ऐसा कहा है, इसलिए उचित चिंता वह क्या? उसका वर्णन करते हैं। जिनमंदिर में सफाई रखना; जिनमंदिर अथवा उसका भाग गिरता हो तो तुरंत व्यवस्थित करवाना; पूजा के उपकरण कम हों तो पूरे करना; भगवान् की तथा परिवार की प्रतिमाएं निर्मल रखना, उत्कृष्ट पूजा तथा दीपादिक की उत्कृष्ट शोभा करना, चौरासी आशातनाएं टालना; अक्षत, फल, नैवेद्य आदि की शुद्धता रखना, चंदन, केशर, धूप, दीप, तैल इन वस्तुओं का संग्रह करना, चैत्यद्रव्य का नाश होता हो तो आगे कहा जायेगा उस दृष्टांत के अनुसार उसकी रक्षा करना, दो चार अच्छे श्रावकों को साक्षी रखकर देवद्रव्य की उगई (उगरानी, वसूली) करना, आया हुआ द्रव्य उत्तम स्थान में यत्न से रखना, देवद्रव्य के जमा खर्च का हिसाब स्वच्छ रखना, स्वयं देवद्रव्य की वृद्धि करना तथा दूसरे से कराना। मंदिर में काम करनेवाले लोगों को वेतन यथायोग्य देना, उन लोगों के काम की देखरेख रखना इत्यादि अनेक प्रकार की उचित चिन्ता है। द्रव्यवान् श्रावक से मंदिर के कार्य द्रव्य अथवा नौकरों द्वारा बिना प्रयास ही हो सकें ऐसे हैं वे, तथा अपनी अंग-मेहनत से अथवा अपने कुटुम्ब के मनुष्यों से बन सके ऐसे कार्य हो वे, और निर्धन मनुष्यों से बिना द्रव्य के ही हो जाये ऐसे हैं वे, सभी कार्य यथायोग्य करना करवाना। अतएव जिसकी जो करने की शक्ति हो, उसे उस कार्य में वैसी ही उचित चिन्ता करना। जो उचित चिंता थोड़े समय में हो सके ऐसी हो वह दूसरी निसिहि से पूर्व ही करना, इसके अनन्तर भी जैसा योग हो वैसा करना।

ऊपर जैसे मंदिर की उचित चिंता कही, वैसे ही धर्मशाला, गुरु, ज्ञान आदि की भी उचित चिंता अपनी पूर्णशक्ति से करना। कारण कि देव, गुरु आदि की चिन्ता करनेवाला श्रावक के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। जैसे एक गाय के बहुत से मालिक ब्राह्मण उसका दूध तो निकाल लेते हैं पर उसे घास पानी कोई नहीं देते, उस तरह देव, गुरु आदि की उपेक्षा अथवा उनके काम में प्रमाद न करना। कारण कि, ऐसा करने से समय पर सम्यक्त्व का भी नाश हो जाता है। आशातना आदि होने से जो अपने को अतिदुःख न हो तो वह कैसी अरिहंत आदि की भक्ति? लौकिक में भी सुनते हैं कि, महादेव की आंख उखड़ी हुई देखकर अत्यंत दुःखित हुए भील ने अपनी आंख महादेव को अर्पण की थी। इसलिए सदैव देव-गुरु आदि के काम स्वजन संबन्धियों के काम की अपेक्षा भी आदरपूर्वक करना। हम यह कहते हैं कि—सर्व संसारी जीवों की देह, द्रव्य और कुटुम्ब पर जैसी प्रीति होती है, वैसी ही प्रीति मोक्षाभिलाषी जीवों की जिन-प्रतिमा, जिनमत और संघ के ऊपर होती है।

ज्ञान आशातना :

देव, गुरु और ज्ञान इत्यादिक की आशातना जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसी तीन प्रकार की है। जिसमें पुस्तक, पाटली, टिप, जपमाला आदि को थूंक लगाना, कम

अथवा अधिक अक्षर बोलना, ज्ञानोपकरण पास होते हुए वायु संचार करना इत्यादिक जघन्य आशातना है। अध्ययन का समय न होने पर पढ़ना, योग और उपधान तपस्या बिना सूत्र का अध्ययन करना, भ्रांति(भ्रमणा) से अर्थ का अनर्थ करना, प्रमादवश पुस्तक आदि वस्तु को पैर आदि लगाना, पुस्तक आदि भूमि पर पटक देना, ज्ञानोपकरण पास होते हुए आहार अथवा लघुनीति करना, इत्यादिक मध्यम आशातना है। पाटली आदि के ऊपर के अक्षर थूंक से घिसकर मिटा देना, ज्ञानोपकरण के ऊपर बैठना, सो रहना इत्यादि, ज्ञानोपकरण पास होते बड़ीनीति आदि करना, ज्ञान की अथवा ज्ञानी की निंदा, दुश्मनी, जलाना, नुकसान आदि करना, तथा उत्सूत्र भाषण करना, यह उत्कृष्ट आशातना है।

जिनाशातना :

जिनप्रतिमा की तीन प्रकार की आशातना इस प्रकार है—वालाकुंची इत्यादि पछाड़ना, जिन प्रतिमा को अपने निश्वास का स्पर्श कराना, अपने वस्त्र जिन-प्रतिमा को अड़ाना इत्यादिक जघन्य आशातना है। बिना धोये हुए धोतिये से जिनप्रतिमा की पूजा करना, जिनबिंब को भूमि पर डालना इत्यादिक मध्यम आशातना है। पग लगाना, जिनप्रतिमा को नाक का मल अथवा थूंक आदि लगाना, प्रतिमा का भंग करना, प्रतिमा को उठा ले जाना तथा जिनेश्वर भगवान् की बड़ी आशातना करना इत्यादि उत्कृष्ट आशातना है, अथवा जिन-प्रतिमा की जघन्य से आशातना १०, मध्यम से ४० और उत्कृष्ट से चौसी हैं। यथा—

जिनमंदिर के अन्दर १ पान-सुपारी खाना, २ पानी आदि पीना, ३ भोजन करना, ४ जूते पहनना, ५ रतिक्रीड़ा करना, ६ निद्रा लेना, ७ थूंक आदि डालना, ८ लघुनीति करना, ९ बड़ीनीति करना, तथा १० जुआं खेलना। इस प्रकार जिनमंदिर में जघन्य से १० आशातनाओं का तो अवश्य त्याग करना चाहिए।

जिनमंदिर में १ लघुनीति करना, २ बड़ीनीति करना, ३ जूते पहिनकर जाना, ४ पानी आदि पीना, ५ भोजन करना, ६ निद्रा लेना, ७ रतिक्रीड़ा करना, ८ पान-सुपारी खाना, ९ थूंक आदि डालना, १० जुआं खेलना, ११ द्युतक्रीड़ा देखना, १२ विकथा करना, १३ पालखी मारकर बैठना, १४ चौड़े पग करके बैठना, १५ परस्पर विवाद करना, १६ हंसी करना, १७ ईर्ष्या करना, १८ बैठने के लिए सिंहासनादि उपभोग योग्य वस्तु काम में लेना, १९ केश व शरीर की आभूषणादि से शोभा करना [मंदिर में केश संवारनेवाले आशातना करते हैं], २० छत्र धारण करना, २१ खड्ग धारण करना, २२ मुकुट धारण करना, २३ चामर धारण करना, २४ धरना देकर बैठना, २५ स्त्रियों के साथ विकार सहित हास्य करना, २६ जार पुरुषों के साथ प्रसंग करना, २७ पूजा के समय मुखकोश न करना, २८ पूजा के अवसर पर शरीर तथा वस्त्र मलिन रखना, २९ पूजा के समय मन की एकाग्रता न करना, ३० सचित्त द्रव्य का बाहर त्याग न करना, ३१ हार, मुद्रिका आदि अचित्त वस्तु का त्याग करना, ३२ एक साड़ी उत्तरासंग न करना, ३३

जिनप्रतिमा का दर्शन होने पर अंजलि न करना, ३४ जिनपूजा का दर्शन होने पर पूजा न करना, ३५ खराब फूल आदि वस्तु से पूजा करना, ३६ पूजादिक में आदरपूर्वक प्रवृत्ति न रखना, ३७ जिनप्रतिमा के शत्रु का निवारण न करना, ३८ चैत्यद्रव्य का नाशादि की उपेक्षा करना, ३९ शरीर में शक्ति होते हुए भी गाड़ी आदि वाहन में बैठकर जिनमंदिर को आना, ४० प्रथम ही चैत्यवन्दनादिक बोलना, इस प्रकार मध्यम से ४० आशातनाएं हैं।

१ मंदिर में खेल (खंखार) श्लोष्म (नाक का मल आदि) डालना, २ जूआ आदि खेलना, ३ कलह करना, ४ धनुर्वेदादि कला प्रकट करना, ५ कुल्ला करना, ६ पान-सुपारी खाना, ७ पान के कूंचे आदि डालना, ८ अपशब्द बोलना, ९ लघुनीति तथा बड़ीनीति आदि करना, १० शरीर धोना, ११ कैसे समारना, १२ नख समारना, १३ रुधिर आदि डालना, १४ सेके हुए धान्य, मिठाई आदि खाना, १५ फोड़े फुंसी आदि की चमड़ी डालना, १६ औषधादिक से पित्त का वमन करना, १७ औषधादिक से अन्नादि का वमन करना, १८ औषधादिक से गिरे हुए दांत डालना, १९ पग आदि की चंपी करवाना, २० हाथी, घोड़े आदि पशुओं को बांधना, २१ दांत का, २२ आंख का, २३ नख का, २४ गाल का, २५ नासिका का, २६ मस्तक का, २७ कान का अथवा २८ चमड़ी का मैल जिनमंदिर में डालना, २९ जारण, मारण, उच्चाटन के मंत्र अथवा राजकार्य आदि की सलाह करना, ३० अपने घर के विवाह आदि कृत्य में एकत्रित होने का निश्चय करने के लिए वृद्धपुरुषों को मंदिर में एकत्र करके बिठाना, ३१ हिसाब आदि लिखना, ३२ धन आदि के हिस्से करना, ३३ अपने धन का भंडार (घर की रकम मंदिर की तिजोरी में) वहां स्थापित करना, ३४ पैर पर पैर चढ़ाकर अथवा अविनय हो ऐसी किसी भी रीति से बैठना, ३५ कंडे, ३६ वस्त्र, ३७ दाल, ३८ पापड़, ३९ बड़ी तथा चीवड़े (डोचरे, ककड़ी) आदि वस्तु जिनमंदिर में सूखाने के लिए धूप आदि में रखना, ४० राजादिक के ऋण आदि के भय से गभारे इत्यादि में छिप रहना, ४१ स्त्री, पुत्र आदि के वियोग से रुदन आक्रंद करना, ४२ स्त्री, भोजनादिक अन्न, राजा और देश इन चार के सम्बन्ध में विकथा करना, ४३ बाण, धनुष्य, खड्ग आदि शस्त्र बनाना, ४४ गाय, बैल आदि जानवरों को वहां रखना, ४५ शीत का उपद्रव दूर करने के लिए अग्नि से तापना, ४६ अन्नादिक पकाना, ४७ नाणा (सिक्के) आदि परखना, ४८ यथाविधि निसीहि न करना, ४९ छत्र, ५० जूते, ५१ शस्त्र तथा ५२ चामर इन चार वस्तुओं को मंदिर के बाहर न रखना, ५३ मन की एकाग्रता न करना, ५४ शरीर में तैल आदि लगाना, ५५ सचित्त पुष्पादि का त्याग न करना, ५६ अजीव हार, अंगूठी आदि अचित्त वस्तु बाहर उतारकर शोभाहीन हो मंदिर में घुसना (ऐसा करने से अन्यदर्शनी लोग 'शोभाहीन हो मंदिर में प्रवेश करना यह कैसा भिक्षुक लोगों का धर्म है' ऐसी निन्दा करते हैं। इसलिए हार, मुद्रिकादि न उतारकर अंदर जाना।), ५७ भगवान् को देखने पर हाथ न जोड़ना, ५८ एक साड़ी उत्तरासंग न करना, ५९ मस्तक पर मुकुट धारण करना, ६० सिर पर मुकुट आदि

रखना, ६१ सिर में मुकुटादि पर रखे हुए फूल के तुर्रें, कलंगी आदि न उतारना, ६२ नारियल आदि वस्तु की शर्त करना, ६३ गेंद खेलना, ६४ मा, बाप आदि स्वजनों को जुहार करना, ६५ गाल, बगल (कांख) बजाना आदि भांडचेष्टा करना, ६५ रेकार, तूकार आदि तिरस्कार के वचन बोलना, ६७ लेना उधाने के लिए धरना देकर बैठना, ६८ किसी के साथ संग्राम करना, ६९ बाल छूटे करना, ७० पालखी वालकर बैठना, ७१ लकड़ी की पादुकाएं पग में पहनना, ७२ स्वेच्छा से पैर लंबे करके बैठना, ७३ सुख के लिए सीटी बजाना, ७४ अपना शरीर अथवा शरीर के अवयव धोने आदि से कीचड़ करना, ७५ पग में लगी हुई धूल जिनमंदिर में झाटकना, ७६ स्त्री से क्रीड़ा करना, ७७ माथे की अथवा वस्त्र आदि की जूएं दिखवाना तथा वहां डालना, ७८ वहां भोजन करना, अथवा दृष्टियुद्ध, बाहुयुद्ध करना, ७९ शरीर के गुप्त अवयव खुले रखना, ८० वैद्यक कर्म करना, ८१ क्रय विक्रय आदि करना कराना, ८२ बिस्तर बिछा के सो रहना, ८३ जिनमंदिर में पीने का पानी रखना, वहां पानी पीना अथवा बारह मास पिया जाये इस हेतु मंदिर के हौज में बरसात का पानी लेना, ८४ जिनमंदिर में नहाना, धोना इन उत्कृष्ट भेदों से ८४ आशातनाएं हैं।

बृहद्भाष्य में तो पांच ही आशातना कही हैं। यथा—१ अवर्ण आशातना, २ अनादर आशातना, ३ भोग आशातना, ४ दुःप्रणिधान और ५ अनुचितवृत्ति आशातना; ऐसी जिनमंदिर में पांच आशातना होती हैं। उसमें पालखी वालना, भगवान् के तरफ पीठ करना, बजाना, पग पसारना, तथा जिनप्रतिमा के सन्मुख दुष्ट आसन से बैठना ये सब प्रथम अवर्ण आशातना हैं। कैसे भी वस्त्र आदि पहनकर, किसी भी समय जैसे-वैसे शून्यमन से जिनप्रतिमा की पूजा करना, वह दूसरी अनादर आशातना। जिनमंदिर में पान-सुपारी आदि भोग भोगना, यह तीसरी भोगआशातना है। यह आशातना करने से आत्मा के ज्ञानादि गुणों पर आवरण आता है, इसलिए यह आशातना जिनमंदिर में अवश्य त्याज्य है। राग से, द्वेष से अथवा मोह से मन की वृत्ति दूषित हुई हो, तो वह चौथी दुःप्रणिधान आशातना कहलाती है, वह जिनराज के मंदिर में त्यागना चाहिए। लेन देन के निमित्त धरना देना, वाद विवाद करना, रोना कूटना राजकथादि विकथा करना, जिनमंदिर में अपने गाय, बैल आदि बांधना, विविध प्रकार के अन्न पकाना, इत्यादि घर के कार्य तथा किसीको अपशब्द बोलना आदि पांचवी अनुचितवृत्ति आशातना है। अत्यंत विषयासक्त व अविरति देवता भी जिनमंदिर में आशातनाओं को सर्वथा त्याग देते हैं। कहा है कि—

देवहरयमि देवा, विसयविसविमोहिआवि न कयावि।

अच्छरसाहिंपि समं, हासकञ्जाइ वि कुणांति ॥१॥

कामविषयरूपी विष से लिपटे हुए देवता भी जिनमंदिर में अप्सराओं के साथ हास्य क्रिडादि कभी भी नहीं करते।

गुरु आशातना :

गुरु की आशातनाएं तैंतीस हैं, यथा—

१ कारण बिना गुरु से आगे चलना, मार्ग दिखाना आदि कारण के बिना गुरु के आगे चलना अयोग्य है, कारण कि उससे अविनयरूपी दोष होता है। इसलिए यह आशातना है। २ गुरु के दोनों बाजू बराबरी से चलना। (इससे भी अविनय होता है, इसलिए यह आशातना है।) ३ गुरु की पीठ को लगते अथवा थोड़े अन्तर से चलना ऐसा करने से खांसी अथवा छींक आने पर खंखार, मैल निकले तो गुरु के वस्त्र आदि को लगना संभव है, इसलिए यह आशातना है। दूसरी आशातना के भी यही दोष जानो।, ४ गुरु के संमुख खड़े रहना, ५ बराबरी में खड़े रहना, ६ पीठ के समीप खड़ा रहना, ७ गुरु के मुख संमुख बैठना, ८ बराबरी से बैठना, ९ पीठ के समीप बैठना, १० आहार आदि लेने के समय गुरु से पूर्व ही आचमन करना, ११ गमनागमन की आलोचना (इरियावहि) गुरु से पूर्व करना, १२ रात्रि को 'कौन सोया है?' ऐसा कहकर गुरु बुलावे तब गुरु का वचन सुनकर भी निद्रादिक का बहानाकर प्रत्युत्तर न देना, १३ गुरु आदि के कोई पास आये तो उसे प्रसन्न रखने के हेतु गुरु से पूर्व आप ही बोले, १४ आहार आदि प्रथम अन्य साधुओं के पास आलोच्यकर पश्चात् गुरु के पास आलोच्ये, १५ आहार आदि प्रथम अन्य साधुओं को बताकर पश्चात् गुरु को बतावे, १६ आहार आदि करने के समय प्रथम अन्य साधुओं को बुलाकर पश्चात् गुरु को बुलावे, १७ गुरु को पूछे बिना ही स्वेच्छा से स्निग्ध तथा मिष्ट अन्न दूसरे साधुओं को देना, १८ गुरु को जैसा-वैसा देकर सरस व स्निग्ध आहार स्वयं वापरना, १९ गुरु बुलावे तब सुनकर भी अनसुने की तरह उत्तर न देना, २० गुरु के साथ कर्कश तथा उच्च स्वर से बोलना, २१ गुरु बुलावे तब अपने आसन पर बैठे हुए ही उत्तर देना, २२ गुरु बुलावे तब 'कहो क्या है? कौन बुलाता है?' ऐसे विनय रहित वचन बोलना, २३ गुरु कोई काम करने को कहे तब 'आप क्यों नहीं करते?' ऐसा उत्तर देना, २४ गुरु कहे कि 'तुम समर्थ हो, पर्याय से (दीक्षा से) छोटे हो, इसलिए वृद्ध-ग्लानादिक का वैयावृत्य करो' तब 'तुम स्वयं क्यों नहीं करते? क्या आपके अन्य शिष्य लाभ के अर्थी नहीं? उनके पास से कराओ' इत्यादि प्रत्युत्तर देना, २५ गुरु धर्मकथा कहें तब अप्रसन्न होना, २६ गुरु सूत्र आदि का पाठ दे तब 'इसका अर्थ आपको बराबर स्मरण नहीं, इसका ऐसा अर्थ नहीं, ऐसा ही है' ऐसे वचन बोलना, २७ गुरु कोई कथा आदि कह रहे हो तो अपनी चतुरता बताने के हेतु 'मैं कहूँ' ऐसा बोलकर (अथवा बीच में प्रत्युत्तर देकर) कथाभंग करना, २८ पर्षदा रसपूर्वक धर्मकथा सुनती हो, तब 'गोचरी का समय हुआ' इत्यादि वचन कहकर पर्षदा भंग करना, २९ पर्षदा उठने के पूर्व अपनी चतुराई बताने के हेतु गुरु ने कही वही कथा विशेष विस्तार से कहना, ३० गुरु की शय्या, आसन संधारा आदि वस्तु को पैर लगाना, ३१ गुरु की शय्या आदि पर बैठना, ३२ गुरु से ऊंचे आसन पर बैठना, ३३ गुरु के समान आसन पर बैठना। आवश्यकचूर्णि आदि ग्रंथ में तो गुरु धर्मकथा कहते हों,

तब बीच में 'जी हां, यह ऐसा ही है' ऐसा शिष्य कहे तो यह एक पृथक् आशातना मानी है, और गुरु से ऊंचे अथवा समान आसन पर बैठना यह दोनों मिलाकर एक ही आशातना मानी है। इस प्रकार गुरु की तैतीस आशातनाएं हैं।

गुरु की त्रिविध आशातना मानते हैं, वे इस प्रकार—१ गुरु को शिष्य के पैर आदि से स्पर्श होवे तो जघन्य आशातना होती है। २ गुरु को शिष्य के खंखार (कफ) धूक आदि का स्पर्श हो तो मध्यम आशातना होती है और ३ गुरु की आज्ञा न पालना, उससे उलटा करना, गुरु की आज्ञा न सुनना तथा कठोर वचन बोलना इत्यादिक से उत्कृष्ट आशातना होती है।

स्थापनाचार्य की आशातना तीन प्रकार की है। यथा— १ स्थापनाचार्यजी को इधर उधर फिरावे, अथवा पग आदि लगावे तो जघन्य आशातना होती है, २ भूमि पर रखे अथवा अवज्ञा (तिरस्कार) से पटक दे तो मध्यम आशातना होती है, और ३ खो देवे अथवा तोड़ डाले तो उत्कृष्ट आशातना होती है। ज्ञानोपकरण की तरह रजोहरण, मुहपत्ति, दांडादांडी आदि दर्शन के व चारित्र के उपकरण की भी आशातना टालना। कारण कि, "नाणाइतिअं" ऐसे वचन से ज्ञानोपकरण की तरह दर्शनोपकरण और चारित्रोपकरण की भी गुरु के स्थान पर स्थापना होती है, इसलिए विधि से वापरने की अपेक्षा अधिक वापरकर उनकी आशातना न करना। श्री महानिशीथसूत्र में कहा है कि अपना आसन, उत्तरासंग, रजोहरण, अथवा दांडा अविधि से वापरने से एक उपवास की आलोचना आती है। इसलिए श्रावकों को भी चरवला, मुहपत्ति आदि उपकरण विधि से वापरना और ठीक अपने-अपने स्थान पर रखना। ऐसा न करने से धर्म की अवज्ञा आदि दोष सिर पर आता है। इन आशातनाओं में उत्सूत्रवचन, अरिहंत अथवा गुरु आदि की अवज्ञा आदि उत्कृष्ट आशातनाएं सावद्याचार्य, मरीचि, जमालि, कूलवालक आदि को जैसे अनन्त-संसारी करनेवाली हुई, वैसे ही अनन्त संसार की करनेवाली जानो। कहा है कि—

उस्सुत्तभासगाणं, बोहिनासो अणंतसंसारो।

पाणच्चए वि धीरा, उस्सुत्तं ता न भासंति ॥१॥

तित्थयरपवयणसुअं, आयरिअं गणहरं महिद्धीअं।

आसायंतो बहुसो, अणंतसंसारिओ होइ ॥२॥

उत्सूत्रवचन बोलनेवाले के समकित का नाश होता है, और वह अनन्त संसारी होता है। इसलिए धीरपुरुष प्राण त्याग हो जाय तो भी उत्सूत्र वचन नहीं बोलते। तीर्थकर भगवान्, गणधर, प्रवचन, श्रुत आचार्य अथवा अन्य कोई महर्द्धिक साधु आदि की आशातना करनेवाला अनंतसंसारी होता है।

देवद्रव्यादि की व्याख्या :

इसी तरह देवद्रव्य, ज्ञानद्रव्य, साधारणद्रव्य और वस्त्र पात्रादि गुरुद्रव्य इनका नाश करे, अथवा नाश होता हो तो उपेक्षा आदि करे, तो भी भारी आशातना लगती है,

कहा है कि—

चेइअदव्वविणासे, इसिघाए पवयणस्स उच्चहे।

संजइचउत्थभंगे, मूलगगी बोहिलाभस्स ॥१॥

चैत्यद्रव्य का भक्षणादिक से नाश करना, चारित्री मुनिराज का घात करना, प्रवचन का उच्चाह (अवहेलना हो वैसी क्रिया) करना और साध्वी के चतुर्थव्रत का भंग करना इत्यादि कृत्य करनेवाला समकित के लाभरूपी वृक्ष की जड़ में अग्नि डालता है। यहां विनाश शब्द से चैत्यद्रव्य का भक्षण व उपेक्षा समझना। श्रावक दिनकृत्य, दर्शनशुद्धि इत्यादि ग्रंथों में कहा है कि—जो मूढमति श्रावक चैत्यद्रव्य का अथवा साधारणद्रव्य का भक्षणादिक से विनाश करे, उसे धर्मतत्त्व का ज्ञान नहीं होता, अथवा वह नरकगति का आयुष्य बांधता है। चैत्यद्रव्य प्रसिद्ध है। वैसे ही श्रीमंत श्रावकों ने 'नया मंदिर कराने या पुराने मंदिर का उद्धार करवाने, पुस्तकें लिखवाने, दुर्दशा में आये हुए श्रावकों को सहायता करने इत्यादि साधारण धर्मकृत्य करने के लिए दिया हुआ द्रव्य, साधारणद्रव्य कहलाता है। उसका विनाश करे, व्याज व्यवहार आदि से उपभोग करे तो साधारण द्रव्य का विनाश कहा जाता है। नया (नकद आया हुआ) द्रव्य और मंदिर के काम में लेकर पीछी उखाड़कर रखी हुई ईंटें, लकड़ियां, पत्थर आदि वस्तु ऐसे दो प्रकार के चैत्यद्रव्य का नाश होता है, और जो साधु उसकी उपेक्षा करे तो उसे भी सिद्धान्त में तीर्थकरादि ने अनन्त संसारी कहा है। मूल और उत्तर भेद से भी दो प्रकार का चैत्यद्रव्य कहा है। उसमें स्तंभ, कुंभी आदि मूलद्रव्य और छप्पर आदि उत्तरद्रव्य है। अथवा स्वपक्ष व परपक्ष इन दो भेदों से भी दो प्रकार का चैत्यद्रव्य जानना। उसमें श्रावकादिक स्वपक्ष और मिथ्यादृष्टि आदि परपक्ष हैं। सर्व सावद्य से विरत साधु भी चैत्यद्रव्य की उपेक्षा करने से यदि अनन्तसंसारी होता है, तो फिर श्रावक हो इसमें तो आश्चर्य ही क्या है?

शंका : त्रिविधत्रिविध सर्वसावद्य का पचवक्खाण करनेवाले साधु को चैत्यद्रव्य की रक्षा करने का अधिकार किस प्रकार आता है?

समाधान : 'जो साधु राजा, मंत्री आदि के पास से मांगकर घर दूकान, गांव इत्यादि मंदिर खाते दिलाकर इस दान कर्म से चैत्यद्रव्य में नया फैलाव करे तो उस साधु को दोष लगता है। कारण कि, ऐसे सावद्य काम करने का साधु को अधिकार नहीं है। परन्तु कोई भद्रक जीव ने धर्मादिक के निमित्त पूर्व में दिया हुआ द्रव्य अथवा दूसरा चैत्यद्रव्य विनष्ट होता हो तो उसका यदि साधु रक्षण करे, तो कोई दोष नहीं। इतना ही नहीं बल्कि ऐसा करने में जिनाज्ञा की सम्यग् रीति से आराधना होने से साधु धर्म को पुष्टि मिलती है। जैसे साधु नया जिनमंदिर न बनवाये, किन्तु पूर्व के बने हुए जिनमंदिर की

1. चैत्य के लिए दिये हुए द्रव्य को भी साधारण द्रव्य में गिना है यह चिन्तनीय है।
2. वर्तमान में साधु नये-नये तीर्थस्थानों के संस्थापक हो रहे हैं और उनको सहायक होनेवाले श्रावक धर्म करते हैं या अधर्म इस पर वे अवश्य विचारें।

रक्षा करे तो उस साधु को कुछ भी प्रायश्चित्त नहीं लगता, अथवा सर्वसावद्य विरतिरूप प्रतिज्ञा को भी बाधा नहीं आती। ऐसा ही चैत्यद्रव्य की रक्षा में भी जानो। आगम में भी ऐसी ही व्यवस्था है। शंकाकार कहता है कि—'जिनमंदिर संबंधी क्षेत्र, सुवर्ण, ग्राम, गाय इत्यादि वस्तु के संबंध में आनेवाले साधु की त्रिकरण शुद्धि किस प्रकार होती है?' उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि—'यहां दो बातें हैं, जो साधु मंदिर संबंधी वस्तु स्वयं मांगे, तो उसकी त्रिकरण शुद्धि नहीं होती, परन्तु जो कोई यह (चैत्यसंबंधी) वस्तु हरण करे, और साधु उस विषय की उपेक्षा करे, तो उसकी त्रिकरण शुद्धि नहीं होती; इतना ही नहीं बल्कि चैत्यद्रव्य हरणोपेक्षा से अभक्ति भी होती है। इसलिए किसीको भी हरण करते हुए अवश्य मना करना चाहिए। कारण कि, सर्व संघ को सब यत्न से चैत्यद्रव्य के रक्षण में और भक्षण की उपेक्षा न हो ऐसा प्रयत्न करना ही चाहिए, यह देवद्रव्य रक्षण करने का कार्य चारित्र से युक्त (मुनि) और चारित्र से रहित (श्रावक गृहस्थ) ऐसे सभी जैनियों का है।

वैसे ही स्वयं चैत्यद्रव्य खानेवाला, दूसरे खानेवाले की उपेक्षा करनेवाला और उधार देकर अथवा अन्य रीति से देवद्रव्य का नाश करनेवाला अथवा कौनसा काम थोड़े द्रव्य में हो सकता है व किस काम में अधिक द्रव्य लगता है इस बात का खयाल न होने से मतिमंदता से चैत्यद्रव्य का नाश करनेवाला अथवा विपरीत हिसाब लिखनेवाला श्रावक पापकर्म से लिप्त हो जाता है।

आयाणं जो भंजइ, पडिवन्नधणं न देइ देवस्स।

नस्संतं समुविक्खइ, सोऽवि हु परिभमइ संसारे ॥१॥

जिणपवयणवुद्धिकरं, पभावगं नाणदंसणगुणाणं।

पक्खंतो जिणदव्वं, अणंतसंसारिओ होइ ॥२॥

जिणपवयणवुद्धिकरं, पभावगं नाणदंसणगुणाणं।

रक्खंतो जिणदव्वं, परित्तसंसारिओ होइ ॥३॥

जिणपवयणवुद्धिकरं, पभावगं नाणदंसणगुणाणं।

वुद्धंतो जिणदव्वं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥४॥

देवद्रव्य की आवक में बाधा आये ऐसा कोई भी काम करे, अथवा स्वयं देना स्वीकार किया हुआ देवद्रव्य न दे, तथा देवद्रव्य भक्षण करनेवाले की उपेक्षा करे, तो भी वह संसार में भ्रमण करता है। केवलिभाषित धर्म की वृद्धि करनेवाले व ज्ञानदर्शन के गुण की प्रभावना करनेवाले ऐसे जो चैत्यद्रव्य का भक्षण करे, तो अनंतसंसारी होता है। देवद्रव्य होने से ही मंदिर की व्यवस्था तथा हमेशा पूजा, सत्कार होना संभव है। वहीं मुनिराज का भी योग मिल आता है। उनका व्याख्यान सुनने से केवलिभाषित धर्म की वृद्धि और ज्ञान-दर्शन के गुणों की प्रभावना होती है। केवलिभाषित धर्म की वृद्धि करनेवाले और ज्ञानदर्शन के गुणों की प्रभावना करनेवाले देवद्रव्य की जो रक्षा

करता है वह परिमित (अल्प) संसारी होता है। केवलिभाषित धर्म की वृद्धि करनेवाले और ज्ञान-दर्शन के गुणों की प्रभावना करनेवाले देवद्रव्य की, पूर्व का हो उसकी रक्षा तथा नया संचित करके उसकी वृद्धि करे वह केवलिभाषित धर्म की अतिशय भक्ति करने से तीर्थकर पद पाता है। 'पन्द्रह कर्मादान तथा अन्य निर्दाजनक व्यापार छोड़कर उत्तम व्यवहार से तथा न्यायमार्ग से ही देवद्रव्य की वृद्धि करनी चाहिए। कहा है कि—
—मोहवश कोई-कोई अज्ञानी पुरुष जिनेश्वर भगवान की आज्ञा से विपरीत मार्ग से देवद्रव्य की वृद्धिकर संसार समुद्र में डूबते हैं।' श्रावक सिवाय अन्य लोगों के पास से अधिक वस्तु बदले में रखना तथा व्याज भी विशेष लेकर देवद्रव्य की वृद्धि करना उचित है" ऐसा कुछ लोगों का मत है। सम्यक्त्व वृत्ति आदि ग्रंथों में संकाश की कथा के प्रसंग में ऐसा ही कहा है।

देवद्रव्य के भक्षण और रक्षण ऊपर सागरश्रेष्ठी का दृष्टांत है। यथा—

सागर सेठ की कथा :

साकेतपुर नामक नगर में अरिहंत का भक्त श्रेष्ठी सागर नामक एक सुश्रावक रहता था। वहां के अन्य सब श्रावकों ने सागर श्रेष्ठी को सुश्रावक समझ सर्व देवद्रव्य सौंपा, और कहा कि 'मंदिर के काम करनेवाले सुतार आदि को यह द्रव्य यथोचित देना' सागरश्रेष्ठी ने लोभ से देवद्रव्य के द्वारा धान्य, गुड़, घृत, तैल, वस्त्र आदि बहुतसी वस्तुएं मोल ले लीं, और सुतार आदिकों को नकद पैसा न देते उसके बदले में धान्य, गुड़, घृत आदि वस्तुएँ महंगे भाव से देने लगा और इससे जो लाभ मिलता था वह रख लेता था। ऐसा करते-करते उसने एक हजार कांकणी (रुपये के अस्सीवें भागरूप) का लाभ लिया, और उससे महान घोर पाप-कर्म उपाजित किया। उसकी आलोचना न कर मृत्यु पाकर समुद्र में जलमनुष्य हुआ। वहां जात्यरत्न के ग्राहकों ने जल तथा जलचरजीवों के उपद्रव को दूर करनेवाले अंडगोलिका का ग्रहण करने के निमित्त उसे वज्रघट्ट में पीला। वह महाव्यथा से मरकर तीसरी नरक में नारकी हुआ। वेदान्त में भी कहा है कि—देवद्रव्य तथा गुरुद्रव्य से हुई द्रव्य की वृद्धि परिणाम में अच्छी नहीं। क्योंकि, उससे इसलोक में कुलनाश और मृत्यु के अनन्तर नरकगति होती है। नरक में से निकलकर पांचसौ धनुष लम्बा महान् मत्स्य हुआ। उस भव में किसी म्लेच्छ ने उसके सर्वांग को छेदकर महान् कदर्थना की। उससे मृत्यु को प्राप्त होकर चौथे नरक में नारकी हुआ। इस प्रकार एक-एक भव बीच में करके सातों नरकों में दो-दो बार उत्पन्न हुआ। पश्चात् लगातार तथा अंतर से श्वान, सूवर, मेष, बकरा, भेड़ (घेटा), हरिण, खरगोश, शबर (एक जाति का हीरण), शियाल, बिल्ली, मूषक, न्यूला, मकड़ी, छिपकली, गोहेरा (विषखपरा), सर्प, बिच्छू, विष्ठा के कृमि, पृथ्वीकाय,

- वर्तमान में इन व्यापारों से धनार्जनकर देवद्रव्य की वृद्धि में धर्म माननेवाले और जो मूल में साधारण द्रव्य है उसे देवद्रव्य का सिक्का लगानेवाले मनन-चित्तन अवश्य करें।

अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, शंख, सीप, जोंक, कीड़ी, कीड़ा, पतंग, मकखी, भ्रमर, मत्स्य, कछुआ, गधा, भैंसा, बैल, ऊंट, खच्चर, घोड़ा, हाथी इत्यादि प्रत्येक जीवयोनियों में एक-एक हजार बार उत्पन्न होकर सर्व मिल लाखों भव संसार में भ्रमण करते पूरे किये। प्रायः सर्व भवों में शस्त्राघात आदि महाव्यथा सहन करके उसकी मृत्यु हुई पश्चात् बहुत सा पाप क्षीण हो गया, तब वसन्तपुर नगर में करोड़ाधिपति वसुदत्त श्रेष्ठी की स्त्री वसुमति के गर्भ में पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसके गर्भ में रहते ही वसुदत्त का सर्व द्रव्य नष्ट हो गया। पुत्र के जन्म होते ही उसी दिन वसुदत्त की मृत्यु हो गयी और जब उसे पांचवा वर्ष प्रारम्भ हुआ तब वसुमति भी देवगत हुई। लोगों ने उसका 'निष्पुण्यक' नाम रखा। कंगाल की तरह जैसे-तैसे निर्वाह करके वह बढ़ने लगा।

एक दिन उसका मामा स्नेह से उसे अपने घर ले गया। दैवयोग से उसी दिन रात्रि को मामा के घर को भी चौरों ने लूट लिया। इस प्रकार जिस किसीके घर वह एक दिन भी रहा, उन सब के यहां चोर, डाकू, अग्नि आदि का उपद्रव हुआ, कहीं-कहीं तो घरधनी ही मर गया। पश्चात् 'यह कपोतपोत (कबूतर का बच्चा) है? कि जलती हुई भेड़ है? अथवा मूर्तिमान उत्पात है?' इस प्रकार लोग उसकी निन्दा करने लगे। जिससे उद्वेग पाकर वह निष्पुण्यक नामक सागरश्रेष्ठी का जीव देशदेशान्तर में भटकता हुआ ताम्रलिषि नगरी में गया। वहां विनयंधर श्रेष्ठी के यहां नौकर रहा। उसी दिन विनयंधर श्रेष्ठी के घर में आग लगी। जिससे उसने कूत्ते की तरह अपने घर से निकाल दिया। तदनंतर किंकर्तव्यविमूढ़ हो वह पूर्वभव में उपार्जन किये हुए कर्मों की निन्दा करने लगा, कहा है कि—

कम्मं कुणंति सवसा, तस्सुदयंमि अ परव्वसा हुंति।

रुक्खं दुरुहइ सवसो, निवडेइ परव्वसो तत्तो ॥११॥

सर्व जीव स्वाधीनता से कर्म करते हैं परन्तु जब उन्हें भोगने का अवसर आता है तो पराधीन होकर भोगते हैं। जैसे मनुष्य स्वतंत्रता पूर्वक वृक्ष पर चढ़ जाता है, परन्तु गिरने का समय आये तब परतंत्र होकर नीचे गिरता है। तदनन्तर निष्पुण्यक ने सोचा कि 'योग्य स्थान का लाभ न होने से भाग्योदय को बाधा आती है।' समुद्रतट पर गया, और धनावह श्रेष्ठी की दासता स्वीकार की, उसी दिन नौका पर चढ़ा व कुशलपूर्वक श्रेष्ठी के साथ द्वीपान्तर में गया। वह मन में विचार करने लगा कि 'मेरा भाग्य उदय हुआ! कारण कि मेरे अन्दर बैठते हुए भी नौका न डूबी, अथवा इस समय मेरा दुर्दैव अपना काम भूल गया। ऐसा न हो कि लौटते समय उसे याद आये।' कदाचित् निष्पुण्यक के मन में आयी हुई कल्पना को सत्य करने के लिये ही उसके दुर्दैव ने लकड़ी का प्रहार करके मिट्टी के घड़े की तरह लौटते समय उस नौका के टुकड़े टुकड़े कर दिये। दैवयोग से एक पटिया निष्पुण्यक के हाथ में आ गया, उसकी सहायता से वह समुद्रतट के एक ग्राम में पहुंचा और वहां के ठाकुर के आश्रय में रहने लगा।

एक दिन चोरों ने ठाकुर के घर पर डाका डाला, तथा निष्पुण्यक को ठाकुर का पुत्र समझ वे उसे बांधकर अपने स्थान को ले गये। उसी दिन दूसरे किसी डाकू सरदार ने डाका डालकर उपरोक्त डाकूओं की पल्ली का समूल नाश कर दिया। तब उन चोरों ने भी निष्पुण्यक को अभागा समझकर निकाल दिया। कहा है कि—

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः सन्तापितो मस्तके,
वाञ्छन् स्थानमनातपं विधिवशाद् बिल्चस्य मूलं गतः।
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः,
प्रायो गच्छति यत्र दैवहतकस्तत्रैव यान्त्यापदः ॥१॥

एक सिरपर गंजवाला मनुष्य सिरपर धूप लगने से बहुत तप गया। और शीतलछाया की इच्छा से दैवयोग से वेलवृक्ष के नीचे जा पहुंचा तो वहां पर भी ऊपर से गिरे हुए एक वेलफल से 'कडाक' शब्द करके उसका सिर फूटा। तात्पर्य यह है कि, भाग्यहीन पुरुष जहां जावे वहां आपत्ति भी उसके साथ ही आती है। इस तरह भिन्न-भिन्न नौसौ निन्नानवे स्थलों में, चौर, जल, अग्नि, स्वचक्र, परचक्र, महामारी आदि अनेक उपद्रव होने से निष्पुण्यक को लोगों ने निकाला। तब वह अत्यन्त दुःखी हो एक घने वन में आराधकों को प्रत्यक्ष फलदाता सेलक नामक यक्ष के मंदिर में आया व अपना सर्व दुःख यक्ष से कहकर एकाग्रचित्त से उसकी आराधना करने लगा। उपवास करने से प्रसन्न हो यक्ष ने एक दिन उसे कहा कि, 'प्रतिदिन संध्या के समय मेरे सन्मुख स्वर्णमय एक हजार चंद्रक धारण करनेवाला मोर नृत्य करेगा, उसके नित्य गिरे हुए पंख तू लेना।' निष्पुण्यक ने यक्ष के इन वचनों से हर्षित हो नित्य नित्य मयूर पंख एकत्र करना शुरू किया। इस तरह करते नौ सौ पंख एकत्रित हुए, शेष सौ रह गये। तब दुर्दैव की प्रेरणा से उसने विचार किया कि, 'शेष रहे हुए पंखों के लिए अब कितने दिन इस वन में रहना? अतः सर्व पंख मुझी में पकड़कर एकदम ही उखाड़ लेना ठीक है।' इस तरह निश्चयकर उस दिन जब मोर नाचने आया, तब एक मुझी से उसके पंख पकड़ने गया, इतने में ही मोर कौए का रूप करके उड़ गया और पूर्व एकत्रित नौसौ पंख भी चले गये! कहा है कि—

दैवमुल्लङ्घ्य यत्कार्यं, क्रियते फलवन्न तत्।

सरोऽम्भश्चातकेनात्तं, गलरन्ध्रेण गच्छति ॥१॥

दैव की मर्यादा का उल्लंघन करके जो कार्य किया जाय, वह सफल नहीं होता। देखो चातक जो सरोवर का जल पीता है वह पेट में न उतरकर गले में रहे हुए छिद्र से बाहर निकल जाता है। अंत में 'धिकार है मुझे! कि मैंने व्यर्थ इतनी उतावल की' इस तरह विषाद करते, इधर-उधर भटकते हुए उसने एक ज्ञानी गुरु को देखा। उनको वन्दनाकर अपने पूर्वकर्म का स्वरूप पूछा। ज्ञानी ने भी यथावत् कह सुनाया। जिसे

१. मोर के पंखपर जो नेत्राकार चिन्ह होते हैं उन्हें चंद्रक कहते हैं।

सुन पूर्व में देवद्रव्य से आजीविका की उसका प्रायश्चित्त मुनिराज से मांगा। मुनिराज ने कहा कि, 'जितना देवद्रव्य पूर्व भव में तूने व्यवहार में लिया, उससे भी अधिक द्रव्य देवद्रव्य खाते (फंड) में दे, और देवद्रव्य की रक्षा तथा उसकी वृद्धि आदि यथाशक्ति कर, ताकि तेरा दुष्कर्म दूर होगा, तथा परिपूर्ण भोग, ऋद्धि और सुख का लाभ होगा।' यह सुन निष्पुण्यक ने ज्ञानी गुरु के पास नियम लिया कि, 'मैंने पूर्वभव में जितना देवद्रव्य व्यवहार में लिया हो, उससे सहस्रगुणा द्रव्य देवद्रव्य खाते में न दे दू तब तक अन्न वस्त्र के खर्च के अतिरिक्त द्रव्य का संग्रह न करूंगा और इस नियम के साथ ही साथ उसने शुद्ध श्रावक धर्म भी ग्रहण किया। उस दिन से उसने जो-जो कार्य किया, उन सभी में उसे उत्तरोत्तर द्रव्य लाभ होता गया व ज्यों-ज्यों लाभ होता गया त्यों-त्यों वह सिर पर चढ़े देवद्रव्य को उतारता गया। तथा थोड़े ही दिनों में उसने पूर्वभव में वापरी हुई एक सहस्र काकिणी के बदले में दस लक्ष काकिणी देवद्रव्य खाते में जमा कर दी। देवद्रव्य के ऋण से अनृण होने के अनन्तर बहुत सा द्रव्य उपार्जन कर वह अपने नगर को आया। सर्व बड़े-बड़े श्रेष्ठियों में श्रेष्ठ होने से राजा ने भी उसका मान किया। अब वह अपने बनवाये हुए तथा अन्य भी सर्व जिनमंदिरों की व्यवस्था अपनी सर्व शक्ति से करने लगा, नित्य महान् पूजा तथा प्रभावना करता व देवद्रव्य का अच्छी तरह रक्षण करके युक्तिपूर्वक उसकी वृद्धि करता। ऐसे सत्कर्मों से चिरकाल पुण्योपार्जनकर अन्त में उसने जिननामकर्म बांधा। तत्पश्चात् अवसर पाकर दीक्षा लेकर गीतार्थ होने पर यथायोग्य बहुतसा धर्मोपदेश आदि करने से जिन-भक्तिरूप प्रथम स्थानक की आराधनाकी, और उससे पूर्वसंचित जिननामकर्मनिकाचित किया तदुपरांत सर्वार्थसिद्ध महाविमान में देवत्व तथा अनुक्रम से महाविदेह क्षेत्र में अरिहंत की ऋद्धि का उपभोगकर वह सिद्ध हो गया।

अब ज्ञानद्रव्य तथा साधारणद्रव्य के विषय में दृष्टान्त कहते हैं—

भोगपुर नगर में चौबीस करोड़ स्वर्णमुद्राओं का अधिपति धनावह नामक श्रेष्ठी था। उसकी स्त्री का नाम धनवती था। उनके कर्मसार व पुण्यसार नामक युगल (जोड़ले) पैदा हुए, दोनों सुन्दर पुत्र थे। एक दिन धनावह श्रेष्ठी ने किसी ज्योतिषी से पूछा कि, 'मेरे दोनों पुत्र आगे जाकर कैसे निकलेंगे?' ज्योतिषी ने कहा—'कर्मसार जड़स्वभाव का और बहुत ही मंदमति होने से अनेक प्रकार की युक्तियों से बहुत उद्यम करेगा; परन्तु सर्व पैतृकसंपत्ति खोकर बहुत कालतक दुःखी व दरिद्री रहेगा। पुण्यसार भी पैतृक तथा कष्टोपार्जित निज सर्व द्रव्य बार-बार खो देने से कर्मसार के ही समान दुःखी होगा तथापि यह व्यापारादि कला में बहुत ही चतुर होगा। दोनों पुत्रों को पिछली अवस्था में धन, सुख, संतति आदि की पूर्ण समृद्धि होगी।'

श्रेष्ठी ने दोनों पुत्रों को सर्व विद्या तथा कला में निपुण उपाध्याय के पास पढ़ने के लिए रखे। पुण्यसार सुखपूर्वक सर्व विद्याएं पढ़ा। परन्तु कर्मसार को ते बहुतसा परिश्रम करने पर भी एक अक्षर तक न आया। अधिक क्या कहा जाय! लिखना पढ़ना

आदि भी न आया। तब विद्यागुरु ने भी इसे सर्वथा पशुतुल्य समझ पढ़ाना छोड़ दिया। क्रमशः दोनों पुत्र तरुण हुए तब मा-बाप ने दोनों का दो श्रेष्ठ पुत्रियों के साथ विवाह किया। परस्पर कलह न हो इस उद्देश से धनावह श्रेष्ठी ने अपनी संपत्ति दोनों पुत्रों में बांटकर उन्हें पृथक्-पृथक् रखे तथा स्वयं स्त्री के साथ दीक्षा ले स्वर्ग को गया।

कर्मसार अपने स्वजनसंबंधियों का वचन न मानकर अपनी कुबुद्धि से ऐसे-ऐसे व्यापार करने लगा कि उनमें उसे धनहानि होती ही गयी व थोड़े दिनों में पिता की दी हुई सर्व सम्पत्ति गुमा दी। पुण्यसार की संपत्ति चोरों ने लूट ली। दोनों भाई निर्धन हो गये व स्वजनसंबंधी लोगों ने उनका नाम तक छोड़ दिया। दोनों की स्त्रियां अन्न वस्त्र तक का अभाव हो जाने से अपने-अपने पियर चली गयीं। कहा है कि—

अलिर्अपि जणो धणवंतयस्स सयणत्तणं पयासेइ।

आसण्णबंधवेण वि, लज्जिज्जइ झीणविह्वेण ॥१॥

लोग धनवान् पुरुष के साथ अपना सम्बन्ध न होते हुए भी अथवा अल्प होते हुए भी विशेष संबंध प्रकट करने लगते हैं और किसी निर्धन के साथ वास्तविक संबंध हो तो भी उससे संबंध दिखाने में भी शरमाते हैं। धन चला जाता है, तब गुणवान् पुरुष को भी उसके परिवार के लोग निर्गुणी मानते हैं और चतुरता आदि झूठे गुणों की कल्पना करके परिवार के लोग धनवान् पुरुषों के गुण गाते हैं। पश्चात् जब 'तुम बुद्धिहीन हो, भाग्यहीन हो' इस तरह लोग बहुत निन्दा करने लगे, तब लज्जित हो दोनों जन देशान्तर चले गये, अन्य कोई उपाय न रहने से दोनों किसी बड़े श्रेष्ठी के यहां पृथक्-पृथक् नौकरी करने लगे। जिसके यहां कर्मसार रहा था वह श्रेष्ठी कपटी व महाकृपण था। निश्चित किया हुआ वेतन भी न देकर 'अमुक दिन दूंगा' इस तरह बार-बार ठगा करता था। जिससे बहुत समय व्यतीत हो जाने पर भी कर्मसार के पास द्रव्य एकत्र न हुआ। पुण्यसार ने तो थोड़ा बहुत द्रव्य उपार्जन किया व उसे यत्नपूर्वक सुरक्षित भी रखा, परन्तु धूर्तलोग सब हरणकर ले गये। कर्मसार ने बहुत से श्रेष्ठियों के यहां नौकरी की, तथा किमिया, खनिवाद (भूमिमें से द्रव्य निकालने की विद्या) सिद्धरसायन, रोहणाचल को गमन करने के लिए मंत्रसाधन, रुदन्ती आदि औषधि की शोध इत्यादि कृत्य उसने सपरिश्रम ग्यारह बार किये, तो भी अपनी कुबुद्धि से तथा विधिविधान में विपरीतता होने से वह किंचिन्मात्र भी धन संपादन न कर सका। उलटे उपरोक्त कृत्यों से उसको नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़े।

पुण्यसार ने ग्यारह बार धन एकत्र किया और उतनी ही बार प्रमादादिक से खो दिया। अन्त में दोनों को बहुत उद्वेग उत्पन्न हुआ। और एक नौका पर चढ़कर रत्नद्वीप को गये। वहां की साक्षात् फलदाता एक देवी के सन्मुख मृत्यु स्वीकारकर दोनों बैठ गये। इस प्रकार सात उपवास हो गये, तब आठवें उपवास के दिन देवी ने कहा कि, 'तुम दोनों भाग्यशाली नहीं हो' देवी का वचन सुन कर्मसार उठ गया। और जब इक्कीस उपवास हो गये तब देवी ने पुण्यसार को तो चिंतामणी रत्न दिया। कर्मसार पश्चात्ताप

करने लगा, तब पुण्यसार ने कहा, 'भाई! विषाद न कर! इस चिन्तामणि रत्न से तेरी कार्यसिद्धि होगी। तदनंतर दोनों भाई हर्षित हो वापस लौटे, वे एक नौका पर चढ़े रात्रि को पूर्णचन्द्र का उदय हुआ, तब बड़े भाई ने कहा, 'भाई! चिन्तामणि रत्न निकाल, देखना चाहिए कि इस रत्न का तेज अधिक है कि चन्द्रमा का तेज अधिक है?' नौका के किनारे पर बैठे हुए छोटे भाई ने दुर्दैव की प्रेरणा से उक्त रत्न हाथ में लिया तथा क्षणमात्र रत्न ऊपर व क्षणमात्र चंद्रमा ऊपर दृष्टि करते वह रत्न समुद्र में गिर पड़ा। जिससे पुण्यसार के सर्व मनोरथ भंग हो गये। अन्त में दोनों भाई अपने गाँव में आये।

एक समय उन दोनों ने ज्ञानी मुनिराज को अपना पूर्वभव पूछा। तो मुनिराज ने कहा—'चंद्रपुर नगर में जिनदत्त और जिनदास नामक परमश्रावक श्रेष्ठी रहते थे। एक समय श्रावकों ने सर्व ज्ञानद्रव्य जिनदत्त श्रेष्ठी को व साधारणद्रव्य जिनदास श्रेष्ठी को रक्षण करने के हेतु सौंपा। वे दोनों श्रेष्ठी उसकी अच्छी प्रकार से रक्षा करते थे। एक दिन जिनदत्त श्रेष्ठी ने अपने लिये किसी लेखक से पुस्तक लिखवायी और पास में अन्य द्रव्य न होने से 'यह भी ज्ञान का ही काम है यह विचारकर ज्ञानद्रव्य में से बारह द्रम्म' लेखक को दे दिये।

जिनदास श्रेष्ठी ने तो एक दिन विचार किया कि, 'साधारण द्रव्य तो सातक्षेत्र में वपराता है इसलिए श्रावक भी इसे वापर सकता है, और मैं भी श्रावक हूँ, अतएव मैं अपने काम में उपयोग करूँ तो क्या हरकत है?' यह सोच कुछ आवश्यक कार्य होने से तथा पास में अन्य द्रव्य न होने से उसने साधारण द्रव्य में के बारह द्रम्म गृहकार्य में व्यय किये। यथाक्रम वे दोनों जन मृत्यु को प्राप्त होकर, उस पाप से प्रथम नरक को गये। वेदान्ती ने भी कहा है कि—प्राण कंठगत हो जाय, तो भी साधारणद्रव्य की अभिलाषा न करना। अग्नि से जला हुआ भाग ठीक हो जाता है, परन्तु साधारणद्रव्य के भक्षण से जो जला, वह पुनः ठीक नहीं होता। साधारणद्रव्य, दरिद्री का धन, गुरुपत्नी और देवद्रव्य इतनी वस्तुएं भोगनेवाले को तथा ब्रह्महत्या करनेवाले को स्वर्ग में से भी ढकेल देते हैं। नरक में से निकलकर वे दोनों सर्प हुए। वहां से निकल दूसरी नरक में नारकी हुए, वहां से निकल गिद्ध पक्षी हुए, पश्चात् तीसरी नरक में गये। इस तरह एक अथवा दो भव के अन्तर से सातों नरक में गये। तदनन्तर एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरैन्द्रिय और पंचैन्द्रिय तथा तिर्यग्योनि में बारह हजार भवकर उनमें अत्यन्त अशांतावेदनीय कर्म भोगा, जिससे बहुत कुछ पाप क्षीण हुआ, तब जिनदत्त का जीव कर्मसार व जिनदास का जीव पुण्यसार ऐसे नाम से तुम उत्पन्न हुए, बारह द्रम्म द्रव्य वापरा था इससे तुम दोनों को बारह हजार भव में बहुत दुःख भोगना पड़ा। इस भव में भी बारह-बारह करोड़ स्वर्णमुद्राएं चली गयीं, बारह वक्त बहुतसा उद्यम किया, तो भी एक को तो बिलकुल ही द्रव्यलाभ न हुआ, और दूसरे को द्रव्य मिला था, वह भी चला

१. बीस कोड़ी की एक कांकणी, चार कांकणी का एक पण, और सोलह पण का एक द्रम्म होता है।

गया, वैसे ही दूसरे के घर दासता तथा बहुत दुःख भोगना पड़ा। कर्मसार को तो पूर्वभव में ज्ञानद्रव्य वापरने से बुद्धि की अतिमंदता आदि निकृष्ट फल मिला।

मुनिराज का ऐसा वचन सुनकर दोनों ने श्रावक धर्म अंगीकार किया, और ज्ञानद्रव्य तथा साधारणद्रव्य लेने के प्रायश्चित्तरूप कर्मसार ने बारह हजार द्रम्म ज्ञानखाते तथा पुण्यसार ने बारह हजार द्रम्म साधारणखाते ज्यों-ज्यों उत्पन्न होते जायें त्यों-त्यों जमा करना ऐसा नियम लिया। पश्चात् पूर्वभव के पाप का क्षय होने से उन दोनों को बहुत द्रव्य लाभ हुआ। उन्होंने स्वीकृत किये अनुसार ज्ञानद्रव्य तथा साधारण द्रव्य दे दिया। उसके उपरान्त उन दोनों भाइयों के पास बारह करोड़ स्वर्णमुद्रा के बराबर धन हो गया। जिससे वे बड़े श्रेष्ठी व सुश्रावक हुए। उन्होंने ज्ञानद्रव्य और साधारणद्रव्य की अनेक प्रकार से रक्षा तथा वृद्धि आदि की। इस प्रकार उत्तम रीति से श्रावक-धर्म की आराधनाकर तथा अन्त में दीक्षा ले वे दोनों सिद्ध हो गये।

ज्ञानद्रव्य, देवद्रव्य की तरह श्रावक को बिलकुल ही अग्राह्य है। साधारण द्रव्य भी संघ ने दिया हो तभी वापरना योग्य है, अन्यथा नहीं। संघ ने भी साधारण द्रव्य सातक्षेत्रों में ही काम में लेना चाहिए, याचकादिक को न देना, आजकल के व्यवहार से तो जो द्रव्य गुरु के 'न्युंछनादिक से साधारणखाते एकत्र किया हुआ हो, वह श्रावक-श्राविकाओं को देने की कोई भी युक्ति दृष्टि में नहीं आती अर्थात् वह द्रव्य श्रावक-श्राविका को नहीं दिया जाता। धर्मशालादिक के कार्य में तो वह श्रावक से काम में लिया जा सकता है। इसी प्रकार ज्ञानद्रव्य में से साधुको दिये हुए कागजपत्रादिक भी श्रावक ने अपने उपयोग में न लेना, वैसे ही अधिक नकरा (न्यौछावर) दिये बिना उसमें अपने पुस्तक भंडार में पुस्तक स्थापन करने के लिए न लिखवाना, साधु संबंधी मुहपत्ति आदि को काम में लेना भी योग्य नहीं। कारण कि वह भी गुरुद्रव्य है। स्थापनाचार्य और नवकारवाली आदि तो प्रायः श्रावकों को देने के लिए ही गुरुने वोहोरी हो, और वह गुरु ने दी हो तो उनको वापरने का व्यवहार देखा जाता है। गुरु की आज्ञा बिना साधु, साध्वी को, लेखक से लिखवाना अथवा वस्त्रसूत्रादिक का बोहरना भी अयोग्य है इत्यादि। इस प्रकार देवद्रव्य, ज्ञानद्रव्य आदि थोड़ा भी जो अपनी आजीविका के निमित्त उपभोग में लें, तो उसका परिणाम द्रव्य के प्रमाण की अपेक्षा बहुत ही बड़ा व भयंकर होता है। यह जानकर विवेकी पुरुषों ने किंचित्मात्र भी देवद्रव्य, ज्ञानद्रव्य व साधारण द्रव्य का उपभोग किसी प्रकार भी न करना चाहिए। और इसी हेतु से माल पहनना, पहरामणी, न्युंछन इत्यादिक का स्वीकृत किया हुआ द्रव्य उसी समय दे देना चाहिए। कदाचित् ऐसा न हो सके तो जितना शीघ्र दिया जाय उतना ही गुणकारी है। विलम्ब करने से कभी-कभी दुर्दैव से सर्व द्रव्य की हानि अथवा

१. गुरु के संमुख खड़े रह उनके ऊपर से उतार भेंट की तरह रखा हुआ।

मृत्यु आदि हो जाना संभव है, और ऐसा हो तो सुश्रावक को भी अवश्य नरकादि दुर्गति को जाना पड़ता है। इस विषय में ऐसी बात सुनते हैं कि—

देवद्रव्य की उधारी का फल :

महापुर नामक नगर में अरिहंत का भक्त ऋषभदत्त नामक बड़ा श्रेष्ठी रहता था। वह किसी पर्व पर मंदिर को गया साथ में द्रव्य न होने से उधार खाते पहिरावणी का द्रव्य देना स्वीकार किया। बहुत से कार्यों में लग जाने से वह उक्त द्रव्य शीघ्र न दे सका। एक समय दुर्दैववश उसके घर पर डाका पड़ा। शस्त्रधारी चोरों ने उसका समस्त द्रव्य लुट लिया, और 'भविष्य में श्रेष्ठी अपने को राजदंड दिलायेगा' ऐसा मन में भय होने से उन्होंने ऋषभदत्त श्रेष्ठी को मार डाला। ऋषभदत्त का जीव उसी महापुर नगर में एक निर्दय, दरिद्री और कृपण भिश्ती के घर पाड़ा (भैंसा) के रूप में उत्पन्न हुआ। और नित्य घर-घर जलादिक भार उठाकर ले जाने लगा। वह नगर ऊंचा था, वह नदी बहुत गहरी थी। जिससे ऊंची भूमि चढ़ना, रात-दिन बोझा उठाना, धूप भूख तथा पीठपर पड़ती मार सहना इत्यादि महावेदनाएं उसने बहुत काल तक सहन कीं। एक दिन नये बने हुए जिनमंदिर का कोट बांधा जा रहा था, उसके लिए पानी लाते जिनमंदिर तथा जिनप्रतिमा आदि देख उसको जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ। जिससे वह वहीं स्थिर होकर खड़ा हो गया। भिश्ती ने बहुत प्रयत्न किया किन्तु उसने वहां से एक कदम भी न बढ़ाया। पश्चात् ज्ञानी गुरु के वचन से उसके पूर्वभव के पुत्रों ने भिश्ती को द्रव्य देकर उसे छुड़ाया और उसने पूर्वभव में जितना देवद्रव्य देना स्वीकार किया था उससे सहस्र गुणा द्रव्य देकर अपने पूर्वभव के पिता को ऋण से मुक्त किया। तदनंतर वह पाड़ा अनशन करके स्वर्ग में गया इत्यादि।

इसलिए माना हुआ देवद्रव्य क्षणमात्र भी घर में न ही रखना। विवेकी पुरुष अन्य किसीका देना हो तो भी व्यवहार रखने के लिए देने में विलम्ब नहीं करते, तो फिर देवादिद्रव्य देने के लिए विलम्ब कैसे किया जा सकता है? इसी कारण से देव, ज्ञान, साधारण आदि खाते में माल, पहिरावणी आदि का जितना द्रव्य देना स्वीकार किया हो, उतना द्रव्य उस खाते का हो चुका। अतः वह किस प्रकार भोगा जाय? अथवा उस रकम से उत्पन्न हुआ व्याज आदि लाभ भी कैसे लिया जाय? कारण कि, वैसा करने से उपरोक्त कथनानुसार देवादि द्रव्योपभोग का दोष लगता है। अतएव देवादिक का द्रव्य तत्काल दे देना। जिससे तत्काल न दिया जा सके उसने प्रथम से ही सप्ताह अथवा पक्ष की मुद्दत प्रकट कर देना चाहिए और मुद्दत के अन्दर ही उघाई की राह न देखते स्वयं दे देना चाहिए। मुद्दत बीत जाने पर देवादि द्रव्योपभोग का दोष लगता है। देवद्रव्यादिक की उघाई भी वह काम करनेवाले लोगों ने अपने द्रव्य की उघाई के समान शीघ्र व मन देकर करनी चाहिए। वैसा न करे, व आलस करे तो, कभी-कभी दुर्दैव के योग से दुर्भिक्ष, देश का नाश, दारिद्र्य प्राप्ति इत्यादिक हो जाती है, पश्चात् कितना ही प्रयत्न करने पर भी उघाई नहीं होती जिससे भारी दोष लगता है। जैसे—

महेन्द्र नामक नगर में एक सुन्दर जिनमंदिर था। उसमें चंदन, कपूर, फूल, अक्षत, फल, नैवेद्य, दीप, तैल, भंडार, पूजा की सामग्री, पूजा की रचना, मंदिर का समाराना, देवद्रव्य की उघाई, उसका हिसाब लिखना, यत्नपूर्वक देवद्रव्य रखना, उसके जमाखर्च का विचार करना, इतने काम करने के निमित्त श्रीसंघ ने प्रत्येक कार्य में चार-चार मनुष्य नियत किये थे। वे लोग अपना-अपना कार्य यथाशीति करते थे। एक दिन उघाई करनेवालों में से मुख्य मनुष्य एक जगह उघाई करने गया, वहां उघाई न होते उलटे देनदार के मुख में से निकले हुए दुर्वचन सुनकर वह बहुत दुःखी हुआ और उस दिन से वह उघाई के कार्य में प्रमाद करने लगा, 'जैसा मुख्य व्यक्ति वैसे ही उसके हाथ नीचे के लोग होते हैं।' ऐसा लोक व्यवहार होने से उसके अधीनस्थ लोग भी प्रमाद करने लगे। इतने में ही देश का नाश आदि होने से उधार रहा हुआ बहुतसा देवद्रव्य भी नष्ट हो गया। उस कर्म के दोष से उघाई करनेवालों का उक्त प्रमुख व्यक्ति असंख्याता भव में भटका इत्यादि।

इसी प्रकार देवद्रव्य आदि जो देना हो वह अच्छा देना। घिसा हुआ अथवा खोटा द्रव्य आदि न देना। कारण कि, वैसा करने से किसी भी प्रकार से देवद्रव्यादिक का उपभोग करने का दोष होता है। वैसे ही देव, ज्ञान तथा साधारण द्रव्य संबंधी घर, दुकान, खेत, बाड़ी, पाषाण, ईंट, काष्ठ, बांस, नलिया, माटी, खड़िया आदि वस्तु तथा चन्दन, केशर, कपूर, फूल, छबड़ियां, चंगेरी, धूपदान, कलश, वालाकुंची, छत्रसहित सिंहासन, चामर, चंदरवा, झालर, भेरी आदि वाद्य, तंबू, कोड़ियां (मिट्टी के दीवे) पड़दे, कम्बल, चटाई, कपाट, पाट, पटिया, पाटलियां, कुंडी, घड़े, ओरसिया, काजल, जल व दीपक आदि वस्तु तथा मंदिर की शाला में होकर नाली के मार्ग से आया जल आदि भी अपने कार्य के निमित्त न वापरना। कारण कि देवद्रव्य की तरह उसके उपभोग से भी दोष लगता है। चामर, तम्बू आदि वस्तु तो काम में लेने से कदाचित् मलिन होने तथा टूटने फूटने का भी संभव है, जिससे उपभोग करने की अपेक्षा भी अधिक दोष लगता है। कहा है कि—

विधाय दीपं देवानां, पुरस्तेन पुनर्नहि।

गृहकार्याणि कार्याणि, तिर्यङ्गपि भवेद्यतः ॥११॥

भगवान् के संमुख दीप पूजा के लिए दीपक करके उसी दीपक से घर के काम न करना। वैसा करने से तिर्यङ्गोनि में जाता है। जैसे कि—

ऊंटनी :

इन्द्रपुर नगर में देवसेन नामक एक व्यवहारी था, और धनसेन नामक एक ऊंटसवार उसका सेवक था। धनसेन के घर से नित्य एक ऊंटनी देवसेन के घर आती थी। धनसेन उसे मार-पीटकर ले जाता तो भी वह स्नेह से पुनः देवसेन के घर आ जाती। अंत में देवसेन ने उसे मोल लेकर अपने ही घर रख ली। किसी समय ज्ञानी मुनिमहाराज को उस ऊंटनी के स्नेह का कारण पूछने पर उन्होंने कहा कि—यह ऊंटनी

पूर्वभ्रव में तेरी माता थी। इसने भगवान् संमुख दीप पूजा के लिए दीपक करके उसी दीपक से घर के कार्य किये, धूपदान में रहे हुए अंगार से चूल्हा सुलगाया, उस पापकर्म से यह ऊंटनी हुई है। कहा है कि—जो मूर्ख मनुष्य भगवान् के निमित्त दीपक तथा धूप करके उसीसे घर के कार्य मोहवश करता है, वह बार-बार तिर्यंच योनि पाता है, इस प्रकार तुम्हारा दोनों का स्नेह पूर्वभ्रव के संबंध से आया हुआ है, इत्यादि।

इसलिए देव के सन्मुख किये हुए दीपक के प्रकाश में पत्रादिक न पढ़ना, कुछ भी घर का काम न करना, मुद्रा (नाणा) न परखना, देव सन्मुख किये हुए दीपक से अपने लिये दूसरा दीपक भी न सुलगाना, भगवान् के चंदन से अपने कपालादिक में तिलक न करना, भगवान् के जल से हाथ भी न धोना। नीचे पड़ी हुई भगवान् की शेषा (चढ़ाई हुई माला आदि) भी स्वल्प ही ली जाती है। परन्तु वह भी प्रतिमा के ऊपर से उतारकर नहीं ली जा सकती। भगवान् के भेरी, झालर आदि वाजिंत्र भी गुरु अथवा संघ के कार्य के लिए बजाये नहीं जा सकते। यहां किसी-किसी का मत ऐसा है कि, यदि कोई आवश्यक कार्य हो तो देव के वाजिंत्र काम में लेना, परन्तु प्रथम उसके बदले में देवद्रव्य खाते अच्छी भेट (नकरा) देना चाहिए, कहा है कि—

मूल्लं विणा जिणाणं, उवगरणं चमरछत्तकलसाई।

जो वावारइ मूढो, नियकज्जे सो हवइ दुहिओ ॥१॥

जो मूढ़पुरुष जिनेश्वर महाराज के चामर, छत्र, कलश आदि उपकरण मूल्य दिये बिना अपने काम में ले, वह दुःखी होता है। नकरा देने के बाद वापरने को लिये हुए वाजिंत्र कदाचित् टूट जाये तो निजद्रव्य से उन्हें ठीक कराके देना चाहिए। गृहकार्य के लिए किया हुआ दीपक दर्शन करने के लिए ही जो जिनेश्वर भगवान् की प्रतिमा के संमुख लाया गया हो तो इतने ही कारण से वह देवदीप नहीं हो सकता। जो पूजा के ही निमित्त भगवान् के सन्मुख रखा हो, तो वह देवदीप होता है। मुख्यतः तो देवदीप के निमित्त कोड़िया (मिट्टी के दीवे) आदि अलग ही रखना, और पूजा के निमित्त दीपक किया हो तो उसके कोड़िये, बत्ती अथवा घी, तैल अपने काम में न लेना। किसी मनुष्य ने पूजा करनेवाले लोगों के हाथ पैर धोने के लिए ही मंदिर में पृथक् जल रखा हो, तो उस जल से हाथ पैर धोने में दोष नहीं। छाबड़ियां, चंगेरी, ओरसिया आदि तथा चंदन, केशर, कपूर, कस्तूरी आदि वस्तु अपनी निश्रा से रखकर ही देवकार्य में वापरना; देव की निश्रा से कभी न रखना। कारण कि देव की निश्रा से न रखी हो तो प्रयोजन पड़ने पर वह घर के कार्य में ली जा सकती है। इसी प्रकार भेरी, झालर आदि वाजिंत्र भी साधारण खाते रखे हो तो वे सर्व धर्मकृत्यों में उपयोग में लिये जा सकते हैं। अपनी निश्रा से रखी हुई तंबू, पड़दा आदि वस्तुएं देवमंदिर में वापरने को रखे हों तो भी उस कारण से वह वस्तु देवद्रव्य नहीं मानी जाती। कारण कि, मन के परिणाम ही

प्रमाणभूत हैं। ऐसा न हो तो, अपने पात्र में रखा हुआ नैवेद्य भगवान् के सन्मुख रखते हैं, इससे वह पात्र भी देवद्रव्य मानना चाहिए। श्रावक को मंदिर खाते की अथवा ज्ञानखाते की घर, दुकान आदि वस्तु भाड़ा देकर भी वापरनी नहीं चाहिए। कारण कि, उससे निश्शुक्ता (बेदरकारी) आदि दोष होता है। साधारण खाते की वस्तु संघ की अनुमति से वापरनी पड़े तो भी लोक व्यवहार की रीति के अनुसार कम न पड़े इतना भाड़ा देना, और वह भी कही हुई मूद्दत के अंदर स्वयं ही जाकर देना। उसमें जो कभी उस घर की दिवार, पाट आदि पुराने हों, उनके गिर जाने पर पुनः ठीक करवाने पड़े तो जो कुछ खर्च हो, वह भाड़े में से काट लेना, कारण कि ऐसा लोकव्यवहार है; परन्तु जो अपने लिये ही एकाध माला नया बनवाया हो अथवा उस घर में अन्य कोई नया काम बढ़ाया हो तो उसका खर्च भाड़े में से नहीं लिया जा सकता, कारण कि उससे साधारण द्रव्य के उपभोग का दोष आता है। कोई साधर्मिक भाई बुरी अवस्था में हो तो वह संघ की सम्मति से साधारण खाते के घर में बिना भाड़े रह सकता है। वैसे ही अन्यस्थान न मिलने से तीर्थादिक में तथा जिनमंदिर में जो बहुत समय रहना पड़े तथा निद्रा आदि लेना पड़े तो भी जितना वापरने में आये, उससे भी अधिक नकरा देना। थोड़ा नकरा देने पर तो प्रकट दोष है ही। इस प्रकार देव, ज्ञान और साधारण इन तीनों खातों की वस्त्र, नारियेल, सोने चांदी की पटली, कलश, फूल, पक्वान्न मिठाई आदि वस्तुएं उजमणे में, नंदी में व पुस्तक पूजा में यथोचित नकरा दिये बिना न रखना। 'उजमणा आदि कृत्य अपने नाम से विशेष आडंबर के साथ किये हो तो लोक में प्रशंसा हो', ऐसी इच्छा से थोड़ा नकरा देकर अधिक वस्तु रखना योग्य नहीं। इस विषय पर लक्ष्मीवती का दृष्टान्त कहते हैं कि—

लक्ष्मीवती की कथा :

लक्ष्मीवती नामक एक श्राविका बहुत धनवान्, धर्मिष्ठ और अपना बड़प्पन चाहनेवाली थी। वह प्रायः थोड़ा नकरा देकर बड़े आडम्बर से विविध प्रकार के उजमणे आदि धर्मकृत्य करती तथा कराया करती थी। वह मन में यह समझती थी कि 'मैं देवद्रव्य की वृद्धि तथा प्रभावना करती हूं।' इस प्रकार श्रावकधर्म का पालनकर मृत्यु के बाद वह स्वर्ग में गयी। किन्तु बुद्धिपूर्वक अपराध के दोष से वहां नीच देवी हुई व वहां से च्यवकर किसी धनाढ्य व पुत्रहीन श्रेष्ठी के यहां मान्य पुत्रीरूप में उत्पन्न हुई। परन्तु जिस समय वह गर्भ में आयी उस समय आकस्मिक परचक्र का बड़ा भय आने से उसकी माता का सीमन्तोत्सव न हुआ। तथा जन्मोत्सव, छट्टी का जागरिकोत्सव, नामकरण का उत्सव पिता ने आडंबरपूर्वक करने की तैयारी की थी। किन्तु राजा तथा मंत्री आदि बड़े-बड़े लोगों के घर में शोक उत्पन्न होने के कारण वे न हो सके। वैसे ही श्रेष्ठी ने रत्नजडित सुवर्ण के बहुत से अलंकार प्रसन्नतापूर्वक बनवाये थे, परन्तु चौरादिक के भय से वह कन्या एक दिन भी न पहन सकी। वह माँ-बाप को तथा अन्य लोगों को भी बड़ी मान्य थी, तथापि पूर्वकर्म के दोष से उसको खाने, पीने, पहनने,

ओढ़ने आदि की वस्तुएं प्रायः ऐसी मिलती थी कि जो सामान्य मनुष्य को भी सुखपूर्वक मिल सकती हैं। कहा है कि- 'हे सागर! तू रत्नाकर कहलाता है व उसीसे तू रत्नों से परिपूर्ण है, तथापि मेरे हाथ में मेंढक आया! यह तेरा दोष नहीं बल्कि मेरे पूर्वकर्म का दोष है'। पश्चात् श्रेष्ठी ने 'इस पुत्री का एक भी उत्सव न हुआ।' यह विचारकर बड़े आडंबर से उसका लग्न महोत्सव प्रारंभ किया, किन्तु लग्न समीप आते ही उस कन्या की माता अकस्मात् मृत्यु को प्राप्त हुई! जिससे बिलकुल उत्सव न होकर केवल रूढ़ि के अनुसार वर-वधू का हस्तमिलाप किया गया। बड़े धनवान् व उदार श्रेष्ठी के घर उसका विवाह हुआ व भ्रसुर आदि सर्व जनों की वह मान्य थी, तो भी पूर्व की तरह नये नये भय, शोक, रोग आदि कारणों से उस कन्या को अपने मनवांछित विषयसुख तथा उत्सव भोगने का योग प्रायः न मिल सका, जिससे वह मन में बहुत उद्विग्न हुई तथा संवेग को प्राप्त हुई। एक दिन उसने केवली भगवंत को इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि, 'पूर्वभव में तूने थोड़ा नकरा देकर मंदिर आदि को बहुतसी वस्तुएं काम में लीं व भारी आडंबर दिखाया, उससे जो दुष्कर्म तूने उषार्जन किया, उसी का यह फल है।' केवली भगवंत के यह वचन सुनकर वह प्रथम आलोचना व अनंतर दीक्षा ले अनुक्रम से निर्वाण को प्राप्त हो गयी इत्यादि। अतएव उजमणा आदि में रखने के लिए पाटलियां, नारियल, लड्डू आदि वस्तुएं उनका जितना मूल्य हो, अथवा उनके तैयार करने, लाने में जितना द्रव्य लगा हो उससे भी कुछ अधिक रकम देना चाहिए। ऐसा करने से शुद्ध नकरा कहलाता है।

गृहमंदिर के पदार्थ का उपयोग कैसे करना?

किसीने अपने नाम से उजमणा किया हो परन्तु अधिक शक्ति न होने से उसकी रीति पूर्ण करने के लिए अन्य कोई मनुष्य कुछ रखे, तो उससे कुछ दोष नहीं होता। अपने गृहमंदिर में भगवान् के संमुख रखे हुए चावल, सुपारी, नैवेद्य आदि वस्तुएं बेचने से उपजी हुई रकम में से पुष्प, भोग (केशर, चंदन आदि वस्तु) अपने गृहमंदिर में न वापरना, और दूसरे जिनमंदिर में भी स्वयं भगवान् पर न चढ़ाना, बल्कि सत्य बात कहकर पूजक लोगों के हाथ से चढ़ाना। जिनमंदिर में पूजक का योग न हो तो सब लोगों को उस वस्तु का स्वरूप स्पष्ट कहकर स्वयं भगवान् पर चढ़ावे। ऐसा न करने से, निज खर्च न करते मुफ्त में लोगों से अपनी प्रशंसा कराने का दोष आता है। गृहमंदिर की नैवेद्य आदि वस्तु माली को देना, परन्तु यह उसके मासिक पगार की रकम में न गिनना। जो प्रथम से ही मासिक पगार के बदले नैवेद्य आदि देने का ठहराव किया हो, तो कुछ भी दोष नहीं। मुख्यतः तो माली को मासिक वेतन पृथक् ही देना चाहिए। गृहमंदिर में भगवान् के संमुख रखे हुए चावल, नैवेद्य आदि वस्तुएं बड़े जिनमंदिर में रखना, अन्यथा 'गृहमंदिर की वस्तु से ही गृहमंदिर की पूजा की, परन्तु स्व द्रव्य से नहीं की।' ऐसा होकर अनादर, अवज्ञा आदि दोष भी लगता है; ऐसा होना योग्य नहीं।

स्व द्रव्य से जिनपूजा एवं पदार्थ रक्षण :

अपने शरीर, कुटुम्ब आदि के निमित्त गृहस्थ मनुष्य कितना ही द्रव्य व्यय कर देता है। अतः जिनमंदिर में जिनपूजा भी शक्ति के अनुसार स्वद्रव्य से ही करनी चाहिए, अपने गृहमंदिर में भगवान् के सन्मुख धरी हुई नैवेद्यादि वस्तु बेचकर उत्पन्न हुए द्रव्य से अथवा देवद्रव्य संबंधी फूल आदि वस्तु से कभी न करना। कारण कि, वैसा करने से उपरोक्त दोष आता है। वैसे ही जिनमंदिर में आयी हुई नैवेद्य, चावल, सुपारी आदि वस्तु की अपनी वस्तु के समान रक्षा करना। उचित मूल्य उत्पन्न हो, ऐसी युक्ति से बेचना, जैसे-वैसे आवे उतने ही मूल्य में न देना। कारण कि, ऐसा करने से देवद्रव्य का विनाश आदि करने का दोष आता है। प्रयत्न पूर्वक रक्षा करने पर भी जो कदाचित् चोर, अग्नि आदि के उपद्रव से देवद्रव्यादि का नाश हो जाय, तो संरक्षक का कुछ दोष नहीं। कारण कि, भवितव्यता के आगे किसी का उपाय नहीं। तीर्थकी यात्रा, अथवा संघ की पूजा, साधर्मिकवात्सल्य, स्नात्र, प्रभावना, पुस्तक लिखवाना, वांचन आदि धर्मकृत्यों में जो अन्य किसी गृहस्थ के द्रव्य की मदद ली जाय तो, वह चार पांच पुरुषों की साक्षी से लेना, और वह द्रव्य खर्च करते समय गुरु, संघ आदि लोगों के संमुख उस द्रव्य का स्वरूप स्पष्ट कह देना, ऐसा न करने से दोष लगता है। तीर्थ आदि स्थल में देवपूजा, स्नात्र, ध्वजारोपण, पहरेारोपण आदि आवश्यक धर्मकृत्य स्वद्रव्य से ही करना चाहिए, उसमें अन्य किसी का द्रव्य न मिलाना।

उपरोक्त धर्मकृत्य स्वद्रव्य से करके पश्चात् अन्य किसी ने धर्मकृत्य में वापरने को द्रव्य दिया हो तो उसे महापूजा भोग, अंगपूजा आदि कृत्यों में सबके समक्ष अलग काम में लेना जब बहुत से गृहस्थ मिलकर यात्रा, साधर्मिक वात्सल्य, संघपूजा आदि कृत्य करें तो उस समय सबके समक्ष अपना-अपना जितना भाग हो, वह कह देना चाहिए। ऐसा न करने से पुण्य का नाश तथा चोरी आदि दोष सिर पर आता है। इसी प्रकार माता, पिता आदि की आयुष्य का अंतिम समय आये, उस समय जो उनके पुण्य के निमित्त द्रव्य खर्च करना हो तो मरनेवाली व्यक्ति शुद्धि में होते हुए गुरु तथा साधर्मिक आदि लोगों के समक्ष कहना कि, 'तुम्हारे पुण्य के निमित्त इतने दिन में मैं इतना द्रव्य खर्च करूंगा, उसकी तुम अनुमोदना करो।' ऐसा कहकर, कहीं हुई अवधि में उक्त द्रव्य, सर्व लोग जाने ऐसी रीति से व्यय करना। अपने नाम से उस द्रव्य का व्यय करने से पुण्य के स्थान में चोरी आदि करने का दोष आता है। पुण्यस्थान में चोरी आदि करने से मुनिराज को भी हीनता आती है। कहा है कि—जो मनुष्य (साधु) तप, व्रत, रूप, आचार और भाव इनकी चोरी करता है, वह किल्बिषी देवता का आयुष्य बांधता है।'

मुख्यवृत्ति से विवेकी पुरुष को धर्मखाते निकाला हुआ द्रव्य साधारण रखना,

- वर्तमान में जो लोग भगवान्, गुरु, देव-देवी के नाम से दुकान में भाग (हिस्सा) रखकर ऊन रुपयों से यात्रा प्रवास आदि करते हैं एवं अपने नाम से खर्च करते हैं वे कितना धर्म या अधर्म करते हैं? सोचे-विचारें।

वैसा करने से धर्मस्थान बराबर देखकर उस स्थान में उस द्रव्य का व्यय किया जा सकता है। सातों क्षेत्र में जो क्षेत्र गिरा हुआ हो, उसे आश्रय देने में विशेष लाभ दृष्टि आता है। कोई श्रावक ही बुरी दशा में हो, और उसे जो उस द्रव्य से सहायता की जाये, तो आलम्बन मिलने से वह श्रावक धनवान् होकर सातों क्षेत्रों की वृद्धि करे, यह संभव है। लौकिक में भी कहा है कि—

दरिद्रं भर राजेन्द्र! मा समृद्धं कदाचन।

व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरोगस्य किमौषधम्? ॥१॥

हे राजेन्द्र! तू दरिद्र मनुष्य का पोषण कर, पर धनवान् का मत कर। कारण कि, रोगी मनुष्य को ही औषधि देना हितकारी है, निरोगी मनुष्य को औषधि देने से क्या लाभ होगा? इसीलिए प्रभावना, संघ की पहिरावणी, द्रव्ययुक्त मोदक और ल्हाणी आदि वस्तु साधर्मिकों को देना हो, तब दरिद्री साधर्मिक को उत्तम से उत्तम वस्तु हो वही देना योग्य है, ऐसा न करने से धर्म की अवज्ञा आदि करने का दोष आता है। योग हो तो धनवान् की अपेक्षा दरिद्र साधर्मिक को अधिक देना, परन्तु योग न हो तो सभीको समान देना। सुनते हैं कि, यमुनापुर में जिनदास ठक्कुर ने धनिक साधर्मिकों को दिये हुये समकित मोदक में एक-एक स्वर्णमुद्रा रखी थी, और दरिद्री साधर्मिकों को दिये हुए मोदक में दो-दो स्वर्णमुद्राएं रखीं थीं। अस्तु, धर्मखाते व्यय करना स्वीकार किया हुआ द्रव्य उसी खाते में व्यय करना चाहिए।

मुख्यतः तो पिता आदि लोगों ने पुत्रादि के पीछे अथवा पुत्रादि ने पिता आदि के पीछे जो कुछ पुण्यमार्ग में व्यय करना हो, वह प्रथम से ही सबके समक्ष करना, कारण कि, कौन जाने किसकी, कहां व किस प्रकार मृत्यु होगी? इसलिए प्रथम निश्चय करके जितना माना हो, उतना अवसर पर अलग ही व्यय करना, तथा स्वयं किये हुए साधर्मिक वात्सल्य आदि में न गिनना। क्योंकि उससे धर्मस्थान में व्यर्थ दोष आता है।

बहुत से लोग यात्रा के निमित्त 'इतना द्रव्य खर्च करूंगा' इस तरह स्वीकार करके स्वीकृत रकम में से ही गाड़ी भाड़ा, खाना-पीना आदि द्रव्य भी खर्च करके उसीमें गिनते हैं, उन मूर्ख लोगों को ज्ञान नहीं कि, क्या गति होगी? यात्रा के निमित्त जितना द्रव्य माना हो, उतना देव, गुरु आदि का द्रव्य हो गया। वह द्रव्य जो अपने उपभोग में लिया जाये तो देवादिद्रव्य भक्षण करने का दोष क्यों न लगे?

इस प्रकार जानते अथवा अजानते जो किसी प्रसंग पर देवादिद्रव्य का उपभोग हो गया हो, उसकी आलोचना समान (जितने द्रव्य का उपभोग अनुमान से ध्यान में आता हो, उसी प्रमाण में) स्वद्रव्य देवादिद्रव्य में डालना चाहिए। मृत्यु समय समीप आने पर तो यह आलोचना अवश्य करनी चाहिए, विवेकी मनुष्य को अपनी अल्पशक्ति हो तो धर्म के सात क्षेत्रों में अपनी शक्ति के अनुसार अल्पद्रव्य व्यय करना, परन्तु किसीका ऋण सिर पर न रखना, पाई पाई चुकती कर देना चाहिए, उसमें भी देव, ज्ञान और साधारण इन तीन खातों का ऋण तो बिलकुल ही न रखना। ग्रंथकार ने ही कहा

है कि—

ऋणं ह्येकक्षणं नैव, धार्यमाणेन कुत्र (शंक्व) चित्।

देवादिविषयं तत्तु, कः कुर्यादतिदुस्सहम् ॥१॥

श्रेष्ठपुरुष ने किसीका ऋण एक क्षणमात्र भी कदापि न रखना चाहिए, तो भला अतिदुःसह देवादिक का ऋण कौन सिर पर रखे? अतएव बुद्धिमान पुरुष को धर्म का स्वरूप समझकर सब जगह स्पष्ट व्यवहार रखना चाहिए। कहा है कि—जैसे गाय नवीन चन्द्र को, न्यूला न्यूली को, हंस पानी में रहे हुए दूध को और पक्षी चित्रावेल को जानता है, वैसे ही बुद्धिमान् पुरुष सूक्ष्मधर्म को जानता है...इत्यादि। इस विषय का अधिक विस्तार न कर अब गाथा के उत्तरार्द्ध की व्याख्या करते हैं।

प्रत्याख्यान एवं गुरुवन्दन :

इस प्रकार जिनपूजा करके ज्ञानादि पांच आचार को दृढ़तापूर्वक पालनेवाले गुरु के पास जा स्वयं पूर्व किया हुआ पच्चक्खाण अथवा उसमें कुछ वृद्धि करके बोलना (ज्ञानादि पांच आचार की व्याख्या हमारे रचे हुए आचारप्रदीप ग्रंथ में देखो)।

पच्चक्खाण तीन की साक्षी से लिया जाना चाहिए। एक आत्मसाक्षिक, दूसरा देवसाक्षिक और तीसरा गुरुसाक्षिक। उसकी विधि इस प्रकार है—

जिनमंदिर में देववन्दन के निमित्त, आये हुए या स्नात्र महोत्सव के दर्शन के निमित्त अथवा उपदेश आदि कारण से वहां ठहरें हुए सद्गुरु के पास वन्दना आदि करके विधिपूर्वक पच्चक्खाण लेना। मंदिर में न हों तो उपाश्रय में जिनमंदिर की तरह तीन निसीहि तथा पांच अभिगम आदि यथायोग्य विधि से प्रवेशकर उपदेश के पूर्व अथवा अनन्तर सद्गुरु को पच्चीस आवश्यक से शुद्ध द्वादशावर्त वन्दना करे। इस वन्दना का फल बहुत बड़ा है। कहा है कि—

नीआगोअं खवे कम्मं, उच्चागोअं निबंधर।

सिद्धिलं कम्मगंठिं तु, वंदणेणं नरो करे ॥१॥

तित्थयरत्तं सम्पत्तखाइअं सत्तमीइ तइआए।

आठं वंदणेणं, बद्धं च दसारसीहेणं ॥२॥

मनुष्य श्रद्धा से वन्दना करे तो नीचगोत्र कर्म का क्षय करता है, उच्च गोत्र कर्म संचित करता है व कर्म की दृढ़ग्रंथि को शिथिल करता है। कृष्ण ने गुरुवन्दना से सातवीं के बदले तीसरी नरक का आयुष्य व तीर्थकर नामकर्म बांधा। तथा उसने क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त किया। शीतलाचार्य ने वन्दना करने के लिए आये हुए रात्रि को बाहर रहे हुए और रात्रि में केवलज्ञान पाये हुए अपने चार भाणजों को प्रथम क्रोध से द्रव्यवन्दना की, पश्चात् उनके वचन से भाववन्दना करने पर उनको केवलज्ञान उत्पन्न

१. आचार प्रदीप ग्रन्थ में आठ प्रकार के ज्ञानाचार की आठ कथाएँ हिन्दी लीपी गुजराती भाषा में 'ज्ञानाचार' नाम से छपवायी हुई हैं। प्राप्तिस्थान से प्राप्त हो सकेगी।

हुआ।

गुरुवन्दन भी तीन प्रकार का है। भाष्य में कहा है कि—गुरुवन्दन तीन प्रकार का है। एक फेड्वावन्दन, दूसरा थोभवन्दन और तीसरा द्वादशावर्त वन्दन। अकेला सिर नमाए, अथवा दोनों हाथ जोडना फेड्वावन्दन है, दो खमासमणा दे वह दूसरा थोभवन्दन तथा बारह आवर्त, पच्चीस आवश्यकदि विधि सहित दो खमासमणा दे वह तीसरा द्वादशावर्त वन्दन है। जिसमें प्रथम फेड्वावन्दन सर्वश्रमण संघ ने परस्पर करना। दूसरा थोभवन्दन गच्छ में रहे हुए श्रेष्ठ मुनिराज को अथवा कारण से लिंगमात्रधारी समकित्ती को भी करना। तीसरा द्वादशावर्तवन्दन तो आचार्य, उपाध्याय आदि पदधारक मुनिराज को ही करना। जिस पुरुष ने प्रतिक्रमण नहीं किया उसे भी गुरु को विधि से वन्दना करनी। भाष्य में कहा है कि—प्रथम इरियावही प्रतिक्रमण कर 'कुसुमिण दुसुमिण' टालने के लिए चार लोगस्स का अथवा सो उच्छ्वास का काउस्सग करे, कुस्वप्नादि का अनुभव हुआ हो तो एक सो आठ उच्छ्वास का काउस्सग करे पश्चात् आदेश लेकर चैत्यवन्दन करे, पश्चात् आदेश मांगकर मुहपत्ति पडिलेहे, फिर दो वन्दनाकर, राइअं आलोवे, पुनः दो वन्दना दे अब्बिंतर राइअं खमावे, फिर दो बार वन्दना देकर पच्चक्खाण करे, तदनंतर चार खमासमणां देकर आचार्यादिक को थोभवन्दन करे। बाद में सज्झाय संदिसाहुं? और सज्झाय करूं? इन दो खमासमण से दो आदेश लेकर सज्झाय करे। यह प्रातःकाल की वन्दनविधि है।

प्रथम इरियावही प्रतिक्रमणकर आदेश ले चैत्यवन्दन करे, फिर क्रमशः मुहपत्ति पडिलेहे, दो बार वन्दना दे, दिवसचरिम पच्चक्खाण करे, दो वन्दना देकर देवसिअ आलोवे। दो वन्दना देकर देवसिअं खमावे, चार खमासमणा देकर आचार्यादिक को वन्दनाकर आदेश ले देवसिप्रायच्छित्त विसोहण के निमित्त चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करे। पश्चात् सज्झाय संदिसाहुं? और सज्झाय करूं? इस रीति से आदेश मांगकर दो खमासमण देकर सज्झाय करे। यह संध्या समय की वन्दन विधि है।

गुरु किसी काम में व्यग्र होने से जो द्वादशावर्त वन्दना करने का योग न हो तो थोभवन्दन से ही गुरु को वन्दना करना। तथा वन्दना करके गुरु के पास पच्चक्खाण करना। कहा है कि—जो स्वयं प्रथम पच्चक्खाण किया हो वही अथवा उससे अधिक गुरु साक्षी से ग्रहण करना कारण कि, धर्म के साक्षी गुरु हैं। धर्मकार्य गुरु साक्षी से करने में इतने लाभ हैं कि, एक तो 'गुरुसक्खिओ उ धम्मो' (गुरु साक्षी से धर्म होता है) जिनेश्वर भगवान की आज्ञा का पालन होता है, दूसरा गुरु के वचन से शुभ परिणाम उत्पन्न होने से अधिक क्षयोपशम होता है, तीसरा पूर्व धारा हो उससे भी अधिक पच्चक्खाण लिया जाता है। ये तीन लाभ हैं। श्रावकप्रज्ञप्ति में कहा है कि—

संतंमिवि परिणामे गुरुमूलपवज्जणंमि एस गुणो।

दढया आणाकरणं, कम्मखओवसमवुद्धी अ ॥११॥

प्रथम से ही पच्चक्खाण आदि लेने के परिणाम हो तो भी गुरु के पास जाने में

यह लाभ है कि, परिणाम की दृढ़ता होती है, भगवान् की आज्ञा का पालन होता है और कर्म के क्षयोपशम की वृद्धि होती है। ऐसे दिन के अथवा चातुर्मास के नियमादि का भी योग हो तो गुरु साक्षी से ही ग्रहण करना।

पंच नामादि बाईस मूलद्वार तथा चारसो ब्यानवे प्रतिद्वार सहित द्वादशावर्त वन्दन विधि तथा दस प्रत्याख्यानादि नव मूलद्वार सहित पच्चक्खाण विधि भी भाष्यादि ग्रंथ में से जान लेना चाहिए। पच्चक्खाण का लेशमात्र स्वरूप पूर्व में कहा है। पच्चक्खाण का फल :

धम्मिलकुमार ने छः मास तक आंबिल तपकर बड़े-बड़े श्रेष्ठियों की, राजाओं की तथा विद्याधरों की बत्तीस कन्याओं से विवाह किया तथा अपार ऋद्धि प्राप्त की। यह इस लोक का फल है। तथा चार हत्या का करनेवाला दृढ़प्रहारी छः मास तप करके उसी भव में मुक्ति को गया यह परलोक का फल है। कहा है कि—

पच्चक्खाणांमि कए, आसवदाराई हुंति पिहिआहिं।

आसववुच्छेअण य, तण्हावुच्छेअणे हवइ ॥१॥

तण्हावुच्छेएणं, अउलोवसमो भवे मणुस्साणं।

अउलोवसमेण पुणो, पच्चक्खाणं हवइ सुद्धं ॥२॥

तत्तो चरित्तधम्मो, कम्मविवेगो अपुव्वकरणं तु।

तत्तो केवलनाणं, तत्तो मुक्खो सयासुक्खो ॥३॥

पच्चक्खाण करने से आश्रव द्वार का उच्छेद होता है। आश्रव के उच्छेद से तृष्णा का उच्छेद होता है। तृष्णा के उच्छेद से मनुष्यों को बहुत उपशम होता है। बहुत उपशम से पच्चक्खाण शुद्ध होता है। शुद्ध पच्चक्खाण से चारित्र धर्म प्राप्त होता है। चारित्रधर्म की प्राप्ति से कर्म का विवेक (क्षय) होता है। कर्म के विवेक से अपूर्वकरण की प्राप्ति होती है। अपूर्वकरण से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। व केवलज्ञान उत्पन्न होने से सदैव सुख के दाता मोक्ष की प्राप्ति होती है। पश्चात् श्रावक को साधु-साध्वी आदि चतुर्विध संघ को वन्दना करना।

सद्गुरु विनय :

जिनमंदिर आदि स्थल में गुरु का आगमन हो उनका अच्छी तरह आदर सत्कार करना। कहा है कि—

अभ्युत्थानं तदालोकेऽभियानं च तदागमे।

शिरस्यञ्जलिसंश्लेषः, स्वयमासनढौकनम् ॥१॥

आसनाभिग्रहो भक्त्या, वन्दना पर्युपासनम्।

तद्यानेऽनुगमक्षेति, प्रत्तिपत्तिरियं गुरोः ॥२॥

गुरु को देखते ही खड़ा हो जाना, आते हों तो संमुख जाना, दोनों हाथ जोड़कर सिरपर अंजलि करना, आसन देना, गुरु के आसन पर बैठ जाने के बाद बैठना,

भक्तिपूर्वक उनको वन्दना करना, उनकी सेवा पूजा करना, जब वे जाये तो उनके पीछे-पीछे जाना। इस प्रकार संक्षेप से गुरु का आदर होता है। वैसे ही गुरु की बराबरी में, मुख संमुख, अथवा पीठ की तरफ भी न बैठना चाहिए। उनके शरीर से भीड़कर न बैठना, वैसे ही उनके पास पग या हाथ की पालखी वालकर अथवा लंबे पैर करके भी न बैठना। अन्य स्थान में भी कहा है कि—पालखी वालना, टेका लेकर बैठना, पग लम्बे करना, विकथा करना, अधिक हंसना इत्यादि गुरु के समीप वर्जित हैं। और भी कहा है कि—

उपदेश कैसे सुनना ?

निद्राविकहापरिवज्जिण्हिं गुत्तेहिं पंजलिउडेहिं।

भक्तिबहुमाणपुव्वं उवउत्तेहिं सुणेअव्वं ॥४॥

सुननेवाली व्यक्ति ने निद्रा तथा विकथा का त्यागकर मन, वचन, काया की गुप्ति रखकर, हाथ जोड़कर और बराबर उपयोग सहित भक्ति से आदरपूर्वक गुरु के उपदेश वचन सुनना। इत्यादिक सिद्धान्त में कही हुई रीति के अनुसार गुरु की आशातना टालने के निमित्त गुरु से साढ़े तीन हाथ का अवग्रहक्षेत्र छोड़, उसके बाहर जीवजन्तु रहित भूमि पर बैठकर धर्मोपदेश सुनना। कहा है कि—

धन्यस्योपरि निपतत्यहितसमाचरणधर्मनिर्वापी।

गुरुवदनमलयनिःसृतवचनरसश्चन्दनस्पर्शः ॥१॥

शास्त्र से निन्दित आचरण से उत्पन्न हुए ताप को नाश करनेवाला, सद्गुरु के मुखरूपी मलयपर्वत से उत्पन्न हुआ चंदनरस सदृश वचनरूपी अमृत सत्पुरुषों के ही ऊपर गिरता है।

धर्मोपदेश सुनने से अज्ञान तथा मिथ्याज्ञान का नाश होता है, सम्यक्त्व का ज्ञान होता है, संशय जाता रहता है, धर्म में दृढ़ता होती है, व्यसनादि कुमार्ग से निवृत्ति होती है, सन्मार्ग में प्रवृत्ति होती है, कषायादि दोष का उपशम होता है, विनयादि गुणों की प्राप्ति होती है, कुसंगति का त्याग होता है, सत्संग का लाभ होता है, संसार से वैराग्य उत्पन्न होता है, मोक्ष की इच्छा होती है, शक्त्यानुसार देशविरति की अथवा सर्व विरति की प्राप्ति होती है, अंगीकार की हुई देशविरति अथवा सर्वविरति की सर्वप्रकार से एकाग्र मन से आराधना होती है। इत्यादिक अनेक गुण हैं। यह नास्तिक प्रदेशी राजा, आमराजा, कुमारपाल, थावच्चापुत्र इत्यादि के दृष्टान्त से जानना चाहिए। कहा है कि—

मोहं धियो हरति कापथमुच्छिनत्ति, संवेगमुन्नपयति प्रशमं तनोति।

सूते विरागमधिकं मुदमादधाति, जैनं वचः श्रवणतः किमु यन्न दत्ते॥

जिनेश्वर भगवन् का वचन सुने तो बुद्धि का मोह चला जाये, कुपन्थ का उच्छेद हो जाये, मोक्ष की इच्छा बदे, शांति का विस्तार हो अधिक वैराग्य उपजे, व अतिशय

हर्ष आदि उत्पन्न हो। ऐसी कौनसी वस्तु है कि जो जिनेश्वर भगवन् का वचन सुनने से न मिले?

अपना शरीर क्षणभंगुर है, बांधव बंधन समान है, लक्ष्मी विविध अनर्थ को उत्पन्न करनेवाली है, अतः जैन-सिद्धान्त सुनना जिससे संवेग आदि उत्पन्न होता है। तथा यह सिद्धान्त मनुष्य पर उपकार करने में किसी भी प्रकार की कमी नहीं रखता। प्रदेशी राजा का संक्षेप वर्णन इस प्रकार है—

प्रदेशी राजा की कथा :

श्वेताम्बीनगरी में प्रदेशी नामक राजा व चित्रसारथी नामक उसका मंत्री था। मंत्री ने चतुर्जानी श्रीकेशि गणधर से श्रावस्तिनगरी में श्रेष्ठ श्रावकधर्म अंगीकार किया था। एकबार उसके आग्रह से श्रीकेशि गणधर श्वेताम्बीनगरी में आये। मंत्री घोड़े पर बैठ सैर करने के बहाने प्रदेशी राजा को उनके पास ले गया। तब राजा ने गर्व से मुनिराज को कहा—‘हे मुनिराज! आप व्यर्थ कष्ट न करो। कारण कि धर्म आदि जगत् में है ही नहीं। मेरी माता श्राविका थी और पिता नास्तिक था। मृत्यु के समय मैंने उनसे बार-बार कहा था कि, ‘मृत्यु हो जाने के अनंतर तुमको जो सुख अथवा नरक में दुःख हो, वह मुझे अवश्य सूचित करना।’ परन्तु उनमें से किसीने आकर मुझे अपने सुख-दुःख का वृत्तान्त नहीं कहा। एक चोर के मैंने तिल के बराबर टुकड़े किये, तो भी मुझे उसमें कहीं भी जीव नजर नहीं आया। वैसे ही जीवित तथा मृत मनुष्य को तौलने से उनके भार में कुछ भी अन्तर ज्ञात न हुआ। और भी मैंने एक मनुष्य को छिद्र रहित एक कोठी में बंद कर दिया। वह अंदर ही मर गया। उसके शरीर में पड़े हुए असंख्य कीड़े मैंने देखे, परन्तु उस मनुष्य का जीव बाहर जाने तथा उन कीड़ों के जीवों को अंदर आने के लिए मैंने वाल के अग्रभाग के बराबर भी मार्ग नहीं देखा। इस प्रकार बहुत सी परीक्षाएं करके मैं नास्तिक हुआ हूं।’

श्रीकेशि गणधर ने कहा—‘तेरी माता स्वर्गसुख में निमग्न होने के कारण तुझे कहने को नहीं आयी, तथा तेरा पिता भी नरक की अतिघोर वेदना से आकुल होने के कारण यहां नहीं आ सके। अरणी की लकड़ी में अग्नि होते हुए, उसके चाहे कितने ही बारीक टुकड़े किये जायें तो भी उसमें अग्नि दृष्टि में नहीं आती। वैसे ही शरीर के चाहे कैसे ही बारीक टुकड़े करो तो भी उसमें जीव कहां है यह नहीं दीखता। लोहार की धमनी वायु से भरी हुई अथवा खाली तोलें तो भी तौल में रत्तीभर भी अन्तर नहीं होगा? उसी तरह शरीर में जीव होते हुए अथवा उसके निकल जाने पर शरीर तोलोगे तो अन्तर ज्ञात नहीं होगा। कोठी के अंदर बंद किया हुआ मनुष्य यदि शंख बजाये जो शब्द बाहर सुनने में आता है, परन्तु यह नहीं जान पड़ता कि वह शब्द किस मार्ग से बाहर आया। उसी प्रकार कोठी के अंदर बंद किये हुए मनुष्य का जीव कैसे बाहर गया और उसमें उत्पन्न हुए कीड़ों का जीव कैसे अन्दर आया, यह भी नहीं ज्ञात हो सकता।’

इस प्रकार श्रीकेशि गणधर ने युक्तिपूर्वक उसे समझाया, तब प्रदेशी राजा ने

कहा—'आप कहते हैं सो सब सत्य है, किन्तु कुल परंपरा से आया हुआ नास्तिकत्व कैसे छोड़ दूँ?' श्रीकेशि गणधर ने कहा। 'जैसे कुल परंपरा से आये हुए दारिद्र्य, रोग, दुःख आदि छोड़ दिये जाते हैं उसी तरह नास्तिकता को भी छोड़ देनी चाहिए।' यह सुन प्रदेशी राजा सुश्रावक हो गया उसकी सूर्यकान्ता नामक एक रानी थी। उसने परपुरुष में आसक्त हो एक बार पौषध के पारणे के दिन राजा को विष खिलाया। वह बात तुरंत राजा के ध्यान में आ गयी व उसने मंत्री से कही। पश्चात् मंत्री के कहने से उसने अपना मन समाधि में रखा और आराधना तथा अनशनकर वह सौधर्मदेवलोको में सूर्याभ विमान के अन्दर देवता हुआ। विषप्रयोग की बात खुल जाने से सूर्यकान्ता बहुत लज्जित हुई तथा भय से जंगल में भाग गयी और वहाँ सर्पवंश से मरकर नरक में पहुंची। एक समय आमलकल्पा नगरी में श्री वीरभगवान् समवसरे। तब सूर्याभ देवता बायें तथा दाहिने हाथ से एक सो आठ बालक तथा बालिकाएं प्रकट करना आदि प्रकार से भगवन् के संमुख आश्चर्यकारी नाटककर स्वर्ग में गया। तब गौतमस्वामी के पूछने पर श्री वीरभगवन्त ने सूर्याभ देवता का पूर्वभव तथा देव के भव से च्यवकर महाविदेहक्षेत्र में सिद्धि को प्राप्त होगा इत्यादि बात कही। इसी तरह आमराजा बप्पभट्टसूरि के, कुमारपाल राजा श्री हेमचन्द्रसूरि के उपदेश से बोध को प्राप्त हुए यह प्रसिद्ध है। अब संक्षेप से थावच्चापुत्र की कथा कहते हैं—

थावच्चापुत्र :

द्वारिकानगरी में किसी सार्थवाह की थावच्चा नामक स्त्री बड़ी धनवान थी। 'थावच्चापुत्र' इस नाम से प्रतिष्ठित उसके पुत्र ने बत्तीस कन्याओं से विवाह किया था। एक समय श्रीनेमिनाथ भगवन्त के उपदेश से उसे प्रतिबोध हुआ। माता के बहुत मना करने पर भी उसने दीक्षा लेने का विचार नहीं छोड़ा। तब वह दीक्षा उत्सव के निमित्त कृष्ण के पास कुछ राजचिन्ह मांगने गयी। कृष्ण ने भी थावच्चा के घर आकर उसके पुत्र को कहा कि, 'तू दीक्षा मत ले। विषयसुख का भोग कर।' उसने उत्तर दिया कि 'भय पाये हुए मनुष्य को विषयभोग अच्छे नहीं लगते।' कृष्ण ने पूछा, 'मेरे होते हुए तुझे किसका भय है?' उसने उत्तर दिया। 'मृत्यु का' तदनंतर स्वयं कृष्ण ने उसका दीक्षा उत्सव किया। थावच्चापुत्र ने एक सहस्र श्रेष्ठी आदि के साथ दीक्षा ली। अनुक्रम से वह चौदहपूर्वी हुआ, और सेलक राजा तथा उसके पांचसो मंत्रियों को श्रावककर सौगंधिकानगरी में आया। उस समय व्यास का पुत्र शुक नामक एक परिव्राजक अपने एक हजार शिष्यों सहित वहां था। वह त्रिदंड, मंडलु, छत्र, त्रिकाष्ठी, अंकुश, पवित्रक और केशरी नामक वस्त्र इतनी वस्तुएं हाथ में रखता था। उसके वस्त्र गेरू से रंगे हुए थे वह सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तानुसार चलनेवाला होने से प्राणातिपातविरमणादि पांच यम (व्रत) और शौच (पवित्रता) संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान यह पांच नियम मिलकर दश प्रकार के शौचमूल परिव्राजक धर्म की तथा दानधर्म की प्ररूपणा करता था। प्रथम उसने सुदर्शन नामक नगर सेठ से

अपना शौचमूल धर्म अंगीकार कराया था। थावच्चापुत्र आचार्य ने उसीको पुनः प्रतिबोधकर विनयमूल जिनधर्म अंगीकार कराया। पश्चात् सुदर्शन श्रेष्ठी के देखते हुए शुक परिव्राजक व थावच्चापुत्र आचार्य में परस्पर इस प्रकार प्रश्नोत्तर हुए—

शुकपरिव्राजक :- 'हे भगवान्! सरिसवय भक्ष्य है कि अभक्ष्य है?

थावच्चापुत्र :- 'हे शुकपरिव्राजक! सरिसवय भक्ष्य है, तथा अभक्ष्य भी है, वह इस प्रकार है—सरिसवय दो प्रकार के हैं। एक मित्र सरिसवय (समान उमर का) और दूसरा धान्य सरिसवय (सर्षप, सरसों)। मित्र सरिसवय तीन प्रकार के हैं। एक साथ में उत्पन्न हुआ, दूसरा साथ में बढ़ा हुआ, और तीसरा बाल्यावस्था में साथ में धूल में खेला हुआ। ये तीनों प्रकार के मित्र सरिसवय साधुओं को अभक्ष्य हैं। धान्य सरिसवय दो प्रकार के हैं। एक शस्त्र से परिणत और दूसरे शस्त्र से अपरिणत शस्त्र परिणत सरिसवय दो प्रकार के हैं। एक प्रासुक व दूसरे अप्रासुक। प्रासुक सरिसवय भी दो प्रकार के हैं। एक जात और दूसरे अजात। जात सरिसवय भी दो प्रकार के हैं। एक एषणीय और दूसरे अनेषणीय। एषणीय सरिसवय भी दो प्रकार के हैं। लब्ध और अलब्ध। धान्य सरिसवय में अशस्त्र परिणत, अप्रासुक, अजात, अनेषणीय व अलब्ध इतने प्रकार के अभक्ष्य है, तथा शेष सर्व प्रकार के धान्य सरिसवय साधुओं को भक्ष्य है। इसी प्रकार 'कुलत्थ' और 'मास' भी जानो। इसमें इतनी ही विशेषता है कि, मास तीन प्रकार का है। एक कालमास (महीना), दूसरा अर्थमास (सोने चांदी का तौल विशेष) और तीसरा धान्यमास (उड़द)।

इस प्रकार थावच्चापुत्र आचार्य ने बोध किया, तब अपने हजार शिष्यों के परिवार सहित शुक परिव्राजक ने दीक्षा ली। थावच्चाचार्य अपने एक हजार शिष्यों सहित शत्रुजय तीर्थ में सिद्धि को प्राप्त हुए। पश्चात् शुकाचार्य शेलकपुर के शेलक नाम राजा को तथा उसके पांचसो मंत्रियों को प्रतिबोधकर दीक्षा दे स्वयं सिद्धि को प्राप्त हुए। शेलकमुनि ग्यारह अंग के ज्ञाता हो अपने पांचसो शिष्यों के साथ विहार करने लगे। इतने में नित्य रूक्ष आहार करने से शेलक मुनिराज को खुजली (पामा) पित्त आदि रोग उत्पन्न हुए। पश्चात् विहार करते हुए वे परिवार सहित शेलकपुर में आये। वहां उनका गृहस्थाश्रम का पुत्र मड्डुक राजा था। उसने अपनी वाहनशाला में पिता मुनि को रखे। प्रासुक औषध व पथ्य का ठीक योग मिलने से शेलक मुनिराज निरोगी हो गये, तो भी स्निग्ध आहार की लोलुपता से विहार न कर वे वहीं रहे। तदनंतर पंथक नामक एक

1. 'सरिसवय' यह मागधी शब्द है। 'सदृशवय' व 'सर्षप' इन दो संस्कृत शब्दों का मागधी में 'सरिसवय' ऐसा रूप होता है। सदृशवय याने समान उमरका और सर्षप याने सरसों।
2. 'कुलत्थ' शब्द मागधी है। 'कुलत्थ' (कुलथी) व 'कुलस्थ' इन दो संस्कृत शब्दों का 'कुलत्थ' ऐसा एक ही मागधी में रूप होता है।
3. 'मास' (महीना), 'माष' (उड़द) और 'माष' (तौलने का एक बाट) इन तीनों शब्दों का मागधी में 'मास' ऐसा एक ही रूप होता है।

साधु को मुनिराज की श्रुश्रूषा करने के लिए रखकर शेष सर्व साधुओं ने विहार किया।

एक समय कार्तिक चौमासी के दिन शैलक मुनिराज यथेच्छ आहार कर सो रहे। प्रतिक्रमण का समय आया तब पंथक ने खमाने के निमित्त उनके पग में अपना मस्तक रखा। जिससे उनकी निद्रा उड़ गयी और क्रुद्ध हुए, अपने गुरु को कुपित देखकर पंथक ने कहा—'चातुर्मास में हुए अपराध खमाने के निमित्त मैंने आपके चरणों को स्पर्श किया, पंथक का ऐसा वचन सुन उनको वैराग्य उत्पन्न हुआ और मन में विचार करने लगे कि, 'रसविषय में लोलुप हुए मुझको धिक्कार है!' यह सोचकर उन्होंने तुरन्त विहार किया। पश्चात् अन्य शिष्य भी उन्हें मिले। वे शत्रुंजय पर्वत पर अपने परिवार सहित सिद्धि को प्राप्त हुए...इत्यादि।

धर्माचरण :

इसलिए सुश्रावक को नित्य सद्गुरु से धर्मोपदेश सुनना चाहिए। और धर्मोपदेश में कहे अनुसार यथाशक्ति धर्मानुष्ठान भी करना चाहिए। कारण कि, जैसे केवल औषधि के जानने से ही आरोग्यता नहीं होती, तथा भक्ष्य पदार्थ भी केवल देखने से पेट नहीं भरता, वैसे ही केवल धर्मोपदेश सुनने से भी पूर्णफल नहीं मिलता। अतएव उपदेशानुसार धर्मक्रिया करनी चाहिए। कहा है कि, पुरुषों को क्रिया ही फल को देनेवाली है। केवल 'ज्ञान' फल नहीं देता। कारण कि, स्त्री व भक्ष्य पदार्थ को भोगने का ज्ञान हो, तो भी केवल उस ज्ञान से ही मनुष्य को भोग से मिलनेवाला सुख प्राप्त नहीं होता। वैसे ही कोई पुरुष तैरना जानता हो, तो भी जो नदी में गिरकर शरीर को नहीं हिलाये तो वह नदी के प्रवाह में बह जाता है, इसी रीति से ज्ञानवान् पुरुष धर्मक्रिया न करे, तो संसारसमुद्र में गोते खाता है। दशाश्रुतस्कंध की चूर्णि में कहा है कि—जो अक्रियावादी हैं, वे भव्य हों, अथवा अभव्य हों, परन्तु नियम से कृष्ण पक्ष के तो होते ही हैं, और क्रियावादी नियम से भव्य व शुक्लपक्ष का ही होता है। वे सम्यग्दृष्टि हों अथवा मिथ्यादृष्टि हो तो भी वे पुद्गल परावर्त के अन्दर सिद्ध होंगे। इस पर से यह न समझना कि 'ज्ञान बिना की क्रिया भी हितकारी है, कहा है कि—

अन्नाणा कम्मखओ, जायइ मंडुक्कचुण्णतुल्लत्ति।

सम्मकिरिआइ सो पुण, नेओ तच्छारसारिच्छे ॥११॥

जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुआहिं वासकोडीहिं।

तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥१२॥

ज्ञान रहित क्रिया से जो कर्म का क्षय होता है, वह मंडूकचूर्ण के समान है, और ज्ञानपूर्वक क्रिया से जो कर्म का क्षय होता है वह मंडूकभस्म के समान है। अज्ञानी जीव करोड़ों वर्षों से जितने कर्म का क्षय करता है, उतने कर्म को मन, वचन, काया की गुमि रखनेवाला ज्ञानी एक उच्छ्वास में क्षय कर देता है। इसीलिए तामलितापस, पूरणतापस इत्यादि लोगों ने तपस्या का महान् कष्ट सहन किया, तो भी उन्हें ईशानेन्द्रपन और चमरेन्द्रपन इत्यादिक अल्प ही फल मिला। जो ज्ञानीपुरुष हो, तथापि चित्त में

श्रद्धा न हो तो उसे सम्यग् रीति से क्रिया में प्रवृत्ति नहीं होती। यहां अंगारमर्दक आचार्य का दृष्टान्त समझो, कहा है कि—

अज्ञस्य शक्तिरसमर्थविधेर्निबोधस्तौ चारुचेरियममू तुदती न किञ्चित्।

अन्धाङ्घ्रिहीनहतवाञ्छितमानसानां, दृष्टा न जातु हितवृत्तिरनन्तराया॥११॥

ज्ञान रहित पुरुष की क्रियाशक्ति, क्रिया करने में असमर्थ पुरुष का ज्ञान और मन में श्रद्धा न हो ऐसे पुरुष की क्रियाशक्ति व ज्ञान ये सर्व निष्फल हैं। यहां चलने की शक्तिवाला परन्तु मार्ग से अपरिचित अंधे का, मार्ग से परिचित परन्तु चलने की शक्ति से रहित पंगु का और मार्ग का ज्ञान व चलने की शक्ति होते हुए बुरे मार्ग में जाने के इच्छुक पुरुष का दृष्टान्त घटित होता है। कारण कि, दृष्टान्त में कहे हुए तीनों पुरुष अंतराय रहित किसी स्थान को नहीं जा सकते। इस पर यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य इन तीनों के योग से मोक्ष होता है। अतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की आराधना करने का नित्य प्रयत्न करना, यही तात्पर्य है।

सुखशांता पृच्छा :

इसी प्रकार सुश्रावक मुनिराज को संयमयात्रा का निर्वाह पूछे, यथा—'आपकी संयमयात्रा निभती है? आपकी रात्रि सुख से व्यतीत हुई? आपका शरीर निर्बाध है? कोई व्याधि आपको पीड़ा तो नहीं करती? वैद्य का प्रयोजन तो नहीं? औषध आदि का खप नहीं? किसी पथ्य आदि की आवश्यकता तो नहीं?' इत्यादि ऐसे प्रश्न करने से कर्म की भारी निर्जरा होती है। कहा है कि—

अभिगमणवदणनमंसणेण पडिपुच्छणेण साहूणं।

चिरसंचिअंपि कम्मं, खणेण विरलत्तणमुवेइ ॥११॥

साधुओं के संमुख जाने से, उनको वन्दना तथा नमस्कार करने से, और संयम यात्रा के प्रश्न पूछने से चिरकाल-संचितकर्म भी क्षणमात्र में शिथिलबंधन हो जाते हैं। प्रथम साधुओं को वन्दना करते समय सामान्यतः 'सुहराइ सुहदेवसी आदि शान्ति प्रश्न किया हो तो भी विशेषकर यहां जो प्रश्न करने को कहा, वह प्रश्न का स्वरूप सम्यक् प्रकार से बताने के निमित्त तथा प्रश्न में कहे हुए उपाय के हेतु है, ऐसा समझो इसीलिए यहां साधु मुनिराज के पांव छूकर इस प्रकार प्रकट निमंत्रणा करना—

सुपात्र दान :

'इच्छकारि भगवन्! पसाय करी प्रासुक और एषणीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोक्षणक, प्रातिहार्य पीठ, फलक, सिञ्जा (पग चौड़े करके सो सके वह) संधारा (जिस पर पग चौड़े न हो सकें), औषध (एक वस्तु से बनायी हुई), तथा भैषज (बहुत सी वस्तुएं सम्मिलित करके बनाया हुआ) इनमें से जिस वस्तु का खप हो उसे स्वीकारकर हे भगवन्! मेरे ऊपर अनुग्रह करो। आजकल यह निमंत्रण बृहद्दंदा देने के अनन्तर श्रावक करते हैं। जिसने साधु के साथ प्रतिक्रमण

किया हो वह श्रावक सूर्योदय होने के अनन्तर अपने घर जाकर पश्चात् निमंत्रण करे। जिस श्रावक को प्रतिक्रमण और वन्दना का योग न हो, उसने भी वन्दनादि के अवसर पर ही निमंत्रणा करना चाहिए। मुख्यतः तो दूसरी बार देवपूजाकर तथा भगवन् के संमुख नैवेद्य रखकर पश्चात् उपाश्रय को जाना, तथा साधु मुनिराज को निमंत्रणा करना। श्राद्ध-दिन-कृत्य आदि ग्रंथों में ऐसा ही कहा है। तत्पश्चात् अवसरानुसार रोग की चिकित्सा करावे, औषध आदि दे, उचित व पथ्य आहार वहोरावे, अथवा साधुमुनिराज की अन्य जो अपेक्षा हो वह पूर्ण करे। कहा है कि—

दाणं आहाराई, ओसहवत्थाई जस्स जं जोगं।

णाणाईण गुणाणं, उवडुंभणहेठ साहूणं ॥१॥

साधु मुनिराज के ज्ञानादि गुण को अवलम्बन देनेवाला चतुर्विध आहार, औषध, वस्त्र आदि जो मुनिराज के योग्य हो वह उनको देना चाहिए।

साधु मुनिराज अपने घर बहोरने आवें, तब जो-जो योग्य वस्तु हो, वे सर्व उनको वहोराना, और सर्व वस्तुओं का नाम लेकर नित्य कहना कि, 'महारजं! अमुक-अमुक वस्तु की जोगवाइ है' ऐसा न कहने से पूर्व की की हुई निमंत्रणा निष्फल होती है। नाम देकर सर्व वस्तुएं कहने पर भी कदाचित् मुनिराज न वहोरे, तो भी कहनेवाले श्रावक को पुण्यलाभ तो होता ही है। कहा है कि—

मनसापि भवेत्पुण्यं, वचसा च विशेषतः।

कर्तव्येनापि तद्योगे, स्वर्दुमोऽभूत्फलेग्रहिः ॥१॥

साधु मुनिराज को वहोराने की बात का मन में चिन्तन मात्र करने से भी पुण्य होता है, जो वचन से वहोराने की बात कहे तो विशेष पुण्य होता है; और जो वैसा योग बन जाये तो मानो कल्पवृक्ष ही मिल गया ऐसा समझना चाहिए। जिस वस्तु का योग हो, और जो श्रावक उस वस्तु का नाम लेकर न कहे तो वस्तु प्रत्यक्ष दीखने पर भी साधु नहीं वहोरते, इससे बड़ी हानि होती है। निमंत्रणा करने के बाद जो कदाचित् साधु मुनिराज अपने घर न आवें, तो भी निमंत्रणा करनेवाले को पुण्यलाभ तो होता ही है तथा विशेषभाव होने पर अधिक पुण्य होता है।

जैसे वैशालीनगरी में श्रीवीर भगवान् छद्मस्थ अवस्था में चौमासी तप करते थे तब जीरणश्रेष्ठी नित्य भगवान् को पारणे के निमित्त निमंत्रण करने आते। चौमासी तप पूर्ण हुआ उस दिन जीरणश्रेष्ठी ने समझा कि, 'आज तो स्वामी निश्चय पारणा करेंगे।' यह विचारकर वह बड़े आग्रहपूर्वक निमंत्रणाकर अपने घर गया, और मैं धन्य हूं। आज स्वामी मेरे घर पारणा करेंगे।' इत्यादि भावनाओं से उसने अच्युत देवलोक का आयुष्य बांधा। पारणे के दिन मिथ्यादृष्टि अभिनव श्रेष्ठी ने दासी द्वारा किसी भिक्षुक को भिक्षा देने के समान भगवंत को कुल्पाष (उड़द के बाकुले) दिलवाये। भगवंत ने

उसीसे पारणा किया, अभिनव श्रेष्ठी के घर पंच दिव्य प्रकट हुए, उस समय देवदुंदुभी का शब्द प्रकट हुआ जो जीरणश्रेष्ठी न सुनता, तो अवश्य ही केवलज्ञान भी पा जाता; परन्तु दुंदुभी का स्वर सुनते ही भावना खंडित हो गयी, ऐसा ज्ञानी कहते हैं।

साधु मुनिराज को आहार वहोराने के विषय में श्रीशालिभद्र आदि का और रोगादि पर औषध, भैषज देने के विषय में श्रीवीर भगवंत को औषध देनेवाली तथा जिननाम कर्म बांधनेवाली रेवती का दृष्टान्त जानना। रोगी साधु की शुश्रूषा (सार संभाल) करने में बहुत फल है। सिद्धान्त में कहा है कि—हे गौतम! जो जीव रुग्णसाधु की सेवा शुश्रूषा करता है, वह मेरे दर्शन (शासन) को मानता है, और जो मेरे दर्शन को मानता है, वह रुग्णसाधु की सेवा शुश्रूषा करता है। कारण कि, अरिहंत के दर्शन में शासन की आज्ञानुसार चलना ही प्रधान है। ऐसा निश्चयपूर्वक जानो, इत्यादि। इस पर कृमिकुष्ठ रोग से पीड़ित साधुकी सेवा शुश्रूषा करनेवाले ऋषभदेव के जीव जीवानन्दवैद्य का दृष्टान्त जानना। वैसे ही सुश्रावक को सुपात्र साधुओं को उचित स्थान में उपाश्रय आदि देना चाहिए। कहा है कि—

वसही सयणासणभत्तपाणभेसज्जवत्थपत्ताई।

जइवि न पज्जत्तधणो, थोवावि हु थोवयं देइ ॥१॥

जो देइ उवस्सयं जइवराण तवनिअमजोगजुत्ताणं।

तेणं दिन्नावत्थन्नपाणसयणासणविगप्पा ॥२॥

घर में यथोचित धन न हो, तो भी सुश्रावक को मुनिराज को वसति, शय्या, आसन, आहार, पानी, औषध, वस्त्र, पात्र आदि थोड़े से थोड़ा भी देना चाहिए। जयंती, वंकचूल, कोशा वेश्या, अवंतिसुकुमाल आदि सुपात्रों को उपाश्रय देने से ही संसारसागर पार कर गये। वैसे ही सुश्रावक को साधु की निंदा करनेवाले तथा जिनशासन के प्रत्यनीक लोगों को अपनी सर्वशक्ति से मना करना चाहिए। कहा है कि—सुश्रावक सामर्थ्य होते हुए, भगवान की आज्ञा से प्रतिकूल चलनेवाले लोगों की कदापि उपेक्षा न करे, समयानुसार अनुकूल अथवा प्रतिकूल उपाय से अवश्य शिक्षा के वचन कहे। यहां द्रमक मुनि की निन्दा करनेवाले लोगों को युक्ति से मना करनेवाले अभयकुमार का दृष्टान्त जानना।

साधु की तरह साध्वियों को भी सुखसंयमयात्रा के प्रश्न आदि करना। उसमें इतनी बात और अधिक जानना कि, साध्वियों का दुराचारी और नास्तिक लोगों से रक्षण करना। अपने घर के समीप चारों ओर से सुरक्षित तथा गुप्त द्वारवाली (जहां एकाएक कोई घुस न सके) वसति देना। अपनी स्त्रियों द्वारा उनकी सेवा कराना, अपनी पुत्रियों को ज्ञानादि गुण के निमित्त उनके पास रखना, अपने कुटुम्ब की पुत्री आदि कोई स्त्री दीक्षा लेने को तैयार हो, तो उसे उन्हींको (साध्वियों को) सौंपना, जो साध्वियाँ अपना कोई आचार भूल जायँ, तो उनको स्मरण कराना, जो साध्वियाँ अन्याय मार्ग में जाये तो उनको रोकना, जिनका पग असन्मार्ग में पड़ गया हो, तो

प्रथम उन्हें सदुपदेश देना, यदि वे शिक्षा न मानकर बार-बार कुमार्ग में जाये, तो उनको कठोर वचन कहना तथा अन्य उपाय न हो तो डंडादि से शिक्षा करना। वैसे ही उचित वस्तु देकर उनकी सेवा करनी चाहिए, इत्यादि।

ज्ञानार्जन :

सुश्रावक को साधु मुनिराज के पास कुछ तो भी पढ़ना चाहिए। कहा है कि-

अज्ञानस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्मीकस्य वि (च) वर्द्धनम्।

अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाध्ययनकर्मसु ॥१॥

सन्तोषस्त्रिषु कर्त्तव्यः, स्वदारे भाजने धने।

त्रिषु चैव न कर्त्तव्यो, दाने चाध्ययने तपे ॥२॥

गृहीत इव केशेषु, मृत्युना धर्ममाचरेत्।

अजरामरवत्प्राज्ञो, विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत् ॥३॥

जह जह सुयमवगाहइ, अइसरसपसरसंजुअमपुव्वं।

तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसंवेगसद्धाए ॥४॥

जो इह पढइ अपुव्वं, स लहइ तित्थंकरत्तमन्नभवे।

जो पुण पाढेइ परं, सम्मसुअं तस्स किं भणिमो? ॥५॥

विवेकी पुरुष को काजल का क्षय और वामेल (सर्प का वाल्मीक बील) की वृद्धि देखकर (सूर्योदय को देखकर) दान देना और पढ़ना इत्यादि शुभकृत्यों से अपना दिन सफल करना चाहिए। अपनी स्त्री, भोजन और धन इन तीनों वस्तुओं में संतोष रखना चाहिए। अर्थात् इन तीनों का विशेष लोभ न रखना, परन्तु दान, पढ़ना और तपस्या इन तीन वस्तुओं में संतोष न रखना अर्थात् इनकी नित्य वृद्धि करनी चाहिए। मानों मृत्यु ने अपने मस्तक के केश पकड़े हों, ऐसा सोचकर धर्मकृत्य शीघ्र से करना चाहिए, और काया को अजरामर समझ विद्या तथा धन का उपार्जन करना। साधु मुनिराज जैसे-जैसे अधिक रुचि से नये-नये श्रुत (शास्त्र) में प्रवेश करते हैं, वैसे-वैसे अपने संवेगीपन पर नयी-नयी श्रद्धा उत्पन्न होने से उनको बड़ा ही हर्ष होता है। जो जीव इस मनुष्यभव में प्रतिदिन नया-नया पढ़ता है, वह परभव में तीर्थंकरत्व पद पाता है। दूसरे को जो पढ़ाए, उसका ज्ञान श्रेष्ठ फल देता है यह कहने की तो आवश्यकता ही क्या रही? थोड़ी बुद्धि होने पर भी जो पाठ करने का नित्य उद्यम करे, तो माषतुषादिक की तरह उसी भव में केवलज्ञानादिक का लाभ होता है ऐसा जानना। राजादि का कार्य :

ऊपर कहे अनुसार धर्मक्रिया कर लेने के अनन्तर राजा आदि हो तो अपने राजमंदिर को जाये। मंत्री आदि हो तो न्याय-सभा में जाये, और वणिक् आदि हो तो अपनी दूकान पर अथवा जो कार्य करता हो उस कार्य के लिए जाये। इस प्रकार अपने अपने उचित स्थान को जाकर धर्म को विरोध न आये। उस रीति से द्रव्य संपादन करने

का विचार करना। जो राजा दरिद्री अथवा धनवान, मान्य अथवा अमान्य तथा उत्तम अथवा अधम मनुष्य को मध्यस्थ वृत्ति रखकर समानता से न्याय देता है, तो उसके कार्य में धर्म का विरोध नहीं है। यथा—

कल्याणकटकपुर में अत्यन्त न्यायी यशोवर्मा नामक राजा था। उसने अपने राजमंदिर के द्वार में न्याय घंटा नामक एक घंट बंधाकर रखा था। एक समय राजा के न्याय की परीक्षा के निमित्त राज्य की अधिष्ठायिका देवी तत्काल प्रसूति हुई गाय व बछड़े का रूप प्रकटकर राजमार्ग में बैठ गयी। इतने में राजपुत्र बड़े वेग से दौड़ती हुई एक घोड़ी पर बैठकर वहां आ पहुंचा। वेग बहुत होने से बछड़े के दो पग घोड़ी के अड़फेट में आये व उससे बछड़े की मृत्यु हो गयी। तब गाय आंख में से पानी टपकाते हुए विल्लाने लगी। किसीने गाय को कहा कि, 'तू राजद्वार पर जाकर न्याय मांग'। तब उसने वहां जाकर अपने सींग की नोक से न्यायघंट बजाया। राजा यशोवर्मा उस समय भोजन करने बैठा था, उसने घंटे का शब्द सुनते ही पूछा कि, 'घंटा कौन बजाता है?' सेवकों ने द्वार पर आ, देखकर कहा कि, 'हे देव! कोई नहीं है। आप भोजन करिए।' राजा ने कहा, 'किसने बजायी, इसका निर्णय हुए बिना मैं किस प्रकार भोजन करूं?' पश्चात् भोजन का थाल छोड़कर राजा द्वार पर आया तथा दूसरा कोई दृष्टि में न आने से उसने गाय को पूछा कि, 'क्या किसीने तुझे कष्ट पहुंचाया है? कष्ट पहुंचानेवाला कौन है? उसे मुझे बता।' तब गाय आगे चलने लगी व राजा भी उसके पीछे हो गया। गाय ने मरा हुआ बछड़ा दिखाया। राजा ने कहा—'इस बछड़े के ऊपरसे जो घोड़ी को कुदाता हुआ गया है, वह मेरे संमुख प्रकट हो।' परन्तु जब कोई कुछ न बोला तब राजा ने पुनः कहा कि, 'जब अपराधी प्रकट होगा तभी मैं भोजन करूंगा।'

उस दिन राजा को लंघन हुआ, तब प्रातः राजकुमार ने कहा—'हे तात! मैं अपराधी हूं। मुझे यथोचित दंड दो।' तदनन्तर राजा ने स्मृति के ज्ञाता पुरुषों से पूछा कि, 'इसे क्या दंड देना चाहिए?' उन्होंने उत्तर दिया, 'हे राजन्! राज्य के योग्य यह तेरा एक मात्र पुत्र है, अतएव इसके लिए क्या दंड बताये?' राजा ने कहा—'किसका राज्य और किसका पुत्र? मैं तो न्याय को ही सभी वस्तुओं से श्रेष्ठ मानता हूं। कहा है कि—

दुष्टस्थ दण्डः स्वजनस्य पूजा, न्यायेन कोशस्य च सम्प्रवृद्धिः।

अपक्षपातो रिपुराष्ट्ररक्षा, पञ्चैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम् ॥११॥

१ दुर्जन को दंड, २ सज्जन की पूजा करना, ३ न्याय से भंडार की वृद्धि करना, ४ पक्षपात न रखना, और ५ शत्रु से राज्य की रक्षा करना। ये ही राजाओं के लिए नित्य करने के योग्य पंच महायज्ञ हैं। सोमनीति में भी कहा है कि—राजा को अपने पुत्र को भी अपराध के अनुसार दंड देना चाहिए। अतएव इसके लिये जो योग्य दंड हो सो कहो। राजा के इतना कहने पर भी जब वे विद्वान् लोक कुछ न बोले तब राजा ने 'जो जीव किसी अन्य जीव को जिस प्रकार व जो दुःख दे, उसको बदले में उसी प्रकार से वही दुःख मिलना चाहिए।' तथा 'कोई अपकार करे तो उसको अवश्य बदला देना

चाहिए।' इत्यादि नीतिशास्त्र के वचन पर से, स्वयं ने ही पुत्र को दंड देने का निर्णय किया। पश्चात् घोड़ी मंगाकर पुत्र को कहा—'तू यहां मार्ग में लेट जा' पुत्र भी विनीत था इससे पिता की आज्ञा मानकर मार्ग में लेट गया। राजा ने सेवकों को कहा कि, 'इसके ऊपर से दौड़ती हुई घोड़ी ले जाओ' परंतु कोई भी ऐसा करने को तैयार नहीं हुआ। तब सब लोगों के मना करते हुए भी राजा स्वयं घोड़ी पर सवार होकर ज्यों ही घोड़ी को दौड़ाकर पुत्र के शरीर पर ले जाने लगा, इतने में ही राज्य की अधिष्ठायिका देवी ने प्रकट हो पुष्पवृष्टि करके कहा कि, 'हे राजन्! मैंने तेरी परीक्षा की थी। प्राण से भी वल्लभ निजपुत्र से भी तुझे न्याय अधिक प्रिय है, इसमें संशय नहीं, अतएव तू चिरकाल तक निर्विघ्न राज्य कर, इत्यादि।

अब जो राजा के अधिकारी हैं, वे यदि अभयकुमार, चाणक्य की तरह राजा व प्रजा दोनों के हित के अनुसार राज्य कार्य करें तो उनके काम में धर्म का विरोध नहीं आता है। कहा है कि—केवल राजा का ही हित करनेवाला मनुष्य प्रजा का शत्रु होता है, और केवल प्रजा का हित करनेवाला मनुष्य राजा से त्याग दिया जाता है। इस प्रकार एक के हित में दूसरे का अहित समाया हुआ होने से राजा व प्रजा इन दोनों का हित करनेवाला अधिकारी दुर्लभ है। वणिक् आदि लोगों को सच्चा व्यवहार रखना चाहिए, जिससे धर्म को विरोध न आवे (६)॥ यही बात मूल गाथा में कहते हैं।

मूलगाथा - ७

व्यवहारसुद्धिदेसाइविरुद्धचायउचिअचरणेहिं।

तो कुणइ अत्थचिंतं, निव्वाहितो निअं धम्मं ॥७॥

धनार्जन कैसे करना? :

भावार्थ : पूर्वकथित धर्मक्रिया कर लेने के अनन्तर, अर्थचिन्ता (धन संपादन करने संबंधी विचार) करना। उसे करते समय तीन बातों का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। एक तो धन आदि प्राप्त करने के साधन-व्यवहार में निर्दोष रखना। अर्थात् व्यवहार में मन, वचन और काया इन तीनों को सरल रखना। कपट न करना, दूसरा जिस देश में रहना, उस देश के लोकविरुद्ध कार्य न करना। तीसरा उचित कार्य अवश्य करना। इन तीनों का विस्तारपूर्वक विवेचन आगे किया जायेगा। उसे ध्यान में रखकर धन की चिन्ता करना। चौथी ध्यान में रखने योग्य आवश्यक बात यह है कि, अपने अंगीकार किये हुए धर्म का तथा ग्रहण किये हुए व्रत का निर्वाह हो परन्तु किसी स्थान में किसी भी प्रकार से उसमें (धर्म व व्रत आदि में) लोभ से अथवा भूल आदि से भी हरकत न आवे, ऐसी रीति से धन की चिन्ता करना। कहा है कि—ऐसी कोई भी वस्तु नहीं कि, जो द्रव्य से प्राप्त न हो सके। इसलिए बुद्धिशाली मनुष्य को सर्व प्रकार के प्रयत्न से धन संपादन करना। इस

स्थान पर 'अर्थचिन्ता करनी' ऐसा आगम नहीं कहता। कारण कि, मनुष्यमात्र अनादिकाल की परिग्रह संज्ञा से अपनी इच्छा से ही अर्थचिन्ता करता है। केवलिभाषित आगम ऐसे सावद्यव्यापार में जीवों की प्रवृत्ति किसलिए करावे? अनादिकाल की संज्ञा से सुश्रावक को अर्थचिन्ता करनी पड़े, तो उसको इस रीति से करनी चाहिए कि धर्मआदि को बाधा न आवे, इतनी ही आगम की आज्ञा है।

“इहलोइअमि कज्जे, सव्वारंभेण जह जणो जयइ।

तह जइ लक्खंसेण वि, धम्मे ता किं न पज्जतं ॥१॥”

लोग जिस तरह संसार संबंधी कार्य में सर्व आरंभपूर्वक अहोरात्रि उद्यम करते हैं, उसका एक लाखवां अंश तुल्य भी उद्यम धर्म में करे, तो क्या प्राप्त करना बाकी रहे?

मनुष्य की आजीविका १ व्यापार, २ विद्या, ३ खेती, ४ गाय, बकरी आदि पशु की रक्षा, ५ कलाकौशल, ६ सेवा और ७ भिक्षा इन सात उपायों से होती है। जिसमें वणिग् लोग व्यापार से वैद्यआदि लोग अपनी विद्या से, कुनबी लोग कृषि से, ग्वाल गड़रिये गाय आदि के रक्षण से, चित्रकार सुतार आदि अपनी कारीगरी से, सेवक लोग सेवा से और भिखारी लोग भिक्षा से अपनी आजीविका करते हैं। उसमें धान्य, घृत, तैल, कपास, सूत, कपड़ा, तांबा, पीतल आदि धातु, मोती, जवाहरात, नाणां (रुपया पैसा) आदि किराने के भेद से अनेक प्रकार के व्यापार हैं। लोक में प्रसिद्ध है कि, 'तीन सो साठ किराने हैं' भेद प्रभेद गिनने लगे तो व्यापार की संख्या का पार ही नहीं आ सकता। व्याज से उधार देना, यह भी व्यापार में ही समाता है।

औषधि, रस, रसायन, चूर्ण, अंजन, वास्तु, शकुन, निमित्त सामुद्रिक, धर्म, अर्थ, काम, ज्योतिष, तर्क आदि भेद से अनेक प्रकार की विद्याएं हैं। जिसमें वैद्यविद्या और गांधीपन (अतारी) ये दो विद्याएं प्रायः बुरा ध्यान होना संभव होने से विशेष गुणकारी नहीं हैं। कोई धनवान् पुरुष रोगी हो जाय अथवा अन्य किसी ऐसे ही प्रसंग पर वैद्य व गांधी को विशेष लाभ होता है, स्थान-स्थान पर आदर होता है। कहा है कि—

“रोगिणां सुहृदो वैद्याः, प्रभूणां चाटुकारिणः।

मुनयो दुःखदग्धानां, गणकाः क्षीणसंपदाम् ॥१॥

पण्यानां गान्धिकं पण्यं, किमन्यैः काञ्चनादिकैः?।

यत्रैकेन गृहीतं यत् तत्सहस्रेण दीयते ॥२॥”

शरीर में दुःख होता है तब वैद्य पिता के समान है। तथा रोगी के मित्र वैद्य, राजा के मित्र हांजी-हांजी करके मीठे वचन बोलनेवाले, संसारी दुःख से पीड़ित मनुष्य के त्र मुनिराज और लक्ष्मी खोकर बैठे हुए पुरुषों के मित्र ज्योतिषी होते हैं।

सर्व व्यापारों में गांधी ही का व्यापार सरस है। कारण कि, उस व्यापार में एक

टके में खरीदी हुई वस्तु सो टके में बिकती है। यह सत्य बात है कि वैद्य तथा गांधी को लाभ व मान बहुत मिलता है; परंतु यह नियम है कि, जिसको जिस कारण से लाभ होता है, वह मनुष्य वैसा ही कारण नित्य बनाने की इच्छा रखता है। कहा है कि— योद्धा रणसंग्राम की, वैद्य बड़े-बड़े धनवान लोगों के बीमार होने की, ब्राह्मण अधिक मृत्यु की तथा निर्गंध मुनिजन लोक में सुभिक्ष तथा क्षेमकुशल की इच्छा करते हैं। मन में धन उपार्जन करने की इच्छा रखनेवाले जो वैद्य लोगों के बीमार होने की इच्छा करते हैं, रोगी मनुष्य के रोग को औषधि से अच्छा होते रोककर द्रव्य लोभ से उलटी उसकी वृद्धि करते हैं ऐसे वैद्य के मन में दया कहां से हो सकती है? कितने ही वैद्य तो अपने साधर्मिक, दरिद्री, अनाथ, मृत्युशय्या पर पड़े हुए लोगों से भी बलात्कार से द्रव्य लेने की इच्छा करते हैं। अभक्ष्य वस्तु भी औषधि में डालकर रोगी को खिलाते और द्वारिका के अभव्य वैद्य धन्वन्तरि की तरह जाति-जाति की औषधि आदि के कपट से लोगों को ठगते हैं। थोड़ा लोभ रखनेवाले, परोपकारी व उत्तमप्रकृति के जो वैद्य हैं, उनकी वैद्यविद्या ऋषभदेव भगवान के जीव जीवानंद वैद्य की तरह इसलोक तथा परलोक में गुणकारी जानना।

खेती तीन प्रकार की है। एक वरसाद के जल से होनेवाली, दूसरी कुएँ आदि के जल से व तीसरी दोनों के जल से होनेवाली। गाय, भैंस, बकरी, बैल, घोड़ा, हाथी आदि जानवर पालकर अपनी आजीविका करना पशुरक्षावृत्ति कहलाती है। वह जानवरों के भेद से अनेक प्रकार की है। खेती और पशुरक्षावृत्ति ये दोनों विवेकी मनुष्य को करना योग्य नहीं। कहा है कि—

रायाण दंतिदंते वइल्लखंधेसु पामरज्जणाणं।

सुहडाण मंडलग्गे, वेसाण पओहरे लच्छी ॥१॥

हाथी के दांत में राजाओं की लक्ष्मी, बैल के कंधे पर कृषकों की लक्ष्मी, खड्ग की धार पर योद्धाओं की लक्ष्मी तथा श्रृंगारे हुए स्तन पर वेश्याओं की लक्ष्मी रहती है। कदाचित् अन्य कोई वृत्ति न हो और खेती करनी ही पड़े तो बोनो का समय आदि बराबर ध्यान में रखना। तथा पशुरक्षावृत्ति करनी पड़े तो मनमें पूर्ण दया रखना। कहा है कि—जो कृषक बोनो का समय, भूमि का भाग तथा उसमें कैसा धान्य पकता है, इसे अच्छी तरह जानता है, और मार्ग में आया हुआ खेत छोड़ देता है, उसीको बहुत लाभ होता है। वैसे ही जो मनुष्य द्रव्यप्राप्ति के निमित्त पशुरक्षावृत्ति करता हो, उसने मन में स्थित दयाभाव कदापि न छोड़ना चाहिए। उस कार्य में सब जगह जागृत रहकर छविच्छेद—खस्सी करना, नाक वीधना आदि त्यागना।

शिल्पकला सो प्रकार की है, कहा है कि—कुंभार, लोहार, चित्रकार, सुतार और नाई ये पांच प्रकार के शिल्प मुख्य हैं। पश्चात् इन प्रत्येक के बीस बीस भेद मिलकर सो

- वर्तमान में डॉक्टर एवं वैद्य के एवं औषधियों का व्यापार विशेष हिंसक हो गया है अतः जैनों को उससे परहेज रखना हितावह है।

भेद हो जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य की शिल्पकला एक दूसरे से पृथक् होने से पृथक्-पृथक् गिनी जाये तो अनेकों भेद हो जाते हैं। आचार्य के उपदेश से हुआ वह शिल्प कहलाता है। उपरोक्त पांच शिल्प ऋषभदेव भगवान् के उपदेश से चले आ रहे हैं। आचार्य के उपदेश बिना जो केवल लोकपरंपरा से चला हुआ खेती, व्यापार आदि हैं वह कर्म कहलाता है। सिद्धांत में कहा है कि—आचार्य के उपदेश से हुआ वह शिल्प और उपदेश से न हुआ वह कर्म कहलाता है। कुंभार का, लुहार का, चित्रकार का इत्यादि शिल्प के भेद हैं। खेती, व्यापार आदि कर्म के भेद हैं। खेती, व्यापार और पशुरक्षावृत्ति ये तीन कर्म यहां प्रत्यक्ष कहे, शेष कर्मों का प्रायः शिल्पआदि में समावेश हो जाता है। पुरुषों की तथा स्त्रियों की कलाएं कितनी ही विद्या में तथा कितनी ही शिल्प में समा जाती हैं। कर्म के सामान्यतः चार प्रकार हैं। कहा है कि—

उत्तमा बुद्धिकर्माणः, करकर्मा च मध्यमः।

अधमाः पादकर्माणः, शिरःकर्माऽधमाधमः ॥१॥

बुद्धि से कर्म (कार्य) करनेवाले उत्तम, हाथ से कर्म करनेवाले मध्यम, पैरों से कर्म करनेवाले अधम और मस्तक से (बोझा उठाकर) कर्म करनेवाले अधमाधम जानना। बुद्धि से कर्म करने के ऊपर दृष्टांत कहते हैं।

बुद्धि का व्यापार :

चंपानगरी में मदन नामक धनश्रेष्ठी का पुत्र था। उसने बुद्धि देनेवाले लोगों की दुकान पर जाकर पांचसो द्रम्म दे एक बुद्धि ली कि, 'दो जन लड़ते हो वहां खड़े नहीं रहना।' घर आया तब मित्रों ने उसकी पांचसो द्रम्म की बुद्धि सुनकर खूब हंसी की, तथा पिता ने भी भला बुरा कहा। जिससे मदन बुद्धि वापस करके अपने द्रम्म लेने के लिए दुकानदार के पास आया। दुकानदार ने कहा कि, 'जहां दो जनो की लड़ाई चलती हो वहां अवश्य खड़ा रहना।' यह तू स्वीकार करता हो तो तेरे द्रम्म लौटा दूं। मदन के स्वीकार करने पर दुकानदार ने पांचसो द्रम्म वापिस दे दिये। एक समय मार्ग में दो सुभटों का कुछ विवाद हो रहा था, तब मदन उनके पास खड़ा रहा। दोनों सुभटों ने मदन को अपना-अपना साक्षी बनाया। अंत में न्याय के समय राजा ने मदन को साक्षीरूप में बुलवाया। तब दोनों सुभटों ने मदन से कहा कि, 'जो मेरे पक्ष में साक्षी नहीं देगा, तो तेरी मृत्यु निकट ही समझना।' इस धमकी से आकुल-व्याकुल हो धनश्रेष्ठी ने अपने पुत्र की रक्षा के निमित्त एक करोड़ द्रम्म खर्च करके बुद्धि देनेवालों के पास से एक बुद्धि ली कि, 'तू तेरे पुत्र को पागल जाहिर कर' तदनुसार करने से धनश्रेष्ठी सुखी हुआ... 'इत्यादि।

व्यापार आदि करनेवाले लोग हाथ से काम करनेवाले हैं। दूत आदि का काम करनेवाले लोग पैरों से काम करनेवाले हैं। बोझा उठानेवाले आदि लोग मस्तक से काम करनेवाले हैं।

सेवा :

१ राजा की, २ राजा के अमलदार लोगों की, ३ श्रेष्ठी की और ४ दूसरे लोगों की मिलकर चार प्रकार की सेवा है। राजादिक की सेवा रात-दिन परवशता आदि भोगनी पड़ने से ऐसे वैसे मनुष्य से नहीं हो सकती है। कहा है कि—

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वीतिको जल्पको वा,
धृष्टः पार्श्वं भवति च तथा दूरतश्चाप्रगल्भः।

शान्त्या भीरुर्यहि न सहते प्रायशो नाभिजातः

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥१॥

जो सेवक कुछ न बोले तो गूंगा कहलाये, जो स्पष्ट बोले तो बकवादी, जो पास बैठा रहे तो ढीठ, जो दूर बैठे तो बुद्धिहीन, स्वामी कहे वह सर्व सहन करे तो कायर और जो न सहन करे तो कुलहीन कहलाता है, इसलिए योगीजन भी न जान सकते ऐसा सेवाधर्म महान् कठिन है। जो अपनी उन्नति होने के निमित्त नीचा सिर नमावे, अपनी आजीविका के निमित्त प्राण तक देने को तैयार हो जाय, और सुख प्राप्ति के हेतु दुःखी हो, ऐसे सेवक से बढ़कर दूसरा कौन मूर्ख होगा? दूसरे की सेवा करना श्वानवृत्ति के समान है, ऐसा कहनेवाले लोगों ने कदाचित् बराबर विचार नहीं किया, कारण कि, श्वान तो स्वामी की खुशामद पूंछ से करता है, परन्तु सेवक तो सिर नमा-नमाकर करता है, इसलिए सेवक की वृत्ति श्वान की अपेक्षा भी नीच है। इतने पर भी अन्य किसी रीति से निर्वाह न हो तो सेवा करके भी मनुष्य को अपना निर्वाह करना। कहा है कि—श्रीमंत हो उसको व्यापार करना, अल्प धनवान हो उसको खेती करना, और जब सब उद्यम नष्ट हो जाये, तब अन्त में सेवा करना। समझदार, उपकार का ज्ञाता तथा जिसमें ऐसे ही अन्य गुण हो, उस स्वामी की सेवा करना। कहा है कि—

अकर्णदुर्बलः शूरः, कृतज्ञः सात्त्विको गुणी।

वदान्यो गुणरागी च, प्रभुः पुण्यैरवाप्यते ॥१॥

क्रूरं व्यसनिनं लुब्धमप्रगल्भं सदामयम्।

मूर्खमन्यायकर्त्तारं, नाधिपत्ये नियोजयेत् ॥१॥

जो क्रान का कच्चा न हो, तथा शूरवीर, कृतज्ञ, अपना सत्त्व रखनेवाला, गुणी, दाता, गुणग्राही ऐसा स्वामी सेवक को भाग्य से ही मिलता है। क्रूर, व्यसनी, लोभी, नीच, जीर्णरोगी, मूर्ख व अन्यायी ऐसे मनुष्य को कदापि अपना अधिपति न करना। जो मनुष्य अविवेकी राजा द्वारा स्वयं ऋद्धिवन्त होने की इच्छा करता है, वह मानो ऋद्धिप्राप्ति के लिए मिट्टी के घोड़े से सो योजन जाने का विचार करता है, अथवा वह निरर्थक है। कामंदकीयनीतिशास्त्र में भी कहा है कि—

वृद्धोपसेवी नृपतिः, सतां भवति सम्मतः।

प्रेर्यमाणोऽप्यसद्वृत्तैर्नार्कार्येषु प्रवर्तते ॥१॥

वृद्ध पुरुषों की सम्मति से चलनेवाला राजा सत्पुरुषों को मान्य होता है। कारण कि, दुष्टलोग कदाचित् उसे कुमार्ग में अग्रसर करें, तो भी वह नहीं जाता। स्वामी ने भी सेवक के गुणानुसार उसका आदर सत्कार करना चाहिए। कहा है कि—

निर्विशेषं यदा राजा, समं भृत्येषु वर्त्तते।

तत्रोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ॥१॥

जब राजा अच्छे व अयोग्य सब सेवकों को एक ही पंक्ति में गिने तो उद्यमी सेवकों का उत्साह टूट जाता है।

सेवक ने भी अपने में भक्ति, चतुरता आदि अवश्य रखना ही चाहिए। कहा है कि—

अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्यात्सानुरागेण कः?,

प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत् किं भक्तिहीनात्फलम्?।

प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतले,

ते भृत्या नृपतेः कलत्रमितरे सम्पत्सु चापत्सु च ॥१॥

सेवक स्वामिभक्त हो तो भी यदि वह बुद्धिहीन व कायर हो तो उससे स्वामी को क्या लाभ? और जिसमें भक्ति नहीं है ऐसे बुद्धि और पराक्रमवाले से भी क्या लाभ है? अतएव जिसमें बुद्धि, वीरता और प्रीति ये तीन गुण हो, वही राजा के संपत्काल तथा विपत्काल में उपयोगी होने योग्य है, और जिसमें ये गुण न हो, वह सेवक स्त्री समान है। कदाचित् राजा प्रसन्न हो जाय तो सेवकों को मात्र मान देता है, परन्तु सेवक तो उस मान के बदले में अवसर आने पर अपने प्राण तक देकर राजा का उपकार करते हैं। सेवक ने राजादि की सेवा बड़ी चतुराई से करनी चाहिए। कहा है कि—सेवक ने सर्प, व्याघ्र, गज व सिंह ऐसे क्रूर जन्तुओं को भी उपाय से वश किये हुए देखकर मन में विचारना कि, बुद्धिशाली व चतुरपुरुषों के लिए 'राजा को वश करना' कौनसी बड़ी बात है? राजादि को वश करने की रीति नीतिशास्त्र आदि ग्रन्थों में इस प्रकार कही है—चतुरसेवक को स्वामी की बाजू में बैठना, उसके मुख तरफ दृष्टि रखना, हाथ जोड़ना, और स्वामी के स्वभावानुसार सर्व कार्य करना। सेवक को सभा में स्वामी के बहुत समीप नहीं बैठना तथा बहुत दूर नहीं बैठना, स्वामी के बराबर अथवा उससे ऊंचे आसन पर न बैठना, स्वामी के सन्मुख व पीछे भी न बैठना, कारण कि, बहुत समीप बैठने से स्वामी को ग्लानि होती है तथा बहुत दूर बैठे तो बुद्धिहीन कहलाता है, आगे बैठे तो अन्य किसीको बुरा लगे और पीछे बैठे तो स्वामी की दृष्टि न पड़े, अतएव कथनानुसार बैठना चाहिए।

जिस समय थका हुआ, क्षुधा अथवा तृषा से पीड़ित, क्रोधित, किसी काम में लगा हुआ, सोने के विचार में तथा अन्य किसीकी विनती सुनने में लगा हुआ हो उस समय सेवक स्वामी को न बुलाये। सेवक को राजा के ही समान राजमाता, पटरानी, युवराज, मुख्य मन्त्री, राजगुरु व द्वारपाल इतने मनुष्यों के साथ भी बर्ताव

करना चाहिए। 'पूर्व में मैंने ही इसे सुलगाया है, अतः मैं इसकी अवहेलना करूँ, तो भी यह मुझे नहीं जलायेगा।' ऐसे अयोग्य विचार से जो मनुष्य अपनी अंगुली दीपक पर धरे, तो वह तत्काल जला देता है, वैसे ही 'मैंने ही इसे हिम्मत से राजपदवी पर पहुंचाया है, अतः चाहे कुछ भी व्यवहार करूँ, पर यह मुझ पर रुष्ट नहीं होगा।' ऐसे व्यर्थविचार से जो कोई मनुष्य राजा को अंगुली लगावे तो वह रुष्ट हुए बिना नहीं रहता। अतएव इस प्रकार कार्य करना कि वह रुष्ट न हो। कोई पुरुष राजा को बहुत मान्य हो तो भी वह इस बात का गर्व न करे। कारण कि, 'गर्व विनाश का मूल है' इस विषय पर सुनते हैं कि—

दिल्लीनगर में बादशाह के प्रधानमंत्री को बड़ा गर्व हुआ। वह मन में समझने लगा कि, 'राज्य मेरे आधार पर ही टिक रहा है।' एक समय किसी बड़े मनुष्य के सम्मुख उसने वैसी गर्व की बात प्रकट भी की। यह बात बादशाह के कान में पहुंचते ही उसने प्रधानमंत्री को पदच्युत कर दिया और उसके स्थान पर हाथ में रांपी रखनेवाले एक मोची को नियुक्त किया। यह कामकाज के कागजों पर सही की निशानी के रूप में रांपी लिखता था। उसका वंश अभी भी दिल्ली में मान्य है।

इस प्रकार राजादिक प्रसन्न हो तो ऐश्वर्य आदि का लाभ होना अशक्य नहीं। कहा है कि—गन्ने का खेत, समुद्र, योनिपोषण और राजा का प्रसाद ये तत्काल दरिद्रता दूर करते हैं। सुख की इच्छा करनेवाले अभिमानी लोग राजा आदि की सेवा की भले ही निन्दा करें; परन्तु राजसेवा किये बिना स्वजन का उद्धार और शत्रु का संहार नहीं हो सकता। कुमारपाल भाग गया तब वोसिरब्राह्मण ने उसे सहायता दी, जिससे उसने प्रसन्न हो अवसर पाकर उस ब्राह्मण को लाटदेश का राज्य दिया। देवराज नामक कोई राजपुत्र जितशत्रु राजा के यहां पहरेदार का काम करता था। उसने एक समय सर्प का उपद्रव दूर किया, जिससे प्रसन्न हो राजा जितशत्रु ने देवराज को अपना राज्य दे स्वयं दीक्षा लेकर सिद्धि प्राप्त की। मन्त्री, श्रेष्ठी, सेनापति आदि के कार्यों का भी राजसेवा में समावेश हो जाता है। ये मन्त्री आदि के कार्य बड़े पापमय हैं, और परिणाम में कटु हैं। इसलिए वास्तव में श्रावक के लिए वर्जित हैं। कहा है कि—जिस मनुष्य को जिस अधिकार पर रखते हैं वह उसमें चोरी किये बिना नहीं रहता। देखो, क्या धोबी अपने पहनने के वस्त्र मोल लेकर पहिनता है? मन में अधिकाधिक चिन्ता उत्पन्न करनेवाले अधिकार कारागृह के समान हैं। राजा के अधिकारियों को प्रथम नहीं परन्तु परिणाम में बन्धन होता है।

यदि सुश्रावक राजाओं का काम करना सर्वथा न त्याग सके, तो भी गुप्तिपाल^१, कोतवाल, सीमापाल आदि के अधिकार तो बहुत ही पापमय व निर्दय कृत्य हैं, इसलिए श्रद्धावन्त श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य हैं। कहा है कि—पशुपालन, देवस्थान,

१. जेलर, कारागृह का अधिकारी।

न्यायस्थान के अधिकारी अंगरक्षक, तलाट, कोतवाल, सीमापाल, पटेल आदि अधिकारी किसी भी मनुष्य को सुख नहीं देते। शेष अधिकार कदाचित् कोई श्रावक स्वीकारे, तो उसने मन्त्री वस्तुपाल तथा पृथ्वीधर की तरह श्रावकों को शासन की कीर्ति हो, उस रीति से अधिकार चलाना चाहिए। कहा है कि—जिन मनुष्यों ने पापमय राज्यकार्य करते हुए, उनके साथ धर्मकृत्य करके पुण्योपाजन नहीं किया, उन मनुष्यों को द्रव्य के लिए धूल धोनेवाले लोगों से भी मूर्ख जानना चाहिए। अपने ऊपर राजा की बहुत कृपा हो तो भी उसका शाश्वतपना धार उसके किसी भी मनुष्य को अप्रसन्न नहीं करना। तथा राजा अपने को कोई कार्य सौंपे तो राजा से उस काम के ऊपर ऊपरी मनुष्य मांगना। सुश्रावक ने इस प्रकार से राज्य सेवा करनी चाहिए। जहां तक बने वहां तक सुश्रावक को उपरोक्त प्रकार से ऐसे राजा की ही सेवा करनी उचित है। कहा है कि—कोई श्रावक के घर यदि ज्ञान व दर्शन संपादन करके दास होकर रहे वह भी श्रेष्ठ है, परन्तु मिथ्यात्व से मूढमति सामान्य राजा अथवा चक्रवर्ती होना योग्य नहीं। कदाचित् अन्य कोई निर्वाह का साधन न हो, तो समकित के पच्चक्खाण में 'वित्तीकंतारेण' याने आजीविका रूप गहरापन उल्लंघन करने के लिए मिथ्यात्वी के विनय आदि की छुट रखता हूं, ऐसा आगार रखा है, जिससे कोई श्रावक जो मिथ्यादृष्टि राजा आदि की सेवा करे, तो भी उसने अपनी शक्ति तथा युक्ति से बन सके उतनी स्वधर्मी को पीड़ा टालना। तथा अन्य किसी प्रकार से थोड़ा भी श्रावक के घर निर्वाह होने का योग मिले, तो मिथ्यादृष्टि की सेवा त्याग देना चाहिए।

॥ इति सेवाविधि ॥

भिक्षा :

सुवर्ण आदि धातु, धान्य, वस्त्र इत्यादि वस्तुओं के भेद से भिक्षा अनेक प्रकार की है। उनमें सर्व संग परित्याग करनेवाले मुनिराज की धर्मकार्य के रक्षणार्थ आहार, वस्त्र, पात्र आदि वस्तु की भिक्षा उचित है। कहा है कि—हे भगवति भिक्षे! तू नित्य परिश्रम के बिना मिल जाय ऐसी है, भिक्षु लोगों की माता समान है, मुनिराज की तो कल्पलता है, राजा भी तुझे नमते हैं, तथा तू नरक को टालने वाली है, इसलिए मैं तुझे नमस्कार करता हूं। शेष सर्व प्रकार की भिक्षा मनुष्य को लघुता उत्पन्न करनेवाली है। कहा है कि—

ता रूवं ताव गुणा, लज्जा सच्चं कुलङ्कमो ताव।

तावच्चिअ अभिमाणं, देहिति न जंपए जाव ॥१॥

मनुष्य जब तक मुंह से 'दो' यह शब्द नहीं निकालता, अर्थात् याचना नहीं करता, तब तक उसके रूप, गुण, लज्जा, सत्यता, कुलीनता व अहंकार रहे हैं ऐसा जानना।

तृण अन्य वस्तुओं की अपेक्षा हलका है, रुई तृण से हलकी है, और याचक तो

१. पोलिस का मुख्य अधिकारी।

रुई से भी हलका है, तो इसे पवन क्यों नहीं उड़ा ले जाता? उसका कारण यह है कि, पवन के मन में यह भय रहता है कि, मैं इसे ले जाऊँ तो यह मुझसे भी कुछ मांगेगा? रोगी, लंबे काल का प्रवासी, नित्य दूसरे का अन्न भक्षण करनेवाला और दूसरे के घर सोनेवाला, इतने मनुष्यों का जीवन मृत्यु के समान है, इतना ही नहीं, परन्तु मर जाना यह तो इनको पूर्ण विश्रान्ति है, भिक्षा मांगकर निर्वाह करनेवाला मनुष्य निष्क्रिय, बहुभक्षी, आलसी व अतिनिद्रा लेनेवाला होने से जगत् में बिलकुल निष्काम होता है। ऐसा सुनते हैं कि—किसी कापालिक के भिक्षा मांगने के पात्र में एक तेली के बैल ने मुंह डाला। तब कापालिक ने चिल्लाकर कहा कि, 'भिक्षा तो मुझे और भी बहुत मिल जायेगी, परन्तु इस बैल ने भिक्षा के पात्र में मुख डाला, इससे कहीं इसमें भिक्षाचर के आलस, बहुनिद्रा आदि गुण आ जायेंगे तो यह तुम्हारे लिये निष्काम हो जायेगा, इसका मुझे बहुत खेद है।

श्री हरिभद्रसूरि ने पांचवें अष्टक में तीन प्रकार की भिक्षा कही है। यथा—तत्त्वज्ञ पुरुषों ने १ सर्वसंपत्करी, २ पौरुषघ्नी और ३ वृत्तिभिक्षा, इस प्रकार तीन प्रकार की भिक्षा कही है। (१) गुरु की आज्ञा में रहनेवाले, धर्मध्यान आदि शुभ-ध्यान करनेवाले और यावज्जीव सर्व आरंभ से निवृत्ति पाये हुए साधुओं की भिक्षा सर्वसंपत्करी भिक्षा कहलाती है। (२) जो पुरुष पंच महाव्रत अंगीकार करके यतिधर्म को विरोध आये ऐसी रीति से चले, उसे गृहस्थ की तरह सावद्य आरंभ करनेवाले साधु की भिक्षा पौरुषघ्नी कहलाती है। कारण कि, धर्म की लघुता उत्पन्न करनेवाला वह मूर्ख साधु, शरीर से पुष्ट होते हुए दीन हो भिक्षा मांगकर उदर पोषण करता है, इससे उसका केवल पुरुषार्थ नष्ट होता है। (३) दरिद्री, अंधा, पंगु (लंगड़ा) तथा दूसरा भी जिनसे कोई धन्या नहीं हो सकता, ऐसे लोग जो अपनी आजीविका के निमित्त भिक्षा मांगते हैं उसे वृत्तिभिक्षा कहते हैं। वृत्तिभिक्षा में अधिक दोष नहीं, कारण कि, उसके मांगनेवाले दरिद्रीआदि लोग धर्म में लघुता नहीं उत्पन्न करते। मन में दया लाकर लोग उनको भिक्षा देते हैं। इसलिए विशेषकर धर्मी श्रावक ऐसे गृहस्थ को भिक्षा नहीं मांगनी चाहिए।

दूसरा कारण यह है कि, भिक्षा मांगनेवाला गृहस्थ चाहे कितना ही श्रेष्ठ धर्मानुष्ठान करे, तो भी दुर्जन की मित्रता के समान उससे लोक में अवज्ञा, निन्दा आदि ही होती है। और जो जीव धर्म की निन्दा करानेवाला होता है, उसे सम्यक्त्व प्राप्ति आदि होना कठिन है। औघनियुक्ति में साधु को लक्ष्यकर कहा है कि—

छक्कायदयावंतोवि संजओ दुल्लहं कुणइ बोहिं।

आहारे नीहारे, दुगुछिए पिंडगहणे अ ॥१॥

षड्जीविकाय ऊपर दया रखनेवाला संयमी साधु भी, आहार निहार करते, तथा गोचरी में अन्न ग्रहण करते समय धर्म की निन्दा हो ऐसी क्रिया करे, तो उसे बोधि दुर्लभता प्राप्त होती है। भिक्षा मांगने से किसी को लक्ष्मी व सुख आदि की प्राप्ति नहीं होती। कहा है कि—

लक्ष्मीर्वसति वाणिज्ये, किञ्चिदस्ति च कर्षणे।

अस्ति नास्ति च सेवायां, भिक्षायां न कदाचन ॥११॥

पूर्ण लक्ष्मी व्यापार में बसती है, थोड़ी खेती में है, सेवा में नहीं के बराबर है तथा भिक्षा में तो बिलकुल ही नहीं है।

उदरपोषण मात्र तो भिक्षा से होता है। जिससे अंधे आदि को आजीविका का साधन हो जाता है। मनुस्मृति के चौथे अध्याय में तो ऐसा कहा है कि—ऋत १, अमृत २, मृत ३, प्रमृत ४ और सत्यानृत ५ इन उपायों से अपनी आजीविका करना, परन्तु नीच की सेवा करके अपना निर्वाह कभी न करना चाहिए। बाजार में पड़े हुए दाने बीनना इसे ऋत कहते हैं १। याचना किये बिना मिला हुआ अमृत २ याचना करने से मिला हुआ मृत कहलाता है ३। प्रमृत खेती ४ तथा सत्यानृत व्यापार को कहते हैं ५ और सेवा की आजीविका श्वानवृत्ति कही जाती है, इससे उसको छोड़ देनी चाहिए।

व्यापार :

इन सब में वणिक् लोगों को मुख्यतः तो द्रव्यसंपादन का साधन व्यापार ही है। कहा है कि—

महुमहणस्स य वत्थे न चैव कमलायरे सिरी वसइ।

किंतु पुरिसाण ववसायसायरे तीइ सुहठाणं ॥१२॥

लक्ष्मी विष्णु के वक्षस्थल अथवा कमलवन में नहीं रहती परन्तु पुरुषों का उद्यमरूपी समुद्र ही उसका निवासस्थान है। विवेकी-पुरुष को अपना तथा अपने सहायक धन, बल, भाग्योदय, देश, काल आदि का विचारकर के ही व्यापार करना चाहिए, अन्यथा हानि आदि होने की संभावना रहती है। हमने कहा है कि-बुद्धिमान पुरुषों को अपनी शक्ति के अनुसार ही कार्य करना। वैसा न करने से कार्य की असिद्धि, लज्जा, लोक में उपहास, अवहेलना, और लक्ष्मी तथा बल की हानि होती है।

अन्य ग्रन्थकारों ने भी कहा है कि—देश कैसा है? मेरे सहायक कैसे हैं? काल कैसा है? मेरा आय-व्यय कितना है? मैं कौन हूँ? तथा मेरी शक्ति कितनी है? इन बातों का नित्य बार-बार विचार करना चाहिए।

शीघ्र हाथ आनेवाले, निर्विघ्न, अपनी सिद्धि के निमित्त बहुत से साधन अपने साथ रखनेवाले ऐसे कारण जिसके पास हो उस व्यक्ति को प्रथम से ही कार्यसिद्धि शीघ्र होगी ऐसी सूचना करते हैं। यत्न के बिना प्राप्त होनेवाली और बहुत यत्न से भी प्राप्त न होनेवाली लक्ष्मी पुण्य-पाप का भेद बताती है। व्यापार में व्यवहार की शुद्धि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन भेदों से चार प्रकार की है, जिसमें द्रव्य से तो पन्द्रह कर्मादान आदि का कारण भूत किराना सर्वथा त्यागना। कहा है कि—

धर्मबाधकरं यच्च, यच्च स्यादयशस्करम्।

भूरिलाभमपि ग्राह्यं, पण्यं पुण्यार्थिभिर्न तत् ॥१३॥

धर्म को पीड़ा करनेवाला तथा लोक में अपयश उत्पन्न करनेवाला किराना

विशेष लाभ होता हो तो भी पुण्यार्थी लोगों को ग्रहण न करना चाहिए। तैयार वस्त्र, सूत, नाणा, सुवर्ण और चांदी आदि व्यापार की वस्तुएं प्रायः निर्दोष होती हैं। व्यापार में सदैव ऐसा बर्ताव रखना चाहिए कि जिससे आरम्भ कम हो। दुर्भिक्ष आदि के समय अन्य किसी रीति से निर्वाह न होता हो, तो विशेष आरम्भ हो ऐसा व्यापार तथा खरकर्म आदि भी करे। तथापि खरकर्म (पन्द्रह कर्मादान) करने की इच्छा मन में रखनी न चाहिए, प्रसंगवश करना पड़े तो अपनी आत्मा व गुरु की साक्षी से उसकी निन्दा करनी चाहिए, तथा मन में लज्जा रखकर ही जैसे कार्य करना। सिद्धान्त में भावश्रावक के लक्षण में कहा है कि—सुश्रावक तीव्र आरम्भ वर्जे, और उसके बिना निर्वाह न होता हो, तो मन में जैसे आरम्भ की इच्छा न रख, केवल निर्वाह के हेतु ही तीव्र आरम्भ करे; परन्तु आरम्भ परिग्रह रहित धन्य जीवों की स्तुति करे। तथा सर्व जीवों पर दयाभाव रखे। जो मन से भी किसी जीव को कष्ट नहीं पहुंचाते और जो आरम्भ के पाप से विरति पाये हुए हैं, ऐसे धन्य महामुनिराज शुद्ध आहार ग्रहण करते हैं। न देखा हुआ तथा न परखा हुआ किराना ग्रहण न करना। तथा जिसमें लाभ हानि की शंका हो, अथवा जिसमें अन्य बहुत सी वस्तुएं मिली हुई हों ऐसा किराना बहुत से व्यापारियों के हिस्से से लेना, ताकि कभी हानि हो तो सबको समान भाग से हो। कहा है कि—व्यापारी पुरुष व्यापार में धन प्राप्त करना चाहता हो तो उसको किराने देखे बिना डिपोजीट (स्वीकृति के रूप में कुछ रकम प्रथम देना) न देना और यदि देना हो तो अन्य व्यापारियों के साथ देना।

क्षेत्र से तो जहां स्वचक्र, परचक्र, रुग्णावस्था और व्यसन आदि का उपद्रव न हो, तथा धर्म की सर्व सामग्री हो, उस क्षेत्र में व्यापार करना, अन्यथा बहुत लाभ होता हो तो भी न करना। काल से तो बारह मास में आनेवाली तीन अष्टाइयां, पर्वतिथि व्यापार में छोड़ना, और वर्षादि ऋतु के लिए जिन-जिन व्यापारों का सिद्धान्त में निषेध किया है, वे व्यापार भी त्यागना। किस ऋतु में कौन सा व्यापार न करना यह इसी ग्रंथ में कहा जायेगा। भाव से तो व्यापार के बहुत भेद हैं, यथा-क्षत्रियजाति के व्यापारी तथा राजा आदि के साथ थोड़ा व्यवहार किया हो तो भी प्रायः लाभ नहीं होता। अपने हाथ से दिया हुआ द्रव्य भी मांगते जिन लोगों का डर रहता है, ऐसे शस्त्रधारी आदि लोगों के साथ थोड़ा व्यवहार करने पर भी लाभ कहां से हो? कहा है कि—प्रेष्ठवणिक् को क्षत्रिय व्यापारी, ब्राह्मण व्यापारी तथा शस्त्रधारी इनके साथ कभी भी व्यवहार न रखना, तथा पीछे से विरोध करनेवाले लोगों के साथ उधार का व्यापार भी न करना। कहा है कि—कोई वस्तु उधार न देते संग्रह करके रखी जाये, तो भी अवसर पर उसके बेचने से मूलधन तो उपजेगा ही, परन्तु विरोध करनेवाले लोगों को दिया हो तो मूलधन भी उत्पन्न नहीं होता। जिसमें विशेषकर नट, विट (वेश्या के दलाल), वेश्या, तथा जुआरी आदि के साथ तो उधार का व्यापार कभी भी न करना। कारण कि, उससे मूलधन का भी नाश होता है। व्याजवट्टे का व्यापार भी मूलधन की अपेक्षा अधिक

मूल्य की वस्तु गिरवी रखकर करना उचित है। अन्यथा वसूल करने में बड़ा क्लेश तथा विरोध होता है। समय पर धर्म की हानि, तथा धरना देकर बैठना आदि अनेक अनर्थ भी उत्पन्न होते हैं। इस विषय पर एक बात सुनते हैं कि—

पुत्रशिक्षा :

जिनदत्त नामक एक श्रेष्ठी तथा उसका एक मुग्ध नामक पुत्र था। मुग्ध अपने नाम के अनुसार बड़ा ही मुग्ध (भोला) था। अपने पिता की कृपा से वह सुख में लीलालहर करता था। जिनदत्त श्रेष्ठी ने कुलवान नन्दिवर्धन श्रेष्ठी की कन्या के साथ धूमधाम से उसका विवाह किया। आगे जाते जब जिनदत्त ने अपने पुत्र की मुग्धता पूर्ववत् ही देखी तब गुडार्थ-वचनों द्वारा उसे इस तरह उपदेश दिया कि, 'हे वत्स! १ सब जगह दांत का पड़दा रखना। २ किसीको व्याज पर द्रव्य देने के बाद उसकी उघराणी न करना। ३ बंधन में पड़ी हुई स्त्री को मारना। ४ भोजन मीठा ही करना। ५ सुख से ही सोना। ६ गांव-गांव घर करना। ७ दरिद्रावस्था आने पर गंगातट खोदना (८) ऊपर कही हुई बात पर कोई संशय आवे तो पाटलीपुत्र नगर में जाकर वहां सोमदत्त श्रेष्ठी नामक मेरा मित्र रहता है, उसको पूछना।' मुग्ध ने पिता का यह उपदेश सुना, किन्तु इसका भावार्थ उसके ध्यान में न आया। आगे जाकर मुग्धश्रेष्ठी को बड़ा खेद हुआ। उनका आयुष्य पूर्ण हुआ। मुग्ध ने भोलेपन में सर्व द्रव्य खो दिया। स्त्री आदि को वह अप्रिय लगने लगा तथा लोगों में इसकी इस प्रकार हंसी होने लगी कि, 'इसका एक भी काम सिद्ध नहीं होता। इसके पास का द्रव्य भी खुट गया, यह महामूर्ख है' इत्यादि। अंत में मुग्ध पाटलीपुत्र नगर को गया व सोमदत्त श्रेष्ठी को पिता के उपदेश का भावार्थ पूछा।

सोमदत्त ने कहा, '१ सर्व जगह दांत का पड़दा रखना अर्थात् सबसे प्रिय व हितकारी वचन बोलना। २ किसी को व्याज पर द्रव्य उधार देने के बाद उसकी उघराणी न करना अर्थात् प्रथम से ही अधिक मूल्यवाली वस्तु गिरवी रखकर द्रव्य देना कि जिससे देनदार स्वयं आकर व्याज सहित द्रव्य वापिस दे जाये। ३ बंधन में पड़ी हुई स्त्री को मारना अर्थात् अपनी स्त्री के जो संतान हो गयी हो तभी उसको ताड़ना करना। यदि ऐसा न हो तो वह ताड़ना से रोष में आकर पियर अथवा अन्य कहीं चली जाय अथवा कुएँ में पड़कर या अन्य किसी रीति से आत्महत्या कर ले। ४ भोजन मीठा ही करना, अर्थात् जहां प्रीति तथा आदर हो वहीं भोजन करना, कारण कि, प्रीति व आदर यही भोजन की वास्तविक मिठास है। अथवा भूख लगे तभी खाना जिससे सभी मीठा लगे। ५ सुखपूर्वक ही सोना अर्थात् जहां किसी प्रकार की शंका न हो वहीं रहना ताकि वहां सुख से निद्रा आये। अथवा आंख में निद्रा आवे तभी सोना, जिससे कि सुखपूर्वक निद्रा आये। ६ गांव-गांव घर करना अर्थात् हर गांव में ऐसी मित्रता करना कि, जिससे अपने घर की तरह वहां भोजनादि सुख से मिल सकें। ७ दरिद्रावस्था आने पर गंगा तट खोदना अर्थात् तेरे घर में जहां गंगा नामकी गाय बांधी जाती है वह

भूमि खोदना, जिससे पिता का गाड़ा हुआ धन तुझे शीघ्र मिल जायेगा।' सोमदत्त श्रेष्ठी के मुख से यह भावार्थ सुन मुग्ध ने उसीके अनुसार किया जिससे वह धनवान्, सुखी तथा लोकमान्य हो गया यह पुत्र शिक्षा का दृष्टान्त है।

उधार :

अतएव उधार का व्यवहार कदापि न रखना। कदाचित् उसके बिना न चले तो सत्य बोलनेवाले लोगों के साथ ही रखना। व्याज भी देश, काल आदि का विचारकर के ही एक, दो, तीन, चार, पांच अथवा इससे अधिक टका लेना, परन्तु वह इस प्रकार कि जिससे श्रेष्ठियों में अपनी हंसी न हो। देनदार को भी कही हुई मुद्दत में ही कर्ज चुका देना चाहिए। कारण कि, मनुष्य की प्रतिष्ठा मुख से निकले हुए वचन को पालने पर ही अवलंबित है। कहा है कि—

तत्तिअमित्तं जंपह जत्तिअमित्तस्स निक्कयं वहह।

तं ठक्खिवेह भारं जं अद्धपहे न छंडेह ॥१॥

जितने वचन का निर्वाह कर सको, उतने ही वचन तुम मुंह से निकालो। आधे मार्ग में डालना न पड़े, उतना ही बोझा प्रथम से उठाना चाहिए। कदाचित् किसी आकस्मिक कारण से धनहानि हो जाये, व उससे निश्चित की हुई कालमर्यादा में ऋण न चुकाया जा सके तो थोड़ा-थोड़ा लेना कबूल कराकर लेनदार को संतोष कराना। ऐसा न करने से विश्वास उठ जाता है, व्यवहार भंग होता है।

विवेकीपुरुष को अपनी पूर्णशक्ति से ऋण चुकाने का प्रयत्न करना। इस भव में तथा परभव में दुःख देनेवाला ऋण क्षणभर भी सिर पर रखे ऐसा कौन मूर्ख होगा? कहा है कि—

धर्मारम्भे ऋणच्छेदे, कन्यादाने धनागमे।

शस्त्रघातेऽग्निरोगे च, कालक्षेपं न कारयेत् ॥१॥

तैलाभ्यङ्गमृणच्छेदं, कन्यामरणमेव च।

एतानि सद्योदुःखानि, परिणामे सुखानि तु ॥२॥

धर्म का आरम्भ, ऋण उतारना, कन्यादान, धनोपार्जन, शत्रुदमन और अग्नि तथा रोग का उपद्रव मिटाना आदि जहां तक हो शीघ्रता से करना। शरीर में तैल मर्दन करना, ऋण उतारना और कन्या की मृत्यु ये तीन बातें प्रथम दुःख देकर पश्चात् सुख देती हैं। अपना उदरपोषण करने तक को असमर्थ होने से जो ऋण न चुकाया जा सके तो अपनी योग्यता के अनुसार साहुकार की सेवा करके भी ऋण उतारना। अन्यथा आगामी भव में साहुकार के यहां सेवक, मैसा, बैल, ऊंट, गधा, खच्चर, अश्व आदि होना पड़ता है। साहुकार ने भी जो ऋण चुकाने को असमर्थ हो उससे मांगना नहीं। कारण कि, उससे व्यर्थ संक्लेश तथा पापवृद्धि मात्र होना संभव है। इसलिए ऐसे निर्धन को साहुकार कहे कि, 'तुझमें देने की शक्ति हो तब मेरा द्रव्य चुकाना और न हो तो मेरा इतना द्रव्य धर्मार्थ है।' देनदार को विशेषकाल तक ऋण का सम्बन्ध सिर पर

नहीं रखना, कारण कि उससे कभी आयुष्य पूर्ण हो जाय तो आगामी भव में पुनः दोनों जनों का सम्बन्ध होकर आपस में वैर आदि उत्पन्न होता है। सुनते हैं कि भावइश्रेष्ठी को पूर्वभव के ऋण के सम्बन्ध से ही पुत्र हुए, यथा—

भावइ सेठ का कथानक :

भावइ नामक श्रेष्ठी था। उसकी स्त्री के गर्भ में एक जीव ने अवतार लिया, उस समय दुष्ट स्वप्न आये तथा उसकी स्त्री को दोहद भी बड़े ही बुरे-बुरे उत्पन्न हुए। अन्य भी बहुत से अपशकुन हुए। समय पूर्ण होने पर श्रेष्ठी को मृत्यु योग पर दुष्ट पुत्र हुआ। वह घर में रखने योग्य नहीं था, इससे उसे माहनी नदी के किनारे एक सूखे हुए वृक्ष के नीचे पटक दिया। तब वह बालक प्रथम रुदनकर तथा पश्चात् हंसकर बोला कि, 'मैं तुम पर एक लाख स्वर्णमुद्राएं मांगता हूं, वे दो। अन्यथा तुम्हारे ऊपर अनेक अनर्थ आ पड़ेंगे।' यह सुन भावइ श्रेष्ठी ने पुत्र का जन्मोत्सव कर छठे दिन एक लाख स्वर्णमुद्राएं बांटी, तब वह बालक मर गया। इसी प्रकार दूसरा पुत्र तीन लाख स्वर्णमुद्राएं देने पर मृत्यु को प्राप्त हुआ। तीसरा पुत्र होने के अवसर पर स्वप्न तथा शकुन भी उत्तम हुए। पुत्र ने उत्पन्न होकर कहा कि, 'मुझे उन्नीस लाख स्वर्णमुद्राएं लेनी हैं।' यह कह उसने माबाप से उन्नीस लाख स्वर्णमुद्राएं धर्मखाते निकलवाई, उसमें से नव लाख स्वर्णमुद्राएं खर्चकर काश्मीर देश में श्री ऋषभदेव भगवान्, श्री पुंडरीक गणधर और चक्रेश्वरी देवी इन तीन की प्रतिमा ले गया, दस लाख स्वर्णमुद्रा खर्चकर वहां प्रतिमा की प्रतिष्ठा करायी। तदनन्तर उपार्जित किया हुआ अपार स्वर्ण वहाण में भरकर भावइ शत्रुंजय को गया। वहां लेप्यमय प्रतिमाएं थीं, उन्हें निकालकर उनके स्थान पर उसने मम्माणी (पाषाण रत्न विशेष) की प्रतिमाएं स्थापन की.... इत्यादि।

ऋण के सम्बन्ध में प्रायः कलह तथा वैर की वृद्धि आदि होती है, यह बात प्रसिद्ध है। इसलिए ऋण चाहे किसी उपाय से वर्तमान भव में ही चुका देना चाहिए। दूसरे व्यवहार करते जो द्रव्य वापिस न मिले तो मन में यह समझना कि, उतना द्रव्य मैंने धर्मार्थ व्यय किया है। दिया हुआ द्रव्य उगाई करने पर भी वापस न मिले तो उसे धर्मार्थ मानने का मार्ग रहता है, इसी हेतु से ही विवेकीपुरुषों को साधर्म्य भाइयों के साथ ही मुख्यतः व्यवहार करना, यह योग्य है। म्लेच्छ आदि अनार्य लोगों से लेना हो और वह जो वापस न आवे तो वह द्रव्य धर्मार्थ है यह समझने का कोई मार्ग नहीं, अतः उसका केवल त्याग करना अथवा उस परसे अपनी ममता छोड़ देना। यदि त्याग करने के अनन्तर देनदार कभी वह द्रव्य दे तो, उसे धर्मार्थ कार्य में लेने के लिए श्रीसंघ को दे देना। वैसे ही द्रव्य, शस्त्र आदि आयुध अथवा अन्य भी कोई वस्तु गुम हो जावे, व मिलना सम्भव न हो, तो उसका भी त्याग करना चाहिए अर्थात् उसे वीसिराना चाहिए। ताकि जो चोर आदि उस वस्तु का उपयोग पापकर्म में करे तो उस पापकर्म के भागी हम नहीं होते इतना लाभ है। विवेकी पुरुषों को पाप का अनुबन्ध करनेवाली, अनन्तभव सम्बन्धी शरीर, गृह, कुटुम्ब, द्रव्य, शस्त्र आदि वस्तुओं का इसी रीति से

त्याग करना। अन्यथा अनन्त भव तक उन वस्तुओं के सम्बन्ध से होनेवाले बुरे फल भोगने पड़ते हैं।

यह हमारा वचन सिद्धान्त विरुद्ध नहीं है। श्री भगवती सूत्र के पांचवे शतक के छठे उद्देश में 'पारधी ने हरिण को मारा, तो जिस धनुष्य, बाण, प्रत्यंचा तथा लोहे से हरिण मरा, उन' जीवों को भी हिंसा (पांच क्रिया) लगती है। ऐसा कहा है। अस्तु, चतुरपुरुषों को किसी जगह धनहानि आदि हो जाय तो उससे मन में उदासीनता न लाना। कारण कि, उदासीनता न करना यही लक्ष्मी का मूल है। कहा है कि—

सुव्यवसायिनि कुशले, क्लेशासहिष्णौ समुद्यतारम्भे।

नरि पृष्ठतो विलग्ने, यास्यति दूरं कियल्लक्ष्मीः? ॥१॥

दृढ़ निश्चयवाला, कुशल, चाहे कितना ही क्लेश हो उसे सहन करनेवाला और निशादिन उद्यम करनेवाला मनुष्य पीछे पड़ जाये तो लक्ष्मी कितनी दूर जा सकती है? जहां धन उपार्जन किया जाता है, वहां थोड़ा बहुत धन तो नष्ट होता ही है। कृषक को बोये हुए बीज से उत्पन्न हुए धान्य के पर्वत समान ढेर के ढेर मिलते हैं तथापि बोया हुआ बीज तो उसे वापिस नहीं मिलता। वैसे ही जहां बहुतसा लाभ होता है वहां थोड़ी हानि तो सहन करनी ही पड़ती है। कभी दुर्दैव से विशेष हानि हो जाय, तो भी विवेकी पुरुष को दीनता नहीं करनी चाहिए, किन्तु ऊपर कही हुई रीति के अनुसार हानि हुआ द्रव्य धर्मार्थ सोच लेना। ऐसा करने का मार्ग न हो तो उसका मन से त्यागकर देना व लेशमात्र भी उदासीनता न रखनी चाहिए। कहा है कि—

ग्लानोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्च चन्द्रः।

इति विमृशन्तः सन्तः, स तप्यन्ते न विपदाभिः ॥१॥

विपदां सम्पदां चापि, महतामेव सम्भवः।

कृशता पूर्णता चापि, चन्द्र एव न चोडुषु ॥२॥

काटा हुआ वृक्ष पुनः नवपल्लव होता है और क्षीण हुआ चन्द्रमा भी पुनः परिपूर्ण होता है। ऐसा विचार करनेवाले सत्पुरुष आपत्तिकाल आने पर मन में खेद नहीं करते। बड़े मनुष्य ही सम्पत्ति और विपत्ति इन दोनों को भोगते हैं। देखो! चन्द्रमा में ही क्षय व वृद्धि देखने में आती है, नक्षत्रों में नहीं। हे आम्रवृक्ष! फाल्गुण मास ने मेरी सर्वशोभा एकदम हरणकर ली ऐसा सोचकर तू क्यों उदास होता है? थोड़े ही समय में वसन्त ऋतु आने पर पूर्ववत् तेरी शोभा तुझे अवश्य मिलेगी। इस विषय पर ऐसा दृष्टान्त कहा जाता है कि—

आमङ्ग सेठ

पाटण में श्रीमाली जाति का नागराज नामक एक कोटिध्वज श्रेष्ठी था। उसकी

स्त्री का नाम मेलादेवी था। एक समय मेलादेवी के गर्भवती होते हुए श्रेष्ठी नागराज विषूचिका (कॉलेरा) रोग से मर गया। राजा ने उसे निष्पुत्र समझ उसका सर्व धन अपने अधीन कर लिया, तब मेलादेवी अपने पियर धोलके गयी। गर्भ के सुलक्षण से मेलादेवी को अमारिपद्म (अभयदान की डॉँडी) बजवाने का दोहद उत्पन्न हुआ। वह उसके पिता ने पूर्ण किया। यथा समय पुत्रोत्पत्ति हुई, उसका नाम अभय रखा गया। लोगों में वह 'आभङ्ग' नाम से प्रख्यात हुआ। पांच वर्ष का होने पर उसे पाठशाला में पढ़ने को भेजा। एक दिन सहपाठी बालकों ने इसे उपहास से 'नबापा, नबापा' (बिना बाप का) इस तरह चिढ़ाया। उसने घर आते ही आग्रहपूर्वक माता को पिता का स्वरूप पूछा। माता ने सब सत्य वृत्तान्त कह सुनाया। तदनन्तर आग्रह व प्रसन्नतापूर्वक आभङ्ग पाटण में गया तथा वहां व्यापार करने लगा। यथासमय उसने लाल्लदेवी नामक कन्या से विवाह किया। पिता का गाढ़ा हुआ द्रव्यआदि मिलने से वह भी कोटिध्वज हो गया। उसके तीन पुत्र हुए।

समय जाते बुरे कर्मों के उदय से वह निर्धन हो गया। उसने स्त्री को तीनों पुत्रों सहित उसके पियर भेज दी और स्वयं एक मनिहारे की दुकान पर मणिआदि घिसने के काम पर रहा। उसे कुछ जव मिलते थे, उन्हें स्वयं ही पीसकर तथा पकाकर खाता था। लक्ष्मी की गति कैसी विचित्र है? कहा है कि—

वार्धिमाधवयोः सौधे, प्रीतिप्रेमाङ्गधारिणोः।

या न स्थिता किमन्येषां, स्थास्यति व्ययकारिणाम्? ॥१॥

जो लक्ष्मी स्नेहपूर्वक गोद में बैठानेवाले समुद्र के तथा कृष्ण के राजमहल में स्थिर न रही वही लक्ष्मी अन्य खर्चीले लोगों के घर में किस प्रकार स्थिर रह सकती है? एक समय श्री हेमचंद्राचार्यजी के पास से परिग्रह परिमाण व्रत लेने के लिए आभङ्ग खड़ा हुआ। द्रव्य का परिमाण बहुत संक्षेप किया देखकर श्री हेमचंद्राचार्यजी ने उसे मना किया। तब उसने एक लाख द्रम्म तथा उन्हीं अनुसार अन्य वस्तुओं का भी परिमाण रखा। परिमाण से धन आदि वृद्धि हो जाय तो उसे धर्मकार्य में व्यय करना निश्चय किया। धीरे-धीरे कुछ समय में पांच द्रम्म इकट्ठे हुए। जिससे उसने एक बकरी मोल ले ली। भाग्योदय से बकरी के गले में इन्द्रनील (मणि) बंधा था वह आभङ्ग ने पहिचान लिया। उसके टुकड़े कर एक-एक के लाख-लाख द्रम्म आवें ऐसे मणि बनवाये। जिससे वह पुनः पूर्ववत् धनिक हो गया। तब उसके कुटुम्ब के सब मनुष्य भी आ गये। उसके घर में से प्रतिदिन साधु मुनिराज को एक घड़ा भरकर घी वहोराया जाता था। प्रतिदिन साधर्मिकवात्सल्य, सदाव्रत तथा महापूजा आदि होती थी। प्रतिवर्ष दो बार सर्वदर्शनसंघ की पूजा होती थी। अनेक प्रकार की पुस्तकें लिखवाई जाती, जीर्णमंदिर के जीर्णोद्धार होते तथा भगवान् की सुमनोहर प्रतिमाएं भी तैयार होती थीं। ऐसे-ऐसे धर्मकृत्य करते आभङ्ग की चौरासी वर्ष की अवस्था हो गयी। अन्त समय समीप आया, तब उसने धर्मखाते की बही पढ़वाई, उसमें भीमराजा के समय के

अडानवे लाख द्रव्य के व्यय का वर्णन सुनकर, उसने खिन्न होकर कहा कि, 'मुझे कृपण ने एक करोड़ द्रम्म भी धर्मकार्य में व्यय नहीं किया।' यह सुन उसके पुत्रों ने उसी समय दश लाख द्रम्म धर्मकार्य में व्यय किया। जिससे सब मिलकर एक करोड़ आठ लाख द्रम्म धर्म खाते गये। आभङ्ग के पुत्रों ने और भी आठ लाख द्रम्म धर्मकृत्य में व्यय करने का संकल्प किया। तदनन्तर कालसमय आने पर आभङ्ग अनशनकर स्वर्ग में गया.... इत्यादि।

पूर्वभ्रम में किये हुए दुष्कृत के उदय से पुनः पूर्ववत् अवस्था आ जाये तो भी मन में धैर्य रखना कारण कि, आपत्तिकाल रूप समुद्र में डूबते हुए जीव को धीरज नौका के समान है। सर्व दिन समान किसके रहते हैं? कहा है कि—

को इत्थ सया सुहिओ?, कस्स व लच्छी? थिराई पिम्माई?।

को मच्चुणा न गसिओ?, को गिद्धो नेव विसएसु? ।।२।।

इस संसार में सदा ही कौन सुखी है? लक्ष्मी किसके पास स्थिर रही? स्थिर प्रेम कहाँ है? मृत्यु के वश में कौन नहीं? और विषयास्तक कौन नहीं? बुरी दशा आने पर सर्वसुख के मूल संतोष को ही नित्य मन में रखना चाहिए, अन्यथा चिंता से इस लोक के तथा परलोक के भी कार्य नष्ट हो जाते हैं। कहा है कि—चिंता नामक नदी आशारूपी पानी से परिपूर्ण होकर बहती है। हे मूढ़जीव! तू उसमें डूबता है, इसलिए इसमें से पार करनेवाले संतोषरूपी नौका का आश्रय कर नानाप्रकार के उपाय करने पर भी जो ऐसा मालूम पड़े कि, 'अपनी भाग्यदशा ही हीन है।' तो युक्तिपूर्वक किसी भाग्यशाली पुरुष का आश्रय करना। कारण कि, काष्ठ का आधार मिलने पर तो लोहा व पाषाण आदि भी पानी में तैरते हैं। ऐसा सुनते हैं कि—

भाग्यवान का आश्रय :

एक भाग्यशाली श्रेष्ठी था। उसका मुनीम बड़ा ही विचक्षण था। वह भाग्यहीन होते हुए भी श्रेष्ठी के संपर्क से धनवान हो गया। जब श्रेष्ठी का देहान्त हो गया तब वह पुनः निर्धन हो गया। तदनन्तर वह श्रेष्ठी के पुत्रों के पास रहने की इच्छा करता था, परन्तु उसे निर्धन जानकर वे उससे एक अक्षर भी बोलते न थे। तब उसने दो तीन अच्छे मनुष्यों को साक्षी रखकर युक्ति से श्रेष्ठी की पुरानी बही में अपने हाथ से लिखा कि, 'श्रेष्ठी के दो हजार टंक मुझे देना है। यह कार्य उसने बहुत ही गुप्त रीति से किया। एक समय इस लेख पर श्रेष्ठी-पुत्रों की दृष्टि पड़ी, तब उन्होंने मुनीम से दो हजार टंक की मांगनी की। उसने कहा 'व्यापार के निमित्त थोड़ा द्रव्य मुझे दो तो मैं थोड़े ही समय में तुम्हारा कर्ज चुका दूंगा।' तदनुसार उन्होंने इसको कुछ द्रव्य दिया। जिससे उसने बहुत द्रव्य सम्पादन किया। तब पुनः श्रेष्ठीपुत्रों ने अपना लेना मांगा तो मुनीम ने साक्षी सहित यथार्थ बात कह दी। इस प्रकार श्रेष्ठीपुत्रों के आश्रय से वह पुनः धनवान् हो गया।

निर्दयत्वमहङ्कारस्तुष्णाकर्कशभाषणम्।

नीचपात्रप्रियत्वं च, पञ्च श्रीसहचारिणः ॥११॥

निर्दयता, अहंकार, अतिलोभ, कठोर भाषण और नीच वस्तु पर प्रीति रखना ये पांच लक्ष्मी के साथ निरंतर रहते हैं, ऐसा एक वचन प्रसिद्ध है, परन्तु वह सज्जनपुरुषों को लागू नहीं होता। हलके स्वभाव के मनुष्यों को लक्ष्य करके ऊपर का वचन प्रवृत्त हुआ है। इसलिए ज्ञानीपुरुषों को अधिकाधिक द्रव्य आदि मिलने पर भी अहंकार आदि न करना चाहिए। कहा है कि—

विपदि न दीनं सम्पदि न गर्वितं सव्यथं परव्यसने।

हृष्यति चात्मव्यसने येषां चेतो नमस्तेभ्यः ॥११॥

जं जं खमइ समत्थो, धणवंतो जं न गव्विओ होइ।

जं च सविज्जो नमिओ, तिहिं तेहि अलंकिआ पुहवी ॥१२॥

जिस सत्पुरुषों का चित्त आपत्ति आने पर दीन नहीं होता, संपदा (लक्ष्मी) आने पर अहंकार को प्राप्त नहीं होता, दूसरों का दुःख देखकर दुःखी हो, और स्वयं संकट में होने पर भी हर्षित हो, उनको नमस्कार है। सामर्थ्य होते हुए दूसरों के उपद्रव सहन करे, धनवान् होकर गर्व न करे तथा विद्वान् होकर भी विनय करे, ये तीनों पुरुष पृथ्वी के श्रेष्ठ अलंकार हैं।

विवेकीपुरुष को किसीके साथ स्वल्पमात्र भी क्लेश न करना, जिसमें भी बड़े मनुष्यों के साथ तो कभी भी न करना। कहा है कि—जिसे खांसी का विकार हो उसको चोरी नहीं करनी, जिसे अधिक नींद आती हो उसको व्यभिचार न करना, जिसे कोई रोग हो उसको मधुरादि रस पर आसक्ति न करनी, अर्थात् अपनी जीभ वश में रखनी, और जिसके पास धन हो उसको किसी के साथ क्लेश न करना चाहिए। भंडारी, राजा, गुरु और तपस्वी तथा पक्षपाती, बलिष्ठ, क्रूर और नीच मनुष्यों के साथ वाद न करना चाहिए। यदि किसी बड़े मनुष्य से द्रव्य आदि का व्यवहार हुआ हो तो विनय से ही अपना कार्य साधना; बलात्कार क्लेश आदि न करना। पंचोपाख्यान में भी कहा है कि—उत्तमपुरुष को विनय से, शूरपुरुष को फितूर से, नीचपुरुष को अल्पद्रव्यादिक के दान से और अपनी बराबरी का हो उसे अपना पराक्रम दिखाकर वश में करना चाहिए।

धन का अर्थी व धनवान इन दोनों पुरुषों को विशेषकर क्षमा रखनी चाहिए। कारण कि—क्षमा से लक्ष्मी की वृद्धि तथा रक्षा होती है। कहा है कि—ब्राह्मण का बल होम-मन्त्र, राजा का बल नीतिशास्त्र, अनाथ प्रजाओं का बल राजा और वणिक् पुत्र का बल क्षमा है।

अर्थस्य मूलं प्रियवाक् क्षमा च, कामस्य वित्तं च वपुर्वयश्च।

धर्मस्य दानं च दया दमश्च, मोक्षस्य सर्वार्थनिवृत्तिरेव ॥

प्रिय वचन और क्षमा ये दोनों धन के कारण हैं। धन, शरीर और यौवनावस्था ये तीनों काम के कारण हैं। दान, दया और इन्द्रियनिग्रह ये तीन धर्म के कारण हैं। और

सर्वसंग परित्याग करना यह मोक्ष का कारण है।

वचन क्लेश तो सर्वथा त्याज्य ही है। श्रीदारिद्र्यसंवाद में कहा है कि—(लक्ष्मी कहती है) हे इन्द्र! जहां महान् पुरुषों की पूजा होती है, न्याय से धनोपार्जन होता है और लेशमात्र भी धन कलह नहीं, वहां मैं रहती हूं। (दारिद्र्य कहता है) नित्य जुआ खेलनेवाले, स्वजन के साथ द्वेष करनेवाले, धातुर्वाद (किमिया) करनेवाले, दिन-रात प्रमाद में बितानेवाले और आय-व्यय की ओर दृष्टि न रखनेवाले लोगों के पास मैं नित्य रहता हूं। विवेकीपुरुष को अपने लेने की उधारी भी कोमलता से तथा निन्दा न हो उसी प्रकार करनी चाहिए। ऐसा न करने से देनदार की दाक्षिण्यता, लज्जा आदि का लोप होता है और उससे अपने धन, धर्म और प्रतिष्ठा की हानि होना सम्भव है। इसीलिए स्वयं को चाहे उपवास करना पड़े, परन्तु दूसरे को उपवास न करवाना। स्वयं भोजन करके दूसरे को उपवास करवाना अयोग्य ही है। भोजन आदि का अंतराय करना यह ढंढणकुमारादिक की तरह बहुत दुःसह है।

सर्वपुरुषों को तथा विशेषकर वणिग्जनों को सर्वथा संप सलाह से ही अपना सर्वकार्य साधना चाहिए। कहा है कि—यद्यपि साम, दाम, भेद व दंड ये कार्य साधन के चार उपाय प्रसिद्ध हैं, तथापि साम से ही सर्वत्र कार्यसिद्धि होती है, शेष उपाय नाममात्र के हैं। कोई व्यक्ति तीक्ष्ण तथा बड़ा क्रूर हो, तो भी वह क्षमा से वश हो जाता है। देखो! जिन्हां में मधुरता होने से कठोर दांत भी दास की तरह उसकी सेवा करते हैं। लेने-देने के सम्बन्ध में जो भ्रम से अथवा विस्मरण आदि होने से कोई बाधा उपस्थित हो तो परस्पर व्यर्थ झगड़ा न करना। परन्तु चतुर लोक प्रतिष्ठित, हितकारी व न्याय कर सकें ऐसे चार पांच पुरुष निष्पक्षपाती जो कहे, उसे मान्य करना। अन्यथा विवाद नहीं मिट सकता। कहा है कि—

विवाद से दूर रहना :

परैव निवर्त्येत, विवादः सोदरेष्वपि।

विरलान् कङ्कतः कुर्यात् अन्योऽन्यं गूढमूर्द्धजान् ॥११॥

सहोदर भाइयों में विवाद हो तो भी उसे अन्य पुरुष ही मिटा सकते हैं। कारण कि—उलझे हुए बाल कंधी से ही अलग-अलग हो सकते हैं। न्याय करनेवाले पुरुषों को भी पक्षपात का त्यागकर मध्यस्थ वृत्ति रखकर ही न्याय करना चाहिए। और वह भी स्वजन अथवा स्वधर्मी आदि का कार्य हो तभी उत्तमता से सब बातों का विचार करके करना, प्रत्येक स्थान पर न्याय करने न बैठ जाना। कारण कि, लोभ न रखते उत्तमता से न्याय करने में आने पर भी उससे जैसे विवाद का भंग होता है और न्याय करनेवाले की प्रशंसा होती है, वैसे ही उससे एक भारी दोष भी उत्पन्न होता है। वह यह कि, विवाद तोड़ते न्याय करनेवाले के ध्यान में उस समय सही बात न आने से किसीका देना न हो तो वह माथे पड़ता है, और किसीका खरा देना हो तो वह रह जाता है। प्रस्तुत विषय के ऊपर एक बात सुनते हैं कि—

न्याय करने में विवेक :

एक ऋद्धिवन्त श्रेष्ठी लोक में बहुत प्रख्यात था। बडप्पन से तथा बहुमान की अभिलाषा से जहां-तहां न्याय करने जाया करता था। उसकी बाल-विधवा परन्तु बहुत समझदार एक लड़की थी, वह सदैव श्रेष्ठी को ऐसा करने से मना किया करती थी, परन्तु वह मानता नहीं था। एक समय श्रेष्ठी को समझाने के निमित्त उस लड़की ने झूठा झगड़ा प्रारम्भ किया, कि 'पूर्व की धरोहर रखी हुई मेरी दो हजार स्वर्णमुद्राएं दो, तभी मैं भोजन करूंगी।' ऐसा कहकर वह श्रेष्ठीपुत्री उपवास करने लगी। किसीकी एक भी न सुनी। 'पिताजी वृद्ध हो गये तो भी मेरे धन का लोभ करते हैं।' इत्यादि ऐसे वचन बोलने लगी। अन्त में श्रेष्ठी ने न्याय करनेवाले पंचों को बुलवाया। उन्होंने आकर विचार किया कि, 'यह श्रेष्ठी की पुत्री है व बाल-विधवा है अतः इस पर दया करनी चाहिए।' यह सोच उन्होंने दो हजार सुवर्ण-मुद्राएं उसे दिलायीं। जिससे धनहानि व अपयश के कारण श्रेष्ठी बहुत खिन्न हुआ। थोड़ी देर के अनन्तर पुत्री ने अपना सब अभिप्रायः अच्छी प्रकार समझाकर उक्त स्वर्णमुद्राएं वापस दे दीं। जिससे श्रेष्ठी को हर्ष हुआ व उसने न्याय करने का परिणाम ध्यान में आ जाने से जहां-तहां न्याय करने को जाना छोड़ दिया इत्यादि।

इसलिए न्याय करनेवाले पंचों को जहां-तहां जैसा-वैसा न्याय न करना चाहिए। साधर्मिक का, संघ का, श्रेष्ठ परोपकार का अथवा ऐसा ही योग्य कारण हो तो न्याय करना।

इसी प्रकार किसी जीव के साथ मत्सरता न करना। लक्ष्मी की प्राप्ति कर्माधीन है, इसलिए व्यर्थ मत्सर करने में क्या लाभ है? उससे दोनों भव में दुःख मात्र होता है। हमने कहा है कि—जैसा दूसरे के लिए सोचे, वैसा स्वयं पाता है, ऐसा जानते हुए कौन व्यक्ति दूसरे की लक्ष्मी की वृद्धि देखकर मत्सर करता है? वैसे ही धान्य की बिक्री में लाभ के हेतु दुर्भिक्ष, औषधि में लाभ होने के हेतु रोगवृद्धि की तथा वस्त्र में लाभ होने के निमित्त अग्नि आदि से वृक्ष के क्षय की इच्छा न करना। कारण कि, जिससे मनुष्य संकट में आ पड़े ऐसी इच्छा करने से कर्मबंधन होता है। दुर्दैव के योग से कदाचित् दुर्भिक्षादि हो जाय तो भी विवेकी पुरुष को कदापि अनुमोदना न करना। कारण कि उससे वृथा अपना मन मलीन होता है। यथा—

परिणामानुसार सम्मान :

दो मित्र थे। उनमें एक घी की व दूसरा चमड़े की खरीदी करने जा रहे थे। मार्ग में एक वृद्धा स्त्री के यहां भोजन करने वे दोनों ठहरे। वृद्ध स्त्री ने उनका भाव समझ घृत के खरीददार को घर के अन्दर और दूसरे को बाहर बिठाकर भोजन करवाया। दोनों जने खरीदी करके पुनः उसी वृद्धा स्त्री के यहां आये। तब उस स्त्री ने चमड़े के खरीददार को अन्दर और दूसरे को बाहर बैठाकर जिमाया। पश्चात् उन दोनों के पूछने पर उक्त वृद्धा ने कहा कि, जिसका मन शुद्ध था उसे अन्दर बैठाया, और जिसका मन मलीन था उसे

बाहर बैठाया... इत्यादि।

नफा कितना करना? :

कहा है कि—

उचिअं मुत्तूण कलं, दव्वादिकमागयं च उक्करिसं।

निवडिअमवि जाणंतो, परस्स संतं न गिण्हिज्जा ॥१॥

प्रति सैंकडे चार पांच टका तक उचित व्याज अथवा 'व्याज में दुगुना मूल द्रव्य हो जाय' ऐसा वचन है, जिससे उधार दिये हुए द्रव्य की दुगुनी वृद्धि और उधार दिये हुए धान्य की तिगुनी वृद्धि हो उतना लाभ लेना चाहिए। तथा जो गणिमधरिमादि वस्तु का सर्वत्र किसी कारण से क्षय हो गया हो, और अपने पास हो तो उसका ऊंचे भाव से जितना उत्कृष्ट लाभ हो, उतना लेना; परन्तु इसके सिवाय अन्य लाभ नहीं लिया जा सकता। तात्पर्य यह है कि, यदि किसी समय भाविभाव से सुपारी आदि वस्तु का नाश होने से अपने पास की संगृहीत वस्तु बेचते दुगुना अथवा उससे भी अधिक लाभ हो, वह मन में शुद्ध परिणाम रखकर लेना, परन्तु 'सुपारी आदि वस्तु का सर्वत्र नाश हुआ, यह ठीक हुआ।' ऐसा चिन्तन न करना। वैसे ही किसी भी जगह पड़ी हुई दूसरे की वस्तु न उठाना। व्याज, बड़ा अथवा क्रय-विक्रय आदि व्यापार में देश, काल आदि की अपेक्षा से उचित तथा शिष्टजनों को निंदापात्र न हो उस रीति से जितना लाभ मिले उतना ही लेना; ऐसा प्रथम पंचाशक की वृत्ति में कहा है।

अन्याय न करना :

वैसे ही खोटी तराजू, तौल व खोटे माप रखकर न्यूनाधिक व्यापार करके अथवा वस्तु मिश्रण करके, मर्यादा की अपेक्षा अधिक अयोग्य मूल्य बढ़ाकर, अयोग्य रीति से व्याज बढ़ाकर, घूस (रिश्तत) ले या देकर, खोटा अथवा घिसा हुआ पैसा देकर, किसीके क्रय-विक्रय का भंग करके, दूसरे के ग्राहक को बहकाकर खींचकर, नमूना कुछ बता माल दूसरा देकर, जहां बराबर दिखता न हो ऐसे स्थान में वस्त्रादिक का व्यापार करके, लेख में फेरफार करके तथा ऐसे ही अन्य किसी प्रकार से किसीको भी ठगना नहीं। कहा है कि—

विधाय मायां विविधैरुपायैः, परस्य ये वञ्चनमाचरन्ति।

ते वञ्चयन्ति त्रिदिवापवर्गसुखान्महामोहसखाः स्वमेव ॥१॥

जो लोग तरह-तरह की माया करके दूसरों को ठगते हैं, वे मानो मोहजाल में पड़कर अपने आप को ही ठगते हैं। कारण कि, वे लोग कूड़कपट न करें तो समय पर स्वर्ग तथा मोक्ष का सुख प्राप्त करते। इस पर से यह कुतर्क न करना कि, कूड़कपट किये बिना दरिद्री तथा गरीब लोग व्यापार के ऊपर अपनी आजीविका किस तरह करे?

१. सूत्र रचना काल के समय में व्यापार में नफे का परिमाण दुगुनी, तिगुनी वृद्धि का दर्शाया है। अर्थात् उस समय व्यापारी लोगों की संख्या कम होगी।

आजीविका तो कर्म के अधीन है, तो भी व्यवहार शुद्ध रखने से ग्राहक अधिक आते हैं व लाभ भी विशेष होता है। इस पर दृष्टान्त है कि—

हेलाक सेठ की कथा :

एक नगर में हेलाक नामक श्रेष्ठी था। उसके चार पुत्र थे तथा उसका अन्य परिवार भी बहुत विस्तृत था। हेलाक श्रेष्ठी ने तीनसेर, पांचसेर आदि के छोटे माप तौल रखे थे। तथा त्रिपुष्कर, पंचपुष्कर आदि संज्ञा कहकर पुत्र को गाली देने के बहाने से छोटे तौलमाप द्वारा लोगों को ठगा करता था। उसके चौथे पुत्र की स्त्री बहुत समझदार थी। उसे यह बात ज्ञात होने पर एक बार श्रेष्ठी को बहुत ठपका दिया। तब श्रेष्ठी ने कहा कि, 'क्या करें? ऐसा न करें तो निर्वाह कैसे हो?' कहा है - भूखा मनुष्य कौनसा पाप नहीं करता?' यह सुन पुत्रवधू ने कहा कि, 'हे तात! ऐसा न कहिए। कारण कि, व्यवहार शुद्ध रखने से ही सर्व लाभ रहता है। कहा है कि—

धम्मतित्थिआण दव्वत्थिआण नाएण वट्टमाणानं।

धम्मा दव्वं सव्वं संपज्जइ नन्नहा कहवि ॥११॥

लक्ष्मी के अर्थी सुपुरुष धर्म तथा नीति के अनुसार चलें तो उसके समस्त कार्य धर्म से ही सिद्ध होते हैं। धर्म के बिना किसी प्रकार भी कार्यसिद्धि नहीं होती। इसलिए हे तात! परीक्षार्थ छः मास तक शुद्ध व्यवहार कीजिए। उससे धन की वृद्धि होगी। और इतने समय में प्रतीति आजाय तो आगे भी वैसा ही कीजिए।'

पुत्रवधू के वचनानुसार श्रेष्ठी ने वैसा ही करना प्रारम्भ किया। अनुक्रम से ग्राहक बहुत आने लगे, आजीविका सुख से हुई और चार तोला सोना भी पास में हो गया। पश्चात् 'न्यायोपार्जितं द्रव्यं खो जाने पर भी पुनः मिल जाता है।' इस बात की परीक्षा करने के हेतु पुत्रवधू के वचन से श्रेष्ठी ने उक्त चार तोला सुवर्ण पर लोहा मढ़ाकर उसका अपने नाम का एक प्रकार का तौल बनवाया, व छः मास तक उसे काम में लेकर एक द्रह में डाल दिया। भक्ष्य वस्तु समझकर एक मच्छी उसे निगल गयी। धीवर ने वह मछली पकड़ी तो उसके पेट में से उक्त तौल निकला। नाम पर से पहिचानकर धीवर ने वह तौल श्रेष्ठी को दिया। जिससे श्रेष्ठी को तथा उसके समस्त परिवार को शुद्ध व्यवहार पर विश्वास उत्पन्न हो गया। इस तरह श्रेष्ठी को बोध हुआ तब वह सम्यक् प्रकार से शुद्ध व्यवहार करके बड़ा धनवान हो गया। राजद्वार में उसका मान होने लगा। वह श्रावकों में मुख्य व सब लोगों में इतना प्रख्यात हुआ कि, उसका नाम लेने से भी विघ्न, उपद्रव दूर होने लगे। वर्तमान समय में भी मल्लाह लोग नौका चलाते समय, 'हेला, हेला' ऐसा कहते सुनते हैं...इत्यादि।

विवेकीपुरुष को सर्व पापकर्म त्यागना चाहिए। उसमें भी अपने स्वामी, मित्र, अपने ऊपर विश्वास रखनेवाला, देव, गुरु, वृद्ध तथा बालक इनके साथ वैर करना अथवा उनकी धरोहर दबाना ये उनकी हत्या करने के समान है, अतएव ये और अन्य महापातकों का अवश्य त्याग करना चाहिए। कहा है कि—

कूटसाक्षी दीर्घरोषी, विश्वस्तघ्नः कृतघ्नकः।

चत्वारः कर्मचाण्डालाः, पञ्चमो जातिसम्भवः ॥१॥

झूठी साक्षी भरनेवाला, बहुत समय तक रोष रखनेवाला, विश्वासघाती और कृतघ्न ये चारों कर्मचाण्डाल (कर्म से हुए चाण्डाल) कहलाते हैं, और पांचवा जातिचाण्डाल है। विश्वासघात के ऊपर यहां विसेमिरा का दृष्टान्त कहते हैं। यथा—

विसेमिरा :

विशालानगरी में नंद नामक राजा, भानुमती नामक रानी, विजयपालक नामक राजपुत्र और बहुश्रुत नामक मंत्री था। राजा नंद भानुमती रानी में बहुत आसक्त होने से सभा में भी उसको पास ही रखता था।

वैद्यो गुरुश्च मन्त्री च, यस्य राज्ञः प्रियंवदाः।

शरीरधर्मकोशेभ्यः, क्षिप्रं स परिहीयते ॥१॥

जिस राजा के वैद्य, गुरु और मंत्री प्रसन्नता रखने के निमित्त, केवल मधुर वचन बोलने वाले ही हों, राजा के कोप के भय से सत्य बात भी नहीं कहते, क्रमशः उस राजा के शरीर, धर्म और भंडार का नाश होता है। ऐसा नीतिशास्त्र का वचन होने से राजा को सत्य बात कहना अपना कर्तव्य है। यह सोचकर मंत्री ने राजा से कहा कि, 'हे महाराज! सभा में रानीसाहिबा को पास रखना योग्य नहीं है। कहा है कि—

अत्यासन्ना विनाशाय, दूरस्था न फलप्रदाः।

सेव्या मध्यमभावेन, राजवह्निगुरुस्त्रियः ॥१॥

राजा, अग्नि, गुरु और स्त्री ये चार वस्तुएं बहुत समीप रहे तो विनाश करती हैं, और बहुत दूर हों तो अपना-अपना फल बराबर नहीं दे सकतीं। इसलिए रानी का एक उत्तम छायाचित्र (फोटो) बनवाकर उसे पास रखिये। राजा ने मंत्री की बात स्वीकार कर रानी का छायाचित्र बनवाकर अपने गुरु शारदानन्दन को बताया। उन्होंने अपनी विद्वत्ता बताने के लिए कहा कि, 'रानी की बायीं जांघ पर एक तिल है, वह इसमें नहीं है' गुरु के इन वचनों से राजा के मन में रानी के शील के सम्बन्ध में संशय आया, तथा उसने मंत्री को कहा कि, 'शारदानन्दन को मार डालो।'

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।

वृणते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥१॥

सगुणमपगुणं कुर्वता कार्यजातं, परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।

अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः॥

मन्त्री ने विचार किया कि, सहसा कोई कार्य नहीं करना। विचार न करने से महान् संकट उत्पन्न होते हैं। सद्गुणों से लालायित सम्पदाएं विचार करके कार्य करनेवाले पुरुष को स्वयं आकर वरती हैं, पंडितपुरुष को शुभ अथवा अशुभ कार्य करते समय प्रथम उसके परिणाम का निर्णय कर लेना चाहिए। कारण यह है कि

अतिशय उतावल से किए हुए कृत्यों के परिणाम शल्य की तरह मृत्यु समय तक हृदय में वेदना उत्पन्न करते हैं।

ऐसे नीतिशास्त्र के वचन स्मरण आने से मन्त्री ने शारदानन्दन को अपने घर में छिपा रखा। एक समय राजपुत्र मृग का शिकार करते एक सूअर के पीछे बहुत दूर निकल गया। सन्ध्या हो जाने से एक सरोवर का जल पीकर व्याघ्र के भय से वह एक वृक्ष पर चढ़ा। वहां एक व्यंतराधिष्ठित वानर था, प्रथम राजपुत्र उसकी गोद में सो रहा और पश्चात् वानर राजपुत्र की गोद में सोता था कि इतने में क्षुधा पीडित व्याघ्र के वचन से राजपुत्र ने उसे नीचे डाल दिया। वह व्याघ्र के मुख में गिरा था, परन्तु ज्यों ही व्याघ्र हंसा, वह मुख में से बाहर निकला और रुदन करने लगा। व्याघ्र के रुदन करने का कारण पूछने पर बंदर ने कहा कि, 'हे व्याघ्र! अपनी जाति छोड़कर जो लोग परजाति में आसक्त होते हैं, उनको उद्देश्य करके मैं इसलिए रुदन करता हूँ कि, उन मूर्खों की क्या गति होगी?' तदनन्तर इन वचनों से व अपने कृत्य से लज्जित राजकुमार को उसने पागल कर दिया। तब राजपुत्र 'विसेमिरा, विसेमिरा' यह कहता हुआ जंगल में भटकने लगा। उसका घोड़ा अकेला ही नगर में जा पहुंचा। उस पर से शोध करवा के राजा अपने पुत्र को घर लाया। बहुत से उपाय किये परन्तु राजपुत्र को लेशमात्र भी गुण न हुआ। तब राजा को शारदानन्दन का स्मरण हुआ। अंत में जब राजा ने अपने पुत्र को आरोग्य करनेवाले को आधा राज्य देने का ढिंढोरा पिटवाने का निश्चय किया, तब मंत्री ने कहा कि, 'महाराज! मेरी पुत्री थोड़ा बहुत जानती है।' यह सुन राजा पुत्रसहित मंत्री के घर आया। पड़दे के अंदर बैठे हुए शारदानन्दन ने कहा कि, 'विश्वास रखनेवाले को ठगना इसमें कौनसी चतुराई है? तथा गोद में सोये हुए को मारना इसमें भी क्या पराक्रम है? शारदानन्दन का यह वचन सुन राजपुत्र ने 'विसेमिरा' इन चार अक्षरों में से प्रथम अक्षर 'वि' छोड़ दिया। 'सेतु (राम की बंधाई हुई समुद्र की पाल) देखने से तथा गंगा और समुद्र के संगम में स्नान करने से ब्रह्महत्या करनेवाला अपने पातक से छूटता है, परन्तु मित्र को मारने की इच्छा करनेवाला मनुष्य उस पाल को देखने से अथवा संगम स्नान से शुद्ध नहीं होता।' यह दूसरा वचन सुन राजपुत्र ने दूसरा 'से' अक्षर छोड़ दिया। मित्र को मारने की इच्छा करनेवाला, कृतघ्न, चोर और विश्वासघाती ये चारों व्यक्ति जब तक सूर्य चन्द्र हैं, तब तक नरकगति में रहते हैं। यह तीसरा वचन सुनकर राजपुत्र ने तीसरा 'मि' अक्षर छोड़ दिया। 'राजन्! तू राजपुत्र का कल्याण चाहता हो तो सुपात्र में दान दे। कारण कि, गृहस्थ मनुष्य दान देने से शुद्ध होता है। यह चौथा वचन सुनकर राजपुत्र ने चौथा 'रा' अक्षर भी छोड़ दिया। पश्चात् स्वस्थ होकर वानर व्याघ्र आदि का वृत्तान्त कहा। राजा परदे के अन्दर बैठे हुए शारदानन्दन को मंत्री की पुत्री समझता था, इससे उसने पूछा कि, 'हे बाला! तू ग्राम में रहकर भी जंगल में हुई व्याघ्र, वानर और मनुष्य की बात किस प्रकार जानती है?' तब शारदानन्दन ने कहा कि, 'हे राजन्! देवगुरु के प्रसाद से मेरी जबान में सरस्वती वास करती है, उससे जैसे

मैंने भानुमती रानी का तौल जाना उसी प्रकार ही यह बात भी मैं जानता हूँ।'

तदनन्तर शारदानन्दन गुरु और राजा का मिलाप हुआ, व दोनों जनों को अपार हर्ष हुआ...इत्यादि।

पाप के भेद :

इस लोक में पाप दो प्रकार का है। एक गुप्त और दूसरा प्रकट। गुप्त पाप भी दो प्रकार का है। एक लघुपाप और दूसरा महापाप। खोटे तराजू, बाट इत्यादि रखना यह गुप्त लघुपाप और विश्वासघात आदि करना यह गुप्त महापाप कहलाता है। प्रकट पाप के भी दो भेद हैं। एक कुलाचार से करना और दूसरा लोकलज्जा छोड़कर करना। गृहस्थ लोग कुलाचार से आरंभ समारंभ करते हैं तथा म्लेच्छ लोग कुलाचार से ही हिंसा आदि करते हैं वह प्रकट लघुपाप है; और साधु का वेष पहनकर निर्लज्जता से हिंसा आदि (पांच महाव्रतों का भंग) करे, वह प्रकट महापाप है। लज्जा छोड़कर किये हुए प्रकट महापाप से अनन्तसंसारिपना आदि होता है, कारण कि, प्रकट महापाप से शासन का उच्चाह आदि होता है। कुलाचार से प्रकट लघुपाप करे तो थोड़ा कर्मबंध होता है, और जो गुप्त लघुपाप करे तो तीव्र कर्मबंध होता है। कारण कि, वैसा पाप करनेवाला मनुष्य असत्य व्यवहार करता है। मन, वचन, काया से असत्य व्यवहार करना, यह बड़ा भारी पाप कहलाता है; और असत्य व्यवहार करनेवाले मनुष्य गुप्तलघुपाप तो करते ही हैं।

असत्य का त्याग करनेवाला मनुष्य किसी समय भी गुप्तपाप करने को प्रवृत्त नहीं होता। जिसकी प्रवृत्ति असत्य की ओर हुई, वह मनुष्य निर्लज्ज हो जाता है, और निर्लज्ज हुआ मनुष्य स्वामी, मित्र और अपने ऊपर विश्वास रखनेवाले का घात आदि गुप्त महापाप करता है। यही बात योगशास्त्र में कही है। यथा—

एकत्रासत्यजं पापं, पापं निःशेषमन्यतः।

द्वयोस्तुलाविधृतयोराद्यमेवातिरिच्यते ॥१॥

तराजू के एक पलडे में असत्य रखें, और दूसरी बाजू में सर्व पातक रखें तो दोनों से प्रथम ही तौल में अधिक उतरेगा। किसीको ठगना इसका असत्यमय गुप्तलघुपाप के अन्दर समावेश होता है। इसलिए कभी भी किसीको ठगना न चाहिए। न्यायमार्ग से चलना यही द्रव्य की प्राप्ति करानेवाला एक गुप्त महामंत्र है। वर्तमान समय में भी देखते हैं कि न्यायमार्गानुयायी कितने ही लोग थोड़ा थोड़ा धनोपार्जन करते हैं, तो भी वे धर्मकृत्य में नित्य खर्च करते हैं। ऐसा होते हुए भी जैसे कुएँ का जल निकले थोड़ा, परन्तु कभी भी क्षय को प्राप्त नहीं होता, इसी प्रकार उनका धन भी नष्ट नहीं होता। अन्य पापकर्म करनेवाले लोग बहुत द्रव्योपार्जन करते हैं, तथा विशेष खर्च नहीं करते, तो भी मरुदेश के सरोवर की तरह वे लोग अल्पसमय में निर्धन हो जाते हैं। कहा है कि—

आत्मनाशाय नोन्नत्यै, छिद्रेण परिपूर्णता।

भूयो भूयो घटीयन्त्रं, निमज्जत् किं न पश्यसि? ॥११॥

पर-छिद्र निकालकर स्वार्थ साधने से अपनी उन्नति नहीं होती। परन्तु उलटा अपना नाश ही होता है। देखो, रहट के घड़े छिद्र से अपने में जल भर लेते हैं। इससे उनमें जल भरा हुआ रहता नहीं, बल्कि बार-बार खाली होकर उनको जल में डूबना पड़ता है।

पुण्य-पाप की चतुर्भंगी :

शंका : न्यायवान् और धर्मी ऐसे भी कितने ही लोग निर्धनता आदि दुःख से अतिपीडित दृष्टि में आते हैं। वैसे ही अन्याय से व अधर्म से चलनेवाले लोग भी ऐश्वर्य आदि होने से सुखी दिखायी देते हैं। तो न्याय व धर्म से सुख होता है, इसे प्रमाणभूत कैसे माना जाये?

समाधान : न्यायी लोगों को दुःख और अन्यायी लोगों को सुख नजर आता है, वह पूर्वभवं के कर्म का फल है, इस भव में किए हुए कर्म का फल नहीं।

पुण्य-पाप के चार प्रकार हैं। श्रीधर्मघोषसूरिजी ने कहा है कि—१ पुण्यानुबंधी पुण्य, २ पापानुबंधी पुण्य, ३ पुण्यानुबंधी पाप और ४ पापानुबंधी पाप, ये चार पुण्य-पाप के चार प्रकार हैं। जिन-धर्म की आराधना करनेवाले लोग भरत चक्रवर्ती की तरह संसार में कष्ट रहित निरुपम सुख पाते हैं, वह पुण्यानुबंधी पुण्य है। अज्ञान कष्ट करनेवाले जीव कोणिकराजा की तरह अतिशय ऋद्धि तथा रोग रहित काया आदि धर्मसामग्री होते हुए भी धर्मकृत्य न कर, पापकर्म में रत होते हैं, वह पापानुबंधी पुण्य है। जो जीव द्रमक मुनि की तरह पाप के उदय से दरिद्री और दुःखी होते हुए भी उनके मन में दया आदि होने से जिनधर्म पाते हैं, वह पुण्यानुबंधी पाप है। जो जीव कालशौकरिक की तरह पापी, क्रूर कर्म करनेवाले, अधर्मी, निर्दय, किये हुए पाप का पश्चात्ताप न करनेवाले, और ज्यों-ज्यों दुःखी होते जाय, त्यों-त्यों अधिकाधिक पापकर्म करते जाय, ऐसे हैं, वह पापानुबंधी पाप का फल है। पुण्यानुबंधीपुण्य से बाह्यऋद्धि और अंतरंगऋद्धि भी प्राप्त होती है, इन दोनों में से एक भी ऋद्धि जिस मनुष्य ने न पायी उसके मनुष्य भव को धिक्कार है। जो जीव प्रथम शुभपरिणाम से धर्मकृत्य का आरंभ करें परन्तु पीछे से शुभपरिणाम उतर जाने से परिपूर्ण धर्म नहीं करते, वे परभव में आपदा सहित संपदा पाते हैं। इस तरह किसी जीव को पापानुबंधी पुण्य के उदय से लोक में दुःख कष्ट ज्ञात नहीं होता, तथापि उसे आगामी भव में निश्चयपूर्वक पापकर्म का फल मिलता है, इसमें संशय नहीं। कहा है कि—द्रव्य संपादन करने की बहुत इच्छा से अंधा हुआ मनुष्य पापकर्म करके जो कुछ द्रव्य पाता है, वह द्रव्य आदि मांस में घुसेड़े हुए लोहे के कांटे की तरह उस मनुष्य का नाश किये बिना नहीं रहता। अतएव जिससे स्वामी द्रोह हो ऐसे दाणचोरी आदि अकार्यों का अवश्य त्याग करना चाहिए। कारण कि, उनसे इस लोक तथा परलोक में अनर्थ उत्पन्न होता है। जिससे किसीको स्वल्पमात्र भी ताप उत्पन्न होता हो, वह व्यवहार, घर, हाट बनवाना, तथा लेना या

उनमें रहना आदि सर्व त्याग करना। कारण कि, किसीको ताप उत्पन्न करने से अपनी सुखादि ऋद्धि बढ़ती नहीं है। कहा है कि—

शाठ्येन मित्रं कपटेन धर्मं, परोपतापेन समृद्धिभावम्।

सुखेन विद्यां प्ररुषेण नारीं, वाञ्छन्ति ये व्यक्तमपण्डितास्ते ॥१॥

जो मनुष्य मूर्खता से मित्र को, कपट से धर्म को, सुख से विद्या को और क्रूरपन से स्त्री को वश करना तथा दूसरे को ताप उपजाकर स्वयं सुखी होने की इच्छा करते हैं, वे मूर्ख हैं।

विवेकीपुरुष को जैसे लोग अपने ऊपर प्रीति करते हैं, वैसे ही अपने को भी वर्तन करना चाहिए। कहा है कि—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं, गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।

गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते, जनानुरागप्रभवो हि सम्पदः ॥२॥

इन्द्रियां जीतने से विनयगुण उत्पन्न होता है, विनय से सद्गुणों की प्राप्ति होती है, सद्गुणों से लोगों के मन में प्रीति उत्पन्न होती है, और लोगों के अनुराग से सर्व संपत्ति होती है। विवेकीपुरुष को अपने धन की हानि, वृद्धि अथवा किया हुआ संग्रह आदि बात किसीके संमुख प्रकट न करना, कहा है कि—चतुरपुरुष को स्त्री, आहार, पुण्य, धन, गुण, दुराचार, मर्म और मंत्र ये आठ वस्तुएं गुप्त रखना चाहिए। कोई अपरिचित व्यक्ति उपरोक्त आठ वस्तुओं का स्वरूप पूछे तो, असत्य न बोलना, परन्तु ऐसा कहना कि, 'ऐसे प्रश्नों का क्या प्रयोजन?' इत्यादि प्रत्युत्तर भाषासमिति से देना। राजा, गुरु आदि बड़े पुरुष उपरोक्त आठ बातें पूछें तो परमार्थ से यथावत् कह देना। कहा है कि—
सत्यं वक्तव्यं :

सत्यं मित्रैः प्रियं स्त्रीभिरलीकमधुरं द्विषा।

अनुकूलं च सत्यं च, वक्तव्यं स्वामिना सह ॥३॥

मित्रों के साथ सत्यवचन बोलना, स्त्री के साथ मधुरवचन बोलना, शत्रु के साथ असत्य परन्तु मधुरवचन बोलना और अपने स्वामी के साथ उनको अनुकूल हो ऐसा सत्यवचन बोलना। सत्यवचन मनुष्य को बड़ा आधार है। कारण कि, सत्यवचन से ही विश्वास आदि उत्पन्न होता है। इस विषय पर एक दृष्टांत सुनते हैं—

दिल्लीनगर में एक साधु महणसिंह नामक वणिक रहता था। उसकी सत्यवादिता की कीर्ति सर्वत्र प्रसारित थी। बादशाह ने एक दिन परीक्षा के हेतु से उसे पूछा कि, 'तेरे पास कितना धन है?' उसने उत्तर दिया, 'मैं बही में लेखा देखकर कहूंगा।' ऐसा कह उसने सम्यग् रीति से सब लेखा देखकर कहा कि, 'मेरे पास अनुमानतः चौरासी लाख टंक होंगे।' मैंने थोड़ा ही द्रव्य सुना था व इसने तो बहुत कहा। यह विचारकर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ और उसे अपना भंडारी नियुक्त किया।

इसी तरह खंभातनगर में प्राणान्त संकट आने पर भी सत्यवचन न छोड़े ऐसा श्री

जगच्चंद्रसूरि का शिष्य भीम नामक सोनी रहता था। एक समय शस्त्रधारी यवनों ने श्री मल्लिनाथजी के मंदिर में भीम को पकड़कर कैद कर लिया, तब भीम के पुत्रों ने उसे छुड़ाने के निमित्त चार हजार खोटे टंक उन लोगों को भेंट किये। यवनों ने उन टंकों की परीक्षा करवायी तब भीम ने यथार्थ बात कह दी। जिससे प्रसन्न हो उन्होंने भीम को छोड़ दिया, और उसके पुत्रों को उसी समय मार डाले। उनको अग्निदाह देने के अनंतर यवनों ने भोजन किया। वचन देने से उनकी मृत्यु के दिन अभी भी उनके निमित्त वहां श्री मल्लिनाथजी की पूजा आदि होती है।

मित्र कैसा करना? :

विवेकीपुरुष को संकट समय पर सहायता मिले इस हेतु से एक ऐसा मित्र करना कि, जो धर्म से, धन से, प्रतिष्ठा से तथा ऐसे ही अन्य सदगुणों से अपनी बराबरी का, बुद्धिशाली तथा निर्लोभी हो। रघुकाव्य में कहा है कि—राजा के मित्र बिलकुल शक्तिहीन हों तो प्रसंग आने पर कुछ भी उपकार न कर सकें तथा उससे अधिक शक्तिशाली हों तो वे स्वर्धा से वैर आदि करें इसलिए राजा के मित्र मध्यमशक्ति वाले चाहिए। अन्य एक स्थान में भी कहा है कि—आगन्तुक आपत्ति को दूर करनेवाला मित्र, मनुष्य को ऐसी अवस्था में सहायता करता है कि, जिस अवस्था में मनुष्य का सहोदर भाई, स्वयं पिता तथा अन्य स्वजन भी उसके पास खड़े न रह सकते हैं। हे लक्ष्मण! अपने से विशेष समर्थ के साथ प्रीति करना मुझे नहीं रुचता। कारण कि, अपन यदि उसके घर जाये तो अपना कुछ भी आदर सत्कार नहीं होता, और वह अपने घर आये तो अपने को शक्ति से अधिक धन व्यय करके उसकी मेहमानी करनी पड़ती है। इस प्रकार यह बात युक्तिवाली है अवश्य तथापि किसी प्रकार जो बड़े के साथ प्रीति हो जाय तो उससे दूसरे से न बन सकें ऐसे अपने कार्य सिद्ध हो सकते हैं, तथा अन्य भी बहुत से लाभ होते हैं। कहा है कि—

आपणपे प्रभु होइए, के प्रभु कीजे हत्थ।

कज्ज करेवा माणुसह, अवरो मग्ग न अच्छ ॥१॥

बड़े मनुष्य की हलके मनुष्य से भी मित्रता करना, कारण कि प्रसंग आने पर वह भी सहायता कर सकता है। पंचोपाख्यान में कहा है कि—

कर्त्तव्यान्येव मित्राणि, सबलान्यबलान्यपि।

हस्तियूथं वने बद्धं, मूषकेण विमोचितम् ॥१॥

बलवान व दुर्बल दोनों प्रकार के मित्र करने चाहिए, देखो, वन में बन्धन में पड़े हुए हाथी के झुंड को चूहे ने छूड़ाया। क्षुद्र जीव से हो सके ऐसे काम सर्व बड़े मनुष्य एकत्र हो जायें तो भी उनसे नहीं हो सकते। सुई का कार्य सुई ही कर सकती है, वह खड्ग आदि शस्त्रों से नहीं हो सकता। तृण का कार्य तृण ही कर सकता है, हाथी आदि नहीं। कहा भी है कि—तृण, धान्य, नमक, अग्नि, जल, काजल, गोबर, माटी, पत्थर, राख, लोहा, सुई, औषधि चूर्ण और कूंची इत्यादि वस्तुएं अपना कार्य आप ही कर

सकती हैं, अन्य वस्तु से नहीं होता। दुर्जन के साथ भी वचन की सरलता आदि दाक्षिण्यता रखना चाहिए। कहा है कि—

सद्भावेन हरेन्मित्रं, सन्मानेन च बान्धवान्।

स्त्रीभृत्यान् प्रेमदानाभ्यां, दाक्षिण्येनेतरं जनम् ॥१॥

मित्र को शुद्ध मन से, बांधवों को सन्मान से, स्त्रियों को प्रेम से, सेवकों को दान से और अन्य लोगों को दाक्षिण्यता से वश में करना चाहिए।

समय पर अपनी कार्यसिद्धि के निमित्त खलपुरुषों को भी मुखिया करना चाहिए। कहा है कि—किसी स्थान पर खलपुरुषों को भी मुखिया करके ज्ञानियों ने अपना कार्य साधा। रस को चखनेवाली जीभ, क्लेश करने में निपुण दांतों को मुख्य करके अपना कार्य साधन करती है। कांटों का सम्बन्ध किये बिना प्रायः निर्वाह नहीं होता। देखो, क्षेत्र, ग्राम, गृह, बगीचा आदि की रक्षा कांटों के ही स्वाधीन रहती है।

द्रव्य संबंध :

जहां प्रीति हो वहां द्रव्यसम्बन्ध बिलकुल नहीं रखना चाहिए। कहा है कि—जहां मित्रता करने की इच्छा न हो, वहां द्रव्यसम्बन्ध करना और प्रतिष्ठा भंग के भय से जहां-तहां खड़े न रहना चाहिए। सोमनीति में भी कहा है कि—जहां द्रव्यसम्बन्ध और सहवास दोनों बातें होती हैं, वहां कलह हुए बिना नहीं रहता। अपने मित्र के घर भी कोई साक्षी रखे बिना धरोहर नहीं रखना, तथा अपने मित्र के हाथ द्रव्य भेजना भी नहीं। कारण कि, अविश्वास धन का और धन अनर्थ का कारण है। कहा है कि—विश्वासी तथा अविश्वासी दोनों मनुष्यों के ऊपर विश्वास न रखना चाहिए। कारण कि, विश्वास से उत्पन्न हुआ भय समूल नाश करता है। ऐसा कौन मित्र है कि, जो गुप्त धरोहर रखी हो तो उसका लोभ न करे? कहा है कि—श्रेष्ठी अपने घर में किसी की धरोहर (अमानत) आकर पड़े, तब वह अपने देवता की स्तुति करके कहता है कि, 'जो इस थापण (धरोहर) का स्वामी शीघ्र मर जायें तो तुझे अमुक वस्तु चढ़ाऊंगा' वास्तव में अर्थ अनर्थ का मूल है, परन्तु जैसे अग्नि बिना, वैसे ही धन बिना गृहस्थ का निर्वाह नहीं हो सकता। अतएव विवेकीपुरुष को धन का अग्नि की तरह रक्षण करना चाहिए। यथा—

धनेश्वर की कथा - साक्षी न करने का फल :

धनेश्वर नामक एक श्रेष्ठी था, उसने अपने घर में की सर्व सार वस्तुएं एकत्र कर उनका नकद द्रव्य करके एक-एक करोड़ स्वर्णमुद्रा के मूल्य के आठ रत्न मौल लिये और गुप्तचुप अपने एक मित्र के यहां धरोहर रख दिये और आप धन सम्पादन कस्ने के लिए विदेश चला गया। बहुत समय वहां रहने के अनन्तर अकस्मात् बीमार हो जाने से उसकी मृत्यु हो गयी। कहा है कि—पुरुष मचकुन्द फूल सदृश शुद्ध मन में कुछ सोचता है, और दैवयोग से कुछ और ही होता है। धनेश्वर श्रेष्ठी का अन्तसमय समीप आया, तब स्वजन सम्बन्धियों ने उसको द्रव्यआदि के विषय में पूछा। श्रेष्ठी ने कहा—

‘परदेश में उपार्जन किया हुआ बहुतसा द्रव्य है, तथापि वह इधर-उधर फैला हुआ होने से मेरे पुत्रों से लिया नहीं जा सकेगा। किन्तु मेरे एक मित्र के पास मैंने आठ रत्न धरोहर रखे हैं, वे मेरे स्त्रीपुत्रों को दिला देना। यह कह वह मर गया। स्वजनों ने आकर उसके पुत्रादिक को यह बात कही, तब उन्होंने अपने पिता के मित्र को विनय से, प्रेम से और अत्यादर से घर बुलाया और अभयदानादि अनेक प्रकार की युक्ति से रत्नों की मांगणी की; परन्तु उस लोभी मित्र ने एक भी बात न मानी तथा रत्न भी नहीं दिये। अन्त में यह विवाद न्यायसभा में गया, किन्तु साक्षी, लेख आदि प्रमाण न होने से कुछ भी फल न हुआ। यह साक्षी रखकर द्रव्य देने के विषय में धनेश्वर श्रेष्ठी का दृष्टान्त है। इसलिए किसीको भी साक्षी रखकर द्रव्य देना चाहिए।

साक्षी रखने का लाभ :

साक्षी रखा हो तो चोर को दिया हुआ द्रव्य भी वापिस आता है। जैसे—

एक वणिक् धनवान और बहुत धूर्त था। मार्ग में जाते उसे चोर मिले, चोरों ने जुहार करके उससे द्रव्य मांगा। वणिक् ने कहा, ‘साक्षी रखकर यह सर्व द्रव्य तुम ले लो और समय पाकर वापिस देना, परन्तु मुझे मारो मत।’ चोरों ने इसे मूर्ख समझ एक काबरचित्र जंगली बिलाड को साक्षी रखकर सर्व द्रव्य लेकर वणिक् को छोड़ दिया। वह वणिक् उस स्थान को बराबर ध्यान में रखकर अपने ग्राम को गया। कुछ दिनों के बाद एक दिन वे ही चोर उसी ग्राम के कुछ चोरों को साथ लेकर गाँव में आये। उस वणिक् ने चोरों को पहचानकर अपना द्रव्य मांगा; कलह हुआ, अन्त में यह बात राजद्वार तक पहुंची। न्यायाधीशों ने वणिक् से पूछा—‘द्रव्य दिया उस समय कोई साक्षी था?’ उसने कहा साक्षी है। चोरों ने कहा—‘बता, तेरा कौनसा साक्षी है?’ वणिक् ने पीजरे में रखे हुए एक काले बिलाड को बताकर कहा—‘यह मेरा साक्षी है’ वणिक् के बताने पर चोरों ने कहा, ‘वह यह नहीं है। वह तो काबरचित्र वर्ण का था, और यह तो काला है।’ इस प्रकार अपने मुख से ही चोरों ने स्वीकार कर लिया। तब न्यायाधीशों ने उनके पास से वणिक् को द्रव्य दिलाया इत्यादि।

इसलिए धरोहर रखना अथवा लेना हो तो गुप्त नहीं रखना, स्वजनों की साक्षी रखकर ही रखना या लेना चाहिए। मालिक की सम्मति के बिना उसे इधर-उधर भी न करना चाहिए। कदाचित् धरोहर रखनेवाला मनुष्य मर जाये तो उक्त धरोहर उसके पुत्रों को दे देना चाहिए। यदि उसके पुत्र आदि न हो तो सर्व संघ के समक्ष उसे धर्मकार्य में वापरना चाहिए।

लेखा शीघ्र करना :

उधार थापण आदि की नोंध उसी समय करने में लेश मात्र भी प्रमाद न रखना चाहिए। कहा है कि—

ग्रन्थिबन्धे परीक्षायां, गणने गोपने व्यये।

लेख्यके च कृतालस्यो, नरः शीघ्रं विनश्यति ॥११॥

पास में द्रव्य रखने में, वस्तु की परीक्षा करने में, गिनने में, गुप्त रखने में, खर्च करने में और नामा (हिसाब आदि लेख) रखने में जो मनुष्य प्रमाद करता है, वह शीघ्र ही नष्ट होता है। मनुष्य को सर्व बात ध्यान में नहीं रह सकती, बहुत सी विस्मृति हो जाती है, और भूल जाने से वृथा कर्मबन्ध आदि दोष सिर पर आता है।

राज्याश्रय :

अपने निर्वाह के लिए चन्द्रमा जैसे सूर्य को अनुसरता है, वैसे ही राजा तथा मन्त्री आदि को अनुसरना चाहिए। अन्यथा पराभव आदि होना सम्भव है। कहा है कि—चतुरपुरुष अपने मित्रजनों पर उपकार करने के निमित्त तथा शत्रुओं का नाश करने के निमित्त राजा के आश्रय की इच्छा करते हैं, अपना उदरपोषण करने के लिए नहीं कारण कि, राजा के आश्रय बिना अपना उदर पोषण कौन नहीं करता? बहुत से करते हैं। वस्तुपालमंत्री, पेथङ्गश्रेष्ठी आदि लोगों ने भी राजा के आश्रय से जिनमंदिर आदि अनेक पुण्यकृत्य किये हैं।

अस्तु, विवेकीपुरुष ने जूआ, धातुवाद (किमिया) और व्यसनो का दूर से ही त्याग करना चाहिए। कहा है कि—दैव का कोप होने पर ही द्यूत, धातुवाद, अंजनसिद्धि, रसायन और यक्षिणी की गुफा में प्रवेश करने की बुद्धि होती है। इसी प्रकार सहज कार्य में सौगन्दआदि भी न खाना चाहिए। कहा है कि—जो मूर्ख मनुष्य चैत्य (देव) के सच्चे या झूठे सौगन्द खाता है वह बोधिबीज को फेंककर अनन्त संसारी होता है।

चतुरमनुष्य को किसीकी जमानत देना (भलामण) आदि संकट में न पड़ना। कार्पासिक ने कहा है कि—दरिद्री को दो स्त्रियां, मार्ग में क्षेत्र, दो तरह की खेती, जमानत और साक्षी देना ये पांच अनर्थ स्वयं मनुष्य उत्पन्न कर लेते हैं।

व्यापार कहाँ करना? :

वैसे ही विवेकीपुरुष को चाहिए कि जीवनभर जिस ग्राम में निवास करता हो उसीमें व्यापारआदि करना जिससे अपने कुटुम्ब के मनुष्यों का वियोग नहीं होता, घर के तथा धर्म के कार्य यथास्थित होते हैं। अपने ग्राम में निर्वाह न होता हो तो अपने देश में व्यापार आदि करना, परन्तु परदेश न जाना चाहिए। अपने देश में ही व्यापार करने से बार-बार घर जाने का अवसर आता है तथा घर के कार्योंदि का निरीक्षण भी हो जाता है। ऐसा कौन दरिद्री मनुष्य है जो अपने ग्राम अथवा देश में निर्वाह होना सम्भव होने पर भी परदेश जाने का क्लेश सहता है? कहा है कि—हे अर्जुन! दरिद्री, रोगी, मूर्ख, मुसाफिर और नित्य सेवा करनेवाला ये पांचों जीते हुए भी मृत के समान हैं, ऐसा शास्त्र में सुनते हैं। यदि परदेश गये बिना निर्वाह न चलता हो और परदेश में ही व्यापार करना पड़े, तो स्वयं न करना, तथा पुत्रादिक से भी न कराना, किन्तु विश्वासपात्र मुनीमों द्वारा व्यापार चलाना। किसी समय अपने को परदेश जाना पड़े, तो शुभशकुन आदि देख तथा गुरुवंदनादिक मांगलिककर भाग्यशाली पुरुषों के साथ जाना चाहिए। साथ में अपनी जाति के कुछ परिचित मनुष्यों को भी लेना, मार्ग में निद्रादि प्रमाद लेशमात्र भी

न करना तथा यत्नपूर्वक जाना उचित है। परदेश में व्यापार करना पड़े अथवा रहना पड़े तो भी इसी रीति से करना। कारण कि एक भाग्यशाली के साथ में होने से सबका विघ्न टलता है। इस विषय पर दृष्टान्त है, वह इस प्रकार—

भाग्यशाली :

इक्कीस मनुष्य वर्षाकाल में किसी ग्राम को जा रहे थे। संध्या समय वे एकमंदिर में ठहरे। वहां बिजली बार-बार मंदिर के द्वार तक आकर जाने लगी। उन सबने भयातुर होकर कहा कि, 'अपने में कोई अभागी मनुष्य है, इसलिए एक-एक व्यक्ति मंदिर की चारों ओर प्रदक्षिणा देकर यहां आये।' तदनुसार बीस जनों ने अनुक्रम से प्रदक्षिणा देकर मंदिर में प्रवेश किया। इक्कीसवां मनुष्य बाहर नहीं निकलता था, उसे शेष सबने बलात्कार पूर्वक खींचकर बाहर निकाला। तब बीसों ही पर बिजली गिरी। उनमें एक ही भाग्यशाली था। इत्यादि।

अतएव भाग्यशाली पुरुषों के साथ में जाना, तथा जो कुछ लेन-देन हो, अथवा निधि आदि रखना हो, तो वह सब पिता, भाई, पुत्र आदि को नित्य कह देना, उसमें भी परग्राम जाते समय तो अवश्य ही कह देना चाहिए। ऐसा न करने से कदाचित् दुर्दैववश पर गाँव में अथवा मार्ग में अपनी मृत्यु हो जाय, तो धन के होते हुए पिता, भाई, पुत्र आदि को वृथा दुःख भोगना पड़ता है।

विवेकीपुरुष को परगाँव जाते समय धनादिक की यथोचित चिन्ता करने के लिए कुटुंब के सब लोगों को योग्य शिक्षा देना तथा सबके साथ आदर पूर्वक बातचीत करके जाना। कहा है कि—जिसको जगत् में जीने की इच्छा हो, उस मनुष्य को पूज्य-पुरुषों का अपमानकर, अपनी स्त्री को कटुवचन कहकर, किसी को ताड़नाकर तथा बालक को रुलाकर परगाँव गमन न करना चाहिए। परगाँव जाने का विचार करते जो कोई उत्सव या पर्व समीप आ गया हो तो वह करके जाना चाहिए। कहा है कि—उत्सव, भोजन, बड़ा पर्व तथा अन्य भी सर्व मंगलकार्य की उपेक्षा करके तथा जन्म या मरण इन दो प्रकारों के सूतक हो अथवा अपनी स्त्री रजस्वला हो तो परगाँव को गमन न करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य विषयों का भी शास्त्रानुसार विचार करना उचित है। कहा भी है कि—दूध का भक्षण, रतिक्रीड़ा, स्नान, स्त्री को ताड़ना, वमन तथा थूकना आदि करके या आक्रोश वचन सुनकर परगाँव को न जाना। हजामत कराकर, नेत्रों में आंसू टपकाकर तथा शुभशकुन न होते हों तो परगाँव को न जाना। अपने स्थान से किसी कार्य के निमित्त बाहर जाते जिस भाग की नाड़ी चलती हो, उस तरफ का पैर आगे रखना। इससे मनवाञ्छित कार्य की सिद्धि होती है। ज्ञानीपुरुष को मार्ग में जाते हुए सन्मुख आये हुए रोगी, वृद्ध, ब्राह्मण, अंध, गाय, पूज्यपुरुष, राजा, गर्भिणी स्त्री और सिर पर बोझा होने से नमे हुए पुरुष को प्रथम मार्ग देकर फिर जाना चाहिए। पक्व अथवा अपक्व धान्य, पूजने योग्य मंत्र का मंडल, डाल दिया हुआ उबटन, स्नान का जल, रुधिर, मृतक इनको लांघकर न जाना। थूक, कफ, विष्टा, मूत्र, प्रज्वलित अग्नि,

सर्प, मनुष्य और शस्त्र इनका तो कदापि उल्लंघन न करना चाहिए। विवेकीपुरुष को नदी के किनारे तक, गायें बांधने के स्थान तक, बड़ आदि वृक्ष, तालाब, सरोवर, कुआ, बाग इत्यादिक आवे वहां तक अपने स्वजनों को पहुंचाने के लिए जाना चाहिए।

कल्याणार्थी पुरुष को रात्रि के समय वृक्ष के नीचे न रहना। उत्सव तथा सूतक समाप्त होने के पूर्व किसी दूरदेश में न जाना। अकेले अपरिचित व्यक्ति अथवा दास के साथ नहीं जाना, तथा मध्याह्न व मध्यरात्रि के समय भी गमन न करना। क्रूरपुरुष, चौकीदार, चुगलखोर, शिल्पकार और अयोग्यमित्र के साथ अधिक बातचीत न करना तथा असमय इनके साथ कहीं भी न जाना। मार्ग में चाहे कितनी ही थकावट पैदा हो पर पाड़ा, गाय और गधे पर न बैठना। मार्ग में हमेशा हाथी से एक हजार, गाड़ी से पांच तथा सींगवाले पशु व घोड़े से दश हाथ दूर रहना चाहिए। साथ में कलेऊ (कुछ भी खाद्य पदार्थ) लिए बिना गमन न करना, जहां मुकाम किया हो वहां अधिक नींद न लेना तथा साथ आनेवाले लोगों का विश्वास नहीं रखना। सैकड़ों कार्य हों तो भी अकेले कहीं न जाना। देखो एक कर्कट (केंकडा) के समान क्षुद्र जीव ने ब्राह्मण की रक्षा की थी। अकेले मनुष्य को किसीके घर नहीं जाना। किसीके घर में आड़े मार्ग से (जो द्वार चालू न हो) उस मार्ग से भी प्रवेश न करना।

बुद्धिमान पुरुष को जीर्णनाव में न बैठना, अकेले नदी में प्रवेश न करना और सहोदरभाई के साथ मार्गप्रवास नहीं करना। अपने पास साधन न हो तो जल तथा थल के विषम प्रदेश, घोरवन तथा गहरेजल का उल्लंघन न करना। जिस समुदाय में बहुतसे लोग क्रोधी, सुख के अभिलाषी और कृपण हो वह समुदाय अपना स्वार्थ खो बैठता है। जिसमें सब लोग नालायक होते हैं, सब अपने आपको पंडित मानते हैं, तथा बड़प्पन चाहते हैं वह समुदाय दुर्दशा में आ पड़ता है। जहां कैदियों को तथा फांसी की शिक्षा पाये हुए लोगों को रखते हों, जहां जुआ खेला जाता हो, जहां अपना अनादर होता हो, वहां तथा किसीके खजाने में और अन्तःपुरमें न जाना चाहिए। दुर्गन्धियुक्त स्थल, स्मशान, शून्यस्थान, बाजार, जहां फोतरे व सूखा घास बहुत बिछा हुआ हो, जहां प्रवेश करते बहुत दुःख का अनुभव होता हो तथा जहां कूड़ा कचरा डाला जाता हो ऐसा स्थान, खारी भूमि, वृक्ष का अग्रभाग, पर्वत का शिखर, नदी तथा कुए का किनारा और जहां भस्म, कोयला, बाल और खोपड़ियां पड़ी हों इतने स्थानों में अधिक समय तक खड़े न रहना। अधिक परिश्रम होने पर भी जिस समय जो कार्य करना हो, उसे न छोड़ना। क्लेश के वश हुआ मनुष्य पुरुषार्थ के फल स्वरूप धर्म अर्थ व काम तीनों को नहीं पा सकता।

मनुष्य जरा आडम्बर रहित हुआ कि उसका जहां-तहां अनादर होता है, इसलिए किसी भी स्थान में विशेष आडम्बर नहीं छोड़ना। परदेश में जाने पर अपनी योग्यता के अनुसार सर्वांग में विशेष आडम्बर तथा स्वधर्म में परिपूर्ण निष्ठा रखना। कारण कि उसीसे बड़प्पन, आदर तथा निश्चित कार्य की सिद्धि आदि होना संभव है। विशेष लाभ

होने पर भी परदेश में अधिक समय तक नहीं रहना, कारण कि उससे काष्ठ श्रेष्ठी आदि की तरह गृहकार्य की अव्यवस्थादि दोष उत्पन्न होता है।

मनोरथ :

लेने बेचने आदि कार्य के आरंभ में, विघ्न का नाश और इच्छित लाभ आदि कार्य की सिद्धि के निमित्त पंचपरमेष्ठी का स्मरण करना, गौतमादिक का नाम लेना तथा कुछ वस्तुएं देव, गुरु और ज्ञान आदि के काम में आये इस रीति से रखना। कारण कि, धर्म की प्रधानता रखने से ही सर्व कार्य सफल होते हैं। धनोपार्जन के हेतु जिसे आरम्भ समारम्भ करना पड़े उस श्रावक को सात क्षेत्र में धन वापरने के तथा अन्य ऐसे ही धर्म-कृत्यों के बड़े-बड़े मनोरथ करना। कहा है कि—

उच्चैर्मनोरथाः कार्याः, सर्वदैव मनस्विना।

विधिस्तदनुमानेन, सम्मदे यतते यतः ॥१॥

विचारवान पुरुष को नित्य बड़े-बड़े मनोरथ करना चाहिए। कारण कि, अपना भाग्य मनोरथ के अनुसार कार्यसिद्धि करने में प्रयत्न करता है। धन, काम और यश की प्राप्ति के लिए किया हुआ यत्न भी समय पर निष्फल हो जाता है, परन्तु धर्मकृत्य करने का केवल मन में किया हुआ संकल्प भी निष्फल नहीं जाता।

लाभ होने पर पूर्व में किये हुए मनोरथ लाभ के अनुसार सफल करना। कहा है कि—

ववसायफलं विहवो, विहवस्स फलं सुपत्तविणिओगो।

तदभावे ववसाओ, विहवोवि अ दुग्गइनिमित्तं ॥१॥

उद्यम का फल लक्ष्मी है, और लक्ष्मी का फल सुपात्र को दान देना है। इसलिए जो सुपात्र को दान न करे तो उद्यम और लक्ष्मी दोनों दुर्गति के कारण होते हैं।

ऋद्धि के भेद :

सुपात्र को दान देने से ही उपार्जित की हुई लक्ष्मी धर्म की ऋद्धि कहलाती है, अन्यथा पाप की ऋद्धि कहलाती है। कहा है कि—ऋद्धि तीन प्रकार की है। एक धर्मऋद्धि, दूसरी भोगऋद्धि और तीसरी पापऋद्धि। जो धर्मकृत्य में खर्च हुई वह धर्मऋद्धि, जो शरीरसुख के हेतु वापरी जाती है वह भोगऋद्धि, और जो दान तथा भोग के काम में नहीं आती वह अनर्थ उत्पन्न करनेवाली पापऋद्धि कहलाती है। पूर्वभव में किये हुए पापकर्म से अथवा भावीपाप से पापऋद्धि प्राप्त होती है। इस विषय पर दृष्टान्त सुनो—

वसन्तपुर नगर में एक ब्राह्मण, एक क्षत्रिय, एक वणिक् और एक सुनार ये चार मित्र थे। वे द्रव्योपार्जन के निमित्त एक साथ परदेश चले। रात्रि को एक उद्यान में ठहरे। वहां उन्होंने वृक्ष की शाखा में लटकता हुआ एक सुवर्णपुरुष देखा। उन चारों में से एक ने कहा—'यह द्रव्य है।' सुवर्णपुरुष ने कहा 'द्रव्य है, परंतु अनर्थ करनेवाला है' यह

सुन सबने भय से उसे छोड़ दिया। परन्तु सुनार ने उससे कहा—'नीचे गिर' तदनुसार सुवर्णपुरुष नीचे गिर गया। सुनार ने उसकी एक अंगुली काटकर शेष भाग को एक गड्ढे में फेंक दिया, यह सबने देखा। पश्चात् उनमें से दो जने भोजन लाने के लिए गांव में गये और शेष दोनों को मारने की इच्छा से विष-मिश्रित अन्न लाये। इधर उन दोनों ने इन दोनों को आते ही खड्ग प्रहार से मार डाला और स्वयं विष-मिश्रित अन्न भक्षण किया जिससे मर गये। सारांश यह कि पापऋद्धि से द्रव्य के कारण चारों का विनाश हो गया।

नित्य धर्म में द्रव्य व्यय का विशेष फल :

इसलिए प्रतिदिन देवपूजा, अन्नदान आदि पुण्य तथा अवसर पर संघपूजा, साधर्मिकवात्सल्य आदि पुण्य कृत्य करके अपनी लक्ष्मी धर्मकृत्य में लगानी चाहिए। साधर्मिकवात्सल्य आदि पुण्य कृत्य बहुत द्रव्य का व्यय करने से होते हैं, इसीलिए वे श्रेष्ठ भी कहलाते हैं तथा नित्य होनेवाले पुण्य छोटे कहलाते हैं। यह बात सत्य है, तथापि ये पुण्य नित्य करते रहना चाहिए, क्योंकि उससे भी बहुत फल उत्पन्न होता है। इसलिए नित्य के पुण्य कार्य करके ही अवसरपुण्य करना उचित है। धन अल्प हो अथवा ऐसे ही अन्य कारण हों तो भी धर्मकार्य करने में विलंब न करना चाहिए। कहा है कि—

देयं स्तोकादपि स्तोकं, न व्यपेक्षो महोदयः।

इच्छानुसारिणी शक्तिः, कदा कस्य भविष्यति? ॥११॥

अल्प धन हो तो अल्प में से अल्प भी देना, परन्तु बड़े उदय की अपेक्षा नहीं रखना। इच्छानुसार दान देने की शक्ति कब किसे मिलनेवाली है? कल करने का विचार किया हुआ धर्मकार्य आज ही करना। तथा पिछले प्रहर को धारा हुआ धर्मकार्य दुपहर के पूर्व ही कर लेना चाहिए। कारण कि, मृत्यु आती है तो यह विचार नहीं करती कि, 'इसने अपना कर्तव्यकर्म कितना कर लिया है, तथा कितना बाकी रखा है?'

अति लोभ न करना :

द्रव्योपार्जन करने का भी यथायोग्य उद्यम नित्य करना चाहिए। कहा है कि—
वृणिक, वेश्या, कवि, भट्ट, चोर, ठग, ब्राह्मण ये मनुष्य जिस दिन कुछ लाभ न हो उस दिन को निष्फल मानते हैं। अल्प लक्ष्मी की प्राप्ति होने से उद्यम नहीं छोड़ देना चाहिए। माघकवि ने कहा है कि—जो मनुष्य अल्प संपत्ति के लाभ से अपने को उत्तम स्थिति में मानता है उसका दैव भी कर्तव्य किया जान कर उसकी संपत्ति नहीं बढ़ाता, ऐसा जान पड़ता है। अत्यन्त लोभ भी न करना चाहिए। लोक में भी कहा है कि—अतिलोभ न करना, तथा लोभ का समूल त्याग भी न करना। अतिलोभ वश सागर श्रेष्ठी समुद्र में डूबकर मृत्यु को प्राप्त हुआ था।

अपरिमित इच्छा जितना धन किसीको भी मिलना संभव नहीं है। निर्धन मनुष्य चक्रवर्ती होने की इच्छा चाहे करे परन्तु वह कदापि नहीं हो सकता। भोजनवस्त्रादि तो

इच्छानुसार मिल भी सकते हैं। कहा है कि—इच्छानुसार फल प्राप्त करनेवाले पुरुष को अपनी योग्यता के ही अनुसार इच्छा करनी चाहिए। लोक में मांगने से परिमित वस्तु तो मिल जाती है, परन्तु अपरिमित नहीं मिल सकती। इसलिए अपने भाग्यादिक के अनुसार ही इच्छा रखनी चाहिए। जो मनुष्य अपनी योग्यता की अपेक्षा अधिकाधिक इच्छा किया करता है, उसे इच्छित वस्तु का लाभ न होने से सदा दुःखी ही रहना पड़ता है। निन्यानवे लाख टंक का अधिपति होते हुए करोडपति होने के निमित्त धनश्रेष्ठी को अनेक क्लेश भोगने पड़े। ऐसे ही और भी बहुत से उदाहरण हैं। कहा है कि—

आकाङ्क्षितानि जन्तूनां, सम्पद्यन्ते यथा यथा।

तथा तथा विशेषासौ, मनो भवति दुःखितम् ॥१॥

आशादासस्तु यो जातो, दासस्त्रिभुवनस्य सः।

आशा दासीकृता येन, तस्य दास्ये जगत्त्रयी ॥२॥

मनुष्यों के मनोरथ ज्यों-ज्यों पूर्ण होते हैं, त्यों-त्यों उनका मन विशेष लाभ के लिए दुःखी होता जाता है। जो मनुष्य आशा का दास हो गया वह मानो तीनों लोक का दास हो गया और जिसने आशा को अपनी दासी बनायी उसने तीनों जगत् को अपना दास बना लिया है।

धर्म-अर्थ-काम :

गृहस्थ मनुष्य ने धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का इस रीति से सेवन करना चाहिए कि एक दूसरे को बाधा न हो। कहा है कि—धर्म, अर्थ (द्रव्य) और काम (विषयसुख) ये तीनों लोक में पुरुषार्थ कहे जाते हैं। चतुरपुरुष अवसर देखकर तीनों का सेवन करते हैं। जंगली हाथी की तरह धर्म व अर्थ का त्याग करके जो मनुष्य क्षणिक विषयसुख में लुब्ध होता है वह आपत्ति में पड़ता है। जो मनुष्य विषयसुख में अधिक आसक्ति रखता है, उसके धन की, धर्म की व शरीर की भी हानि होती है। धर्म और काम को छोड़कर उपार्जन किया हुआ धन अन्य लोग भोगते हैं, और उपार्जन करनेवाला हाथी को मारनेवाले सिंह की तरह केवल पाप का भागीदार होता है। अर्थ और काम को त्यागकर केवल धर्म की ही सेवा करना यह तो साधु मुनिराज का धर्म है, गृहस्थ का नहीं। गृहस्थ को भी धर्म को बाधा उपजाकर अर्थ तथा काम का सेवन न करना चाहिए। कारण कि, बीज भोजी (बोने के लिए रखे हुए दाने खानेवाला) किसान की तरह अधार्मिक पुरुष का अंत में कुछ कल्याण नहीं होता। सोमनीति में भी कहा है कि—जो मनुष्य परलोक के सुख में बाधा न आवे ऐसी रीति से इस लोक का सुख भोगता है, वही सुखी कहा जाता है। वैसे ही अर्थ को बाधा उपजाकर धर्म तथा काम का सेवन करनेवाले के सिरपर बहुत देना हो जाता है और काम को बाधा उपजाकर धर्म व अर्थ का सेवन करनेवाले को संसारिक सुख का लाभ नहीं होता। इस प्रकार क्षणिक विषयसुख में आसक्त, मूलभोगी (जड़ को खा जानेवाला) और कृपण इन तीनों पुरुषों के धर्म, अर्थ तथा काम को बाधा सुलभता से उत्पन्न होती है।

जो मनुष्य कुछ भी संग्रह नहीं करते और जितना धन मिले उतना विषयसुख में ही खर्च करते हैं वे क्षणिक विषयसुख में आसक्त कहे जाते हैं। जो मनुष्य अपने बापदादाओं का उपार्जित द्रव्य अन्याय से खाते हैं, वे बीज (मूल) भोजी कहे जाते हैं, और जो मनुष्य अपने जीव, कुटुम्ब सेवकवर्ग को दुःख देकर द्रव्यसंग्रह करते हैं और योग्यरीति से जितना खर्चना चाहिए उतना भी खर्च न करें वे कृपण कहलाते हैं। जिसमें क्षणिक विषयसुख में आसक्त और मूलभोजी इन दोनों का द्रव्य नष्ट हो जाता है, इस कारण उनसे धर्म और काम का सेवन नहीं होता। इसलिए इन दोनों जनों का कल्याण नहीं होता। कृपण का किया हुआ द्रव्य का संग्रह दूसरे का कहलाता है। राजा, भूमि, चोर आदि लोग कृपण के धन के मालिक होते हैं, इससे उसका धन धर्म अथवा काम के उपयोग में नहीं आता। कहा है कि—

दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमिभुजो,
गृह्णन्ति च्छलमाकलय्य हुतभुग् भस्मीकरोति क्षणात्।
अम्भः प्लावयते क्षितौ विनिहितं यक्षा हरन्ते हठाद्,
दुर्वृत्तास्तनया नयन्ति निधनं धिग् बह्वधीनं धनम् ॥११॥

जिस धन को मनुष्य चाहते हैं, उस धन को चोर लूटें, किसी छलभेद से राजा हरण कर लें, क्षणमात्र में अग्निभस्म कर दे, जल डूबा दे, भूमि में गाड़ा हो तो यक्ष हरण करे, पुत्र दुराचारी हो तो बलात्कार से कुमार्ग में उड़ा दें, ऐसे अनेकों के अधिकार में रहे हुए धन को धिक्कार है।

अपने पुत्र को लाड़ लड़ानेवाले पति को देखकर जैसे दुराचारिणी स्त्री हंसती है, वैसे ही मृत्यु शरीर की रक्षा करनेवाले को तथा पृथ्वी धन की रक्षा करनेवाले को देखकर हंसती है। कीड़ियों का एकत्रित किया हुआ धान्य, मधुमक्खियों का एकत्रित किया हुआ मधु और कृपण का उर्पाजन किया हुआ धन ये तीनों वस्तुएं दूसरों के ही उपभोग में आती हैं। इसलिए धर्म अर्थ और काम को बाधा उत्पन्न करना यह बात गृहस्थ को उचित नहीं। कदाचित् पूर्वकर्म के योग से ऐसा हो तो भी उत्तरोत्तर बाधा होने पर भी शेष का रक्षण करना चाहिए। यथा—

काम को बाधा हो तो भी धर्म और अर्थ की रक्षा करना। कारण कि धर्म और अर्थ की अच्छी तरह रक्षा करने से ही काम (विषयसुख) सुख से मिल सकता है। वैसे ही अर्थ और काम इन दोनों को बाधा हो तथापि सर्वप्रकार से धर्म की रक्षा करनी चाहिए। कारण कि अर्थ व काम का मूल धर्म है। कहा है कि—चाहे नरेटी (फूटे पात्र) में भिक्षा मांगकर अपनी आजीविका चलाता हो, तो भी मनुष्य जो अपने धर्म को बाधा न उपजावे तो उसे ऐसा समझना चाहिए कि, 'मैं बड़ा धनवान हूँ।' कारण कि, धर्म ही सत्पुरुषों का धन है। जो मनुष्य मनुष्यभव पाकर धर्म, अर्थ, काम इन तीनों का साधन न करे उसकी आयुष्य पशु की तरह वृथा है। इन तीनों में भी धर्म श्रेष्ठ है। कारण कि, उसके बिना अर्थ और काम उत्पन्न नहीं होते।

आयानुसार व्यय :

द्रव्य की प्राप्ति के प्रमाण में उचित व्यय करना चाहिए। नीतिशास्त्र में कहा है कि, जितनी द्रव्य की प्राप्ति हो, उसका एक चतुर्थभाग संचय करना, दूसरा चतुर्थभाग व्यापार में अथवा व्याज पर लगाना, तीसरा चतुर्थभाग धर्मकृत्य में तथा अपने उपभोग में लगाना और चौथा चतुर्थभाग कुटुम्ब के पोषण निमित्त व्यय करना। कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि—प्राप्ति का आधा अथवा उससे भी अधिक भाग धर्मकृत्य में लगाना और बाकी रहे हुए द्रव्य में शेष सर्व कार्य करना। कारण कि, एक धर्म के सिवाय इसलोक के शेष सर्वकार्य तुच्छ हैं। कई लोग कहते हैं कि—उपरोक्त दोनों वचनों में प्रथम गरीब के तथा दूसरा धनवान के उद्देश्य से कहा है। जीवन और लक्ष्मी किसको वल्लभ नहीं? किन्तु अवसर पर सत्पुरुष इन दोनों को तृण से भी हलका समझते हैं।

यशस्करे कर्मणि मित्रसङ्ग्रहे, प्रियासु नारीष्वधनेषु बन्धुषु।

धर्मे विवाहे व्यसने रिपुक्षये, धनव्ययोऽष्टासु न गण्यते बुधेः ॥२॥

यः काकिणीमप्यपथप्रपन्नामन्वेषते निष्कसहस्रतुल्याम्।

काले च कोटिष्वपि मुक्तहस्तस्तस्यानुबन्धं न जहाति लक्ष्मीः ॥३॥

१ यश का विस्तार करना हो, २ मित्रता करनी हो, ३ अपनी प्रियस्त्रियों के लिए कोई कार्य करना हो, ४ अपने निर्धन बान्धवों को सहायता करनी हो, ५ धर्मकृत्य करना हो, ६ विवाह करना हो, ७ शत्रु का नाश करना हो, अथवा ८ कोई संकट आया हो तो चतुरपुरुष धन व्यय की कुछ भी गिनती नहीं रखते। जो पुरुष एक काकिणी भी कुमार्ग में चली जाये तो एक हजार स्वर्णमुद्राएं गयीं ऐसा समझते हैं, और वे ही पुरुष योग्य अवसर आने पर जो करोड़ों का धन छूटे हाथ से व्यय करते हैं, तो लक्ष्मी उनको कभी भी नहीं छोड़ती है। जैसे—

करकसर :

एक श्रेष्ठी की पुत्रवधू नयी विवाही हुई थी। उसने एक दिन अपने श्वसुर को दीवे में से नीचे गिरी हुई तैल की बूंदें अपने जूतों में लगाते देखा, इससे मन में विचार करने लगी कि, 'मेरे श्वसुर की यह कृपणता है कि काटकसर है?' ऐसा संशय होने से श्वसुर की परीक्षा करने का निश्चयकर एक दिन सिर दुःखने का बहाना करके वह सो रही तथा बहुत चिल्लाने लगी। श्वसुर ने बहुत से उपाय किये तब उसने कहा कि, 'पूर्व में भी कभी-कभी मेरे ऐसा ही दर्द होता था और वह सच्चे मोतियों का चूर्ण लेप करने से मिट जाया करता था।' यह सुनकर श्वसुर को बड़ा हर्ष हुआ। उसने तुरन्त मोती मंगाने की तैयारी की। इतने में ही बहूने यथार्थ बात कह दी।

धर्मकृत्य में खर्च करना यह लक्ष्मी का एक वशीकरण है। कारण कि, इसीसे वह स्थिर होती है। कहा है कि—

मा संस्थाः क्षीयते वित्तं, दीयमानं कदाचन।

कूपारामगवादीनां, ददतामेव संपदः ॥१॥

देने से धन का नाश होता है ऐसा आप किसी काल में भी मत समझना। देखो, कुआ, बगीचा, गाय आदि ज्यों-ज्यों देते जाते हैं त्यों-त्यों उनकी संपदा वृद्धि को प्राप्त होती है। इस विषय पर एक उदाहरण है कि—

विद्यापति :

विद्यापति नामक एक श्रेष्ठी बहुत धनवान था। लक्ष्मी ने स्वप्न में आकर उसको कहा कि, 'मैं आज से दशवें दिन तेरे घर में से निकल जाऊंगी।' पश्चात् विद्यापति ने अपनी स्त्री के कहने से उसी दिन सर्वधन धर्म के सात क्षेत्रों में व्यय कर दिया। और गुरु से परिग्रह का प्रमाण स्वीकारकर सुखपूर्वक रात्रि में सो गया। प्रातःकाल होते ही देखा कि पुनः पूर्व की तरह धन परिपूर्ण भरा है। तब उसने पुनः सब द्रव्य धर्मकृत्य में व्यय कर दिया। इसी प्रकार नौ दिन व्यतीत हुए। दशवें दिन फिर लक्ष्मी ने स्वप्न में आकर कहा कि, 'तेरे पुण्य से मैं तेरे घर में ही स्थिर रहती हूँ।' लक्ष्मी का यह वचन सुनकर विद्यापति श्रेष्ठी परिग्रह परिमाणव्रत का खंडन होने के भय से नगर को छोड़कर बाहर चला गया। उधर कोई राजा मर गया था। उसके संतान न होने के कारण, उसकी गादी पर किसी योग्य पुरुष को बैठाने के निमित्त मंत्री आदि लोगों ने पट्टहाथी की सूंड से अभिषेक कलश दे रखा था। उस हाथी ने आकर इस (विद्यापति श्रेष्ठी) पर अभिषेक किया, तदनंतर आकाशवाणी के कथनानुसार विद्यापति ने राजा के तौर पर जिन-प्रतिमा की स्थापना करके राज्य संचालन किया, तथा क्रमशः वह पांचवें भव में मोक्ष को प्राप्त हुआ।

धनार्जन न्यायमार्ग से ही :

न्यायपूर्वक धन उपार्जन करनेवाले मनुष्य पर कोई भी शक नहीं रखता, बल्कि हर स्थान में उसकी प्रशंसा होती है। प्रायः उसकी किसी प्रकार की हानि भी नहीं होती, और उसकी सुखसमाधि आदि दिन प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्ति होती है।

इसलिए उपरोक्त रीति अनुसार धनोपार्जन करना इसलोक तथा परलोक में लाभकारी है। कहा है कि—

सर्वत्र शुचयो धीराः, स्वकर्मबलगर्विताः।

कुकर्मानिहतात्मानः, पापाः सर्वत्र शङ्किताः ॥१॥

पवित्र पुरुष अपने शुद्धाचरण के अभिमान के बल से सब जगह धैर्य से रहते हैं। परन्तु पापी पुरुष अपने कुकर्म से वेधित होने के कारण सब जगह मन में शंकायुक्त रहते हैं। यथा—

शुद्धाचरण का फल :

देव और यश नामक दो श्रेष्ठी प्रीति से साथ-साथ फिरा करते थे। एक दिन

किसी नगर के मार्ग में पड़ा हुआ एक रत्नजडित कुंडल उनकी दृष्टि में आया। देवश्रेष्ठी सुश्रावक, दृढ़व्रत और परधन को अनर्थ का मूल समझनेवाला होने से उसने लिया नहीं। यशश्रेष्ठी ने उस समय तो न लिया पर थोड़ी देर बाद 'पड़ी हुई वस्तु लेने में अधिक दोष नहीं।' यह विचारकर उसने वृद्धदेवश्रेष्ठी की निगाह बचाकर कुंडल उठा लिया और पुनः मन में विचार किया कि, 'मेरे इस मित्र को धन्य है, कारण कि, इसमें ऐसी अलौकिक निर्लोभता है। तथापि युक्ति से मैं इसे इस कुंडल में भागीदार करूंगा।' ऐसा विचारकर कुंडल को छिपा रखा व दूसरे नगर में जाकर उस कुंडल के द्रव्य से बहुत सा किराना खरीदा। कुछ दिन के बाद दोनों अपने गाँव में आये। लाये हुए किराने का बेचने का समय आया तब बहुतसा किराना देखकर श्रेष्ठी ने आग्रहपूर्वक इसका कारण पूछा। यशश्रेष्ठी ने भी यथार्थ बात कह दी। तब देवश्रेष्ठी ने कहा, 'अन्याय से उपार्जन किया हुआ यह द्रव्य किसी भी प्रकार ग्रहण करने के योग्य नहीं। कारण कि, जैसे खराबकांजी के अंदर पड़ने से दूध का नाश हो जाता है, वैसे ही यह धन लेने से अपना न्यायोपार्जित द्रव्य भी अवश्य विनाश हो जायेगा।' यह कहकर उसने संपूर्ण अधिक किराना यशश्रेष्ठी को दे दिया। अपने आप ही पास आया हुआ धन कौन छोड़े? इस लोभ से यशश्रेष्ठी वह सब किराना अपने घर ले गया। उसी दिन रात्रि को चोरों ने यश श्रेष्ठी का संपूर्ण किराना लूट लिया। प्रातःकाल में किराने के बहुत से ग्राहक आये जिससे दुर्गुना तिगुना मूल्य मिलने के कारण देवश्रेष्ठी को बहुत लाभ हुआ। पश्चात् यश श्रेष्ठी भी पश्चात्ताप होने से सुश्रावक हुआ। और शुद्धव्यवहार से द्रव्योपार्जन करके सुख पाया... इत्यादि।

इस विषय पर लौकिकशास्त्र में भी एक दृष्टांत कहा है कि—

चम्पानगरी में सोम नामक राजा था। उसने मंत्री को पूछा कि, 'सुपर्व में दान देने के योग्य श्रेष्ठद्रव्य कौनसा है? और दान लेने को सुपात्र कौन है?' मंत्री ने उत्तर दिया, 'इस नगर में एक सुपात्र ब्राह्मण है। परन्तु न्यायोपार्जित शुभद्रव्य का योग मिलना सब लोगों को और विशेषकर राजा को दुर्लभ है। कहा है कि—

दातुर्विशुद्धचित्तस्य, गुणयुक्तस्य चार्थिनः।

दुर्लभः खलु संयोगः, सुबीजक्षेत्रयोरिव ॥१॥

जैसे उत्तम बीज व उत्तम खेत का योग मिलना कठिन है, वैसे ही शुद्धचित्त दाता और योग्य गुणवन्त पात्र इन दोनों का योग मिलना भी दुर्लभ है। यह सुन सोमराजा ने पर्व के ऊपर शुद्धदान देने के हेतु से गुप्त वेश धारण कर आठ दिन तक रात्रि के समय वणिक् लोगों के दुकान पर जाकर साधारण वणिक्-पुत्र के समान काम किया, और उसके बदले में आठ द्रम्म उपार्जन किये। पर्व के दिन सब ब्राह्मणों को निमन्त्रण करके उक्त सुपात्रब्राह्मण को बुलाने के लिए मन्त्री को भेजा। उस ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि, 'जो ब्राह्मण लोभ से मोहवश हो राजा के पास से दान ले, वह तमिस्रादिक घोर नरक में पड़कर दुःखी होता है। राजा का दान मधु में मिश्रित किये हुए विष के समान है। समय

पर पुत्र का मांस भक्षण कर लेना श्रेष्ठ, पर राजा के पास से दान न लेना चाहिए। कुम्भकार के पास से दान लेना दश हिंसा के समान, ध्वज (कलार)के पास से दान लेना सो हिंसा के समान, वेश्या के पास से दान लेना एक हजार हिंसा के समान और राजा के पास से लेना दश हजार हिंसा के समान है। स्मृति, पुराण आदि के वचनों से राजा के पास से दान लेने में ऐसे दोष कहे हैं, इसलिए मैं राजदान नहीं लेता। तब मंत्री ने कहा, 'राजा अपने बाहुबल से न्यायपूर्वक उपार्जन किया हुआ द्रव्य ही तुमको देगा, उसे लेने में कोई दोष नहीं है।' इत्यादि अनेक प्रकार से समझाकर मन्त्री उस सुपात्रब्राह्मण को राजा के पास ले गया। राजा ने हर्षित हो उस ब्राह्मण को बैठने के लिए अपना आसन दिया, पग धोकर विनयपूर्वक उसकी पूजा की और पूर्वोपार्जित न्यायोपार्जित आठ द्रम्म उसे दक्षिणा के तौर पर गुप्त रीतिसे उसकी मुट्ठी में दिए। दूसरे ब्राह्मणों को यह देखकर कुछ रोष आया। उनके मन में यह भ्रम हुआ कि, 'राजा ने इसे गुप्त रीति से कुछ श्रेष्ठ वस्तु दे दी है।' पश्चात् राजा ने स्वर्ण आदि देकर अन्य ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया। अन्य सब ब्राह्मणों का राजा ने दिया हुआ द्रव्य किसीका छः मास में, तो किसीका इससे कम अधिक अवधि में खर्च हो गया। परन्तु सुपात्रब्राह्मण को दिए हुए आठ द्रम्म अन्नवस्त्रादि के कार्य में खर्च करने पर भी न्यायोपार्जित होने के कारण कम न हुए, बल्कि अक्षयनिधि की तरह तथा खेत में बोये हुए श्रेष्ठ बीज की तरह बहुत काल तक लक्ष्मी की वृद्धि ही करनेवाले होते रहे इत्यादि।

१ न्यायोपार्जित धन और सुपात्रदान इन दोनों के योग से चौभंगी (चार भांगे) होती हैं। जिसमें १ न्यायोपार्जित धन और सुपात्रदान इन दोनों के योग से प्रथम भंग होता है, यह पुण्यानुबंधिपुण्य का कारण होने से इससे उत्कृष्ट देवतापन, तथा समकित आदि का लाभ होता है, और ऐसे अपूर्वलाभ से अन्त में थोड़े काल में ही मोक्ष भी प्राप्त हो जाता है। इस पर धनसार्थवाह तथा शालिभद्रआदि का दृष्टान्त जानना।

२ न्यायोपार्जित द्रव्य और सुपात्रदान इन दोनों का योग होने से दूसरा भंग होता है। यह पापानुबंधिपुण्य का कारण होने से इससे किसी किसी भव में विषयसुख का पूर्ण लाभ होता है, तो भी अन्त में उसका परिणाम कड़वा ही उत्पन्न होता है। जैसे कि—

सेचनक :

एक ब्राह्मण ने लाख ब्राह्मणों को भोजन दिया जिससे वह कुछ भवों में विषयसुख भोगकर अत्यन्त सुन्दर व सुलक्षण अवयवों को धारण करनेवाला सेचनक नामक भद्रजाति का हाथी हुआ। जिस समय उसने लाख ब्राह्मणों को जिमाया था, उस समय ब्राह्मणों के जीमते बचा हुआ अन्न एकत्रित कर सुपात्र को दान देनेवाला दूसरा एक दरिद्री ब्राह्मण था, वह सुपात्र दान के प्रभाव से सौधर्मदेवलोक में जाकर, वहां से च्यवकर पांचसौ राजकन्याओं से विवाह करनेवाला नदिषेण नामक श्रेणिकपुत्र हुआ। उसे देखकर सेचनक को जातिस्मरण ज्ञान हुआ, तथापि अन्तमें वह प्रथम नरक में

गया।

३ अन्याय से उपार्जित द्रव्य और सुपात्रदान इन दोनों के योग से तीसरा भंग होता है। उत्तम क्षेत्र में हलका बीज बोने से जैसे अंकुर मात्र ऊगता है, परन्तु धान्य नहीं उपजता, वैसे ही इससे परिणाम में सुख होता है, जिससे राजा, व्यापारी और अत्यारम्भ से धनोपार्जन करनेवाले लोगों को वह मान्य होता है। कहा है कि—यह लक्ष्मी काशयष्टि के समान सार व रस रहित होते हुए भी धन्यपुरुषों ने उसे सातक्षेत्रों में बोकुर सांटे के समान कर दिया। गाय को खली देने से उसका परिणाम दूध के रूप में होता है, और दूध सर्प को देने से उसका परिणाम विष के रूप में आता है। सुपात्र तथा कुपात्र में वस्तु का उपयोग करने से ऐसे भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं, अतएव सुपात्र में ही लक्ष्मी का व्यय करना श्रेष्ठ है। स्वातिनक्षत्र का जल सर्प के मुंह में पड़े तो विष और सीप के संपुट में पड़े तो मोति होता है। देखो, वही स्वाति नक्षत्र और वही जल है किन्तु पात्र के फेरफार से परिणाम में कितनी भिन्नता हो जाती है? इस विषय में अर्बुद (आबू) पर्वत के ऊपर जिनमंदिर बनानेवाले विमलमन्त्री आदि के दृष्टान्त लोक प्रसिद्ध है। भारी आरंभ, समारम्भ आदि अनुचित कर्म करके एकत्रित किया हुआ द्रव्य धर्मकृत्य में न व्यय किया जाये तो उस द्रव्य से इसलोक में अपयश और परलोक में अवश्य ही नरक मिलता है। इस पर मम्मणश्रेष्ठी आदि का दृष्टान्त समझो।

४ अन्याय से उपार्जन किया हुआ द्रव्य और कुपात्रदान इन दोनों के योग से चौथा भंग होता है। इससे मनुष्य इस लोक में तिरस्कृत होता है और परलोक में नरकादिक दुर्गति में जाता है। इसलिए यह चौथा भंग अवश्य वर्जनीय है। कहा है कि—अन्याय से कमाये हुए धन का दान देने में बहुत दोष है। यह बात गाय को मारकर कौर को तृप्त करने के समान है। अन्यायोपार्जित धन से लोग जो श्राद्ध करते हैं, उससे चांडाल, भील और ऐसे ही हलकी जाति के लोग तृप्त हो जाते हैं। न्याय से उपार्जन किया हुआ थोड़ासा भी द्रव्य यदि सुपात्र को दिया जाय तो उससे कल्याण होता है। परन्तु अन्याय से उपार्जन किया हुआ बहुतसा द्रव्य दिया जाय तो भी उससे कुछ भी सुफल प्राप्त नहीं हो सकता। अन्यायोपार्जित द्रव्य से जो मनुष्य अपने कल्याण की इच्छा करता है वह मानो कालकूट विष भक्षण करके जीवन की आशा रखता है। अन्याय मार्ग से एकत्रित किये धन पर निर्वाह चलानेवाला पुरुष प्रायः अन्यायी, कलह करनेवाला, अहंकारी और पापकर्मी होता है। जैसा कि रंकश्रेष्ठी था। यथा—
रंकश्रेष्ठी :

मारवाड देशान्तर्गत पालीग्राम में काकूयाक और पाताक नामक दो भाई थे। जिनमें छोटा भाई पाताक धनवन्त व बड़ा भाई काकूयाक महान् दरिद्री था। और इसी कारण काकूयाक पाताक के घर चाकरी करके अपना निर्वाह करता था। एक समय वर्षाकाल के दिन में बहुत परिश्रम करने से थका हुआ काकूयाक रात्रि को सो रहा। इससे पाताक ने ठपका देकर कहा कि, 'भाई! अपने खेत की ब्यारिएं अधिक पानी

भरने से फट गयीं, तो भी क्या तुझे कोई चिन्ता नहीं?' यह सुन काकूयाक शीघ्र बिछौना त्याग, दूसरे के घर चाकरी करनेवाले अपने जीव की निन्दा करता हुआ कुदाली लेकर खेत को गया। और कुछ लोगों को फटी हुई क्यारियों को पुनः ठीक करते देखकर उसने पूछा कि, 'तुम कौन हो?' उन लोगों ने उत्तर दिया—'हम तेरे भाई के चाकर हैं' उसने पुनः पूछा कि, 'मेरे चाकर भी कहीं हैं?' उन्होंने कहा कि 'वल्लभीपुर में हैं।' कुछ समय के बाद अवसर मिलते ही काकूयाक सपरिवार वल्लभीपुर में गया। वहां एक मोहल्ले में गढ़रिये रहते थे। उनके पास एक घास का झोंपडा बांधकर तथा उन्हीं लोगों की सहायता से उसमें एक दुकान लगाकर रहने लगा। काकूयाक शरीर से दुबला था, इस कारण वे लोग इसे 'रंकश्रेष्ठी' कहने लगे। एक समय कोई कार्पटिक, शास्त्रोक्त कल्प के अनुसार गिरनार पर्वत के ऊपर सिद्ध किया हुआ कल्याणरस एक तुंबडी में भरकर लिये आ रहा था। इतने में वल्लभीपुर के समीप आते कल्याणसरस में से 'काकू तुंबडी' ऐसा शब्द निकला, जिससे भयातुर हो उस कार्पटिक ने वह तुंबडी काकूयाक के यहां धरोहर रख दी और आप सोमनाथ की यात्रा को चला गया।

एक वक्त किसी पर्व के अवसर पर काकूयाक ने घर में कुछ विशेष वस्तु तैयार करने के लिए चूल्हे पर कढ़ाई रखी। उस कढ़ाई पर उक्त तुंबडी के छेद में से एक बूंद गिर गयी, अग्नि का संयोग होते ही उस कढ़ाई को स्वर्णमय हुई देखकर काकूयाक को निश्चय हो गया कि, 'इस तुंबडी में कल्याणरस है।' तदनन्तर उसने घर में रही हुई सभी अच्छी-अच्छी वस्तुएं तथा वह तुंबडी बाहर निकालकर झोंपडी में आग लगा दी तथा दूसरे मोहल्ले में घर बांधकर रहने लगा। एक दिन एक स्त्री घी बेचने आयी। उसका घी तौल लेने पर काकूयाक ने देखा कि 'चाहे कितना ही घी निकाल लिया जाय परन्तु घी का पात्र खाली नहीं होता है।' इस पर से उसने निश्चय किया कि, 'इस पात्र के नीचे जो कुंडलिका (चुमली) है, वह कालीचित्रकवल्ली की है।' व किसी बहाने उसने वह कुंडलिका ले ली। इसी प्रकार कपट करके उसने खोटे तराजू व बाटों से व्यापार किया। पापानुबंधिपुण्य बलवान होने से व्यापार में भी उसे बहुत द्रव्यलाभ हुआ। एक समय एक सुवर्णसिद्धि करनेवाला मनुष्य उसे मिला तो उसने युक्ति से उसे ठगकर सुवर्ण सिद्धि भी ग्रहण कर ली। इस प्रकार तीन प्रकार की सिद्धियां हाथ आने से रंकश्रेष्ठी (काकूयाक) कितने ही करोड़ धन का अधिपति हो गया। अपना धन किसी तीर्थ में, सुपात्र को तथा अनुकंपादान में यथेच्छ खर्च करना तो दूर रहा, परन्तु अन्यायोपार्जित धन के ऊपर निर्वाह करने का तथा पूर्व की दीनस्थिति और पीछे से मिली हुई धन संपदा का अपार अहंकार आदि कारणों से उसने, सब लोगों को भगा देना, नये-नये कर बढ़ाना (माल पर भाव बढ़ाना), अन्य धनिक लोगों के साथ स्पर्धा तथा मत्सर आदि करना इत्यादिक दुष्ट कृत्यकर अपनी लक्ष्मी का लोगों को प्रलयकाल की रात्रि के समान भयंकर रूप दिखाया।

एक समय रंकश्रेष्ठी की पुत्री की रत्नजड़ित कंघी बहुत सुन्दर होने से राजा ने अपनी पुत्री के लिए मांगी, परन्तु उसने नहीं दी। तब राजा ने बलात्कार से ली। जिससे राजा के ऊपर रोषकर वह म्लेच्छ लोगों के राज्य में गया। और वहां करोड़ों स्वर्णमुद्राएं खर्चकर मुगलों को वल्लभीपुर पर चढ़ाई करने ले आया, मुगलों ने वल्लभीपुर के अधीनस्थ देश को नष्ट भ्रष्ट कर दिया, तब रंकश्रेष्ठी ने सूर्यमंडल से आये हुए अश्व के रक्षक लोगों को चुपचाप द्रव्य देकर अपने पक्ष में मिलाकर कपटप्रपंच रचाया। उस समय वल्लभीपुर में ऐसा नियम था कि, संग्राम का प्रसंग आने पर राजा सूर्य के वचन से आये हुए घोड़े पर चढ़े, पश्चात् प्रथम से ही नियुक्त किये हुए लोग पंच वाजिंत्र बजाये, इतने में ही वह घोड़ा आकाश में उड़े और उस पर सवार हुआ राजा शत्रुओं को भारे और संग्राम की समाप्ति होने पर वह घोड़ा वापस सूर्यमंडल में चला जाये। इस समय रंकश्रेष्ठी ने पंच वाजिंत्र बजानेवाले लोगों को मिला रखे थे, जिससे उन्होंने राजा के घोड़े पर-सवार होने के पूर्व ही वाजिंत्र बजा दिये, इतने में ही घोड़ा आकाश में उड़ गया। राजा शिलादित्य किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। तब शत्रुओं ने उसे मार डाला और सुखपूर्वक वल्लभीपुर जीत लिया। कहते हैं कि विक्रम संवत् ३५५ के अनन्तर वल्लभीपुर भेदन किया था। रंकश्रेष्ठी ने मुगलों को भी जलरहित प्रदेश में डालकर मार डाले... इत्यादि।

अन्यायोपार्जित द्रव्य का यह परिणाम ध्यान में लेकर न्यायपूर्वक धनोपार्जन करने का प्रयत्न करना चाहिए। कहा है कि—साधुओं के विहार, आहार, व्यवहार और वचन ये चारों शुद्ध हैं कि नहीं? सो देखे जाते हैं। परन्तु गृहस्थ का तो केवल व्यवहार देखा जाता है। व्यवहार शुद्ध होने से ही सर्व धर्मकृत्य सफल होते हैं। दिनकृत्यकार ने कहा है कि, व्यवहार शुद्धि धर्म का मूल है, कारण कि व्यवहार शुद्ध हो तो कमाया हुआ धन भी शुद्ध होता है, धन शुद्ध होने से आहार शुद्ध होता है, आहार शुद्ध होने से देह शुद्ध होती है और देह शुद्ध होने से मनुष्य धर्मकृत्य करने को उचित होता है। तथा वह मनुष्य जो कुछ कर्म करता है वे सब सफल होते हैं। परन्तु व्यवहार शुद्ध न होने से मनुष्य जो कुछ कर्म करे वह सर्व निष्फल है। कारण कि व्यवहार शुद्ध न रखनेवाला मनुष्य धर्म की निन्दा कराता है और धर्म की निन्दा करानेवाला मनुष्य अपने आपको तथा दूसरे को अतिशय दुर्लभबोधि करता है, ऐसा सूत्र में कहा है। अतएव मनुष्य को यथाशक्ति प्रयत्न करके ऐसे कृत्य करने चाहिए, कि जिससे मूर्खलोग धर्म की निन्दा न करें, लोक में भी आहार के अनुसार शरीर प्रकृति का बंधन स्पष्ट दृष्टि आता है। जैसे अपनी बाल्यावस्था में भैंस का दूध पीनेवाले घोड़े सुख से जल में पड़े रहते हैं, और गाय का दूध पीनेवाले घोड़े जल से दूर रहते हैं, वैसे ही मनुष्य बाल्यादि अवस्था में जैसे आहार का भोग करता है, वैसी ही प्रकृति का होता है। इसलिए व्यवहार शुद्ध रखने के निमित्त अच्छी तरह प्रयत्न करना चाहिए।

देशादि विरुद्ध कार्य का त्याग :

देशविरुद्ध—इसी प्रकार देशादि विरुद्ध बात का त्याग करना चाहिए। यानि जो बात देशविरुद्ध (देश की रूढ़ि के प्रतिकूल) कालविरुद्ध किंवा राजादिविरुद्ध हो उसे छोड़ना। हितोपदेश माला में कहा है कि, जो मनुष्य देश, काल, राजा, लोक तथा धर्म इनमें से किसीके भी प्रतिकूल जो बात हो उसको छोड़ दे, तो वह समकित तथा धर्म को पाता है।

सौवीर (सिंध) देश में खेती और लाट (भरुच्छ प्रांत) देश में मद्यसन्धान (दारू बनाना) देशविरुद्ध है। दूसरा भी जिस देश में शिष्ट लोगों ने जो मना किया हो, वह उस देश में देशविरुद्ध जानो। अथवा जाति, कुल आदि की रीतिरिवाज को जो अनुचित हो वह देशविरुद्ध कहलाता है। जैसे ब्राह्मण को मद्यपान करना तथा तिल, लवण आदि वस्तु बेचना, यह देशविरुद्ध है। उनके शास्त्र में कहा है कि, तिल का व्यापार करनेवाले ब्राह्मण जगत् में तिल के तुल्य हलके तथा काला काम करने के कारण काले गिने जाते हैं, तथा परलोक में तिल की तरह घाणी में पीले जाते हैं। कुल की रीति के प्रमाण से तो चौलुक्य आदि कुल में उत्पन्न हुए लोगों को मद्यपान करना देशविरुद्ध है अथवा परदेशी लोगों के संमुख उनके देश की निन्दा करना आदि देशविरुद्ध कहलाता है।

कालविरुद्ध—शीतकाल में हिमालय पर्वत के समीपस्थ प्रदेश में जहां अत्यन्त शीत पड़ती हो अथवा ग्रीष्मऋतु में मारवाड (बीकानेर प्रांत) के समान अतिशय निर्जलदेश में अथवा वर्षाकाल में जहां अत्यंत जल, दलदल और बहुत ही चिकना कीचड़ रहता है ऐसे पश्चिम तथा दक्षिण समुद्र के किनारे बसे हुए कोकण आदि देशों में अपनी उचितशक्ति तथा किसीकी योग्य सहायता न होने पर भी जाना तथा बहुत दुष्काल पड़ा हो वहां, दो राजाओं की परस्पर लड़ाई चलती हो वहां, डाका आदि पड़ने से मार्ग बंद हो वहां, सघन वन में तथा सायंकाल आदि भयंकर समय में अपनी शक्ति के बिना तथा किसीकी सहायता के बिना जाना, कि जिससे प्राण अथवा धन की हानि हो, अथवा अन्य कोई अनर्थ संमुख आवे, सो कालविरुद्ध कहलाता है। अथवा फाल्गुन मास व्यतीत हो जाने के बाद तिल पीलना, तिल का व्यापार करना, अथवा तिल भक्षण करना आदि, वर्षाकाल में चवलाई (तन्दुलादि भाजी) आदि का शाक लेना आदि, तथा जहां बहुत जीवाकुल भूमि हो वहां गाड़े गाड़ी आदि हांकना। ऐसा भारी दोष उपजानेवाला कृत्य करना, वह कालविरुद्ध कहलाता है।

राजविरुद्ध—राजाआदि के दोष निकालना, राजा के माननीय मंत्री आदि का आदरमान न करना, राजा के विपरीत लोगों की संगति करना, वैरी के स्थान में लोभ से जाना, वैरी के स्थान से आयी हुई व्यक्ति के साथ व्यवहारादि रखना, राजा की कृपा है ऐसा समझकर उसके किये हुए कार्यों में भी फेरफार करना, नगर के शिष्ट लोगों से विपरीत चलना, अपने स्वामी के साथ नमकहरामी करना इत्यादि राज्यविरुद्ध कहलाता है। उसका परिणाम बड़ा ही दुःसह है। जैसे भुवनभानु केवली का जीव रोहिणी हुई।

वह यद्यपि निष्ठावान्, पदी हुई तथा स्वाध्याय के ऊपर लक्ष रखनेवाली थी, तथापि विकथा के रस से वृथा रानी का कुशीलत्व आदि बोलने से राजा को उस पर रोष चढ़ा। पश्चात् उसकी जीभ काटकर उसे देश से निर्वासित कर दी। जिससे दुःखित रोहिणी ने अनेकों भवों में जीभ छेद आदि दुःख सहन किए।

लोकविरुद्ध—लोक की तथा विशेषकर गुणीजनों की निन्दा नहीं करनी चाहिए। कारण कि, लोकनिन्दा करना और अपनी प्रशंसा करना ये दोनों बातें लोकविरुद्ध कहलाती हैं। कहा है कि—दूसरे के भले बुरे दोष कहने में क्या लाभ है? उससे धन अथवा यश का लाभ तो होता नहीं, बल्कि जिसके दोष निकालें वह मानो अपना एक नया शत्रु उत्पन्न किया ऐसा हो जाता है।

सुदुर्वि उज्जममाणं, पंचेव करिति रित्तयं समणं।

अप्यथुई परनिंदा, जिम्बोवत्था कसाया य ॥११॥

१ निजस्तुति, २ परनिन्दा, ३ वश में न रखी हुई जीभ, ४ उपस्था याने जननेन्द्रिय और ५ कषाय ये पांच बातें संयम के निमित्त पूर्ण उद्यम करनेवाले मुनिराज को भी हीन कर देती हैं। जो वास्तव में किसी पुरुष में अनेक गुण हों तो वे गुण तो बिना कहे ही अपना उत्कर्ष करते ही हैं और जो (गुण) न हो तो व्यर्थ आत्मप्रशंसा करने से क्या होता है? आत्मश्लाघी मनुष्य को देखकर उसके मित्र हंसते हैं, बान्धवजन उसकी निंदा करते हैं, बड़े मनुष्य उसकी उपेक्षा करते हैं तथा उसके माता-पिता भी उसे अधिक नहीं मानते।

परपरिभवपरिवादादात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म।

नीचैर्गोत्रं प्रतिभवमनेकभवकोटिदुर्भोचम् ॥

दूसरे का पराभव अथवा निंदा करने से अथवा अपना बड़प्पन आप प्रकट करने से भव-भव में नीच कर्म बंधता है। ये कर्म करोड़ों भव तक भी छूटना कठीन है। परनिंदा महान पाप है, कारण कि, बड़े खेद की बात है कि, निंदा करने से दूसरे के किये हुए भी पाप बिना किये ही निंदा करनेवाले को खड्गे में डालते हैं। यहां एक निंदक वृद्धा स्त्री का दृष्टान्त कहते हैं कि—

वृद्धा स्त्री :

सुग्राम नामक नगर में सुन्दर नामक एक श्रेष्ठी था। वह बड़ा धर्म और मुसाफिर आदि लोगों को भोजन, वस्त्र, निवासस्थान आदि देकर उन पर भारी उपकार किया करता था। उसके पड़ोस में एक वृद्धा ब्राह्मणी रहती थी, वह श्रेष्ठी की नित्य निंदा किया करती, और कहती कि, 'मुसाफिर लोग विदेश में मर जाते हैं, उनकी धरोहर आदि मिलने के लोभ से यह (श्रेष्ठी) अपनी सच्चाई बताता है आदि।' एक समय क्षुधा-तृषा से पीड़ित एक कार्पाटिक (भिक्षुक) आया। अपने घर में न होने के कारण उसने (श्रेष्ठी ने) ग्वालिन के पाससे छाश मंगाकर उसे पिलायी, जिससे वह मर गया।

कारण कि, ग्वालिन के सिर पर रखे हुए छाश के बरतन में ऊपर उड़ती हुई सेमली के मुख में पकड़े हुए सर्प के मुंह से विष पड़ गया था। कार्पीटक के मर जाने से ब्राह्मणी ने अत्यन्त हर्षित होकर कहा कि, 'देखो, यह कैसा धर्मपन!!' उस समय आकाश स्थित हत्या ने विचार किया कि, 'दाता (श्रेष्ठी) निरपराधी है, सर्प अज्ञानी तथा सेमली के मुख में जकड़ा हुआ होने से विवश है, सेमली की तो जाति ही सर्पभक्षक है तथा ग्वालिन भी इस बात से अजान है। अतएव मैं अब किसे लंगू?' यह विचारकर वह हत्या अन्त में वृद्धा ब्राह्मणी को लगी। जिससे वह काली, कुबड़ी और कोढी हो गयी...इत्यादि। [लौकिक उदाहरण है।]

सुनी हुई बात :

सत्यदोष कहने पर एक दृष्टान्त है कि किसी राजा के संमुख किसी परदेशी की लायी हुई तीन खोपड़ियों की पंडितों ने परीक्षा की यथा—एक के कान में डोरा डाला वह उसके मुख में से निकला, सुना हो उतना मुख से बकने वाली उस खोपड़ी की किमत फूटी कौड़ी बतायी। दूसरी खोपड़ी के कान से डाला हुआ डोरा उसके दूसरे कान में से बाहर निकला। उस एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देनेवाली की कीमत एक लक्ष सुवर्ण मुद्रा की। तीसरी के कान में डाला हुआ डोरा उसके गले में उतर गया। उस सुनी हुई बात को मन में रखनेवाली की कीमत पंडित लोग न कर सके इत्यादि।

इसी प्रकार सरल प्रकृति लोगों की हंसी करना, गुणवान लोगों से डाह करना, कृतघ्न होना, बहुत से लोगों से विरोध रखनेवाले मनुष्य की संगति करना, लोकमान्य पुरुष का मानभंग करना। सदाचारी लोगों के संकट में आने पर प्रसन्न होना। शक्ति होते हुए आपत्तिग्रस्त अच्छे मनुष्य की सहायता न करना। देशोचित रीतिरिवाज को छोड़ना, धन के प्रमाण से विशेष स्वच्छ अथवा विशेष मलीन वस्त्रादिक धारण करना इत्यादि बातें लोकविरुद्ध कहलाती हैं। इनसे इस लोक में अपयश आदि होता है। वाचकशिरोमणि श्री उमास्वातिवाचकजी ने कहा है कि—

लोकः खल्वाधारः, सर्वेषां धर्मचारिणां यस्मात्।

तस्माल्लोकविरुद्धं, धर्मविरुद्धं च सन्त्याज्यम् ॥११॥

समस्त धर्मा मनुष्यों का आधार लोक है। इसलिए जो बात धर्मविरुद्ध अथवा लोकविरुद्ध हो उसको सर्वथा त्याग देना चाहिए। इससे अपने ऊपर लोगों की प्रीति उत्पन्न होती है, स्वधर्माराधन होता है और सुखपूर्वक निर्वाह होता है। कहा है कि— लोकविरुद्ध को छोड़नेवाला मनुष्य समस्त लोगों को प्रिय होता है। और लोकप्रिय होना यह समकित वृक्ष का बीज है।

धर्मविरुद्ध—मिथ्यात्वकृत्य करना, मन में दया न रखकर बैल आदि को मारना, बांधना आदि, जूएं, खटमल आदि को धूप में डालना, सिर के बाल बड़ी कंधी से

समारना, लीखें आदि फोड़ना, उष्णकाल में तीन बार और बाकी के काल में दो बार मजबूत, जाड़े व बड़े गलणे से संखारा आदि करने की युक्ति से पानी आदि छानने में तथा धान्य, कंडे, शाक, खाने के पान, फल आदि तपासने में सम्यग् प्रकार से उपयोग न रखना। सुपारी, खारिक, वालोल, फली इत्यादि पूर्णरूप से देखे बिना ऐसे ही मुंह में डालना, नाले अथवा धारा का जल पीना, चलते, बैठते, सोते, नहाते, कोई वस्तु डालते अथवा लेते, रांधते, कूटते, दलते, घिसते और मलमूत्र, कफ, कुल्ली, जल, तांबूल आदि डालते यथोचित यतना न रखना, धर्मकरनी में आदर न रखना, देव, गुरु तथा साधर्मियों के साथ द्वेष करना, देवद्रव्यादि का उपभोग करना, अधर्मियों की संगति करना, धार्मिकआदि श्रेष्ठ पुरुषों की हंसी करना, कषाय का उदय विशेष रखना, अतिदोष युक्त क्रय विक्रय करना, खटकर्म तथा पापमय अधिकार आदि में प्रवृत्त होना। ये सर्व धर्मविरुद्ध कहलाते हैं। उपरोक्त मिथ्यात्व आदि बहुत से पदों की व्याख्या 'अर्थदीपिका' में की गयी है। धर्मी लोग देशविरुद्ध, कालविरुद्ध, राजविरुद्ध अथवा लोकविरुद्ध आचरण करें तो उससे धर्म की निंदा होती है, इसलिए वह सब धर्मविरुद्ध समझना चाहिए। उपरोक्त पांच प्रकार का विरुद्ध कर्म श्रावक को कभी भी नहीं करना चाहिए।

उचिताचरण :

अब उचिताचरण (उचित कर्म) कहते हैं। उचिताचरण के पिता सम्बन्धी, माता सम्बन्धी आदि नौ प्रकार हैं। उचिताचरण से इसलोक में स्नेह की वृद्धि, यश आदि की प्राप्ति होती है। हितोपदेश माला की जिन गाथाओं में इसका वर्णन किया गया है उनको यहां उद्धृत करते हैं—

सामन्ने मणुअत्ते, जं कोई पाठणंति इह कित्तिं।

तं मुणह निव्विअप्पं, उचिआचरणस्स माहप्पं ॥१॥

अर्थ: मनुष्यमात्र का मनुष्यत्व समान होते हुए कुछ मनुष्य ही इस लोक में यश पाते हैं, यह उचित आचरण की महिमा है, यह निश्चय जानो।

तं पुण पिइमाइसहोअरेसु पणइणिअवच्चसयणेसु।

गुरुजणनायरपरतित्थिएसु पुरिसेण कायव्वं ॥२॥

अर्थ: उस उचित आचरण के नौ प्रकार हैं—१ पिता सम्बन्धी, २ माता सम्बन्धी, ३ सहोदर भ्राता सम्बन्धी, ४ स्त्री सम्बन्धी, ५ सन्तान सम्बन्धी, ६ नातेदारों सम्बन्धी, ७ गुरुजन सम्बन्धी, ८ नगर निवासी सम्बन्धी तथा ९ अन्य दर्शनी सम्बन्धी। इस प्रकार नौ प्रकार का उचिताचरण प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए।

पिता के सम्बन्ध में मन, वचन, काया से तीन प्रकार का उचित आचरण विशेष रूप से चाहिए, हितोपदेशमालाकार कहते हैं कि—

पिउणो तणुसुस्सुसं, विणएणं किंकरव्व कुणइ सयं।

वयणांपि से पडिच्छइ, वयणाओ अपडिअं चेव ॥३॥

अर्थः सेवक की तरह स्वयं विनयपूर्वक पिताजी की शरीर सेवा करना। यथा- उनके पैर धोना तथा दाबना, वृद्धावस्था में उनको उठाना, बैठाना, देशकाल के अनुसार उनकी प्रकृति के अनुकूल भोजन, शय्या, वस्त्र, उबटन आदि वस्तुएं देना तथा उनके अन्य कार्यों को, कभी अवज्ञा, तिरस्कार न करके स्वयं सविनय करना, नौकरों आदि से न कराना। कहा है कि-पुत्र पिताजी के संमुख बैठा हो उस समय उसकी जो शोभा दीखती है उसका शतांश भी, चाहे वह किसी ऊंचे सिंहासन पर बैठ जाय, तो भी नहीं दीख सकती। तथा मुख में से बाहर निकलते न निकलते पिताजी के वचन को स्वीकार कर लेना चाहिए। याने पिताजी का वचन सत्य करने के निमित्त राज्याभिषेक के ही अवसर पर वनवास के लिए निकले हुए रामचंद्रजी की तरह सुपुत्र पिताजी के मुख में से वचन निकलते ही आदरपूर्वक उसके अनुसार आज्ञा पालन करता है, उसे किसी प्रकार भी आनाकानी करके उनके वचनों की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए।

चित्तंपि हु अणुअत्तइ, सव्वपयत्तेण सव्वकज्जेसु।

उवजीवइ बुद्धिगुणे, निअसब्भावं पयासेइ ॥४॥

अर्थः सुपात्रपुत्र ने प्रत्येक कार्य में पूर्ण प्रयत्न से पिताजी को पसंद हो वही करना। अर्थात् अपनी बुद्धि से कोई आवश्यक कार्य सोचा हो, तो भी वह पिताजी के चिंतानुकूल हो तभी करना। शुश्रूषा (सेवा), ग्रहण आदि तथा लौकिक और अलौकिक सर्व व्यवहार में आनेवाले अन्य सम्पूर्ण बुद्धि के गुणों का अभ्यास करना। बुद्धि का प्रथम गुण माता-पिता आदि की सेवा करना है। ज्ञानी माता-पिताओं की योग्य सेवा करने से वे प्रत्येक कार्य के रहस्य (गुप्त भेद) अवश्य प्रकट करते हैं। कहा है कि—

तत्तदुत्प्रेक्षमाणानां, पुराणैरागमैर्विना।

अनुपासितवृद्धानां, प्रज्ञा नातिप्रसीदति ॥१॥

यदेकः स्थविरो वेत्ति, न तत्तरुणकोटयः।

यो नृपं लक्षया हन्ति, वृद्धवाक्यात्स पूज्यते ॥२॥

ज्ञानवृद्ध लोगों की सेवा न करनेवाले और पुराण तथा आगम बिना अपनी बुद्धि से पृथक्-पृथक् कल्पना करनेवाले लोगों की बुद्धि विशेष प्रसन्न नहीं होती। एक स्थविर (वृद्ध) जितना ज्ञान रखता है उतना करोड़ों तरुण लोग भी नहीं रख सकते। देखो, राजा को लात मारनेवाला पुरुष वृद्ध के वचन से पूजा जाता है। वृद्ध पुरुषों का वचन सुनना तथा समय आने पर बहुश्रुतों से पूछना। देखो, वन में हंसों का समूह बन्धन में पड़ा था वह वृद्ध वचन से ही मुक्त हुआ। इसी प्रकार अपने मन का

अभिप्रायः पिताजी के संमुख अवश्य प्रकट कर देना चाहिए।

आपुच्छिडं पयड्डइ, करणिज्जेसुं निसोहिओ ठाइ।

खलिए खरंपि भणिओ, विणीअयं न हु विलघेइ ॥५॥

अर्थः पिताजी को पूछकर ही प्रत्येक कार्य में लगना, यदि पिताजी कोई कार्य करने की मनाई कर दें तो न करना, कोई अपराध होने पर पिताजी कठोर शब्द कहे, तो भी अपना विनीतपन न छोड़ना, अर्थात् मर्यादा छोड़कर चाहे जैसा प्रत्युत्तर न दें।

सविसेसं परिपूरइ, धम्माणुगए मणोरहे तस्स।

एमाइ उच्चिअकरणं, पिठणो जणणीईवि तहेव ॥६॥

अर्थः जैसे अभयकुमार ने श्रेणिक राजा तथा विल्लणामाता के मनोरथ पूर्ण किये, वैसे ही सुपुत्र को पिताजी के साधारण लौकिक मनोरथ भी पूर्ण करना। उसमें भी देवपूजा करना, सद्गुरु की सेवा करना, धर्म सुनना, व्रत पञ्चक्खाण करना, षडावश्यक में प्रवृत्त होना, सातक्षेत्रों में धन व्यय करना, तीर्थयात्रा करना और दीन तथा अनाथ लोगों का उद्धार करना इत्यादि जो मनोरथ हो वे धर्ममनोरथ कहलाते हैं। पिताजी के धर्म मनोरथ बड़े ही आदरपूर्वक पूर्ण करना। कारण कि, इसलोक में श्रेष्ठ ऐसे माता-पिता के संबंध में सुपुत्रों का यही कर्तव्य है। जिनके उपकार से किसी भी प्रकार उच्छ्रय नहीं हो सकते ऐसे माता-पिता आदि गुरुजनों को केवलिभाषित सद्धर्म में लगाने के सिवाय उपकार का भार हलका करने का अन्य उपाय ही नहीं है। स्थानांग सूत्र में कहा है कि—

तिण्हं दुप्पडिआरं समणाउस्तो।

तं जहा-अम्मापिउणो १, भट्टिस्स २, धम्मायरिअस्स ३ ॥

तीन जनों के उपकार उतारे नहीं जा सकते ऐसे हैं। १ माता पिता, २ स्वामी और ३ धर्माचार्य।

संपाओविअणं केइ पुरिसे अम्मापिअरं सयपागसहस्सपागेहिं तिल्लेहिं अब्भंगित्ता सुरभिणा गंधट्टरणं उव्वट्टित्ता तिहिं उदगेहिं मज्जावित्ता सव्वालंकारविभूसिअं करित्ता मणुन्नं थालिपागसुद्धं अट्टारसवं जणाउलं भोअणं भोआवित्ता जावज्जीवं पिट्टवडंसिआए परिवहिज्जा, तेणावि तस्स अम्मापिउस्स दुप्पडिआरं भवइ, अहे णं से तं अम्मापिअरं केवलिपन्नसे धम्मे आषवइत्ता पन्नवइत्ता परूवइत्ता ठावइत्ता भवइ तेणामेव तस्स अम्मापिउस्स सुपडियारं भवइ समणाउस्तो। १॥

कोई पुरुष जीवन पर्यंत प्रातःकाल में अपने माता-पिता को शतपाक तथा सहस्रपाकतेल से अभ्यंगन करे, सुगन्धित उबटन लगावे, गंधोदक,

उष्णोदक और शीतोदक इन तीन प्रकार के जलों से स्नान करावे, संपूर्ण आभूषणों से सुसज्जित करे, पाकशास्त्र की रीति से तैयार किया हुआ अट्टारह जाति के शाकयुक्त रुचि के अनुसार भोजन करावे, और आजीवन अपने कंधे पर धारण करे तो भी वह माता-पिता के उपकार का बदला नहीं दे सकता, परन्तु यदि वह पुरुष अपने माता-पिता को केवलि भाषित धर्म सुनाकर मन में बराबर उतारे तथा धर्म के मूलभेद और उत्तर भेद की प्ररूपणाकर उस धर्म में स्थापन करनेवाला हो जाय तभी उसके उपकार का बदला दिया जा सकता है।

केइ महच्चे दरिद्दं समुक्कसिज्जा, तए णं से दरिद्दे समुक्कट्टे समाणे पच्चा पुरं च णं विठलभोगसमिहसमण्णागए आवि विहरिज्जा।

तएणं स महच्चे अन्नया कयाइ दरिद्दी हूए समाणे तस्स दरिद्दस्स अंतिअं हवमगच्छिज्जा। तए णं से दरिद्दे तस्स भट्टिस्स सव्वस्समवि दलमाणे तेणावि तस्स दुप्पडियारं भवइ अहे णं से तं भट्टिं केवलि-पन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता जाव ठावइत्ता भवइ तेणामेव तस्स भट्टिस्स सुप्पडियारं भवइ २॥

कोई धनाढ्य पुरुष किसी दरिद्री मनुष्य को धनादि देकर सुदशा में लावे, और वह मनुष्य सुदशा में आया, उस समय की तरह उसके बाद भी सुखपूर्वक रहे, पश्चात् उक्त धनाढ्य किसी भी समय स्वयं दरिद्री होकर उसके पास आवे, तब वह अपने उस स्वामी को चाहे सर्वस्व अर्पण कर दे, तो भी वह उसके उपकार का बदला नहीं चुका सकता। परन्तु यदि वह अपने स्वामी को केवलिभाषित धर्म समझाकर और अंतर्भेद सहित की प्ररूपणाकर उस धर्म में स्थापन करे, तभी वह स्वामी के उपकार का बदला चुका सकता है।

केइ तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरिअं धम्मिअं सुवयणं सुच्चा निसम्म कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववण्णे॥ तए णं से देवे तं धम्मायरियं दुब्बिक्खाओ वा देसाओ सुभिक्खं देसं साहरिज्जा, कंताराओ निक्कंतारं करिज्जा, दीहकालिएणं वा रोगायंकेण अभिभूअ विमोइज्जा, तेणावि तस्स धम्मायरियस्स दुप्पडियारं भवइ। अहे णं से तं धम्मायरिअं केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भट्टं समाणं भुज्जो केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता जाव ठावइत्ता भवइ तेणामेव तस्स धम्मायरियस्स सुप्पडियारं भवइ ३॥

कोई पुरुष सिद्धान्त में कहे हुए लक्षणयुक्त श्रमण माहण (धर्माचार्य) से

जो धर्म संबंधी श्रेष्ठ एक ही वचन सुनकर, उसका मन में यथोचित विचारकर अंत समय में मृत्यु को प्राप्त होकर किसी देवलोक में देवता हो जावे। पश्चात् वह देवता अपने पूर्वोक्त धर्माचार्य को जो दुर्भिक्षवाले देश में से सुभिक्षदेश में लाये, घोर जंगल में से पार उतारे, अथवा किसी जीर्णरोग से पीड़ित उक्त धर्माचार्य को निरोग करे तो भी उससे उनका बदला नहीं दिया जा सकता। परन्तु वह पुरुष केवलिभाषित धर्म से भ्रष्ट हो गये अपने उस धर्माचार्य को केवलिभाषित धर्म समझाकर, अंतर्भेद सहित प्ररूपणाकर पुनः धर्म में स्थापित करे तभी धर्माचार्य के उपकार का बदला दिया जा सकता है।

माता-पिता की सेवा करने पर, अपने अंधे माता-पिता को कावड़ में बैठाकर स्वयं कंधे पर उठा उनको तीर्थयात्रा करानेवाला श्रवण उत्कृष्ट उदाहरण है। माता-पिता को केवलिभाषित धर्म में स्थापन करने के ऊपर अपने पिताजी को दीक्षा देनेवाले श्री आर्यरक्षितसूरि का अथवा केवलज्ञान उत्पन्न होने पर भी माता-पिता को प्रतिबोध हो वहां तक निरवद्यवृत्ति से घर में रहे हुए कूर्मापुत्र का दृष्टान्त जानो। अपने सेठ को धर्म में स्थापन करने के ऊपर प्रथम किसी मिथ्यात्वी श्रेष्ठी के मुनीमपणे से स्वयं धनिक हुआ और समयान्तर से दुर्भाग्यवश दारिद्र्य को प्राप्त हुए उस मिथ्यात्वी श्रेष्ठी को धनादिक दे पुनः उसे धनिक बनानेवाले और श्रावक धर्म में स्थापन करनेवाले जिनदासश्रेष्ठी का दृष्टान्त जानना। अपने धर्माचार्य को पुनः धर्म में स्थापन करने के ऊपर निद्रादिप्रमाद में पड़े हुए शैलकाचार्य को बोध करानेवाले पंथकशिष्य का दृष्टान्त समझो। इत्यादिक पिता संबंधी उचित आचरण हैं। मातासंबंधी उचित आचरण भी पिता की तरह ही जानना ॥

माता सम्बन्धी उचित आचरण में जो विशेषता है वह कहते हैं—

नवरं से सविसेसं, पयडइ भावाणुवित्तिमप्पडिमां।

इत्थीसाहावसुलहं, पराभवं वहइ न हु जेण ॥७॥

अर्थः माता सम्बन्धी उचित आचरण पिता समान होते हुए भी उससे इतना विशेष है कि, माता स्त्री जाति है, और स्त्री का स्वभाव ऐसा होता है कि, कुछ न कुछ बात में ही वह अपना अपमान मान लेती है, इसलिए माता अपने मन में स्त्री स्वभाव से किसी तरह भी अपमान न लाये, ऐसी रीति से सुपुत्र को उनकी इच्छानुसार पिता से भी अधिक चलना। अधिक कहने का कारण यह है कि, माता पिता की अपेक्षा अधिक पूज्य है। मनु ने कहा है कि—उपाध्याय से दशगुणा श्रेष्ठ आचार्य है, आचार्य से सो गुणा श्रेष्ठ पिता है और पिता से हजार गुणी श्रेष्ठ माता है। दूसरों ने भी कहा है कि—पशु दूधपान करना हो तब तक माता को मानते हैं, अधमपुरुष विवाह होने तक मानते हैं, मध्यमपुरुष घर का कामकाज उसके हाथ से चलता

हो तब तक मानते हैं, और उत्तमपुरुष तो यावज्जीव तीर्थ रक्षा की तरह मानते हैं। पशुओं की माता पुत्र को केवल जीवित देखकर संतोष मानती है, मध्यमपुरुषों की माता पुत्र की कमाई से प्रसन्न होती है। उत्तमपुरुषों की माता पुत्र के वीरकृत्यों से संतुष्ट होती है और लोकोत्तर पुरुषों की माता पुत्र के पवित्र आचरण से खुश होती है।

अब बन्धु संबंधी उचित आचरण का वर्णन करते हैं।

उचिअं एअं तु सहोअरंमि जं निअइ अप्पसममेअं।

जिइं व कणिइं पिहु, बहु मन्इ सव्वकज्जेसु ॥८॥

अर्थ: अपने सहोदर भाई के सम्बन्ध में उचित आचरण यह है कि, उसे आत्मवत् समझना। छोटे भाई को भी बड़े भाई के समान बहुत मानना। 'बड़े भाई के समान ऐसा कहने का कारण यह है कि, "ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः" (ज्येष्ठ भाई पिता के समान है) ऐसा कहा है। इससे 'बड़े भाई के समान' ऐसा कहा। जैसे लक्ष्मण श्री राम को प्रसन्न रखता था, वैसे ही सौतेले छोटे भाई ने भी बड़े भाई की इच्छा के अनुकूल वर्तन करना। इसी प्रकार छोटे बड़े भाईयों के स्त्रीपुत्रादिक लोगों के प्रति भी उचित आचरण करना चाहिए।

दंसइ न पुढोभावं, सन्भावं कहइ पुच्छइ अ तस्स।

ववहारंमि पयइइ, न निगूहई थोवमवि दविणं ॥९॥

अर्थ: भाई अपने भाई को भिन्नभाव न बतावे, मन का सर्व अभिप्राय कहे, उसका अभिप्राय पूछे, उसको व्यापार में प्रवृत्त करे, तथा द्रव्यादि भी गुप्त न रखे। 'व्यापार में प्रवृत्त करे' ऐसा कहने का यह कारण है कि, जिससे वह व्यापार में होशियार हो तथा ठग लोग उसे ठग न सकें। 'द्रव्य गुप्त न रखे' ऐसा जो कहा उसका कारण यह है कि, मन में दगा रखकर द्रव्य न छुपावे, परन्तु संकट के समय निर्वाह करने के लिए तो गुप्त रखे ही। इसमें दोष नहीं है।

यदि कुसंगति से अपना भाई ढीठ हो जाये तो—

अविणीअं अणुवत्तइ, मित्तेहिंतो र्हो उवालभइ।

सयणजणाओ सिक्खं, दावइ अन्नावएसेणं ॥१०॥

अर्थ: विनयहीन हुए अपने भाई को उसके मित्र द्वारा समझावे, स्वयं एकान्त में उसे उपालम्भ दे और अन्य किसी विनयसहित पुरुष के माध्यम से उसको काका, मामा, भ्रसुर, साला आदि लोगों द्वारा शिक्षा दिलाये, परन्तु स्वयं उसका तिरस्कार न करे; कारण कि इससे वह कदाचित् निर्लज्ज होकर मर्यादा छोड़ दे।

हिअए ससिणेहोवि हु, पयडइ कुविअं व तस्स अप्पाणं।

पडिवन्नविणयमगं, आलवइ अळम्मपिम्मरो ॥११॥

अर्थः हृदय में प्रीति होने पर भी बाहर से उसे अपना स्वरूप क्रोधी के समान बताये, और जब वह विनयमार्ग स्वीकार कर ले, तब उसके साथ वास्तविक प्रेम से बातचीत करे। उपरोक्त उपाय करने पर भी यदि वह मार्ग पर न आवे तो 'उसकी यह प्रकृति ही है' ऐसा तत्त्व समझकर उसकी उपेक्षा करे।

तप्पणइणिपुत्ताइसु, समदिट्ठी होइ दाणसम्माणे।

सावक्कंमि उ इत्तो, सविसेसं कुणइ सक्खंपि ॥१२॥

अर्थः भाई के स्त्री-पुत्रादिक में दान, आदर आदि विषय में समान दृष्टि रखना, अर्थात् अपने स्त्री-पुत्रादिक की तरह ही उनकी भी आसना वासना करना। तथा सौतेले भाई के स्त्री-पुत्रादिकों का मान आदि तो अपने स्त्री-पुत्रादिकों से भी अधिक रखना। कारण कि, सौतेले भाई के सम्बन्ध में तनिक भी अंतर प्रकट हो तो उनके मन बिगड़ते हैं, और लोक में भी अपवाद होता है। इसी प्रकार अपने पिता समान, माता समान तथा भाई समान लोगों के सम्बन्ध में भी उनकी योग्यतानुसार उचित आचरण ध्यान में लेना चाहिए। कहा है कि—

१ उत्पन्न करनेवाला, २ पालन करनेवाला, ३ विद्या देनेवाला, ४ अन्न-वस्त्र देनेवाला और ५ जीव को बचानेवाला, ये पांचों पिता कहलाते हैं। १ राजा की स्त्री, २ गुरु की स्त्री, ३ अपनी स्त्री की माता, ४ अपनी माता और ५ धाव माता, ये पांचों 'माता' कहलाती हैं। १ सहोदर भाई, २ सहपाठी, ३ मित्र, ४ रुग्णावस्था में शुश्रूषा करनेवाला और ५ मार्ग में बातचीत करके मित्रता करनेवाला, ये पांचों 'भाई' कहलाते हैं। भाइयों को परस्पर धर्मकृत्य की भली प्रकार याद कराना। कहा है कि—

भवगिहमज्झंमि पमायजलणजलिअंमि मोहनिद्दाए।

उड्डवइ जो सुअंतं, सो तस्स जणो परमबंधू ॥१३॥

जो पुरुष, प्रमादरूपी अग्नि से जलते हुए संसाररूपी घर में मोहनिद्रा से सोते हुए मनुष्य को जगाता है वह उसका परमबन्धु कहलाता है। भाइयों की पारस्परिक प्रीति पर भरत का दूत आने पर श्री ऋषभदेव भगवान् को सभी पूछने गये हुए अट्टानवें भाइयों का दृष्टान्त जानना। मित्र के साथ भी भाई के समान बर्ताव करना चाहिए।

इय भाइयं उचिअं, पणइणिसयंपि किंपि जंपेमो।

सप्पणयवयणसम्माणणेण तं अभिमुहं कुणइ ॥१३॥

अर्थः इस प्रकार भाई के सम्बन्ध में उचित आचरण बताया। अब भार्या के विषय में भी कुछ कहना चाहिए। पुरुष ने प्रीति वचन कह योग्य मान रख अपनी स्त्री को स्वकार्य में उत्साहित रखना। पति का प्रीतिवचन एक

संजीवनी विद्या है। उससे शेष सम्पूर्ण प्रीति सजीव हो जाती है। योग्य अवसर में प्रीतिवचन का उपयोग किया हो तो वह दानादिक से भी अत्यधिक गौरव उत्पन्न करता है। कहा है कि—

न सद्वाक्यात्परं वश्यं, न कलायाः परं धनम्।

न हिंसायाः परोऽधर्मो, न सन्तोषात्परं सुखम् ॥१॥

प्रीतिवचन के सिवाय अन्य वशीकरण नहीं, कलाकौशल के समान अन्य धन नहीं, हिंसा के समान अन्य अधर्म नहीं और सन्तोष के समान अन्य सुख नहीं है।

सुस्तूसुसाइ पयड्डइ, वत्थाभरणाइ समुचिअं देइ।

नाडयपिच्छणयाइसु, जणसंमहेसु वारेइ ॥१४॥

अर्थ: पुरुष अपनी स्त्री को स्नान कराना, पग दबाना आदि अपनी कार्यसेवा में प्रवृत्त करो। देश, काल, अपने कुटुम्ब धन आदि का विचार करके उचित वस्त्र, आभूषण आदि उसको दे, तथा जहां नाटक, नृत्य आदि होते हैं ऐसे बहुत से लोगों के मेले में जाने को उसे मना करो। अपनी कायसेवा में स्त्री को लगाने का कारण यह है कि, उससे पति के ऊपर उसका पूर्ण विश्वास रहता है, उसके मन में स्वाभाविक प्रेम उत्पन्न होता है, जिससे वह कभी भी पति की इच्छा के प्रतिकूल कार्य नहीं करती। आभूषणादि देने का कारण यह है कि, स्त्रियों के आभूषणादि से सुशोभित रहने से गृहस्थ की लक्ष्मी बढ़ती है, कहा है कि—

श्रीर्मङ्गलात्प्रभवति, प्रागल्भ्याच्च प्रवर्द्धते।

दाक्ष्यासु कुरुते मूलं, संयमात्प्रतितिष्ठति ॥१॥

लक्ष्मी मांगलिक करने से उत्पन्न होती है। धीरज्ञ से बढ़ती है। दक्षता से दृढ़ होकर रहती है और इन्द्रियों को वश में रखने से स्थिर रहती है। नाटक आदि मेलों में स्त्रियों को न जाने देने का कारण यह है कि, वहां निम्न लोगों की चेष्टाएं मर्यादा रहित निम्न वचन आदि देखने सुनने से स्त्रियों का निर्मल मन वर्षाऋतु के पवन से दर्पण की तरह प्रायः बिगड़ता है।^१

रुंभइ रयणिपवारं, कुसीलपासंडिसंगमवणेइ।

गिहकज्जेसु निओअइ, न विओअइ अप्पणा सद्धिं ॥१५॥

अर्थ: पुरुष अपनी स्त्री को रात्रि में बाहर राजमार्ग में अथवा किसीके घर जाने को मना करे, कुशील तथा पाखंडी की संगति से दूर रखे, देना लेना सगे सम्बन्धियों का आदर मान करना, रसोइ करना इत्यादि गृहकार्य में अवश्य लगाये, अपने से अलग अकेली न रखे। स्त्री को रात्रि में बाहर जाने से

१. घर में ही टी.वी., वीडिओ, चैनल, कॅसेटे आदि साधन लाकर स्त्री को देनेवाले क्या अपनी स्त्री का उचित आचरण करते हैं?

रोकने का कारण यह है कि, मुनिराज की तरह कुलीन स्त्रियों को भी रात्रि में बाहिर हिरना फिरना घोर अनर्थकारी है। धर्म सम्बन्धी आवश्यक आदि कृत्य के लिए भेजना हो तो माता, बहिन आदि सुशील स्त्रियों के समुदाय के साथ ही जाने की आज्ञा देनी चाहिए।

स्त्री के गृहकृत्य इस प्रकार हैं—

बिछौना आदि उठाना, गृह साफ करना, पानी छानना, चूल्हा तैयार करना, बरतन धोना, धान्य पीसना तथा कूटना, गायें दोहना, दही बिलौना, रसोई बनाना, उचित रीति से अन्न परोसना, बरतन आदि ठीक करना, तथा सासू, भर्तार, ननद, देवर आदि का विनय करना आदि। स्त्रियों को गृहकृत्यों में अवश्य लगाने का कारण यह है कि, ऐसा न करने से स्त्री सर्वदा उदास रहती है। स्त्रियों के उदासीन होने से गृहकृत्य बिगड़ते हैं। स्त्रियों को कोई उद्यम न हो तो वे चपल स्वभाव से बिगड़ती हैं। गृहकृत्यों में स्त्रियों का मन लगा देने से ही उनकी रक्षा होती है। श्री उमास्वातिवाचकजी ने प्रशमरति ग्रन्थ में कहा है कि, पुरुष को पिशाच का आख्यान सुनकर और कुल स्त्री का निरन्तर रक्षण हुआ देखकर अपनी आत्मा को संयम योग से सदैव उद्यम में रखना। स्त्री को अपने से अलग नहीं रखना यह कहा इसका कारण यह है कि, प्रायः परस्पर दर्शन में ही प्रेम का वास है। कहा है कि—देखने से, वार्तालाप करने से, गुण के वर्णन से, इष्टवस्तु देने से, और मन के अनुसार वर्ताव करने से पुरुष में स्त्री का प्रेम दृढ़ होता है। न देखने से, अतिशय देखने से, मिलने पर न बोलने से, अहंकार से और अपमान से प्रेम घटता है। पुरुष नित्य देशाटन करता रहे तो स्त्री का मन उस पर से उतर जाता है, और उससे कदाचित् वह अनुचित कृत्य भी करने लगती है, इसलिए स्त्री को अपने से अलग न रखना चाहिए।

अवमाणं न पर्यसइ, खलिय सिक्खेइ कुविअमणुणेइ।

धणहाणिवुद्धिघरमंतवइयरं पयइइ न तीसे ॥१६॥

अर्थ: पुरुष अकारण क्रोधादिक से अपनी स्त्री के सन्मुख 'तेरे ऊपर और विवाह कर लूंगा' ऐसे अपमानजनक वचन प्रकट न करे। कुछ अपराध भी हुआ हो तो उसको एकान्त में ऐसी शिक्षा दे कि जिससे वह पुनः वैसा अपराध न करे। विशेष क्रोधित हो गयी हो तो उसे समझावे, धन के लाभहानि की बात तथा घर में गुप्त सलाह उसके संमुख प्रकट न करे? 'तेरे ऊपर और विवाह कर लूंगा' ऐसे वचन न बोलने का यह कारण है कि, कौन ऐसा मूर्ख है, जो स्त्री के ऊपर क्रोध आदि आने से दूसरी स्त्री से विवाह करने के संकट में पड़े? कहा है कि—

बुभुक्षितो गृहाद्याति, नाप्नोत्यम्बुच्छटामपि।

१. युवा रसोये को रखनेवाले सोचें।

अक्षालितपदः शोते, भार्याद्वयवशो नरः ॥१॥

वरं कारागृहे क्षिप्तो, वरं देशान्तरभ्रमी।

वरं नरकसञ्चारी, न द्विभार्यः पुनः पुमान् ॥२॥

दो स्त्रियों के वश में पड़ा हुआ मनुष्य घर में से भूखा बाहर जाता है, घर में पानी की एक बूंद भी नहीं पीता और पैर धोये बिना ही सोता है। पुरुष कारागृह में पटक दिया जाय, देशान्तर में भटकता रहे अथवा नरकवास भोगे वह कुछ ठीक है, परन्तु दो स्त्रियों का पति होना ठीक नहीं।

कदाचित् किसी योग्य कारण से पुरुष को दो स्त्रियों से विवाह करना पड़े तो उन दोनों में तथा उनकी संतान में सदैव समदृष्टि रखना। कभी किसीकी पारी खंडित न करना। कारण कि सोत की पारी तोड़कर अपने पति के साथ रतिक्रीड़ा करनेवाली स्त्री को चौथे व्रत का अतिचार लगता है ऐसा कहा है। २ विशेष क्रोधित होने पर उसे समझाने का कारण यह है कि, वैसा न करने से कदाचित् वह सोमदत्त की स्त्री की तरह अचानक कुए में जा गिरे अथवा ऐसा ही कुछ अन्य अपकृत्य करे, इसीलिए स्त्रियों के साथ सदा नरमाई का बर्ताव करना चाहिए। कभी कठोरता न बताना। कहा है कि, 'पाञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम्' (पाञ्चाल ऋषि कहते हैं कि, स्त्रियों से नरमाई रखना।) नरमाई से ही स्त्रियां वश में होती हैं, कारण कि, इसी रीति से उनसे सर्वकार्य सिद्ध हुए देखने में आते हैं; और यदि नरमाई न हो तो कार्यसिद्धि के बदले कार्य में बिगाड़ हुआ भी अनुभव में आता है। निर्गुणी स्त्री हो तो अधिक नरमाई से काम लेने की चिन्ता रखना चाहिए। देह में जीव है तब तक मजबूत बेड़ी के समान साथ लगी हुई उस निर्गुणी स्त्री से ही किसी भी प्रकार से गृहसूत्र चलाना तथा सर्वप्रकार से निर्वाह कर लेना चाहिए। कारण कि, 'गृहिणी वही घर' ऐसा शास्त्रवचन है। ३ 'धन के लाभहानि की बात न करना' ऐसा कहने का कारण यह है कि, पुरुष धन का लाभ स्त्रीसंमुख प्रकट करे, तो वह अपरिमित द्रव्य खर्च करने लगे और उसके संमुख धनहानि की बात करे तो वह तुच्छता से जहां-तहां वह बात प्रकटकर पति का चिरकाल संचित बडप्पन गुमावे। ४ घर की गुप्त सलाह उसके संमुख प्रकट न करने का कारण यह है कि, स्त्री स्वभाव से ही कोमल हृदयवाली होने से उसके हृदय में गुप्त बात रह नहीं सकती, वह अपनी सहेलियों आदि के संमुख प्रकट कर देती है, जिससे निश्चित किये हुए भावी-कार्य निष्फल हो जाते हैं। कदाचित् कोई गुप्त बात उसके मुख से प्रकट होने से राज्यद्रोह का विवाद भी खड़ा हो जाये, इसीलिए घर में स्त्री का मुख्य चलन नहीं रखना चाहिए। कहा है कि—'स्त्री पुंवच्च प्रभवति यदा तद्धि गेहं विनष्टम्' (स्त्री पुरुष के समान प्रबल हो जाये तो वह घर धूल में मिल गया ऐसा समझो।)—इस विषय पर एक दृष्टान्त कहते हैं, कि—

१. थोड़े से अपराध में घर से बाहर निकालनेवाले, संबंध विच्छेद करनेवाले पतिदेव सोचें।

किसी नगर में मंथर नामक एक कोली था। वह बुनने की लकड़ी आदि बनाने के लिए जंगल में लकड़ी लेने गया। वहां एक शीसम के वृक्ष को काटते हुए उसके अधिष्ठायक व्यंतर ने मना किया, तो भी वह साहसपूर्वक तोड़ने लगा, तब व्यंतर ने उसको कहा—'वर मांग' कोली खीलंपट होने के कारण स्त्री को पूछने गया। मार्ग में उसका एक नाई मित्र मिला। उसने सलाह दी कि 'तू राज्य मांग।' तो भी उसने स्त्री को पूछा। स्त्री तुच्छ स्वभाव की थी इससे एक वचन उसे स्मरण हुआ कि—

प्रवर्धमानः पुरुषस्त्रयाणामुपघातकृत।

पूर्वोपार्जितमित्राणां, दाराणामथ वेशमनाम् ॥१॥

अर्थः पुरुष लक्ष्मी के लाभ से विशेष वृद्धि को प्राप्त हो जाये तो अपने पुराने मित्र, स्त्री और घर इन तीन वस्तुओं को छोड़ देता है। यह विचारकर उसने पति से कहा कि, अत्यन्त दुःखदायी राज्य लेकर क्या करना है? दूसरे दो हाथ और एक मस्तक मांगो ताकि तुम दो वस्त्र एक ही साथ बनालोगे। तदनन्तर कोली ने स्त्री के कथनानुसार वर मांगा व व्यंतर ने दे दिया, परन्तु लोगों ने ऐसे विलक्षण स्वरूप से उस कोली को ग्राम में प्रवेश करते देख राक्षस समझकर लकड़ी पत्थर आदि से मार डाला। कहा है कि—

जिस व्यक्ति में स्वयं बुद्धि नहीं तथा जो मित्र की सलाह भी नहीं मानता तथा स्त्री के वश में रहता है, वह मंथर कोली की तरह नष्ट हो जाता है। ऐसी बातें क्वचित् ही देखने में आती हैं इसलिए सुशिक्षित और बुद्धिशाली स्त्री हो तो उसकी सलाह मसलत लेने से लाभ ही होता है। इस विषय में अनुपमादेवी और वस्तुपाल तेजपाल का उत्कृष्ट उदाहरण है।

सुकुलुग्गयाहिं परिणयवयाहिं निच्छम्मधम्मनिरयाहिं।

सयणरमणीहिं पीई, पाठणइ समाणधम्माहिं ॥१७॥

अर्थः श्रेष्ठकुल में उत्पन्न हुई, प्रौढावस्था बाली, कपट रहित, धर्मरत, साधर्मिक और अपने सगे सम्बन्धी की स्त्रियों के साथ अपनी स्त्री की प्रीति कराना चाहिए। श्रेष्ठकुलोत्पन्न स्त्री के साथ संगति करने का कारण यह है कि, नीचकुल में उत्पन्न हुई स्त्री के साथ रहना यह कुल-स्त्रियों को अपवाद की जड़ है।

रोगाइसु नोविक्खइ, सुसहाओ होइ धम्मकज्जेसु।

एमाइ पणइणियं, उचिअं पाएण पुरिसस्स ॥१८॥

अर्थः स्त्री को रोगादिक हो तो पुरुष उसकी उपेक्षा न करे, तपस्या, उजमणा, दान, देवपूजा, तीर्थयात्रा आदि धर्मकृत्यों में स्त्री का उत्साह बढ़ाकर उसे द्रव्य आदि देकर उसकी सहायता करे, अंतराय कभी न करे। कारण कि, पुरुष स्त्री के पुण्य का भागीदार है। तथा धर्मकृत्य कराना यही परम

उपकार है। इत्यादि पुरुष का स्त्री के सम्बन्ध में उचित आचरण जानना।
अब पुत्र के सम्बन्ध में पिता का उचित आचरण कहते हैं—

पुत्रं पइ पुण उचिअं, पिठणो लालेइ बालभावमि।

उम्मीलिअबुद्धिगुणं, कलासु कुसलं कुणइ कमसो ॥१९॥

अर्थः पिता बाल्यावस्था में पौष्टिक अन्न, स्वेच्छा से हिरना-फिरना, नाना प्रकार के खेल आदि उपायों से पुत्र का लालन-पालन करे, और उसकी बुद्धि के गुण खिलें तब उसे कलाओं में कुशल करे। बाल्यावस्था में पुत्र का लालन-पालन करने का यह कारण है कि, उस अवस्था में जो उसका शरीर संकुचित और दुबला रहे तो वह फिर कभी भी पुष्ट नहीं हो सकता, इसीलिए कहा है कि—

लालयेत्पञ्च वर्षाणि, दश वर्षाणि ताडयेत्।

प्राप्ते तु षोडशे वर्षे, पुत्रं मित्रमिवाचरेत् ॥२॥

पुत्र का पांच वर्ष की अवस्था होने तक लालन-पालन करना, उसके बाद दस वर्ष तक अर्थात् पन्द्रह वर्ष की अवस्था तक ताड़ना करना और सोलहवां वर्ष लग जाने पर पिता को पुत्र के साथ मित्र की तरह बर्ताव करना चाहिए।

गुरुदेवधम्मसुहिसयणपरिचयं कारवेइ निच्चंपि।

उत्तमलोएहिं समं, मितीभावं रयावेई ॥२०॥

अर्थः पिता पुत्र को गुरु, देव, धर्म, सुहृद् तथा स्वजनों का सदैव परिचय करावे। तथा श्रेष्ठ मनुष्यों के साथ उसकी मित्रता करावे। गुरु आदि का परिचय बाल्यावस्था में ही हो जाने से वल्कलचीरि की तरह मन में सदा उत्तम ही भावनाएँ रहती हैं। उच्चजाति के कुलीन तथा सुशील मनुष्यों के साथ मित्रता हो तो कदाचित् भाग्यहीनता से धन न मिले, तथापि आगन्तुक अनर्थ तो निस्सन्देह दूर हो जाते हैं। अनार्य देश का निवासी होने पर भी आर्द्रकुमार को अभयकुमार की मित्रता उसी भव में सिद्धि का कारण हुई। गिण्हावेइ अ पाणिं, समाणकुलजम्मरूवकन्नाणं।

गिहभारमि निजुंजइ, पहुत्तणं विअरइ कमेण ॥२१॥

अर्थः पिता ने पुत्र का कुल, जन्म व रूप में समानता रखनेवाली कन्या के साथ विवाह करना, उसे घर के कार्यभार में लगाना तथा अनुक्रम से उसको घर की मालिकी सौंपना। 'कुल जन्म व रूप में समानता रखनेवाली कन्या के साथ विवाह करना' यह कहने का कारण ऐसा है कि, अनमेल पतिपत्नी का योग हो जाय तो उनका वह गृहवास नहीं, विडंबना मात्र है। तथा पारस्परिक प्रेम कम हो जाय तो संभव है कि दोनों अनुचित कृत्य करने लगें। जैसा कि—

राजा भोज के राज्यान्तर्गत धारानगरी में एक घर के अंदर अत्यंत कुरूप और निर्दयी पुरुष तथा अतिरूपवती व गुणवान स्त्री थी। दूसरे घर में इससे प्रतिकूल याने पुरुष उत्तम और स्त्री कुरूप थी। एक समय दोनों जनों के घर में चोरों ने धाड़ (खात्र) पाड़ी (सैध लगाई) और दोनों बे जोड़ों को देखकर कुछ न बोलते सुरूप स्त्री सुरूप पुरुष के पास और कुरूप स्त्री कुरूप पुरुष के पास बदल दी। जहां सुरूप को सुरूप का संयोग हुआ, वे दोनों स्त्री पुरुष पूर्व में बहुत उद्विग्न थे अतः बहुत हर्षित हुए, परन्तु जिसको कुरूप स्त्री मिली उसने राजसभा में विवाद चलाया। राजा ने डौंडी पिटवाई, तब चोर ने आकर कहा कि, 'हे महाराज! रात्रि में परद्रव्य का हरण करनेवाले मैंने विधाता की भूल सुधारी व एक रत्न का दूसरे रत्न के साथ योग किया।' चोर की बात सुनकर हंसते हुए राजा ने वही बात कायम रखी। (यह लौकिक उदाहरण समझना।)

विवाह के भेद आदि आगे कहे जायेंगे। 'उसे घर के कार्यभार में लगाना।' ऐसा कहने का यह कारण है कि, घर के कार्यभार में लगा हुआ पुत्र सदैव घर की चिंता में रहने से स्वच्छन्दी अथवा मदोन्मत्त नहीं हो जाता। वैसे ही धन कमाने के कष्ट का अनुभव हो जाने से अनुचित व्यय करने का विचार भी न कर सके। 'घर की मालिकी सौंपना।' यह कहा, उसका कारण यह है कि, बड़े पुरुषों के छोटों के सिर पर योग्य वस्तु सौंप देने से छोटों की प्रशंसा होती है। घर का कार्यभार योग्य परीक्षा करके छोटा पुत्र योग्य हो तो उसीके सिर पर सौंपना। कारण कि, ऐसा करने से ही निर्वाह होता है, तथा इससे शोभा आदि भी बढ़ना संभव है। प्रसेनजित राजा ने प्रथम समस्त पुत्रों की परीक्षा करके सौर्वे (सबसे छोटे) पुत्र श्रेणिक को राज्य सौंपा। पुत्र की ही तरह पुत्री, भतीजे आदि के सम्बन्ध में भी योग्यतानुसार उचित आचरण जानना। ऐसा ही पुत्रवधु के लिए समझो। जैसे धनश्रेष्ठी ने चावल के पांच दाने दे परीक्षा करके चौथी बहू रोहिणी को ही घर की स्वामिनी बनायी। तथा उज्जिता, भोगवती और रक्षिता इन तीनों बड़ी बहूओं को अनुक्रम से गोबर आदि निकालने का, रसोई बनाने का तथा भंडार का काम सौंपा।

पञ्चक्खं न पसंसइ, वसणोवहयाण कहइ दुरवत्थं।

आयं वयमवसेसं च सोहए सयमिमेहिंतो ॥२२॥

अर्थः पिता पुत्र की उसके संमुख प्रशंसा न करे, यदि पुत्र किसी व्यसन में पड़ जाये तो उसे द्यूतादिव्यसन से होनेवाली धननाश, लोक में अपमान, तर्जना, ताड़ना आदि दुर्दशा सुनाये, जिससे वह व्यसनों से बचे, तथा लाभ, खर्च व बेलेंस (हिसाब) देखता रहे, जिससे पुत्र स्वेच्छाचारी भी न होने पावे तथा अपना बड़प्पन भी रहे। 'पुत्र की उसके संमुख प्रशंसा न करे।' ऐसा कहने का यह हेतु है कि, प्रथम तो पुत्र की प्रशंसा करना ही नहीं। कहा है कि—

प्रत्यक्षे गुरवः स्तुत्याः, परोक्षे मित्रबान्धवाः।

कर्मान्ते दासभृत्याश्च, पुत्रा नैव मृताः स्त्रियः ॥११॥

गुरु की उनके संमुख, मित्र तथा बान्धवों की उनके पीछे, नौकर दास आदि को उनका काम अच्छा होने पर तथा स्त्रियों की उनके मर जाने के अनन्तर स्तुति करनी चाहिए, परन्तु पुत्र की स्तुति तो बिल्कुल ही न करना। कदाचित् इसके बिना न चले तो स्तुति करना पर प्रत्यक्ष न करना, कारण कि, इससे उनकी गुणवृद्धि रुक जाती है व वृथा अहंकार पैदा होता है।

दंसेइ नरिदसभं देसंतरभावपयडणं कुणइ।

इच्चाइ अवच्चगयं, उचिअं पिउणो मुणेअव्वं ॥२३॥

अर्थः पिता ने पुत्र को राजसभा बताना, तथा विदेश के आचार और व्यवहार भी स्पष्टतः बताना। इत्यादि पिता का पुत्र के सम्बन्ध में उचिताचरण है। राजसभा दिखाने का कारण यह है कि, राजसभा का परिचय न हो तो किसी समय दुर्दैव वश यदि कोई आकस्मिक संकट आ पड़े तब वह कायर हो जाता है तथा परलक्ष्मी को देखकर जलनेवाले शत्रु उसको हानि पहुंचाते हैं। कहा है कि—

गन्तव्यं राजकुले, द्रष्टव्या राजपूजिता लोकाः।

यद्यपि न भवन्त्यर्थास्तथाप्यनर्था विलीयन्ते ॥११॥

राज दरबार में जाना तथा राज्य मान्य लोगों को देखना चाहिए। यद्यपि उससे कोई अर्थलाभ नहीं होता तथापि अनर्थ का नाश तो होता ही है। इसलिए राजसभा का परिचय अवश्य करना चाहिए। विदेश के आचार तथा व्यवहार स्पष्टतः बताने का कारण यह है कि, परदेश के आचार व्यवहार का ज्ञान न हो और कारणवश कहीं जाना पड़े तो वहां के लोग इसे परदेशी समझकर सहज ही में व्यसन के जाल में फंसा दें। अतएव प्रथम से ही अच्छी तरह समझा देना चाहिए। पिता की तरह माता को भी पुत्र तथा पुत्रवधू के सम्बन्ध में यथा सम्भव उचित आचरण पालन करना। माता को सौतेले लड़के के सम्बन्ध में विशेष उचित आचरण पालना। कारण कि, वह प्रायः सहज में ही धिन्नभाव समझने लग जाता है। इस विषय में सौतेली मा की दी हुई उड़द की राबड़ी ओकनेवाले (वमन करनेवाले) पुत्र का उदाहरण जानना।

सयणाण समुचिअमिणं, जं ते निअगेहवुड्ढिकज्जेसु।

संमाणिज्ज सयावि हु, करिज्ज हाणीसु वि समीवे ॥२४॥

अर्थः पिता, माता तथा स्त्री के पक्ष के लोग स्वजन कहलाते हैं। उनके सम्बन्ध में पुरुष का उचित आचरण इस प्रकार है। अपने घर में पुत्र जन्म तथा विवाह सगाई प्रमुख मंगल कार्य हो तब उनका सदा आदर सत्कार करना, वैसे ही उनको किसी प्रकार की हानि हो जाये तो अपने पास रखना।

सयमवि तैसिं वसणूसवेसु होअव्वमंतिअंमि सया।

स्त्रीणविहवाण रोगाउराण कायव्वमुद्धरणं ॥२५॥

अर्थ: स्वजनों पर कोई संकट आ जाये अथवा उनके यहां कोई उत्सव हो तो स्वयं भी सदैव वहां जाना। तथा वे निर्धन अथवा रोगातुर हो जाये तो उनका उस संकट में से उद्धार करना। कहा है कि—

आतुरे व्यसने प्राप्ते, दुर्भिक्षे शत्रुसङ्कटे।

राजद्वारे श्मशाने च, यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥११॥

उत्सव, रोग, आपदा, दुर्भिक्ष, शत्रुविग्रह, राजद्वार और श्मशान में जो साथ रहता है वही बान्धव कहलाता है। स्वजन का उद्धार करना वास्तव में अपना ही उद्धार है। कारण कि जैसे रहेंट के घड़े क्रमशः भरते व खाली होते हैं वेसे ही मनुष्य भी धनी व निर्धन होता है। किसीकी भी धनी अवस्था या दरिद्रता चिरकाल तक स्थिर नहीं रहती। इसलिए कदाचित् दुर्दैववश अपनी भी हीनावस्था आ जाये तो पूर्व में जिस पर अपनने उपकार किया हो वही आपत्ति से अपना उद्धार करता है। इसलिए समय पर स्वजनों का संकट में से उद्धार अवश्य करना चाहिए।

खाइज्ज पिड्डिमंसं, न तैसि कुज्जा न सुक्ककलहं च।

तदमित्तेहिं मित्तिं, न करिज्ज करिज्ज मित्तेहिं ॥२६॥

अर्थ: पुरुष को स्वजनों की पीठ पर निन्दा न करना; उनके साथ हास्य आदि में भी शुष्कवाद न करना, कारण कि, उससे चिरसंचित प्रीति भी टूट जाती है। उनके शत्रुओं के साथ मित्रता न करे व उनके मित्रों से मित्रता करे।

तयभावे तग्गेहं, न वइज्ज चइज्ज अत्थसम्बन्धं।

गुरुदेवधम्मकज्जेसु एकचित्तेहिं होअव्वं ॥२७॥

अर्थ: पुरुष को स्वजन घर में न हो, और उसके कुटुम्ब की केवल स्त्रियां ही घर में हो, तो उनके घर में प्रवेश न करना, स्वजनों के साथ द्रव्य का व्यवहार न करना, तथा देव का, गुरु का अथवा धर्म का कार्य हो तो उनके साथ एकचित्त होना। स्वजनों के साथ द्रव्य का व्यवहार न करने का कारण यह है कि, उनके साथ व्यवहार करते समय तो ऐसा ज्ञात होता है कि प्रीति बढ़ती है; परन्तु परिणाम में उस प्रीति के बदले शत्रुता बढ़ती है। कहा है कि—

यदीच्छेद्विपुलां प्रीतिं, त्रीणि तत्र न कारयेत्।

वाग्वादमर्थसम्बन्धं, परोक्षे दारदर्शनम् (भाषणम्) ॥१॥

जहां विशेष प्रीति रखने की इच्छा हो वहां तीन बातें न करना। एक वादविवाद, दूसरी द्रव्य का व्यवहार और तीसरी उनकी अनुपस्थिति में उनकी स्त्री से भाषण, धर्मादिक कार्य में एकचित्त होने का कारण यह है कि, संसारी काम में भी स्वजनों के

साथ ऐक्यता रखने से ही उत्तम परिणाम होता है। तो फिर जिनमंदिर आदि देवादिक के कार्य में तो अवश्य ही ऐक्यता चाहिए। क्योंकि, ऐसे कार्य तो सर्वसंघ के आधार पर हैं। और सर्वसंघ की ऐक्यता से ही निर्वाह तथा शोभा आदि सम्भव है। इसलिए वे कार्य सब की सम्मति से करना चाहिए। स्वजनों के साथ ऐक्यता रखने के ऊपर पांच अंगुलियों का उत्कृष्ट उदाहरण है, यथा—

प्रथम तर्जनी (अंगूठे के पास की) अंगुली लिखने में तथा चित्रकला आदि प्रायः सर्वकार्यों में मुख्य होने से तथा संकेत करने में, उत्कृष्ट वस्तु का वर्णन करने में, मना करने में, चिमटी आदि भरने में चतुर होने से अहंकारवश मध्यमा (बीचकी) अंगुली को कहती है कि, 'तुझमें क्या गुण है?' मध्यमा बोली, 'मैं सर्व अंगुलियों में मुख्य, बड़ी और मध्यभाग में रहनेवाली हूँ, तंत्री, गीत, ताल आदि कला में कुशल हूँ, कार्य की उतावल बताने के लिए अथवा दोष, छल आदि का नाश करने के हेतु चिमटी बजाती हूँ, और टचकारे से शिक्षा करने वाली हूँ।' इसी प्रकार तीसरी अंगुली से पूछा तब उसने कहा कि, 'देव, गुरु, स्थापनाचार्य साधर्मिक आदि की नवांग आदि में चन्दन पूजा, मंगलिक, स्वस्तिक, नंदावर्त आदि करने का, तथा जल, चन्दन, वासक्षेप चूर्ण आदि का अभिमंत्रण करना मेरे अधीन है।' पश्चात् चौथी अंगुली को पूछा तो उसने कहा कि, 'मैं पतली होने से कान खुजलाना आदि सूक्ष्म काम कर सकती हूँ, शरीर में कष्ट आने पर छेदन आदि पीड़ा सहती हूँ, शाकिनी आदि के उपद्रव दूर करती हूँ, जप की संख्या आदि करने में भी प्रमुख हूँ।' यह सुन चारों अंगुलियों ने मित्रता कर अंगूठे से पूछा कि, 'तेरे में क्या गुण है?' अंगूठे ने कहा, 'अलियों! मैं तो तुम्हारा पति हूँ! देखो, लिखना, चित्रकारी करना, ग्रास भरना, चिमटी भरना, चिमटी बजाना, टचकार करना, मुट्ठी बांधना, गांठ बांधना, हथियार आदि का उपयोग करना, दाढ़ी मूँछ समाारना तथा कतरना, कातना, पौछना, पीजना, बुनना, धोना, कूटना, पीसना, परोसना, कांटा निकालना, गाय आदि दुहना, जप की संख्या करना, बाल तथा फूल गूंधना, पुष्प पूजा करना आदि कार्य मेरे बिना नहीं होते। वैसे ही शत्रु का गला पकडना, तिलक करना, श्री जिनेश्वर को अमृत का पान करना, अंगुष्ठ प्रश्न करना इत्यादि कार्य अकेले मुझ से ही होते हैं। यह सुन चारों अंगुलियां अंगूठे का आश्रयकर सर्व कार्य करने लगीं।

एमाई सयणोचिअमह धम्मायरिअसमुचिअं भणिमो।

भत्तिबहुमाणपुब्बं, तेसिं तिसंझंपि पणिवाओ ॥२८॥

अर्थ : स्वजन के सम्बन्ध में उपरोक्त आदि उचित आचरण जानो।

अब धर्माचार्य के सम्बन्ध में उचित आचरण कहते हैं। मनुष्य ने नित्य तीनों समय भक्तिपूर्वक शरीर और वचन से सादर धर्माचार्य को वन्दना करना।

तदंसिअनीईए, आवस्सयपमुहकिच्चकरणं च।

धम्मोवएससवणं, तदंतिए सुद्धसद्धाए ॥२९॥

अर्थः धर्माचार्य की बतायी हुई रीति से आवश्यक आदि कृत्य करना तथा उनके पास शुद्धश्रद्धापूर्वक धर्मोपदेश सुनना।

आएसं बहु मन्त्रइ, इमेसिं मणसावि कुणइ नावन्न्।

रुंमइ अवन्नवायं, धुइवायं पयइइ सयावि ॥३०॥

अर्थः धर्माचार्य के आदेश का अत्यादर करे, उनकी मन से भी अवज्ञा न करे। अधर्मी लोगों के किये हुए धर्माचार्य के अवर्णवाद को यथाशक्ति रोके, किन्तु उपेक्षा न करे, कहा है कि—सज्जनों की निन्दा करनेवाला ही पापी नहीं, परन्तु उस निन्दा को सुननेवाला भी पापी है। तथा नित्य धर्माचार्य का स्तुतिवाद करे, कारण कि, प्रत्यक्ष अथवा पीठ पर धर्माचार्य की प्रशंसा करने से असंख्य पुण्यानुबन्धि पुण्य संचित होता है।

न हवइ छिद्वप्मेही, सुहिव्व अणुअत्तर सुहदुहेसु।

पडिणीअपच्चवायं, सव्वपयत्तेण वारेइ ॥३१॥

अर्थः धर्माचार्य के छिद्र न देखना, सुख में तथा दुख में मित्र की तरह उनके साथ वर्तव्य करना तथा प्रत्यनीक लोगों के किये हुए उपद्रवों को अपनी पूर्णशक्ति से दूर करना। यहां कोई शंका करे कि, 'प्रमाद रहित धर्माचार्य में छिद्र न ही होते, इसलिए 'उन्हें न देखना' ऐसा कहना व्यर्थ है। तथा ममता रहित धर्माचार्य के साथ मित्र की तरह वर्तव्य किस तरह करना?' इसका उत्तर 'सत्य बात है, धर्माचार्य तो प्रमाद व ममता से रहित ही हैं, परन्तु पृथक्-पृथक् प्रकृति के श्रावकों को अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार धर्माचार्य में भी पृथक्-पृथक् भाव उत्पन्न होता है। स्थानांगसूत्र में कहा है कि, हे गौतम! श्रावक चार प्रकार के हैं। एक माता-पिता समान, दूसरे भाई समान, तीसरे मित्र समान, चौथे सौत समान।' इत्यादि इस ग्रंथ में पूर्व में इसका वर्णन पृ. ६१ पर हो गया है। प्रत्यनीक लोगों का उपद्रव दूर करने के विषय में कहा है कि—

साहूण चेइआण य, पडिणीअं तह अवन्नवायं च।

जिणपवयणस्स अहिअं, सव्वत्थामेण वारेइ ॥१॥

साधुओं का, जिनमंदिर का तथा विशेषकर जिनशासन का कोई विरोधी हो, अथवा कोई अवर्णवाद बोलता हो तो सर्वशक्ति से उसका प्रतिवाद करना। इस विषय पर भागीरथ नामक सगरचक्रवर्ती के पौत्र के जीव कुम्हार ने प्रान्त ग्राम निवासी साठ हजार मनुष्यों के किये हुए उपद्रव से पीड़ित यात्रिक संघ का उपद्रव दूर किया, वह उत्कृष्ट उदाहरण है।

खलिअंमि चोइओ गुरुजणेण मन्त्रइ तहत्ति सव्वंपि।

चोएइ गुरुजणांपिहु, पमायखलिएस्सु एगंते ॥३२॥

अर्थः पुरुष को अपना कुछ अपराध होने पर धर्माचार्य शिक्षा दे, तब 'आपका कथन योग्य है' ऐसा कह सर्व मान्य करना। कदाचित् धर्माचार्य का कोई दोष दृष्टि में आये तो उन्हें एकान्त में कहना कि, 'महाराज! आपके समान चारित्रवन्त को क्या यह बात उचित है?'

कुण्ड विणओवयारं, भतीए समयसमुचिअं सव्वं।

गाढं गुणाणुरायं, निम्मायं वहइ हिअयमि ॥३३॥

अर्थः शिष्य को संमुख आना, गुरु के आने पर उठना, आसन देना, पगचंपी करना, तथा शुद्ध वस्त्र-पात्र-आहारादि का दान आदि समयोचित समस्त विनय सम्बन्धी उपचार भक्तिपूर्वक करना और अपने हृदय में धर्माचार्य पर दृढ़ तथा कपटरहित अनुराग धारण करना।

भावोवयारमेसिं, देसंतरिओवि सुमरइ सयावि।

इअ एवमाइगुरुणसमुचिअमुचिअं मुणेयव्वं ॥३४॥

अर्थः पुरुष विदेश में हो तो भी धर्माचार्य के किये हुए सम्यक्त्व दान आदि उपकार को निरन्तर स्मरण करना। इत्यादि धर्माचार्य के सम्बन्ध में उचित आचरण है।

जत्थ सयं निवसिज्जइ, नयरे तत्थेव जे किर वसंति।

ससमाणवत्तिणो ते, नायरया नाम वुच्चंति ॥३५॥

अर्थः पुरुष जिस नगर में रहता हो, उसी नगर में वणिग्वृत्ति से आजीविका करनेवाले जो अन्य लोग रहते हैं वे नागर कहलाते हैं।

समुचिअमिणमेतेसिं, जमेगचित्तेहिं समसुहदुहेहिं।

वसणूसवतुल्लगमागमेहिं निच्चपि होअव्वं ॥३६॥

अर्थः नगर के लोगों के सम्बन्ध में उचित आचरण इस प्रकार है—पुरुष को उन पर (नगर के लोगों पर) दुःख आने पर स्वयं दुःखी होना, तथा सुख में स्वयं सुखी होना। वैसे ही व संकट में हो तो स्वयं भी आपत्ति ग्रसित की तरह बर्ताव करना तथा वे उत्सव में हों तो स्वयं भी उत्सव में रहना। इसके विरुद्ध यदि एक ही नगर के निवासी समव्यवसायी लोग जो कुसंप में रहें तो राज्याधिकारी लोग उनको इस तरह संकटजाल में फंसाते हैं, जिस तरह कि पारधी मृगों को।

कायव्वं कज्जेऽवि हु, न इक्कमिक्केण दंसणं पहुणो।

कज्जो न मंतभेओ, पेसुन्नं परिहरेअव्वं ॥३७॥

अर्थः बड़ा कार्य हो तो भी अपना बड़प्पन बढ़ाने के लिए समस्त नागरों को राजा की भेंट लेने के लिए पृथक्-पृथक् न जाना। किसी कार्य की गुप्त सलाह की हो तो उसे प्रकट न करना तथा किसीको किसीकी चुगली न करना। एक-

एक मनुष्य पृथक्-पृथक् राजा को मिलने जाये तो उससे एक दूसरे के मन में वैर आदि उत्पन्न होता है, अतएव सभी मिलकर जावे तथा सब की योग्यता समान होने पर भी किसी एक को मुख्य (अगुआ) कर बाकी सबको उसके साथ रहना; राजा के हुक्म से मंत्री के द्वारा परीक्षा करने के लिए दी हुई एक शय्या पर सोने के लिए विवाद करनेवाले पांचसो मूर्ख सुभटों की तरह कुसंप से राजा की भेट लेने अथवा विनती करने आदि के लिए न जाना चाहिए। कहा है कि—

बहूनामप्यसाराणां, समुदायो जयावहः।

तृणैरावेष्टिता रज्जुर्यया नागोऽपि बध्यते ॥११॥

चाहे जैसी असार वस्तु हो तो जो बहुतसी एकत्र हो जावे तो विजयी हो जाती है देखो, तृण समूह से बनी हुई रस्सी हाथी को भी बांध रखती है। गुप्त सलाह प्रकट करने से कार्य भंग हो जाता है तथा समय पर राजा का कोप आदि भी होता है; इसलिए गुप्त सलाह कदापि प्रकट न करना चाहिए। परस्पर चुगली करने से राजादि अपमान तथा समय पर दंड आदि भी कर देते हैं। तथा समव्यवसायी लोगों का कुसंप से रहना नाश का कारण है। कहा है कि—एक पेटवाले और भिन्न भिन्न फल की इच्छा करनेवाले भारंड पक्षी की तरह कुसंप से रहनेवाले लोग नष्ट हो जाते हैं। जो लोग एक दूसरे के मर्म की रक्षा नहीं करते वे सर्प की तरह मरणान्त कष्ट पाते हैं।

समुवड्डिए विवाए, तुलासमाणेहिं चैव ठायव्वं।

कारणसाविक्खेहिं, विहुणेअव्वो न नयमग्गो ॥३८॥

अर्थः कोई विवाद आदि उत्पन्न हो जाये तो तराजू के समान रहना। स्वजन सम्बन्धी तथा अपनी ज्ञाति के लोगों पर उपकार करने अथवा रिश्वत खाने की इच्छा से न्यायमार्ग का उल्लंघन न करना।

बलिणहिं दुब्बलजणो, सुंककराईहिं नाभिभविअव्वो।

थेवावराहदोसेऽवि दंडभूमिं न नेअव्वो ॥३९॥

अर्थः प्रबल लोगों के द्वारा दुर्बल लोगों को अधिक कर-राजदंड आदि से न सताना तथा थोड़ासा अपराध होने पर ही उनको एकदम दंड न करना। कर आदि से पीड़ित मनुष्य पारस्परिक प्रीति न होने से संप छोड़ देते हैं। संप न होने से बलिष्ठ लोग भी अपने झुंड से अलग हुए सिंह की तरह जहां-तहां पराभव पाते हैं। इसलिए परस्पर संप रखना उचित है। कहा है कि—

संहतिः श्रेयसी पुंसां, स्वपक्षे तु विशेषतः।

तुषैरपि परिभ्रष्टा, न प्ररोहन्ति तन्दुलाः ॥२॥

मनुष्यों का संप कल्याणकारी है। जिसमें भी अपने-अपने पक्ष में तो अवश्य ही

संप चाहिए। देखो, फोतरे से अलग हुए चावल ऊग नहीं सकते। जो पर्वतों को फोड़ देता है तथा भूमि को भी फाड़ डालता है, उसी जलप्रवाह को तृणसमूह रोक देता है। यह संप की महिमा है।

कारणिर्हिंसि समं, कायव्वो ता न अत्थसम्बन्धो।

किं पुण पट्टणा सद्धिं, अप्पहिअं अहिलसंतेहिं ? ॥४०॥

अर्थ: अपने हित की इच्छा करनेवाले लोगों को राजा, देवस्थान अथवा धर्मखाते के अधिकारी तथा उनके अधीनस्थ लोगों के साथ लेन-देन का व्यवहार न करना। तो फिर राजा के साथ तो कभी भी व्यवहार न करना इसमें तो कहना ही क्या है? राजा के अधिकारी आदि के साथ व्यवहार न करने का कारण यह है कि, वे लोग धन लेते समय तो प्रायः प्रसन्नमुख से वार्तालापकर तथा उनके वहां जाने पर बैठने को आसन, पान सुपारी आदि देकर झूठा बाह्य आडम्बर बताते हैं, तथा भलाई प्रकट करते हैं। परन्तु समय आने पर खरा लेना मांगें तो 'हमने तुम्हारा अमुक काम नहीं किया था क्या?' ऐसा कह अपना किया हुआ तिल के फोतरे के समान यत्किंचित् मात्र उपकार प्रकट करते हैं, और पूर्व के दाक्षिण्य को उसी समय छोड़ देते हैं। ऐसा उनका स्वभाव ही है। कहा है कि—

द्विजन्मनः क्षमा मातुर्द्वेषः प्रेम पणस्त्रियाः।

नियोगिनश्च दाक्षिण्यमरिष्टानां चतुष्टयम् ॥१॥

१ ब्राह्मण में क्षमा, २ माता में द्वेष, ३ गणिका में प्रेम और ४ अधिकारियों में दाक्षिण्यता ये चारों अरिष्ट हैं। इतना ही नहीं, बल्कि उल्टे देनेवाले को झूठे अपराध लगाकर राजा से दंड कराते हैं। कहा है कि—

उत्पाद्य कृत्रिमान् दोषान्, धनी सर्वत्र बाध्यते।

निर्धनः कृतदोषोऽपि, सर्वत्र निरुपद्रवः ॥१॥

लोग धनवान् मनुष्य पर झूठे दोष लगाकर उस पर उपद्रव करते हैं, परन्तु निर्धन मनुष्य अपराधी भी हो तो भी उसे कोई नहीं पूछता। राजा के साथ धन का व्यवहार न रखने का कारण यह है कि, किसी सामान्य क्षत्रिय से भी अगर अपना लेना मांगें तो वह खड्ग बतलाता है तो भला स्वभाव से ही क्रोधी ऐसे राजाओं की क्या बात कहना? इत्यादि समव्यवसायी नगर के लोगों के सम्बन्ध में उचित आचरण है। समान व्यवसाय न करनेवाले नगर के लोगों के साथ भी उपरोक्त कथनानुसार ही यथायोग्य बर्ताव करना चाहिए।

एअं परुप्परं नायराण पाएण समुचिआचरणं।

परतित्थिआण समुचिअमह किंपि भणामि लेसेणं ॥४१॥

अर्थ: नगर के लोगों को परस्पर किस प्रकार उचित आचरण करना चाहिए सो

कहा। अब अन्य दर्शनी लोगों के साथ किस प्रकार उचित आचरण करना, वह लेशमात्र कहते हैं।

एषसि तित्थिआणं, भिक्खड्डमुवड्ढिआण निअगेहे।

कायव्वमुचिअकिच्चं, विसेसओ रायमहिआणं ॥४२॥

अर्थ: अन्यदर्शनी भिक्षुक अपने घर भिक्षा के निमित्त आवे तो उनको यथायोग्य दान आदि देना। उसमें भी राजमान्य अन्यदर्शनी भिक्षा के लिए आवें, तो उन्हें विशेषतः दान आदि देना।

जइवि न मणंमि भत्ती, न पक्खवाओ अ तग्गयगुणोसु।

उच्चिअं गिहागएसुत्ति तहवि धम्मोगिहीण इमो ॥४३॥

अर्थ: यद्यपि श्रावक के मन में अन्यदर्शनी में भक्ति नहीं तथा उसके गुण में भी पक्षपात नहीं; तथापि अतिथि का उचित आदर करना गृहस्थ का धर्म है।

गेहागयाणमुचिअं, वसणावड्ढिआण तह समुद्धरणं।

दुहिआण दया एसो, सव्वेसिं संमओ धम्मो ॥४४॥

अर्थ: अतिथि (घर आया हुआ) के साथ उचित आचरण करना, अर्थात् जिसकी जैसी योग्यता हो उसके अनुसार उसके साथ मधुरभाषण करना, उसको बैठने के लिए आसन देना, अशनादिक के लिए निमन्त्रण करना, किस कारण से आगमन हुआ? सो पूछना, तथा उनका कार्य करना इत्यादि उचित आचरण है। तथा संकट में पड़े हुए लोगों को उसमें से निकालना और दान, अनाथ, अंधे, बहरे, रोगी आदि लोगों पर दया करना तथा अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें दुःख में से निकालना। यह धर्म सर्वदर्शनीयों को सम्मत है। यहां श्रावकों को ये लौकिक उचित आचरण करने को कहा, इसका यह कारण है कि जो मनुष्य उपरोक्त लौकिक उचित आचरण करने में भी कुशल नहीं वे लोकोत्तर पुरुष प्ररूपित सूक्ष्म बुद्धि से ग्रहण हो सके ऐसे जैनधर्म में किस प्रकार कुशल हो सकते हैं? इसलिए धर्मार्थी लोगों को उचित आचरण करने में अवश्य निपुण होना चाहिए। और भी कहा है कि- सव्वत्थ उच्चिअकरणं, गुणाणुराओ रई अ जिणवयणे।

अगुणोसु अ मज्झत्थं, सम्मदिडिस्स लिंगाई ॥४५॥

सब जगह उचित आचरण करना, गुण के ऊपर अनुराग रखना, दोष में मध्यस्थपन रखना तथा जिनवचन में रुचि रखना, ये सम्यग्दृष्टि के लक्षण हैं। समुद्र अपनी मर्यादा नहीं छोड़ते, पर्वत चलायमान नहीं होते, उसी तरह उत्तमपुरुष किसी समय भी उचित आचरण नहीं छोड़ते। इसीलिए जगद्गुरु तीर्थंकर भी गृहस्थावस्था में माता-पिता के सम्बन्ध में अभ्युत्थान (बड़े पुरुषों के आने पर आदर से खड़ा रहना) आदि करते हैं। इत्यादि नौ प्रकार का उचित आचरण है।

अवसर पर कहे हुए उचित वचन से बहुत गुण होता है। जैसे अंबड मंत्री ने मल्लिकार्जुन को जीतकर चौदह करोड़ मूल्य के मोतियों से भरे हुए छः मूड़े (माप का पात्रविशेष), चौदह-चौदह भार वजन धन से भरे हुए बत्तीस कुंभ, शृंगार के एक करोड़ रत्न जड़ित वस्त्र तथा विषनाशक शक्ति (सीप) आदि वस्तुएं कुमारपाल के भंडार में भरी। जिससे उस कुमारपाल ने प्रसन्न हो अंबड मंत्री को 'राजपितामह' पदवी, एक करोड़ द्रव्य, चौबीस उत्तम अश्व इत्यादि ऋद्धि प्रदान की। तब मंत्री ने अपने घर तक पहुंचने के पूर्व ही मार्ग में याचकजनों को वह सम्पूर्ण ऋद्धि बांट दी। इस बात की किसीने जाकर राजा के पास चुगली खाई। तो मन में निकृष्ट अध्यवसाय आने से कुमारपाल राजा ने क्रोध से अंबड मंत्री को कहा कि, 'क्या तू मेरे से भी अधिक दान देता है?' उसने उत्तर दिया—'महाराज! आपके पिता दस गांवों के स्वामी थे, और आप तो अठारह देश के स्वामी हो, इसमें क्या आपकी ओर से पिताजी की अविनय हुई मानी जा सकती है?' इत्यादि उचित वचनों से राजा ने प्रसन्न हो उसे 'राज्यपुत्र' की पदवी व पूर्वकी अपेक्षा दुगुनी ऋद्धि दी। हमने भी ग्रंथान्तर में कहा है कि, दान देते, गमन करते, सोते, बैठते, भोजन पान करते, बोलते तथा अन्य समस्त स्थानों में उचित वचन का बड़ा रसमय अवसर होता है। इसलिए अवसर के ज्ञाता पुरुष सब जगह उचित आचरण करते हैं। कहा है कि—

औचित्यमेकमेकत्र, गुणानां कोटिरैकतः।

विषायते गुणग्राम, औचित्यपरिवर्जितः ॥१॥

एक तरफ तो एक उचित आचरण और दूसरी ओर अन्य करोड़ों गुण हैं। एक उचित आचरण न हो तो शेष सर्वगुणों का समूह विष के समान है। इसलिए पुरुष को समस्त अनुचित आचरणों को त्याग देना चाहिए। इसी प्रकार जिन आचरणों से अपनी मूर्ख में गिनती होती है, उन सब का अनुचित आचरणों में समावेश होता है। उन सबका लौकिक शास्त्र में वर्णन किया है, तदनुसार उपकार का कारण होने से यहाँ भी लिखते हैं—

'राजा! सो मूर्ख कौन से? सो सुन, और उन मूर्खता के कारणों को त्याग। ऐसा करने से तू इस जगत् में निर्दोष रत्न की तरह शोभा पायेगा।

१ सामर्थ्य होने पर भी उद्यम न करे, २ पंडितों की सभा में अपनी प्रशंसा करे, ३ वेश्या के वचन पर विश्वास रखे, ४ दंभ तथा आंडबर का भरोसा करे, ५ जूआ, कीमिया आदि से धन प्राप्त करने की आशा रखे, ६ खेती आदि लाभ के साधनों से लाभ होगा कि नहीं? ऐसी शंका करे, ७ बुद्धि न होने पर भी उच्च कार्य करने को उद्यत हो, ८ वणिक् होकर एकान्तवास की रुचि रखे, ९ कर्ज करके घरबार आदि खरीदे, १० वृद्धावस्था में कन्या से विवाह करे, ११ गुरु के पास अनिश्चितग्रंथ की व्याख्या करे, १२ प्रकट बात को छिपाने का प्रयत्न करे, १३ चंचल स्त्री का पति होकर ईर्ष्या रखे, १४ प्रबल शत्रु के होते हुए मन में उसकी शंका न रखे, १५ धन देने के पश्चात् पश्चात्ताप करे,

१६ अपद होते हुए उच्चस्वर से कविता बोले, १७ बिना अवसर बोलने को चतुरता बतावे, १८ बोलने के समय पर मौन धारण करे, १९ लाभ के अवसर पर कलह-क्लेश करे, २० भोजन के समय क्रोध करे, २१ विशेष लाभ की आशा से धन फैलावे, २२ साधारण बोलने में क्लिष्ट संस्कृत शब्दों का उपयोग करे, २३ पुत्र के हाथ में सर्व धन देकर आप दीन हो जावे, २४ स्त्रीपक्ष के लोगों के पास याचना करे, २५ स्त्री के साथ खेद होने से दूसरी स्त्री से विवाह करे, २६ पुत्र पर क्रोधित हो उसकी हानि करे, २७ कामी पुरुषों के साथ स्पर्धा करके धन उड़ाएँ, २८ याचकों की की हुई स्तुति से मन में अहंकार लावे, २९ अपनी बुद्धि के अहंकार से दूसरों के हितवचन न सुने, ३० 'हमारा श्रेष्ठ कुल है' इस अभिमान से किसीकी चाकरी न करे, ३१ दुर्लभ द्रव्य देकर कामभोग करे, ३२ पैसा देकर कुमार्ग में जावे, ३३ लोभीराजा से लाभ की आशा करे, ३४ दुष्ट अधिकारी से न्याय की आशा करे, ३५ कायस्थ से स्नेह की आशा रखे, ३६ मंत्री के क्रूर होते हुए भय न रखे, ३७ कृतघ्न से प्रत्युपकार की आशा रखे, ३८ अरसिक मनुष्य के संमुख अपने गुण प्रकट करे, ३९ शरीर निरोगी होते हुए भी भ्रम से औषधी ले, ४० रोगी होते हुए पथ्य से न रहे, ४१ लोभ वश स्वजनों को छोड़ दे, ४२ जिससे मित्र के मन में से राग उतर जाय ऐसे वचन बोले, ४३ लाभ के अवसर पर प्रमाद करे, ४४ ऋद्धिशाली होते हुए कलह-क्लेश करे, ४५ जोशी के वचन पर भरोसा रखकर राज्य की इच्छा करे, ४६ मूर्ख के साथ सलाह करने में आदर रखे, ४७ दुर्बलों को सताने में शूरवीरता प्रकट करे, ४८ जिसके दोष स्पष्ट दिखते हैं ऐसी स्त्री पर प्रीति रखे, ४९ गुण का अभ्यास करने में अत्यन्त ही अल्प रुचि रखे, ५० दूसरे का संचित किया हुआ द्रव्य उड़ायेँ, ५१ मान रखकर राजा के समान डौल बताये, ५२ लोक में राजादिक की प्रकट निंदा करे, ५३ दुःख पड़ने पर दीनता प्रकट करे, ५४ सुख आने पर भविष्य में होनेवाली दुर्गति को भूल जाय, ५५ किंचित् रक्षा के हेतु अधिक व्यय करे, ५६ परीक्षा के हेतु विष खा ले, ५७ किमिया करने में धन स्वाहा करे, ५८ क्षय रोगी होते हुए रसायन खाये, ५९ अपने आपके बड़प्पन का अहंकार रखे, ६० क्रोधवश आत्मघात करने को तैयार हो जाय, ६१ निरंतर अकारण इधर-उधर भटकता रहे, ६२ बाण प्रहार होने पर भी युद्ध देखे, ६३ बड़ों के साथ विरोध करके हानि सहे, ६४ धन थोड़ा होने पर भी विशेष आडंबर रखे, ६५ अपने आपको पंडित समझकर व्यर्थ बक-बक करे, ६६ अपने आपको शूरवीर समझकर किसीका भय न रखे, ६७ विशेष प्रशंसा (मिथ्या श्लाघा) कर किसी मनुष्य को त्रास उत्पन्न करे, ६८ हंसी में मर्मवचन बोले, ६९ दरिद्री के हाथ में अपना धन सोंपे, ७० लाभ का निश्चय न हो तो भी खर्च करे, ७१ अपना हिसाब रखने का प्रमाद करे, ७२ भाग्य पर भरोसा रखकर उद्यम न करे, ७३ दरिद्री होकर व्यर्थ बातें करने में समय खोवे, ७४ व्यसनसक्त होकर भोजन करना तक भूल जाय, ७५ आप निर्गुणी होकर अपने कुल की प्रशंसा करे, ७६ स्वर कठोर होते हुए गीत गावे, ७७ स्त्री के भय से याचक को दान न दे, ७८ कृपणता करने से दुर्गति पावे, ७९ जिसके दोष स्पष्ट दिखते हैं

उसकी प्रशंसा करे, ८० सभा का कार्य पूर्ण न होने पर भी मध्य में उठ जाये, ८१ दूत होकर संदेशा भूल जाये, ८२ खांसी का रोग होते हुए चोरी करने जाये, ८३ यश की इच्छा से भोजन का खर्च विशेष रखे, ८४ लोक-प्रशंसा की आशा से अल्प आहार करे, ८५ जो वस्तु थोड़ी हो, वह अधिक खाने की इच्छा रखे, ८६ कपटी व मधुरभाषी लोगों के पाश में फंस जाये, ८७ वेश्या के प्रेमी के साथ कलह करे, ८८ दो जनें कुछ सलाह करते हों वहां जाये, ८९ अपने ऊपर राजा की सदा ही कृपा बनी रहेगी ऐसा विश्वास रखे, ९० अन्याय से सुदशा में आने की इच्छा करे, ९१ निर्धन होते हुए धन से होनेवाले काम करने जावे, ९२ गुप्त बात लोक में प्रकट करे, ९३ यश के निमित्त अपरिचित व्यक्ति की जमानत दे, ९४ हितवचन कहनेवाले के साथ वैर करे, ९५ सब जगह विश्वास रखे, ९६ लोकव्यवहार न जाने, ९७ याचक होकर गरम भोजन करने की आदत रखे, ९८ मुनिराज होकर क्रिया पालने में शिथिलता रखे, ९९ कुकर्म करते शरमावे नहीं, १०० भाषण करते अधिक हंसे उसे मूर्ख जानना। इस प्रकार शत मूर्ख हैं।

इसी प्रकार जिस कार्य से अपना अपयश हो वह सब त्याग देना चाहिए। विवेकविलास आदि ग्रंथ में कहा है कि—विवेकीपुरुष को सभा में बगासी (जंभाई), हिचकी, डकार, हास्य आदि करना पड़े तो मुंह ढांककर करना तथा सभा में नाक नहीं खुतरना, हाथ नहीं मरोड़ना, पलांठी नहीं लगाना, पग लम्बे नहीं करना व निन्दा विकथा आदि बुरी चेष्टा नहीं करना। अवसर पर कुलीन पुरुष केवल मुस्कराकर हंसी प्रकट करते हैं, खड़खड़ हंसना अथवा अधिक हंसना सर्वथा अनुचित है। बगल बजाना आदि अंगवाद्य बजाना, निष्प्रयोजन तृण के टुकड़े करना, हाथ अथवा पैर से भूमि खोदना, नख से नख अथवा दांत घिसना आदि चेष्टाएं अनुचित हैं। विवेकीपुरुषों को भाट, चारण, ब्राह्मण आदि द्वारा की हुई अपनी प्रशंसा सुनकर अहंकार न करना चाहिए। तथा ज्ञानी पुरुष प्रशंसा करे तो उससे मात्र यह निश्चय करना कि अपने में अमुक गुण हैं, किन्तु अहंकार न करना। दूसरे के वचनों का अभिप्राय बराबर ध्यान में लेना तथा नीच मनुष्य अयोग्य वचन बोले तो उसका प्रतिवाद करने के लिए वैसे ही वचन अपने मुख में से कदापि नहीं निकालना। जो बात अतीत, अनागत तथा वर्तमान काल में भरोसा रखने के योग्य न हो, उसमें अपना स्पष्ट अभिप्राय प्रकट नहीं करना। किसी मनुष्य के द्वारा कोई कार्य कराना निश्चित किया हो तो उक्त कार्य उस मनुष्य के संमुख प्रथम से ही किसी दृष्टान्त अथवा विशेष प्रस्तावना द्वारा प्रकट करना। किसीका वचन अपने निश्चित कार्य के अनुकूल हो तो कार्यसिद्धि के अर्थ उसे अवश्य मानना। जिसका कार्य अपने द्वारा न बन सकता हो उसे प्रथम से ही स्पष्ट कह देना; मिथ्या वचन कहकर व्यर्थ किसीको भटकाना न चाहिए। चतुर मनुष्यों को किसीको कटुवचन न सुनाना। यदि अपने शत्रुओं को ऐसे वचन कहना पड़े तो अन्योक्ति से अथवा अन्य किसी बहाने से कहना। जो पुरुष माता, पिता, रोगी, आचार्य, पाहुना, भाई, तपस्वी, वृद्ध, बालक, दुर्बल, वैद्य, अपनी संतति, भाईबन्धु, सेवक, बहिन,

आश्रित लोग, सगे-संबंधी और मित्र के साथ कलह नहीं करता है वह तीनों लोक को वश में करता है। लगातार सूर्य की ओर नहीं देखना, इसी तरह चन्द्रसूर्य का ग्रहण, बड़े कुए का पानी और संध्या के समय आकाश न देखना। स्त्रीपुरुष की क्रीड़ा, मृगया, नग्नयुवती, जानवरों की क्रीड़ा तथा कन्या की योनि नहीं देखना चाहिए। विद्वानपुरुषों को चाहिए कि अपने मुंह की परछाई तैल में, जल में, हथियार में, मूत्र में अथवा रक्त में न देखें; कारण कि इससे आयु घटती है। स्वीकार किये हुए वचन का भंग, गयी हुई वस्तु का शोक, तथा किसीकी निद्रा का भंग कभी भी न करना। किसीके साथ वैर न करते बहुमत में अपना मत देना। स्वाद रहित कार्य हो तो भी समुदाय के साथ करना चाहिए। समस्त शुभ कार्यों में मुख्य होना। यदि मनुष्य कपट से भी निःस्पृहता बतावे तो भी उससे फल पैदा होता है। किसीको हानि पहुंचाने से बने ऐसा कार्य कभी भी करने को उत्सुक न होना। सुपात्र मनुष्यों से कभी डाह (ईर्ष्या) नहीं करना। अपनी जाति पर आये हुए संकट की उपेक्षा न करना, बल्कि आदरपूर्वक जाति का संप हो वैयास कार्य करना। क्योंकि ऐसा न करने से मान्य पुरुषों की मानखंडना व अपयश होता है। अपनी जाति को छोड़कर अन्य जाति में आसक्त होनेवाले मनुष्य कुकर्दम राजा की तरह मरणान्त कष्ट पाते हैं। परस्पर के कलह से प्रायः ज्ञातियों का नाश होता है, और यदि संप से रहें तो जल में कमलिनी की तरह वृद्धि पाते हैं। मित्र, साधर्म्य, जाति का अगुआ, गुणी तथा अपनी पुत्रहीन बहन इतने मनुष्यों को दैववश दरिद्रता आ जाने पर अवश्य पोषण करना चाहिए। जिसको बडप्पन पसंद हो, उसको सारथी का कार्य, दूसरे की वस्तु का क्रय-विक्रय तथा अपने कुल के अयोग्य कार्य करने को उद्यत न होना चाहिए।

महाभारत आदि ग्रंथों में भी कहा है कि—मनुष्य को ब्राह्ममुहूर्त में उठना और धर्म तथा अर्थ का विचार करना। उदय होते हुए तथा अस्त होते हुए सूर्य को न देखना। मनुष्य को दिन में उत्तरदिशा में, रात्रि में दक्षिणदिशा में और कोई आपत्ति हो तो किसी भी दिशा में मुख करके मलमूत्र का त्याग करना। आचमन करके देवपूजा आदि करना, गुरु को वन्दना करना, इसी प्रकार भोजन करना। हे राजा! ज्ञानीपुरुष ने धन संपादन करने के लिए अवश्य ही यत्न करना चाहिए। कारण कि धन होने से ही धर्म, काम आदि होते हैं। जितना धन लाभ हो उसका चतुर्थ भाग धर्मकृत्य में, चतुर्थ भाग संग्रह में और शेष दो चतुर्थ भाग अपने पोषण व नित्य नैमित्तिक क्रियाओं में लगाना चाहिए। बाल समारना, दर्पण में मुख देखना तथा दांतन और देवपूजा करना इत्यादि कार्य दुपहर के प्रथम प्रहर में ही कर लेना चाहिए। अपना हित चाहनेवाले मनुष्य को सदैव घर से दूर जाकर मलमूत्र त्याग करना, पैर धोना तथा झूठन डालना।

जो मनुष्य मिट्टी के बेले तोड़ता है, तृण के टुकड़े करता है, दांत से नख उतारता है तथा मलमूत्र करने के अनन्तर शुद्धि नहीं करता है वह इस लोक में अधिक आयु नहीं पा सकता। टूटे हुए आसन पर नहीं बैठना, टूटा हुआ कांसी का पात्र उपयोग में न

लेना, बाल बिखरे हुए रखकर भोजन नहीं करना, नग्न होकर नहीं नहाना, नग्न होकर नहीं सोना, अधिक समय तक हाथ आदि झूठे न रखना, मस्तक के आश्रय में सर्व प्राण रहता है अतएव मस्तक को झूठे हाथ नहीं लगाना, मस्तक के बाल नहीं पकड़ना तथा प्रहार भी नहीं करना। पुत्र अथवा शिष्य के अतिरिक्त शिक्षा के हेतु किसीको ताड़ना नहीं करना, दोनों हाथों से मस्तक कभी न खुजाना। अकारण बार-बार सिर न धोना। [ग्रहण के सिवाय रात्रि में नहाना अच्छा नहीं।] इसी प्रकार भोजन के अनंतर तथा गहरे पानी में भी नहीं नहाना। गुरु का दोष न कहना, क्रोधित होने पर गुरु को प्रसन्न करना। तथा गुरु निन्दा श्रवण नहीं करना। हे भारत! गुरु, सती स्त्रियाँ, धर्मी पुरुष तथा तपस्वियों की हंसी में भी निन्दा न करनी चाहिए। किसीकी वस्तु न चुराना, किंचित्मात्र भी कटुवचन नहीं बोलना, मधुर वचन भी मिथ्या न बोलना, परदोष न कहना, महापाप से पतित लोगों के साथ वार्तालाप न करना, एक आसन पर न बैठना, उनके हाथ का अन्न ग्रहण नहीं करना तथा उनके साथ कोई भी कार्य नहीं करना।

चतुर मनुष्य को लोक में निन्दा पाये हुए पतित, उन्मत्त, बहुत से लोगों के साथ बैर करनेवाले और मूर्ख के साथ मित्रता नहीं करनी तथा अकेले मार्ग प्रवास न करना, हे राजन्! भयंकर रथ में न बैठना, किनारे पर आयी हुई छाया में न बैठना तथा आगे होकर जल के वेग के संमुख न जाना। जलते हुए घर में प्रवेश न करना, पर्वत की चोटी पर न चढ़ना, मुख दाँके बिना जंभाई, खांसी तथा श्वास न लेना। चलते समय ऊंची, इधर-उधर तथा दूर दृष्टि न रखना, पैर के आगे चार हाथ के बराबर भूमि पर दृष्टि रखकर चलना। अधिक न हंसना, सीटी आदि न बजाना, बोलते हुए वातनिसर्ग न करना, दाँत से नख न तोड़ना तथा पैर पर पैर चढ़ाकर न बैठना, दाढ़ी मूँछ के बाल न चबाना, बार-बार होंठ दाँत में न पकड़ना, झूठा अन्नादि भक्षण न करना तथा किसी भी स्थान में चोर मार्ग से प्रवेश न करना। उन्हाले तथा चौमासे की ऋतु में छत्री लेकर तथा रात्रि में अथवा वन में जाना हो तो लकड़ी लेकर जाना। जूते, वस्त्र और माला ये तीनों वस्तुएँ किसीकी पहिनी हुई हों तो धारण नहीं करना। स्त्रियों में ईर्ष्या नहीं करना तथा अपनी स्त्री का यत्नपूर्वक रक्षण करना, ईर्ष्या रखने से आयुष्य घटता है, अतएव इसका त्याग करना। हे महाराज! संध्या में जल का व्यवहार, दही और सत्तू जैसे ही रात्रि में भोजन का त्याग करना, चतुर मनुष्य को अधिक देर तक घुटने ऊंचे करके नहीं सोना, शौद्धिका (उंकड़ू) आसन से नहीं बैठना तथा पग से आसन खँचकर भी न बैठना।

बिलकुल प्रातःकाल में, बिलकुल संध्या के समय, ठीक मध्याह्न में, अकस्मात् से अथवा अजान मनुष्य के संग में कहीं भी गमन न करना। हे महाराज! बुद्धिशाली

१. यह कथन महाभारत ग्रंथ का है, जो लौकिक है, ग्रहण के लिए रात को स्नान की बात कही इससे यह न माने की रात को स्नान करने का विधान है। विशेष में वर्तमान में रात को स्नानकर पूजा करनेवाले भी सोचें।

पुरुषों को मलीन दर्पण में अपना मुंह आदि न देखना तथा दीर्घायु के इच्छुक मनुष्य को रात्रि में भी अपना मुख दर्पण में नहीं देखना चाहिए। हे राजन्! पंडितपुरुष को एक कमल (सूर्यविकासी कमल) और कुवलय (स्तंभ कमल) छोड़कर लालमाला धारण नहीं करना, बल्कि सफेद धारण करना। हे राजन्! सोते, देवपूजा करते तथा सभा में जाते पहनने के वस्त्र भिन्न-भिन्न रखना। बोलने की तथा हाथ पग की चपलता, अतिशय भोजन, शय्या के ऊपर दीपक तथा अधमपुरुष और खम्भे की छाया इतनी वस्तुओं से अवश्य दूर रहना। नाक खुतरना नहीं, स्वयं अपने जूते नहीं उठाना, सिर पर बोझ नहीं उठाना, पानी बरसते समय न दौड़ना, पात्र के टूटने से प्रायः कलह होता है, और खाट टूटे तो वाहन का क्षय होता है। जहां श्वान और कुक्कुट (मुर्गा) बसता हो वहां पितृ अपना पिंड ग्रहण नहीं करते।

गृहस्थ ने तैयार किये हुए अन्न से प्रथम सुवासिनी स्त्री, गर्भिणी, वृद्ध, बालक, रोगी इनको भोजन कराना, तत्पश्चात् अपने को अन्न ग्रहण करना। हे पाण्डवश्रेष्ठ! गाय, बैल आदि को घर में बन्धन में रख तथा देखनेवाले मनुष्यों को कुछ भी भाग न देकर स्वयं जो मनुष्य अकेला भोजन करता है वह केवल पाप ही भक्षण करता है। गृह की वृद्धि के इच्छुक गृहस्थ को अपनी जाति के वृद्ध मनुष्य और अपने दरिद्री हुए मित्र को अपने घर में रखना। स्वार्थ साधन के हेतु सदैव अपमान को आगे तथा मान को पीछे रखना, कारण कि स्वार्थ से भ्रष्ट होना मूर्खता है। थोड़े से लाभ के लिए विशेष हानि न सहना। थोड़ा खर्च करके अधिक बचाना इसी में चतुराई है। लेना, देना तथा अन्य कर्तव्य कर्म उचित समय पर जो शीघ्र न किये जाय तो उनके अन्दर रहा हुआ रस काल चूस लेता है। जहां जाने पर आदर सत्कार नहीं मिलता, मधुर वार्तालाप नहीं होता, गुणदोष की भी बात नहीं होती, उसके घर कभी गमन नहीं करना। हे अर्जुन! बिना बुलाये घर में प्रवेश करे, बिना पूछे बहुत बोले, तथा बिना दिये आसन पर आप ही बैठ जाये वह मनुष्य अधम है।

शरीर में शक्ति न हो और क्रोध करे, निर्धन हो और मान की इच्छा करे, और स्वयं निर्गुणी हो और गुणी पुरुष से द्वेष करे, ये तीनों व्यक्ति जगत् में काष्ठ के तुल्य हैं। माता-पिता का पोषण न करनेवाला, क्रिया के उद्देश्य से याचना करनेवाला और मृतपुरुष का शय्यादान लेनेवाला इन तीनों को पुनः मनुष्य-भव दुर्लभ है। अक्षयलक्ष्मी के इच्छुक मनुष्य को बलिष्ठ पुरुष के सपाटे में आते समय बेत के समान नम्र हो जाना चाहिए, सर्प की तरह कभी सामना नहीं करना। बेत की तरह नम्र रहनेवाला मनुष्य समय पाकर पुनः लक्ष्मी पाता है, परन्तु सर्प की तरह सामना करनेवाला मनुष्य केवल मृत्यु पात्र हो सकता है, बुद्धिशाली मनुष्यों को समय पर कछुवे की तरह अंगोपांग संकुचितकर ताड़ना सहन करना व अपना समय आने पर काले सर्प की तरह सामना करना चाहिए। ऐक्यता से रहनेवाले लोग चाहे कितने ही तुच्छ हों परन्तु उनको बलिष्ठ लोग सता नहीं सकते; देखो, सामने का पवन होवे तो भी वह एक जत्थे में रही हुई

लताओं को तनिक भी बाधा नहीं पहुंचा सकता। विद्वान् लोग शत्रु को प्रथम बढ़ाकर पश्चात् उसका समूल नाश करते हैं। कारण कि प्रथम गुड़ खाकर अच्छी तरह बढ़ाया हुआ कफ सुख से बाहर निकाला जा सकता है। जैसे समुद्र बड़वानल को नियमित जल देता है, वैसे ही बुद्धिशाली पुरुष सर्वस्व हरण करने को समर्थ शत्रु को अल्प-अल्प दान देकर प्रसन्न करते हैं। लोग पैर में घुसे हुए कांटे को जैसे हाथ में के कांटे से निकाल डालते हैं, वैसे ही चतुरपुरुष एक तीक्ष्ण शत्रु से दूसरे तीक्ष्ण शत्रु को जीत सकता है। जैसे अष्टापद पक्षी मेघ का शब्द सुन उसकी तरफ उछल-उछलकर अपना शरीर तोड़ डालता है, उस तरह अपनी तथा शत्रु की शक्ति का विचार न करते जो शत्रु पर धावा करता है, वह नष्ट हो जाता है। जैसे कौवीने सुवर्णसूत्र से कृष्ण सर्प को नीचे गिराया, उसी तरह चतुरमनुष्य को जो कार्य पराक्रम से न हो सके उसे युक्ति से करना।

नख तथा सींगवाले जानवर, नदी, शस्त्रधारी पुरुष, स्त्री और राजा इनका कभी भी विश्वास न करना। सिंह से एक, बगुले से एक, मुर्गे से चार, कौए से पांच, श्वान से छः और गधे से तीन शिक्षा लेना चाहिए। सिंह जैसे सर्व शक्ति से एक छलांग मारकर अपना कार्य का साधन करता है, उसी प्रकार चतुरपुरुष को थोड़ा अथवा अधिक जो कार्य करना हो, उसे सर्व शक्ति से करना। बगुले की तरह कार्य का विचार करना, सिंह की तरह पराक्रम करना, भेड़िये की तरह छपा मारना और खरगोश की तरह भाग जाना चाहिए। १ सर्व प्रथम उठना, २ लड़ना, ३ बंधुवर्ग में खाने की वस्तुएं वितरण करना, ४ स्त्री को प्रथम वश में कर पश्चात् भोगना। ये चार शिक्षाएं मुर्गे से लेना, १ एकान्त में रतिक्रीड़ा करनी, २ समय पर ढिठाई रखना, ३ अवसर आने पर घर बांधना, ४ प्रमाद न करना और ५ किसी पर विश्वास न रखना ये पांच शिक्षाएं कौए से लेना। १ स्वेच्छानुसार भोजन करना, २ समय पर अल्प मात्र में संतोष रखना, ३ सुखपूर्वक निद्रा लेना, ४ सहज में जागृत होना, ५ स्वामि पर भक्ति रखना और ६ शूरवीर रहना। ये छः शिक्षाएं कुत्ते से लेना। १ उठाय़ा हुआ बोझा ले जाना, २ शीत तथा ताप की परवाह न रखना, और ३ सदा संतुष्ट रहना, ये तीन शिक्षाएं गधे के पास से लेना।' इत्यादि।

नीतिशास्त्र आदि में कहे हुए समस्त उचित आचरणों का सुश्रावक को सम्यग् रीति से विचार करना। कहा है कि—जो मनुष्य हित-अहित, उचित-अनुचित, वस्तु-अवस्तु को स्वयं जान नहीं सकता वह मानो बिना सींग के पशुरूप से संसाररूपी वन में भटकता है। जो मनुष्य बोलने में, देखने में, हंसने में, खेलने में, प्रेरणा करने में, रहने में, परीक्षा करने में, व्यवहार करने में, शोभने में, धनोपार्जन करने में, दान देने में, हालचाल करने में, पढ़ने में, हर्षित होने में और वृद्धि पाने में कुछ नहीं समझता, वह निर्लज्जशिरोमणि संसार में किसलिए जीवित रहता होगा? जो मनुष्य अपने और दूसरे के स्थान में बैठना, सोना, भोगना, पहनना, बोलना आदि यथारिती से जानता है, वह श्रेष्ठ विद्वान् है। अस्तु।

व्यवहार-शुद्धि आदि तीनों शुद्धि से धनोपार्जन करने पर इस प्रकार दृष्टान्त है-

धनमित्र की कथा :

विनयपुर नगर में धनवान ऐसा वसुभद्रा का 'धनमित्र' नामक पुत्र था। वह बाल्यावस्था में माता-पिता की मृत्यु हो जाने से अत्यन्त दुःखी तथा धनहानि होने से अत्यन्त दरिद्री हो गया। तरुण हो गया तथापि उसे कन्या न मिली। तब लज्जित होकर वह धनोपार्जन करने गया। भूमि में गड़ा हुआ धन निकालने के उपाय, जादुगरी, सिद्धरस, मंत्र, जल की तथा स्थल की मुसाफिरी, तरह-तरह के व्यापार, राजादिक की सेवा इत्यादि अनेक उपाय किये तो भी उसे धन प्राप्ति न हुई जिससे अतिशय उद्विग्न हो उसने गजपुरनगर में केवली भगवान् को अपना पूर्व भव पूछा। उन्होंने कहा, 'विजयपुर नगर में एक अत्यन्त कृपण गंगदत्त नामक गृहपति रहता था। वह बड़ा मत्सरी था तथा किसीको दान मिलता अथवा किसीको लाभ होता तो उसमें भी अंतराय करता था। एक समय सुन्दर नामक श्रावक उसे मुनिराज के पास ले गया। उसने कुछ भाव से तथा कुछ दाक्षिण्यता से प्रतिदिन चैत्यवन्दन पूजा आदि धर्मकृत्य करना स्वीकार किया। कृपण होने के कारण पूजा आदि करने में वह प्रमाद करता था, परन्तु चैत्यवन्दन करने के अभिग्रह का उसने बराबर पालन किया। उस पुण्य से हे धनमित्र! तू धनवान् वणिक का पुत्र हुआ और हमको मिला। तथा पूर्वभव में किये हुए पाप से महादरिद्री और दुःखी हुआ। जिस जिस रीति से कर्म किये जाते हैं, वही उनकी अपेक्षा सहस्रगुणा भोगना पड़ता है, यह विचार कर उचित आचरण से रहना चाहिए।'

केवली के ऐसे वचनों से प्रतिबोध पाये हुए धनमित्र ने श्रावकधर्म स्वीकार किया तथा रात्रि और दिन के प्रथम प्रहर में धर्माचरण का अभिग्रह ग्रहण किया। पश्चात् वह एक श्रावक के घर ठहरा। प्रभातकाल में माली के साथ बाग से पुष्प एकत्रित करके वह घर देरासर में भगवान की परमभक्ति से पूजा करने लगा, तथा दूसरे, तीसरे आदि प्रहर में देशविरुद्ध, राजविरुद्ध आदि को छोड़ व्यवहार शुद्धि तथा उचित आचरण से शास्त्रोक्त रीति के अनुसार व्यापार करने लगा, जिससे उसको सुखपूर्वक निर्वाह के योग्य द्रव्य मिलने लगा और ज्यों-ज्यों उसकी धर्म में स्थिरता हुई त्यों-त्यों उसको अधिकाधिक धन मिलने लगा और धर्मकरणी में व्यय भी अधिक होने लगा। क्रमशः वह अलग घर में रहने लगा तथा एक श्रेष्ठी की कन्या से विवाह भी कर लिया। एक समय गायों का समूह जंगल में जाने को निकला तब वह गुड़, तैल आदि बेचने गया। गायों का गोवाल अंगारे समझकर एक सुवर्ण का थंडार फेंक रहा था। उसे देख धनमित्र ने कहा—'इस सुवर्ण को क्यों फेंक रहे हो?' ग्वाले ने उत्तर दिया कि, 'पूर्व में भी हमारे पिताजी ने 'यह स्वर्ण है' ऐसा कहकर हमको ठगा, अब तू भी हमको ठगने आया है' धनमित्र ने कहा—'मैं असत्य नहीं कहता।' उसने कहा, 'ऐसा हो तो हमको गुड़ आदि वस्तु देकर यह सुवर्ण आदि तू ही ले जा।' धनमित्र ने वैसा ही किया। जिससे उसे तीस हजार सुवर्ण मुद्राएं मिलीं तथा अन्य भी उसने बहुतसा धन कमाया जिससे वह धनवान् श्रेष्ठी हो गया। धर्म का महात्म्य इसी भव में

कितना स्पष्ट दिखने में आता है? एक दिन कर्मवश धनमित्र अकेला सुमित्रश्रेष्ठि के घर गया। सुमित्रश्रेष्ठी करोड़ मूल्य का एक रत्न का हार बाहर रखकर कार्यवश घर में गया व शीघ्र ही वापस आया। इतने ही में रत्न का हार अदृश्य हो गया। सुमित्र यह समझकर कि, 'यहां धनमित्र के बिना और कोई नहीं था अतएव इसीने हार लिया है।' 'उसे राजसभा में ले गया। धनमित्र जिनप्रतिमा के अधिष्ठायक समकित्ती देवता का काउस्सग कर प्रतिज्ञा करने लगा। इतने में ही सुमित्र की कटीही(कमर) में से वह रत्न का हार निकला। जिससे सब लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। इस विषय में ज्ञानी को पूछने पर उन्होंने कहा कि, 'गंगदत्त नाम का गृहपति और मगधा नामक उसकी भार्या थी। गंगदत्त ने अपने श्रेष्ठी की स्त्री का एक लक्ष्य मूल्यवाला रत्न गुप्तरीति से ग्रहण किया। श्रेष्ठी की स्त्री ने कई बार मांगा परन्तु अपनी स्त्री में मोह होने से गंगदत्त ने उस पर 'तेरे संबंधियों ने उक्त रत्न चुराया है।' यह कहकर झूठा आरोप लगाया। जिससे श्रेष्ठी की स्त्री बहुत खिन्न होकर तपस्विनी हो गयी और मरकर व्यंतर हुई। मगधा मस्कर सुमित्र हुआ और गंगदत्त मरकर धनमित्र हुआ। उस व्यंतर ने क्रोध से सुमित्र के आठ पुत्रों को मार डाला व अभी रत्न हार हरण किया। आगे भी सर्वस्व हरण करेगा व बहुत से भव तक वैर का बदला देगा। अरेरे! वैर का परिणाम कैसा अपार व असह्य है? आरोप लगाने से धनमित्र के सिरपर आरोप आया। धनमित्र के पुण्य से आकर्षित हो सम्यग्दृष्टि देवता ने व्यंतर से बलात्कार पूर्वक वह हार छुड़ाया।' ज्ञानी के ये वचन सुनकर संवेग पाये हुए राजा तथा धनमित्र ने राजपुत्र को गादी पर बिठा दीक्षा ले सिद्धि प्राप्त की... इत्यादि।

मध्याह्न का कर्तव्य

मूलगाथा - ८

मज्झणहे जिणपूआ, सुपत्तदाणाइजुत्ति भुजित्ता।

पच्चक्खाइ अ गीअत्थ-अंतिए कुणइ सज्झायं ॥८॥

अर्थ: दुपहर के समय पूर्वोक्त विधि से उत्तम कमोद के चावल इत्यादि से तैयार की हुई सम्पूर्ण रसोई भगवान् के संमुख धर के दूसरी बार पूजाकर, तथा सुपात्र को दान आदि देने की युक्ति न भूलते स्वयं भोजनकर गीतार्थ गुरु के पास जाना और वहां पच्चक्खाण व स्वाध्याय करना। मध्याह्न की पूजा तथा भोजन का काल नियमित नहीं। जब तीव्र क्षुधा लगे वही भोजन का काल समझने की रूढ़ि है। अतएव मध्याह्न के पूर्व भी ग्रहण किया हुआ पच्चक्खाण पालकर, देवपूजा करके भोजन करे तो दोष नहीं। वैद्यशास्त्र में तो ऐसा कहा है कि—

याममध्ये न भोक्तव्यं, यामयुग्मं न लङ्घयेद्।

याममध्ये रसवृद्धि, यामयुग्मं [रसोत्पत्तिर्युग्माधूर्वा] बलक्षयः ॥११॥

प्रहर दिन के पूर्व भोजन नहीं करना तथा भोजन के बिना मध्याह्न का उल्लंघन न होने देना। कारण कि, प्रथम प्रहर में पूर्व के दिन खाये हुए अन्न का रस बनता है, इसलिए नवीन भोजन नहीं करना, और बिना भोजन किये मध्याह्न का उल्लंघन करने से बल क्षय होता है, अतएव दूसरे प्रहर में अवश्य भोजन करना चाहिए। सुपात्र को दान आदि करने की युक्ति इस प्रकार है—

सुपात्र दान कैसे करना? :

श्रावक को भोजन के अवसर पर परमभक्ति से मुनिराज को निमंत्रणाकर अपने घर लाना अथवा श्रावक को स्वेच्छा से आते हुए मुनिराज को देख उनका स्वागतादिक करना। पश्चात् क्षेत्र संवेगी साधुओं से भावित है कि, अभावित है? काल सुभिक्ष है कि दुर्भिक्ष है? देने की वस्तु सुलभ है कि दुर्लभ है? तथा पात्र (मुनिराज) आचार्य है, अथवा उपाध्याय गीतार्थ, तपस्वी, बाल, वृद्ध, रोगी, समर्थ किंवा असमर्थ है? इत्यादि का मन में विचार करना। और स्पर्धा, बड़प्पन, ईर्ष्या, प्रीति, लज्जा, दाक्षिण्य, 'अन्यलोग दान देते हैं अतः मुझे भी उसके अनुसार करना चाहिए' ऐसी इच्छा, प्रत्युपकार की इच्छा, कपट, विलंब, अनादर, कटुभाषण, पश्चात्ताप आदि दान के दोष उत्पन्न न होने देना। तदनन्तर केवल अपने जीव पर अनुग्रह करने की बुद्धि से बयालीस तथा दूसरे दोष रहित, सम्पूर्ण अन्न, पान, वस्त्र आदि वस्तु; अनुक्रम से प्रथम भोजन, पश्चात् अन्य वस्तु इस रीति से स्वयं मुनिराज को देना। अथवा स्वयं अपने हाथ में पात्र आदि धारणकर, पास में खड़े रहकर अपनी स्त्री आदि के पास से दान दिलाना। आहार के बयालीस दोष पिंडविशुद्धि आदि ग्रंथ में देख लेना चाहिए। दान देने के अनन्तर मुनिराज को वन्दनाकर उन्हें कम से कम अपने घर के द्वार तक पहुंचाकर आना। मुनिराज का योग न हो तो 'मेघ बिना वृष्टि के समान जो कहीं से मुनिराज पधारें तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ' ऐसी भावनाकर मुनिराज के आने की दिशा की ओर देखना। कहा है कि—

जं साहूण न दिन्नं, कर्हिपि तं सावया न भुंजन्ति।

पत्ते भोअणसमए, दारस्सालोअणं कुज्जा ॥१॥

जो वस्तु साधु मुनिराज को नहीं दी जा सकती, वह वस्तु किसी भी प्रकार सुश्रावक नहीं खाते। अतएव भोजन के समय पर द्वार के तरफ दृष्टि रखनी चाहिए।

मुनिराज का निर्वाह दूसरी प्रकार से होता हो तो अशुद्ध आहार देनेवाले गृहस्थ तथा लेनेवाले मुनिराज को हितकारी नहीं, परन्तु दुर्भिक्ष आदि होने से जो निर्वाह न होता हो, तो आतुर के दृष्टान्त से वही आहार दोनों को हितकारी है।

पहसंतगिलाणेसुं, आगमगाहीसुं तहय कयलोए।

उत्तरपारणगंमि अ, दिन्नं सुबहुप्फलं होइ ॥१॥

१. इससे श्रावक को साधुओं के आचार का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए यह सिद्ध होता है।

वैसे ही 'मार्गप्रयास से थके हुए, रोगी, लोच किये हुए, आगम दर्शित शुद्ध वस्तु के ग्रहण करनेवाले मुनिराज को और तप के उत्तर पारणे में दान दिया हो, उससे बहुत फल होता है। इस प्रकार श्रावक देश तथा क्षेत्र जानकर प्रासुक तथा एषणीय आहार योगानुसार दे। अशन, पान, स्वादिम, खादिम औषध और भैषज आदि सर्व वस्तुएं प्रासुक व शद्ध हो, वे मुनिराज को दे, मुनिराज को किस प्रकार निमन्त्रणा करना तथा गोचरी किस प्रकार वहोराना इत्यादिक विधि 'श्राद्धप्रतिक्रमण वृत्ति' से समझ लेना चाहिए। यह सुपात्रदान ही अतिथिसंविभागव्रत कहलाता है, कहा है कि—

न्यायोपार्जित तथा कल्पनीय अन्नपान आदि वस्तु का, देश, काल, श्रद्धा, सत्कार और क्रम का पूर्ण ध्यान रखकर, पूर्णभक्ति से अपनी आत्मा पर अनुग्रह करने की बुद्धि से साधुमुनिराज को दान देना, यही अतिथिसंविभाग कहलाता है। सुपात्रदान से दिव्य तथा औदारिक आदि वांछित भोग की प्राप्ति होती है, सर्वसुख की समृद्धि होती है, तथा चक्रवर्ती आदि की पदवी प्रमुख मिलती है और अंत में थोड़े ही समय में निर्वाण सुख का लाभ होता है। कहा है कि—

अभयं सुपत्तदानं, अणुकंपाउच्चिकित्तिदानं च।

दोहिवि मुक्खो भणिओ, तिन्निवि भोगाइअं दिंति ॥१॥

१ अभयदान, २ सुपात्रदान, ३ अनुकंपादान, ४ उचितदान और ५ कीर्तिदान ऐसे दान के पांच प्रकार हैं। जिसमें प्रथम दो प्रकार के दान से भोगसुख पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होती है और अंतिम तीन प्रकार के दान से केवल भोगसुखादिक ही मिलता है। सुपात्र के लक्षण ये हैं—

पात्र के प्रकार :

उत्तमपत्तं साहु, मज्झिमपत्तं च सावया भणिया।

अविरयसम्मदिडी, जहन्नपत्तं मुणेअव्वं ॥१॥

उत्तमपात्र साधु, मध्यमपात्र श्रावक और जघन्यपात्र अविरति सम्यग्दृष्टि।
वैसे ही कहा है कि—

मिथ्यादृष्टिसहस्रेषु, वरमेको ह्यणुव्रती।

अणुव्रतिसहस्रेषु, वरमेको महाव्रती ॥२॥

महाव्रतिसहस्रेषु, वरमेको हि तात्त्विकः।

तात्त्विकस्य समं पात्रं न भूतं न भविष्यति ॥३॥

सत्पात्रं महती श्रद्धा, काले देयं यथोचितम्।

धर्मसाधनसामग्री, बहुपुण्यैरवाप्यते ॥४॥

अनादरो विलम्बश्च, वैमुख्यं विप्रियं वचः।

पश्चात्तापश्च पश्चापि, सद्दानं दूषयन्त्यमी ॥५॥

हजारों मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा एक बारहव्रतधारी श्रावक श्रेष्ठ है, और हजारों बारहव्रतधारी श्रावकों से एक पंचमहाव्रतधारी मुनिराज श्रेष्ठ है। हजारों मुनिराज से एक तत्त्वज्ञानी श्रेष्ठ है। तत्त्वज्ञानी के समान पात्र न हुआ और न होगा। सत्पात्र, महान्श्रद्धा, योग्यकाल, उचितवस्तु आदि धर्मसाधन की सामग्री बड़े पुण्य से प्राप्त होती है।

१ अनादर, २ विलम्ब, ३ पराङ्मुखता, ४ कटुवचन और ५ पश्चात्ताप ये पांचों शुद्धदान को भी दूषित करते हैं, १ भौं ऊंची चढ़ाना, २ दृष्टि ऊंची करना, ३ अंतवृत्ति रखना, ४ पराङ्मुख होना, ५ मौन करना और ६ कालविलम्ब करना यह छः प्रकार की नाही (इन्कार असम्मति) कहलाती है। १ आंख में आनंदाश्रु, ३ पुलकित (रोमांचित) होना, ३ बहुमान, ४ प्रियवचन और ५ अनुमोदना ये पांचों पात्रदान के भूषण हैं।

सुपात्रदान और परिग्रहपरिमाणव्रत के पालन ऊपर

रत्नसारकुमार की कथा

एक महान् संपत्तिशाली रत्नविशालालानामक नगरी थी। उसमें यथानाम गुणधारी समरसिंह नामक राजा राज्य करता था। उसी नगरी में दरिद्री मनुष्यों के दुःखों का हरण करनेवाला वसुसार नामक एक धनाढ्य व्यापारी रहता था। उसकी स्त्री का नाम वसुंधरा था तथा उनके रत्नसमान उत्कृष्ट गुणवान रत्नसार नामक एक पुत्र था। एक समय वह अपने मित्रों के साथ वन में गया। विचक्षण बुद्धि रत्नसार ने वहां विनयंधर आचार्य को देख उनको वन्दना करके पूछा कि, 'हे महाराज! इस लोक में भी सुख की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है?' उन्होंने उत्तर दिया, 'हे दक्ष! संतोष की वृद्धि रखने से इस लोक में भी जीव सुखी होता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। संतोष देशव्यापी तथा सर्वव्यापी दो प्रकार का है, जिसमें देशव्यापी जो संतोष है उससे गृहस्थ पुरुषों को सुख होता है। परिग्रहपरिमाणव्रत अंगीकार करने से गृहस्थ पुरुषों को देशव्यापी संतोष बढ़ता है। कारण कि, परिग्रह परिमाण करने से अपार आशा मर्यादा में आ जाती है। सर्वव्यापी संतोष की वृद्धि तो मुनिराज से ही की जा सकती है। इससे अनुत्तरविमानवासी देवताओं से भी श्रेष्ठ सुख की इसीलोक में प्राप्ति होती है।

भगवती सूत्र में कहा है कि—एक मास पर्यंत दीक्षापर्याय पालनेवाले साधु ग्रहण किये हुए चारित्र्य के विशुद्धपरिणाम से वाणमंतर की, दो मास तक पालनेवाले भवनपति की, तीन मास तक पालनेवाले असुरकुमार की, चार मास तक पालन करनेवाले ज्योतिषी की, पांच मास तक पालनेवाले चन्द्र सूर्य की, छः मास तक पालन करनेवाले सौधर्म तथा ईशान देवता की, सात मास तक पालनेवाले सनत्कुमारवासी देवता की, आठ मास तक पालनेवाले ब्रह्मवासी तथा लांतकवासी देवता की, नव मास तक पालनेवाले शुकुवासी तथा सहस्रारवासी देवता की, दश मास तक पालनेवाले आनत आदि चार देवलोक में रहनेवाले देवता की, ग्यारह मास तक पालनेवाले ग्रैवैयकवासी देवता की, तथा बारह मास तक पालनेवाले अनुत्तरोपपतिकदेवता की

तेजोलेश्या (मन में उत्पन्न हुई सुख की प्राप्ति) का उल्लंघन करते हैं।

जो मनुष्य संतोषी नहीं, उसको बहुत से चक्रवर्ती राज्यों से, बहुत से धन से तथा सर्वभोगोपभोग के साधनों से भी सुख उत्पन्न नहीं होता। सुभूमचक्रवर्ती, कोणिक राजा, मम्मण शेट, हासाप्रहासापति आदि मनुष्य संतोष न रखने से ही दुःखी हुए। कहा है कि—अभयकुमार के समान संतोषी मनुष्य को जो कुछ सुख मिलता है वह सुख असंतोषी चक्रवर्ती अथवा इन्द्र को भी नहीं मिल सकता। ऊपर-ऊपर देखनेवाले सब दरिद्री हो जाते हैं; परन्तु नीचे-नीचे देखनेवाले किस मनुष्य का बड़प्पन वृद्धि को प्राप्त न हुआ? इससे सुख को पुष्टि देनेवाले सन्तोष को साधने के लिए तू अपनी इच्छा के अनुसार धनधान्य आदि परिग्रह का परिमाण कर। धर्म, नियम लेकर स्वल्पमात्र पालन किया हो, तो भी उससे अपार फल प्राप्त होता है। परन्तु नियम लिये बिना बहुतसा धर्म पाला हो तो भी उससे अल्पमात्र ही फल मिलता है। देखो! कुए में स्वल्पमात्र झरना होता है परन्तु उसके नियमित होने से जल कभी भी नहीं खुटता, और सरोवर का जल किनारे तक भरा हो तो भी वह अनियमित होने से सूख जाता है। मनुष्य ने नियम लिया हो तो वह संकट के समय भी नहीं छूटता और नियम का बन्धन न हो तो सुदशा में होते हुए भी कभी-कभी धर्मकृत्य छूट जाता है। इसी प्रकार नियम लेने से ही मनुष्य की धर्म में दृढ़ता होती है। देखो! दामनी (रस्सी) में बांधने से ही पशु भी अच्छी तरह स्थिर रहते हैं। धर्म का जीवन दृढ़ता, वृक्ष का जीवन फल, नदी का जीवन जल, सुभट का जीवन बल, ठग का जीवन असत्य, जल का जीवन शीतलता और भक्ष्य वस्तुओं का जीवन घृत है। इसलिए चतुर पुरुषों को धर्मकृत्य का नियम लेने में तथा लिये हुए नियम में दृढ़ता रखने में अत्यन्त दृढ़ प्रयत्न करना चाहिए। कारण कि, उससे वाञ्छितसुख की प्राप्ति सुखपूर्वक होती है।'

रत्नसारकुमार ने सद्गुरु का यह कथन सुनकर इस प्रकार सम्यक्त्व सहित परिग्रहपरिमाणव्रत लिया कि, 'मैं मेरे अधिकार में एक लाख रत्न, दस लाख सुवर्ण, आठ-आठ मूड़े (मापविशेष) मोती और प्रवाल (मूंगे) के, आठ करोड़ स्वर्णमुद्रा, दस हजार भार चांदी आदि धातुएं, सो मूड़े धान्य, एक लाख भार शेष किराना, छः दश हजार गायों का एक गोकुल ऐसे ६, पांचसो घर तथा हाट, चारसो वाहन, एक हजार घोड़े और सो हाथी रखूंगा। इससे अधिक संग्रह नहीं करूंगा तथा राज्य और राज्यकार्य भी नहीं करूंगा। श्रद्धावन्त रत्नसारकुमार इस प्रकार पांच अतिचार रहित पांचवें अणुव्रत को अंगीकारकर श्रावकधर्म पालन करने लगा।

एक समय वह पुनः अपने शुद्धहृदयी मित्रों के साथ फिरते फिरते 'रोलंबलोल' नामक बगीचे में आया। बगीचे की शोभा देखता हुआ वह क्रीडापर्वत पर गया। वहां उसने दिव्यरूप और दिव्यवेषधारी एक किन्नर के जोड़े को दिव्यगान करते हुए देखा, उन दोनों का मुख अश्व के समान और शेष अंग मनुष्य के समान था। ऐसे अद्भुत स्वरूप को देखकर कुमार ने हंसकर कहा कि, 'जो ये मनुष्य अथवा देवता होते तो

इनका मुख अश्व के समान क्यों होता? अतएव ये न तो मनुष्य हैं और न देवता; परन्तु कोई अन्य द्वीप में उत्पन्न हुए तिर्यच जान पड़ते हैं, अथवा किसी देवता के वाहन होंगे?' कुमार का यह कर्णकटु वचन सुनकर दुःखित हो किन्नर बोला, 'हे कुमार! तू कुकल्पना करके मेरी वृथा विडंबना क्यों करता है? जगत् में इच्छानुसार कामविलास करनेवाला मैं व्यंतर देवता हूँ, परन्तु तू मात्र तिर्यच के सदृश है। कारण कि तेरे पिता ने तुझको एक देवदुर्लभ दिव्य वस्तु से चाकर की तरह दूर रखा है।

अरे कुमार! 'समरांधकार' नामक एक उत्तम नीलवर्ण अश्व तेरे पिता को पूर्वकाल में किसी दूर द्वीपान्तर में मिला था। जैसे खराब राजा कृश और वक्रमुख धारी, हलके कान का, बिना ठिकाने का, कदम-कदम पर दंड करनेवाला और क्रोधी होता है, वैसे ही वह अश्व भी कृश तथा वक्रमुख, छोटे कर्णवाला, अतिचपल, स्कंध पर बेड़ीरूप चिन्ह वाला और जरा भी प्रहार न सह सके ऐसा है। यद्यपि वह अश्व दुष्टराजा के समान है तथापि यह आश्चर्य है कि वह सब लोगों के मन को आकर्षित करनेवाला तथा अपनी व अपने स्वामी की ऋद्धि को बढ़ानेवाला है। कहा है कि-'कृश मुख, मध्यम शरीरवाला (न तो बहुत मोटा और न बहुत पतला), छोटे कानवाला, ऊंचे स्कंध और चौड़ेवक्षस्थलवाला, स्निग्धरोमवाला, पुष्टपा से (पुष्टे) वाला, विशालपीठवाला और तेजवेगवाला इत्यादि श्रेष्ठ गुणधारक अश्व हो उस पर राजा को बैठना चाहिए। पवन से भी चपल वह अश्व 'सवार का मन अधिक आगे दौड़ता है, कि मैं दौड़ता हूँ? मानो इसी स्पर्धा से एक दिन में सौ कोस जाता है। ऐसे लक्ष्मी के अंकुररूप अश्व पर जो मनुष्य सवार होता है, वह सात दिन में अलौकिक वस्तु पाता है, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है! अरे कुमार! तू स्वयं अपने घर तक की तो गुप्त बात जानता ही नहीं है, और पंडिताई का अहंकारकर अज्ञानवश वृथा मेरी निन्दा करता है? जो तू अश्व को प्राप्त कर लेगा, तो तेरा धैर्य और चतुराई मालूम होगी' इतना कह वह किन्नर किन्नरी के साथ आकाश में उड़ गया।

यह अपूर्व बात सुन रत्नसारकुमार घर आया और अपने को बहुत ठगाया हुआ मान, मन में म्लान हो शोक करने लगा व घर के मध्यभाग में जा द्वार बंदकर पलंग पर जाकर बैठ गया। तब खिन्न हो पिता ने आकर उससे कहा कि, 'हे वत्स! तुझे क्या कष्ट हुआ? क्या कोई मानसिक अथवा शारीरिक पीड़ा उत्पन्न हुई? स्पष्ट कह जिससे मैं उसका उपाय करूँ, क्योंकि बिना वीधे तो मोती की भी परीक्षा नहीं हो सकती'। पिता के इन वचनों से संतुष्ट हो रत्नसार ने शीघ्र द्वार खोला और जो बात हुई थी वह तथा जो कुछ मन में थी सो स्पष्ट कह दी। पिता ने अत्यन्त विस्मित हो कहा कि, 'हे वत्स! हमारा पुत्र इस सर्वोत्तम अश्व पर बैठकर भूतल पर चिरकाल तक ध्रमण करता रहे और हमको वियोग से दुःखी करे।' इस कल्पना से मैंने आज तक उस अश्व को प्रयत्न के साथ गुप्त रखा, परन्तु अब तो तेरे हाथ में सौंपना ही पड़ेगा परन्तु तुझे उचित जान पड़े वही कर। यह कह पिता ने हर्ष से रत्नसारकुमार को उक्त अश्व दे दिया। मांगने पर भी न

देना यह प्रीति के ऊपर अग्नि डालने के समान है। जैसे निधान मिलने से निर्धन को आनंद होता है, उसी प्रकार अश्व प्राप्ति से रत्नसारकुमार को बहुत प्रसन्नता हुई। श्रेष्ठवस्तु मिलने पर किसे आनन्द नहीं होता? पश्चात् उदय पर्वत पर आये हुए सूर्य के समान वह रत्नजडित सुवर्ण की काठी चढ़ाये हुए उक्त अश्व पर आरूढ़ हुआ। और वय तथा शील में समान सुशोभित अश्वारूढ़ श्रेष्ठमित्रों के साथ नगर से बाहर निकला। जैसे इन्द्र अपने उच्चैःश्रवा नामक अश्व को चलाता है उसी तरह वह कुमार उक्त अनुपम अद्वितीय अश्व को मैदान में फिराने लगा। कुमार ने उस अश्व को आक्षेप से क्रमशः धौरित, वल्लित, प्लुत और उत्तेजित चारों प्रकार की गति से चलाया। पश्चात् शुक्लध्यान जीव को पंचमगति पर (मुक्ति) पहुंचाता है, उस समय वह जीव जैसे अन्य समस्तजीवों को पीछे छोड़ देता है, उसी प्रकार जब कुमार ने उसे आस्कंदित नामक पांचवी गति को पहुंचाया, तो उसने अन्य सर्व अश्वों को पीछे छोड़ दिया। इतनी ही देर में श्रेष्ठी के घर में जो एक पाला हुआ तोता था उसने उस कार्य का तत्त्व विचारकर श्रेष्ठी वसुसार को कहा कि—'हे तात! मेरा भाई रत्नसारकुमार इसी समय अश्वरत्न पर आरूढ़ होकर बड़े वेग से जा रहा है, कुमार कौतुक-रसिक व चपल प्रकृति है; अश्व भी हरिण के समान बड़ा ही चालाक व उछल-उछलकर चलनेवाला है, और दैव की गति बिजली की दमक से भी अत्यन्त विचित्र है, इसलिए हम नहीं जान सकते कि इस कृत्य का क्या परिणाम होगा? सौभाग्यनिधि मेरे भाई का अशुभ तो कहीं भी नहीं हो सकता, तथापि स्नेही मनुष्यों के मन में अपनी जिस पर प्रीति होती है, उसके विषय में अशुभ कल्पनाएं हुए बिना नहीं रहती। सिंह जहां जाता है वहीं अपनी प्रभुता चलाता है, तथापि उसकी माता सिंहनी का मन अपने पुत्र के सम्बन्ध में अशुभ कल्पना करके अवश्य दुःखी होता है। ऐसी अवस्था में भी शक्त्यनुसार यत्न रखना यही 'पानी आने के पूर्व पाल बांधना' यह युक्ति से अच्छा जान पड़ता है। इसलिए हे तात! हे स्वामिन्! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं अतिशीघ्र कुमार की शोध के लिए जाऊं। दैव न करे, और कदाचित् कुमार पर कोई आपत्ति आ पड़े, तो मैं हर्षोत्पादक वचन सुनाकर उसकी सहायता भी करूंगा।'

श्रेष्ठी ने अपने अभिप्रायानुसार तोते की बात सुनकर कहा कि, 'हे श्रेष्ठ तोते! तूने ठीक कहा—तेरा मन बहुत शुद्ध है। इसलिए हे वत्स! अब तू शीघ्र जा। और अतितीव्रवेग से जानेवाले रत्नसारकुमार को विकटमार्ग में सहायताकर लक्ष्मण के साथ होने से जैसे राम सुख से वापस आये, उसी प्रकार तेरे समान प्रियमित्र साथ होने से वह अपनी इच्छा पूर्ण करके निश्चय सुखपूर्वक यहां आ जायेगा।' श्रेष्ठी की आज्ञा मिलते ही अपने को कृतार्थ माननेवाला वह मानवंत तोता, संसार में से जैसे सुबुद्धि मनुष्य बाहर निकलता है, उस प्रकार शीघ्र पीजरे में से बाहर निकला और बाण के समान तीव्रगति से उड़कर शीघ्र ही कुमार को आ मिला। कुमार ने अपने लघुधृता की तरह प्रेम से बुलाकर गोद में बिठा लिया। उस अश्व ने मानो मनुष्यरत्न (रत्नसार) की

प्राप्ति होने से अपरिमित अहंकार में आकर वेग से गमनकर कुमार के मित्रों के अश्वों को नगर की सीमा में ही छोड़ दिये। जिससे निरुत्साहित हो वे विलक्ष होकर वहीं खड़े रह गये।

अतिशय उछलकर तथा शरीर से प्रायः अधर चलनेवाला वह अश्व मानो शरीर में रज लग जाने के भय से भूमि को स्पर्श भी नहीं करता था। उस समय नदियां, पर्वत, जंगल की भूमि आदि मानो उस अश्व के साथ स्पर्धा से वेगपूर्वक चलती हों इस प्रकार चारों ओर दृष्टि पथ में आती थी। मानो कौतुक से उत्सुक हुए कुमार के मन की प्रेरणः से ही झड़प से भूमि का उल्लंघन करनेवाले उस अश्व ने अपनी थकावट की ओर जरा भी ध्यान नहीं पहुँचाया। इस तरह वह अत्यंत भिल्लसैन्य युक्त महाभयंकर 'शबरसेना' नामक घोरवन में आया। वह वन सुननेवाले को भय व उन्माद करानेवाला, तथा अत्यंत तीक्ष्णजंगली जानवरों की गर्जना से ऐसा लगता था मानो संपूर्णवन में मुख्य यही वन है। गज, सिंह, बाघ, सूअर पाड़े आदि मानो कुमार को कौतुक दिखाने के लिए ही चारों ओर परस्पर लड़ रहे थे। शियालों का शब्द ऐसा मालूम होता था कि मानो अपूर्व वस्तु के लाभ लेने के व कौतुक देखने के लिए वे कुमार को शीघ्र बुला रहे हैं। उस वन के वृक्ष अपनी धूजती हुई शाखा से अश्व के द्रुत वेग को देखकर चमत्कार पा नतमस्तक हो रहे थे। स्थान-स्थान पर कुमार का मनोरंजन करने के निमित्त भिल्लयुवतियां किन्नरियों की तरह मधुरस्वर से उद्भट गीत गा रही थीं।

आगे जाकर रत्नसारकुमार ने हिंडोले पर झूलते हुए एक तापसकुमार को स्नेहभरी दृष्टि से देखा। वह तापसकुमार मृत्युलोक में आये हुए नागकुमार के सदृश सुंदर था। उसकी दृष्टि प्रियबांधव के समान स्नेहयुक्त नजर आती थी; और उसे देखते ही ऐसा प्रतीत होता था, कि मानो अब देखने के योग्य वस्तु न रही। उस तापसकुमार ने ज्यों ही कामदेव के सदृश रूपशाली रत्नसारकुमार को देखा त्यों ही वर को देखकर जैसे कन्या के मन में लज्जादि उत्पन्न होते हैं वैसे उसके मन में लज्जा, उत्सुकता, हर्ष इत्यादि मनोविकार उत्पन्न हुए और वह मन में शून्य सम हो गया था तथापि किसी प्रकार धैर्य धरकर हिंडोले पर से उतरकर उसने रत्नसारकुमार से इस प्रकार प्रश्न किये।

'हे जगद्वल्लभ! हे सौभाग्यनिधे! हम पर प्रसन्न दृष्टि रख, स्थिरता धारण कर, प्रमाद न कर और हमारे साथ बातचीत कर। कौनसा भाग्यशाली देश व नगर तेरे निवास से जगत् में श्रेष्ठ व प्रशंसनीय हुआ? तेरे जन्म से कौनसा कुल उत्सव से परिपूर्ण हुआ? तेरे सम्बन्ध से कौनसी जाति जुही के पुष्प समान सुगन्धित हुई? जिसकी हम प्रशंसा करें। ऐसा त्रैलोक्य को आनंद पहुंचानेवाला तेरा पिता कौन है? तेरी पूजनीय मान्य माता कौन है? हे सुन्दरशिरोमणि! जिनके साथ तू प्रीति रखता है, वे सज्जन की तरह जगत् को आनन्द देनेवाले तेरे स्वजन कौन हैं? संसार में जिस संबोधन से तेरी पहिचान होती है वह तेरा श्रेष्ठ नाम क्या है? अपने इष्टजनों के वियोग का तुझे क्या कारण उत्पन्न हुआ? कारण कि, तू किसी मित्र के बिना अकेला ही दिख

पड़ता है। दूसरों का तिरस्कार करनेवाली इस अतिशय उतावल का क्या कारण है? और मेरे साथ तू प्रीति करना चाहता है इसका भी क्या कारण है?’

तापसकुमार का ऐसा मनोहर भाषण भली प्रकार सुनकर अकेला रत्नसारकुमार ही नहीं बल्कि अश्व भी उत्सुक हुआ। जिससे कुमार का मन जैसे वहां रहा वैसे वह अश्व भी वहां स्थिर खड़ा रहा। उत्तम अश्वों का वर्ताव सवार की इच्छानुकूल ही होता है। रत्नसार, तापसकुमार के सौंदर्य से तथा वाक्पटुता से मोहित होने के कारण तथा उत्तर देने योग्य बात न होने से कुछ भी प्रत्युत्तर न दे सका इतने में ही वह चतुरतोता वाचाल मनुष्य की तरह उच्च स्वर से बोलने लगा। ‘हे तापसकुमार! कुमार का कुलआदि पूछने का क्या प्रयोजन है? अभी तूने यहां कोई विवाह तो रचा ही नहीं। उचित आचरण का आचरण करने में तू चतुर है, तो भी तुझे उनका वर्णन कहता हूं। सर्वव्रतधारियों को आगन्तुक अतिथि सर्व प्रकार पूजने योग्य है। लौकिकशास्त्रकारों ने कहा है कि—चारों वर्णों का गुरु ब्राह्मण है, और ब्राह्मण का गुरु अग्नि है, स्त्रियों का पति ही एक गुरु है, और सर्वलोगों का गुरु घर आया हुआ अतिथि है। इसलिए हे तापसकुमार! जो तेरा चित्त इस कुमार पर हो तो इसकी यथारीति से आतीथ्य कर। अन्य सर्व विचारों को अलग कर दे।’

तोते की इस चतुरयुक्ति से प्रसन्न हो तापसकुमार ने रत्नहार सदृश अपनी कमलमाला झट उसके (तोते के) गले में पहनायी। और रत्नसार से कहा कि, ‘हे श्रेष्ठकुमार! तू ही संसार में प्रशंसा करने के योग्य है। कारण कि तेरा तोता भी वचनचातुरी में बड़ा ही निपुण है। तेरा सौभाग्य सब मनुष्यों से श्रेष्ठ है। अतएव हे कुमार! अब अश्व परसे उतर, मेरा भाव ध्यान में लेकर मेरा अतिथिसत्कार स्वीकार कर, और हमको कृतार्थ कर। विकसित कमलों से सुशोभित और निर्मल जल युक्त यह छोटासा तालाब है, यह समस्त सुन्दर वन का समुदाय है और हम तेरे सेवक हैं, मेरे समान तापस तेरा क्या आतिथ्य करेगा? नग्नक्षपणक के मठ में राजा की आसना-वासना (आदर-सत्कार) कैसे हो? तथापि मैं अपनी शक्ति के अनुसार कुछ भक्ति दिखाता हूं। क्या समय पाकर केले का झाड़ अपने नीचे बैठनेवाले को सुख विश्रांति नहीं देता? इसलिए शीघ्र कृपा कर आज मेरा विनय स्वीकार कर देशाटन करनेवाले सत्पुरुष किसीकी विनती किसी समय भी व्यर्थ नहीं जाने देते हैं।’ रत्नसार के मन में अश्व पर से उतरने के लिए प्रथम से ही मन में विचार आया था, पश्चात् मानो शुभ शकुन हुए हों, ऐसे तापसकुमार के वचन सुनकर वह नीचे उतरा। चिरपरिचित मित्र की तरह मन से तो वे प्रथम ही मिल गये थे, अब उन्होंने एक दूसरे के शरीर को आलिंगन करके मिलाप किया व पारस्परिक प्रीति को दृढ़ रखने के हेतु से एक दूसरे से हस्तमिलापकर वे दोनों कुछ देर तक इधर-उधर फिरते रहे। उस समय उनकी शोभा वन में क्रीड़ा करते हुए दो हाथी के बच्चों के समान मालूम होती थी।

तापसकुमार ने उस वन में के पर्वत, नदियां, तालाब, क्रीडास्थल आदि रत्नसार

को बताये। फल, फूल की समृद्धि से नतमस्तक हुए बहुत से अपरिचित वृक्षों का नाम ले-लेकर उसने पहिचान करायी। पश्चात् मार्गश्रम दूर करने के लिए रत्नसारकुमार ने एक छोटे सरोवर में स्नान किया। तदनन्तर तापसकुमार ने उसके सन्मुख निम्नाङ्कित फलादि लाकर रखे—प्रत्यक्ष अमृत के समान कुछ पकी कुछ कच्ची द्राक्ष, व्रतधारी लोग भी जिनको देखकर भक्षण करने के लिए अधीर हो जाय ऐसे पके हुए मनोहर आम्रफल, नारियल, केले, सुधाकरी के फल, खजूर, खिरनी, श्रीरामलकी के फल, स्निग्धबीजवाले हारबंध चारोली के फल, सुन्दर बीजफल, मधुर बिजोरे, नारंगियां सर्वात्कृष्ट दाडिम, पके हुए साकर लीबू, जामुन, बेर, गोंदे, पीलू, फणस, सिंघाडे, सकरटेटी, पके तथा कच्चे बालुक फल, द्राक्षादिक के सरस शरबत, नारियल का तथा स्वच्छ सरोवर का जल, शाक के स्थान में कच्चा अम्लवेतस, इमली, लीम्बू आदि; स्वादिम की जगह कुछ हरी कुछ सूखी हारबंध सुपारियां, चौड़े-चौड़े निर्मल पान, इलायची, लवंग, लवलीफल, जायफल आदि, तथा भोग सुख के निमित्त शत पत्र (कमल विशेष)। बकुल, चंपक, केतकी, मालती, मोगरा, कुंद, मुचकुंद, तरह-तरह के सुगन्धित कमल हर्षक, उत्पन्न हुए कर्पूर के रजःकर्ण, कस्तूरी आदि उपरोक्त वस्तुएं सजा कर रखी। रत्नसारकुमार ने तापसकुमार की की हुई भक्ती की रचना अंगीकार करने के हेतु उन वस्तुओं पर आदरसहित एक दृष्टि फिरायी और थोड़ी-थोड़ी सब वस्तुएं भक्षण की। पश्चात् तापसकुमार ने तोते को भी उत्तमोत्तम फल व अन्न को उसके अनुकूल वस्तु खिलायी। ठीक है—महान् पुरुष किसी समय भी उचित आचरण नहीं छोड़ते। तदनन्तर रत्नसारकुमार का अभिप्राय समझ तोता तापसकुमार को प्रीति पूर्वक पूछने लगा कि, 'हे तापसकुमार! जिसको देखते ही शरीर पुलकित हो जाता है ऐसे इस नवयौवन में कल्पना भी नहीं की जा सके ऐसा यह तापसव्रत तूने क्यों ग्रहण किया? कहां तो सर्वसंपदाओं के सुरक्षित कोट के समान यह तेरा सुंदर स्वरूप, और कहां यह संसार पर तिरस्कार उत्पन्न करनेवाला तापसव्रत? जैसे अरण्य में मालती का पुष्प किसी के भोग में न आकर व्यर्थ सूख जाता है। वैसे ही तूने तेरा यह चातुर्य और सौंदर्य प्रथम से ही तापसव्रत ग्रहणकर निष्फल कैसे कर डाला? दिव्य अलंकार और दिव्य वेष पहनने लायक यह कमल से भी कोमल शरीर अतिशय कठोर वल्कलों को किस प्रकार सहन कर सकता है? दर्शक की दृष्टि को मृगजाल सदृश बंधन में डालनेवाला तेरा यह केशपाश क्रूरजटाबंध को सहने योग्य नहीं। तेरा यह सुन्दर तारुण्य और पवित्र लावण्य यथायोग्य नये-नये भोगोपभोगों से शून्य होने के कारण हमको बहुत दया उत्पन्न करता है। इसलिए हे तापसकुमार! वैराग्य से, कपटचातुरी से, दुर्दैववशा हीनकर्म से, किसीके बलात्कार से, किसी महातपस्वी के शाप से अथवा किस अन्य कारण से तूने यह महाकठिन तपस्या अंगीकार की है' सो कह।

पोपट के इस प्रश्न पर तापसकुमार नेत्रों से अश्रुधारा गिराता हुआ गद्गदस्वर से बोला—'हे चतुर तोते! हे श्रेष्ठ कुमार! जगत् में ऐसा कौन है जो तुम्हारी समानता कर

सके? कारण कि मेरे समान अनुकंपापात्र पर तुम्हारी दया स्पष्ट दिख रही है। अपने आपके अथवा अपने कुटुम्बियों के दुःखित होने पर कौन दुःखी नहीं होता? परन्तु परदुःख से दुःखी होनेवाले पुरुष जगत् में विरले ही होंगे कहा है कि—

शूराः सन्ति सहस्रशः प्रतिपदं विद्याविदोऽनेकराः,
सन्ति श्रीपतयोऽप्यपास्तधनदास्तेऽपि क्षितौ भूरिशाः।
किन्त्वाकर्ण्य निरीक्ष्य वाऽन्यमनुजं दुःखादितं यन्मन-
स्तादुष्यं प्रतिपद्यते जगति ते सत्पुरुषाः पञ्चषाः ॥१४४॥
अबलानामनाथानां, दीनानामथ दुःखिनाम्।
परैश्च पराभूतानां, त्राता कः? सत्तमात्परः ॥१४५॥

शूरवीर पंडित अपनी लक्ष्मी से कुबेर को भी मोल ले लेवे ऐसे श्रीमंत लोग तो पृथ्वी पर पद-पद पर सहस्रों दृष्टि आर्येगे परन्तु जिस पुरुष का मन परदुःख को प्रत्यक्ष देखकर अथवा कान से श्रवणकर दुःखी होता है ऐसे सत्पुरुष जगत् में पांच छः ही होंगे। स्त्रियों, अनाथ, दीन, दुःखी और भय से पराभव पाये हुए मनुष्यों की रक्षा करनेवाले सत्पुरुषों के सिवाय और कौन हैं? अतएव हे कुमार! मेरा यथार्थ वृत्तान्त तेरे समक्ष कहता हूँ। वास्तविक प्रीति रखनेवाले पुरुष के संमुख कौनसी बात गुप्त रखी जा सकती है? तापसकुमार यह बोल ही रहा था इतने में, मदोन्मत्त हाथी के समान वन को वेग से समूल उखाड़ डालनेवाला, एक सरीखी उछलती हुई धूल के समुदाय से तीनों जगत् को अपूर्व धनघोर गर्द में अतिशय गर्क करनेवाला, महान् भयंकर धूत्कार शब्द से दिशाओं में रहनेवाले मनुष्यों के कान को भी जर्जर कर डालनेवाला, तापसकुमार के आत्मवर्णन कहने के मनोरथरूपी रथ को बलात्कार से तोड़कर अपने 'प्रभंजन' नाम को सार्थक करनेवाला अकस्मात् चढ़ आये हुए महानदी के पूर की तरह समग्र वस्तुओं को डूबानेवाला तथा तूफानी, दुष्ट उत्पातपवन की तरह असह्य पवन तीव्रवेग से बहने लगा, और काबिल चोर की तरह मानो मंत्र से ही रत्नसार और तोते की दृष्टि धूल से बंध करके वह पवन तापसकुमार को उड़ा ले गया। कुमार व तोते को केवल उसका निम्नांकित आर्तनाद सुन पड़ा। यथा—

'हाय! हाय! महान् आपदा आ पड़ी!! हे सर्वलोगों के आधार, अतिशय सुन्दर, सम्पूर्ण लोगों के मन के विश्रांतिस्थान, महापराक्रमी, जगत्-रक्षक कुमार! इस संकट में से मेरा रक्षण कर, रक्षण कर!' क्रोध से युद्धातुर हो रत्नसार, 'अरे दुष्ट! मेरे प्राणजीवन तापसकुमार को हरण करके कहां जाता है?' ऐसा उच्चस्वर से कहकर तथा दृष्टिविष सर्प समान विकराल तलवार म्यान में से निकालकर वेग से उसके पीछे दौड़ा। सत्य ही है शूरवीर लोगों की यही रीति है। रत्नसार के कुछ दूर चले जाने पर उसके इस अद्भुत चरित्र से चकित हो तोते ने कहा, 'हे रत्नसार कुमार! तू चतुर होते हुए मुग्धमनुष्य की तरह पीछे-पीछे क्यों दौड़ता है? कहां तो तापसकुमार? और कहां

यह तूफानी पवन? यम जैसे जीव को ले जाता है, वैसे यह अत्यन्त भयंकर पवन तापसकुमार को हरणकर, कृतार्थ हो कौन जाने उसे कहां और किस प्रकार ले गया? हे कुमार! इतनी देर में वह पवन तापसकुमार को असंख्य लक्ष योजन दूर ले जाकर कहीं गायब हो गया। इसलिए तू शीघ्र वापस आ।'

बड़े वेग से किया हुआ कार्य निष्फल हों जाने से लज्जित हुआ कुमार तोते के वचन से वापिस लौटा और अत्यन्त खिन्न हो इस प्रकार विलाप करने लगा, 'हे पवन! तूने मेरे सर्वस्व तापसकुमार को हरणकर दावाग्नि समान क्रूर बर्ताव क्यों किया? हाय हाय! तापसकुमार का मुखचन्द्र देखकर मेरे नेत्ररूपी नीलकमल कब विकसित होंगे? अमृत की लहर के समान स्निग्ध, मुग्ध और मधुर व चित्ताकर्षक दृष्टिविलास किस प्रकार मुझे मिलेंगे? मैं दरिद्री उसके कल्पवृक्ष के पुष्प समान, अमृत को भी तुच्छ करनेवाले बार-बार मुख से निकलते हुए वचन अब किस प्रकार सुनूंगा?' स्त्रियों के वियोग से दुःखी-मनुष्यों की तरह इस प्रकार नानाविध विलाप करनेवाले रत्नसारकुमार को तोते ने इस रीति से यथार्थ बात कही कि, 'हे रत्नसार! जिसके लिए तू शोक करता है वह वास्तव में तापसकुमार नहीं, परन्तु किसी मनुष्य की निजशक्ति से रूपान्तर में परिवर्तित की हुई यह कोई अन्य है, ऐसा मैं सोचता हूं। उसके भिन्न-भिन्न मनोविकार से, मनोहर वाणी से, कटाक्ष, आकर्षक दृष्टि से और ऐसे ही अन्य लक्षणों से मैं तो निश्चय अनुमान करता हूं कि, वह कोई कन्या है। ऐसा न होता तो तेरे प्रश्न से उसके नेत्र अश्रुओं से क्यों भर गये थे? यह तो स्त्रीजाति का लक्षण है। उत्तमपुरुष में ऐसे लक्षण होना संभव ही नहीं। वह घनघोर पवन नहीं था, बल्कि कोई दिव्यस्वरूप था। ऐसा न होता तो उस पवन ने अकेले तापसकुमार को ही हरणकर अपने को क्यों छोड़ दिया? मैं तो निश्चयपूर्वक कहता हूं कि वह कोई बिचारी भली कन्या है और उस पर कोई दुष्टदेवता, पिशाच आदि उपद्रव करते हैं। दुष्टदेव के संमुख किसका वश चलता है? जब वह कन्या दुष्ट पिशाच के हाथ में से छूटेगी, तब निश्चय से तुझे ही वरेगी। कारण कि, जिसने प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष को देख लिया वह अन्य वृक्ष पर प्रीति कैसे रख सकता है? जैसे सूर्य का उदय होते ही रात्रिरूपी पिशाचिका के हाथ में से कमलिनी छूटती है, वैसे ही वह कन्या भी तेरे शुभकर्म का उदय होने पर उस दुष्ट पिशाच के हाथ में से छूटेगी, ऐसा मैं निश्चय समझता हूं, पश्चात् सौभाग्यवश वह कन्या कहीं पर भी तुझे मिलेगी। कारण कि, भाग्यशाली पुरुषों को वांछित वस्तु की प्राप्ति अवश्य होती है। हे कुमार यद्यपि यह बात मैं कल्पना करके कहता हूं, तथापि तू इसे मान्य करना। थोड़े ही समय के अनंतर सत्यासत्य का निर्णय हो जायेगा। इसलिए हे कुमार! तू सुविचारी होकर ऐसा विलाप क्यों करता है? धीरपुरुष को यह बात उचित नहीं।'

कर्तव्यज्ञानी रत्नसारकुमार ने तोते की ऐसी युक्ति से परिपूर्ण वाणी सुनकर शोक करना छोड़ दिया। ज्ञानियों का वचन क्या नहीं कर सकता? इसके अनन्तर रत्नसारकुमार व तोता दोनों अश्व पर बैठकर इष्टदेव की तरह तापसकुमार का स्मरण करते हुए

पूर्वानुसार मार्ग चलने लगे। एक सरीखा प्रयाण करते हुए उन दोनों जनों ने क्रमशः हजारों विस्तृत वन, पर्वत, खाने, नगर, सरोवर, नदी आदि पार करके सामने एक अतिशय मनोहर वृक्षों से सुशोभित उद्यान देखा। वह उद्यान ऐसा दिखता था मानो अद्वितीय सुगंधित पुष्पों में भ्रमण करते हुए भ्रमरों के गुंजार शब्द से आदर पूर्वक रत्नसारकुमार का स्वागत कर रहे हैं। दोनों जने उक्त उद्यान में प्रवेशकर अतिहर्षित हुए। उस उद्यान में तरह-तरह के रत्नों से सुशोभित एक श्री आदिनाथ भगवान् का मंदिर था। वह अपनी फहराती हुई ध्वजा से दूर से ही रत्नसारकुमार को बुलाकर यह कह रहा था कि, 'हे कुमार! इस स्थान में तुझे इस भव तथा परभव की इष्टवस्तु का लाभ होगा।' कुमार अश्व पर से उतरा तथा उसे तिलकवृक्ष की पीड में बांध, कुछ सुगन्धित पुष्प एकत्रितकर तोते के साथ मंदिर में गया। वह यथाविधि श्री आदिनाथ भगवान की पूजाकर इस प्रकार स्तुति करने लगा।

श्रीमद्युगादिदेवाय, सेवाहेवाकिनाकिने।

नमो देवाधिदेवाय, विश्वविश्वैकदृश्यने ॥१८६॥

परमानन्दकन्दाय, परमार्थैकदेशिने।

परमब्रह्मस्वरूपाय, नमः परमयोगिने ॥१८७॥

परमात्मस्वरूपाय, परमानन्ददायिने।

नमस्त्रिजगदीशाय, युगादीशाय तायिने ॥१८८॥

योगिनामप्यगम्याय, प्रणम्याय महात्मनाम्।

नमः श्रीशाम्भवे विश्वप्रभवेऽस्तु नमो नमः ॥१८९॥

'सम्पूर्ण जगत के ज्ञाता और देवता भी जिसकी सेवा करने को उत्सुक रहते हैं, ऐसे श्री देवाधिदेव श्री आदिनाथ भगवान् को मेरा नमस्कार हो। परमानन्दकन्द, परमार्थोपदेशक, परब्रह्मस्वरूप और परमयोगी श्री आदिनाथ भगवान् को मेरा नमस्कार हो। परमात्मस्वरूप, परमानन्ददाता, त्रिलोकनाथ और जगद्रक्षक ऐसे श्रीयुगादिदेव को मेरा नमस्कार हो। महात्मापुरुषों के वन्दन करने योग्य, लक्ष्मी तथा मंगल के निधि तथा योगियों को भी जिनके स्वरूप का ज्ञान नहीं होता ऐसे श्री आदिनाथ भगवान् को मेरा नमस्कार हो।' उल्लास से जिसके शरीर पर फणस फल के कंटक समान रोमराजि विकसित हुई है ऐसे रत्नसारकुमार ने ऊपर लिखे अनुसार जिनेश्वर भगवान् की स्तुतिकर, तत्त्वार्थ की प्राप्ति होने से ऐसा माना कि, 'मुझे प्रवास का पूर्ण फल आज मिल गया।'

पश्चात् उसने तृषा से पीडित मनुष्य की तरह मंदिर के समीप की शोभारूप अमृत का बार-बार पान करके तृप्ति-सुख प्राप्त किया। तदनन्तर अत्यन्त सुशोभित मंदिर के भक्तवारण-गवाक्ष ऊपर बैठा हुआ रत्नसार, मदोन्मत्त ऐरावत हस्ती पर बैठे हुए इन्द्र की तरह शोभने लगा व उसने तोते को कहा कि, 'उक्त तापसकुमार का हर्ष

उत्पन्न करनेवाला शोध अभी तक क्यों नहीं लगता?' तोता बोला, 'हे मित्र! विषाद न कर। हर्ष धारण कर। शुभशकुन दृष्टि आते हैं जिससे निश्चय आज तापसकुमार की प्राप्ति होगी।' इतने में ही दिव्य वस्त्रों से सुसज्जित सर्व दिशाओं को प्रकाशित करती हुई एक सुन्दर स्त्री संमुख आयी, वह मस्तक पर रत्नसमान शिखाधारी, परम मनोहर, सुन्दर पंखों से सुशोभित, मधुरकेकारवयुक्त, अपनी अलौकिक छबि से अन्य सर्वमयूरों को हरानेवाले तथा इन्द्र के अश्व से भी तीव्रगतिवाले एक दिव्य मयूर पर आरूढ़ थी। उसके शरीर की कान्ति दिव्य थी। स्त्री धर्म की आराधना करने में निपुण वह स्त्री प्रज्ञप्तिदेवी के समान दिखती थी। कमलिनी की तरह उसके सर्वांग से कमलपुष्प के समान सुगन्धी वृष्टि होती थी। उसकी सुन्दर युवावस्था देदीप्यमान हो रही थी। और उसका लावण्य अमृत के समान लगता था। साक्षात् रंभा के समान उस स्त्री ने श्री आदिनाथ भगवान् को वन्दना की और पश्चात् वह मयूर के ऊपर बैठकर ही नृत्य करने लगी। उसने एक निपुण नर्तकी के समान चित्ताकर्षक हस्तपल्लव को कंपाकर, अनेक प्रकार के अंगविक्षेप से तथा मन का अभिप्राय व्यक्त करनेवाली अनेक चेष्टा से और अन्य भी नृत्य के विविध प्रकार से मनोहर नृत्य किया। उस नृत्य को देखकर कुमार व तोते को इतना हर्षोल्लास प्राप्त हुआ कि वे मंत्रमुग्ध हो गये। वह मृगलोचनी स्त्री भी सुस्वरूपकुमार को देखकर उल्लास से विलास करती हुई बहुत समय तक आश्चर्यचकित सी हो रही। पश्चात् कुमार ने उससे कहा, 'हे सुन्दर स्त्री! जो तुझे खेद न हो तो मैं कुछ पूछना चाहता हूँ।' उसने उत्तर दिया, 'पूछो, कोई हानि नहीं।' तब कुमार ने उसका सर्व वृत्तान्त पूछा। उस स्त्री ने वाक्चातुरी से प्रारम्भ से अन्त तक अपना मनोवेधक वृत्तान्त कह सुनाया। यथा—

'सुवर्ण की शोभा से अलौकिकसौन्दर्य को धारण करनेवाली कनकपुरी नगरी में, अपने कुल को देदीप्यमान करनेवाला कनकध्वज (स्वर्णपताका) के समान कनकध्वज नामक राजा था। उसने अपनी प्रसन्नदृष्टि से तृण को भी अमृत समान कर दिया। ऐसा न होता तो उसके शत्रु दांत में तृण पकड़ उसका स्वाद लेने में मृत्यु टालकर किस प्रकार जीवित रहते? प्रशंसा के योग्य गुणवती तथा इन्द्राणी के समान सुन्दर स्वरूपशाली कुसुमसुन्दरी नामक उसकी राजमहिषी थी। वह एक दिन सुखनिद्रा में सो रही थी इतने में उसे एक सुन्दर कन्या की प्राप्ति करानेवाला स्वप्न दृष्टि में आया। उसके स्वप्न में ऐसा सम्बन्ध था कि मन में रति और प्रीति इन दोनों का जोड़ा कामदेव की गोद में से उठकर मानों प्रीति से उसकी गोद में जाकर बैठा। शीघ्र जागृत हुई कुसुमसुन्दरी ने विकसित कमल की तरह अपने नेत्र खोले। भारी जलप्रवाह से भराई हुई नदी की तरह उसका हृदय अकथनीय आनन्द प्रवाह से परिपूर्ण हो गया। उसने स्वप्न का यथावत् वर्णन राजा से कह सुनाया। स्वप्नविचार के ज्ञाता राजा ने उसका यह फल बताया कि, 'हे सुन्दरि! विधाता की सृष्टि में सर्व श्रेष्ठ व जगत् में सारभूत ऐसा एक कन्या का युगल तुझे प्राप्त होगा।' यह सुन कन्या का लाभ होते हुए भी रानी

को अपार हर्ष हुआ। ठीक है, चाहे पुत्र हो या पुत्री, परन्तु जो सर्व में श्रेष्ठ हो तो किसको न आनंद न हो? अस्तु, कुसुमसुन्दरी गर्भवती हुई। क्रमशः गर्भ के प्रभाव से उसका शरीर फीका (पांडु) पड़ गया। मानो गर्भ पवित्र होने के लिए पाण्डुवर्ण के मिष से वह निर्मल हुई हो। गर्भ में जड़ को (जल को) रखनेवाली कादंबिनी (मेघमाला) जो कृष्णवर्ण हो जाती है, तो गर्भ में जड़ (मूढ़) को न रखनेवाली कुसुमसुन्दरी पाण्डुवर्ण हुई यह योग्य ही है। जिस प्रकार श्रेष्ठनीति कीर्ति और लक्ष्मीरूपी जोड़े को प्रसव करती है उसी तरह यथासमय कुसुमसुन्दरी ने एक ही समय दो कन्याएं प्रसव कीं।

राजा ने एक का अशोकमंजरी व दूसरी का तिलकमंजरी नाम रखा। वे दोनों कन्याएं पांच धायमाताओं से प्रतिपालित होती हुई मेरुपर्वत स्थित कल्पलताओं की तरह बढ़ने लगीं। कुछ ही काल में वे दोनों समस्तकलाओं में कुशल हो गयीं। एक तो उन कन्याओं के रूप सौंदर्य में प्रथम ही कोई कमी नहीं थी, तथापि स्वाभाविक सुन्दर वनश्री जैसे वसन्तऋतु के आगमन से विशेष शोभायमान होती है, वैसे ही वे नवयौवन अवस्था के आने से विशेष शोभने लगीं। मानो कामदेव ने जगत् को जितने के लिए दोनों हाथों में धारण करने के लिए दो खड्ग ही उज्ज्वल कर रखें हों ऐसी उन कन्याओं की शोभा दिखती थी। सर्प की दो जीभ समान अथवा क्रूर ग्रह के दो नेत्रों के समान जगत् को क्षोभ (कामविकार) उत्पन्न करनेवाली उन दोनों कन्याओं के संमुख अपना मन वश रखने में किसीका भी धैर्य स्थिर न रहा, सुख में, दुःख में, आनन्द में अथवा विषाद में एक दूसरे से भिन्न न होनेवाली, सर्वकार्यों से एक समान उन कन्याओं की जन्म से बंधी हुई पारस्परिक प्रीति को जो कदाचित् उपमा दी जाय तो दो नेत्रों की ही दी जा सकती है, कहा है कि—

सहजगिराण सहसोविराण सहहरिससोअवंताणं।

नयणाण व धन्नाणं, आजम्मं निच्चलं पिम्मं ॥११॥

अर्थ: साथ में जगनेवाली, साथ में सोनेवाली (बंद होनेवाली), साथ में हर्षित होनेवाली और साथ में शोक करनेवाली दो आंखों की तरह जन्म से लेकर निश्चल प्रेम को धारण करनेवालों को धन्य है।

जब वे कन्याएं युवावस्था में आयीं तब राजा विचार करने लगा कि, 'इनको इन्हीं के समान वर कौन मिलेगा? रति प्रीति को जैसे एक कामदेव वर है, वैसे इन दोनों के लिए एक ही वर की शोध करनी चाहिए। पृथक्-पृथक् वर जो कदाचित् इनको मिले तो दोनों को परस्पर विरह होने से प्राणान्त कष्ट होगा। इस जगत् में इनके लिए कौनसा भाग्यशाली वर उचित है? एक कल्पलता को धारण कर सके ऐसा एक भी कल्पवृक्ष नहीं, तो दोनों को धारण करनेवाला कहां से मिल सकेगा? जगत् में इनमें से एक को भी ग्रहण करने योग्य वर नहीं है। हाय हाय! हे कनकध्वज! तू इन कन्याओं का पिता होकर अब क्या करेगा? योग्य वर का लाभ न होने से निराधार कल्पलता के समान इन लोकोत्तर निर्भागी कन्याओं की क्या गति होगी?' इस प्रकार अतिशयचिन्ता के ताप से

संतप्त कनकध्वज राजा महीनों को वर्ष के समान और वर्षों को युगसमान व्यतीत करने लगा। शंकर की दृष्टि सामने के मनुष्य को जैसे कष्टकारी होती है, वैसे ही कन्या चाहे कितनी ही श्रेष्ठ हो, तो भी वह अवश्य अपने पिता को दुःखदायक होती है! कहा है कि—पिता को कन्या के उत्पन्न होते ही 'कन्या हुई' ऐसी भारी चिन्ता मन में रहती है। क्रमशः 'अब वह किसको देना' ऐसी चिन्ता रहती है। लग्न करने के अनन्तर 'पति के घर सुख से रहेगी या नहीं?' यह चिन्ता उत्पन्न होती है, इसलिए कन्या का पिता होना बहुत ही कष्टदायक है, इसमें शक नहीं।

इतने में कामदेव राजा की महिमा जगत् में अतिशय प्रसिद्ध करने के हेतु अपनी सम्पूर्ण ऋद्धि को साथ लेकर वसन्तऋतु वन के अन्दर उतरा। वह ऐसा लगता था मानो जिसका अहंकार सर्वत्र फैल रहा है, ऐसे कामदेव राजा का तीनों लोकों को जीतने से उत्पन्न हुआ यश मनोहर तीन गीतों से गा रहा है। तीनों गीतों में प्रथम गीत है मलयपर्वत के ऊपर से आनेवाले पवन की सनसनाहट, दूसरा भ्रमरों की झंकार व तीसरा है कोकिलपक्षियों का सुमधुर शब्द, उस समय क्रीडारस से अत्यन्त उत्सुक हुई वे दोनों राजकन्याएं मन का आकर्षण होने से हर्षित होकर वन में गयीं। कोई हाथी के बच्चे पर, तो कोई घोड़े पर, कोई मिश्रजाति के घोड़े पर, तो कोई पालखी अथवा रथ आदि में इस प्रकार तरह-तरह के वाहन में बैठकर बहुत सखियां उनके साथ निकलीं। पालखी में सुखपूर्वक बैठी हुई सखियों के परिवार से शोभायमान दोनों राजकन्याएं ऐसी शोभा दे रही थीं कि मानो विमान में आरूढ़ व देवियों के परिवार युक्त साक्षात् लक्ष्मी व सरस्वती हो। शोक को समूल नाश करनेवाले अनेक अशोकवृक्ष जिसमें सर्वत्र व्याप्त हैं ऐसे अशोकवन नामक उद्यान में वे राजकन्याएं आ पहुंचीं। अन्दर के बिन्दु के समान भ्रमरों से युक्त होने के कारण नेत्रों के समान दिखते हुए पुरुषों के साथ मानो प्रीति से ही नेत्रमिलाप करनेवाली उक्त दोनों राजकन्याएं उद्यान देखने लगीं। तरुणी अशोकमंजरी क्रीड़ा करनेवाली स्त्री के चित्त को उत्सुक करनेवाली, स्तु अशोकवृक्ष की शाखा में बंधे हुए हिंडोले पर चढ़ी। उस पर दृढ़ रखनेवाली सुन्दरी तिलकमंजरी ने प्रथम हिंडोले को झूले दिये। स्त्री के वश में पड़ा हुआ पति जैसे उसके पादप्रहार से हर्षित होकर शरीर पर विकसित रोमांच धारण करता है, वैसे ही अशोकमंजरी के पादप्रहार से सन्तुष्ट हुआ अशोकवृक्ष विकसितपुष्पों के बहाने से मानो अपनी रोमावली विकसित करने लगा। आश्चर्य की बात यह है कि, हिंडोले पर बैठकर झलनेवाली अशोकमंजरी तरुण पुरुषों के मन में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्नकर उनके मन और नेत्रों को भी हिंडोले पर चढ़े हों उस तरह झलाने लगी। उस समय रुमझुमशब्द करनेवाले अशोकमंजरी के रत्नजडित पैजन आदि आभूषण मानों टूटने के भय से ही आक्रोश करने लगे, ऐसा ज्ञात होता था।

क्रीड़ा रस में निमग्न हुई अशोकमंजरी की ओर तरुण पुरुष पुलकित होकर, और तरुणस्त्रियां मन में ईर्ष्या लाकर क्षणमात्र देख रही थीं, इतने में दुर्भाग्यवश प्रचंड पवन

के वेग से अकस्मात् हिंडोला टूट गया और उसके साथ ही लोगों के मन का क्रीडारस भी नष्ट हो गया। शरीर में की नाड़ी टूटने से जैसे लोग आकुलव्याकुल होते हैं वैसे ही हिंडोले के टूटते ही सब लोग व्याकुल हो हाहाकार करने लगे। इतने में ही मानो आकाश में कौतुक से गमन करती हो इस तरह अशोकमंजरी हिंडोले सहित वेग से आकाश में जाती हुई दृष्टि में आयी। तब लोग उच्च स्वर से कोलाहल करने लगे कि, 'हाय हाय! कोई यम के समान अदृश्य पुरुष इसको हरण किये जा रहा है!!' प्रचंड मनुष्य और बाणों के समूह को धारण करनेवाले, शत्रु को संमुख न टिकने देनेवाले शूखीर पुरुष झड़प से वहां आये व खड़े रहकर ऊंची दृष्टि से अशोकमंजरी का हरण देख रहे थे, परन्तु वे कुछ भी न कर सके। ठीक ही है अदृश्य अपराधी को कौन शिक्षा कर सकता है।

राजा कनकध्वज कान में शूल उत्पन्न करे ऐसा कन्या का हरण सुनकर क्षणमात्र वज्रप्रहार से पीड़ित मनुष्य की तरह अतिदुःखित हुआ। 'हे वत्से! तू कहां गयी? तू मुझे दर्शन क्यों नहीं देती? हे शुद्धचित्ते! क्या तूने पूर्व का अपार प्रेम छोड़ दिया? हाय हाय!!' राजा विरहातुर होकर इस प्रकार शोक कर रहा था, कि इतने में एक सेवक ने आकर कहा, 'हाय हाय! हे स्वामिन्! अशोकमंजरी के शोक से जर्जरित तिलकमंजरी जैसे प्रचंड वेग से वृक्ष की मंजरी गिर जाती है, वैसे मूर्च्छित होकर पड़ी है, वह ऐसी मालूम होती है मानो कंठ में प्राण रखकर अशरण हो गयी हो?' घाव पर क्षार पड़ने अथवा जले हुए स्थान पर छाला होने के समान यह वचन सुन राजा कनकध्वज कुछ मनुष्यों के साथ शीघ्र ही तिलकमंजरी के पास आया। चंदनादि शीतल उपचार करने से बड़े प्रयास से वह सचेतन्य हुई और विलाप करने लगी—'मदोन्मत हस्ति के समान गतिवाली मेरी स्वामिनी! तू कहां है? मुझ पर अपूर्व प्रेम होते हुए तू मुझे यहां छोड़कर कहां चली गयी? हाय हाय! मुझ अभागिणी के प्राण तेरे वियोग से शरण रहित और चारों ओर से बाण द्वारा बिंधे हुए के समान हुए अब किस प्रकार रहेंगे? हे तात! मैं जीवित रह गयी इससे बढ़कर दूसरी कौनसी अनिष्ट की बात है? मेरी भगिनी का असहवियोग मैं अब कैसे सहन करूं?' इस प्रकार विलाप करती हुई तिलकमंजरी पागल की तरह धूल में लौटने तथा मछली की तरह तड़पने लगी। जैसे दावानल के स्पर्श से लता सूखती है वैसे वह खड़ी-खड़ी ही इतनी सूख गयी कि किसीको भी उसके जीवन की आशा न रही। इतने में उसकी माता भी वहां आकर इस प्रकार विलाप करने लगी—'हे दुर्देव! तूने निर्दयी होकर मुझे ऐसा दुःख क्यों दिया? मेरी एक पुत्री को तो तु हरण कर ले गया और दूसरी मेरे देखते-देखते मृत्यु को प्राप्त होगी? हाय! हाय! मैं मारी गयी। हे गोत्रदेवियाँ! वनदेवियाँ! आकाशदेवियाँ! तुम शीघ्र आओ और मेरी इस कन्या को दीर्घायु करो।' रानी की सखियाँ, दासियाँ और नगर की सती स्त्रियाँ वहां आकर रानी के दुःख में स्वयं दुःखी होकर उच्च स्वर से अतिशय विलाप करने लगीं। उस समय वहां के सर्व मनुष्य शोकातुर थे। 'अशोक' नाम धारण

करनेवाले वृक्ष भी चारों ओर से शोक करते हों ऐसे मालूम होने लगे। उन लोगों के दुःख से अतिशय दुःखी हो वहां न रह सकने के कारण मानो सूर्य भी उसी समय पश्चिम समुद्र में डूब गया (अस्त हो गया)। पूर्वीदिशा की ओर से फैलते हुए अंधकार को अशोकमंजरी के विरह से उत्पन्न हुए शोक ने मार्ग दिखा दिया जिससे वह तुरन्त ही सुखपूर्वक वहां सर्वत्र प्रसरित हो गया। जिससे शोकातुर लोग और भी अकुलाये। मलीन वस्तु के कृत्य ऐसे ही होते हैं। थोड़ी देर के अनन्तर अमृत के समान रश्मिधारी सुखदायी चन्द्रमा त्रैलोक्य को मलीन करनेवाले अंधकार को दूर करता हुआ प्रकट हुआ। जैसे सजलमेघ लताओं को तृप्त करता है, वैसे ही मानो चन्द्रमा ने मन में मानो दया लाकर ही अपनी चंद्रिका (चांदनी) रूप अमृतरस की वृष्टि से तिलकमंजरी को प्रसन्न की।

पश्चात् रात्रि के अंतिम प्रहर में जैसे मार्ग की जाननेवाली मुसाफिर स्त्री उठती है, वैसे ही मन में कुछ विचार करके तिलकमंजरी उठी, और निष्कपट मन से सखियों को साथ लेकर उद्यान के अंदर स्थित गोत्रदेवी चक्रेश्वरी के मंदिर में शीघ्र गयी। और परमभक्ति से कमलपुष्पों की मालाओं से पूजा करके उसे विनती की कि—'हे स्वामिनी! मैंने जो मन में कपट रहित भक्ति रखकर सर्वकाल तेरी पूजा, वंदना और स्तुति की हो तो आज मेरे ऊपर अनुग्रहकर अपनी पवित्रवाणी से मेरी बहन की शुद्धि बता। हे मातेश्वरी! अगर यह बात तुझसे न बनेगी तो, 'यह समझ ले कि मैंने आजन्म पर्यंत भोजन का त्याग किया।' कारण कि कौन नीतिमान् मनुष्य अपने इष्टव्यक्ति के अनिष्ट की मन में कल्पना आने पर भोजन करता है?

तिलकमंजरी की भक्ति, शक्ति और बोलने की युक्ति देखकर चक्रेश्वरी देवी प्रसन्न होकर शीघ्र प्रकट हुई। मनुष्य मन की एकाग्रता करे तो क्या नहीं हो सकता? देवी ने हर्षपूर्वक कहा कि, 'हे तिलकमंजरी! तेरी बहन कुशल पूर्वक है। हे वत्से! तू खेद को त्याग कर दे और भोजन कर। एक मास के अंदर तुझे अशोकमंजरी मिलेगी और दैवयोग से उसी समय उसका व तेरा मिलाप भी होगा। जो तू पूछना चाहे कि उसका मिलाप कहां व किस प्रकार होगा? तो सुन-सघनवृक्षों के कारण कायरमनुष्य जिसे पार नहीं कर सकता वैसी इस नगर की पश्चिम दिशा में कुछ दूर पर एक अटवी (वन) है। उस समृद्ध अटवी में राजा का हाथ तो क्या? परन्तु सूर्य की किरणों भी कहीं प्रवेश नहीं कर सकती। वहां के श्रृगाल भी अन्तःपुरवासिनी राजस्त्रियों की तरह कभी भी सूर्य का दर्शन नहीं कर सकते। वहां मानो आकाश से सूर्य का विमान ही उतरा हो ऐसा श्री ऋषभदेव भगवान् का एक रत्नजडित सुशोभित मंदिर है। आकाश में शोभित पूर्णचन्द्र की तरह उस मंदिर में श्रेष्ठ चन्द्रकान्तमणि की जिनप्रतिमा बिराजमान है। मानो उस प्रतिमा को स्वयं विधाता ने ही कल्पवृक्ष, कामधेनु, कामकुंभ आदि वस्तुओं से महिमा का सार लेकर बनायी हो। हे तिलकमंजरी! तू उस प्रशस्त और अतिशय से जागृत प्रतिमा की पूजा कर, जिससे तेरी बहन की शुद्धि मिलेगी और मिलाप भी होगा।

वहां तेरा सर्व प्रकार से इष्ट लाभ ही होगा। भगवान् जिनेश्वर महाराज की सेवा से क्या नहीं हो सकता? जो तू यह कहे कि मैं इतनी दूर उस मंदिर में किस प्रकार जाऊं व आऊं? तो हे सुन्दरि! मैं उसका भी उपाय करती हूं, सुन। कार्य का उपाय गड़बड़ में अच्छी तरह न कहा हो तो कार्य सफल नहीं होता। शंकर की तरह सर्वकार्य करने में समर्थ व हर एक कार्य करने में तत्पर चन्द्रचूड़ नामक मेरा एक सेवक देवता है। जैसे ब्रह्मा के आदेश से हंस सरस्वती को ले जाता है। वैसे ही मेरे आदेश से वह देव मयूरपक्षी का रूप करके तुझे वांछित स्थान में ले जायेगा।'

चक्रेश्वरी देवी के इतना कहते ही एक मधुर केकारव करनेवाला सुन्दरपक्षधारी मयूर एकाएक प्रकट हुआ। उस अद्वितीय गति दिव्यमयूर पक्षी पर बैठकर देवी की तरह तिलकमंजरी नित्य क्षणमात्र में जिनमहाराज की पूजा करने को आती जाती है। जहां वह आती है, वही यह चित्ताकर्षक वन, वही यह मंदिर, वही मैं तिलकमंजरी और वही यह विवेकी मयूरपक्षी है। हे कुमार! इस प्रकार मैंने अपना वृत्तान्त कह सुनाया। हे भाग्यशाली! अब मैं शुद्ध मन से तुझे कुछ पूछती हूं। आज एक मास पूर्ण हो गया मैं नित्य यहां आती हूं। जैसे मारवाड़ देश में गंगा नदी का नाम भी नहीं मिलता, वैसे मैंने मेरी बहन का अभी तक नाम तक नहीं सुना। हे जगत्श्रेष्ठ! हे कुमार! क्या मेरे ही समान रूपवाली कोई कन्या जगत् में भ्रमण करते हुए तेरे कही देखने में आयी है?

तिलकमंजरी के इस प्रश्न पर रत्नसारकुमार ने मधुर स्वर से उत्तर दिया कि, 'भयातुर हिरणी की तरह चंचलनेत्रवाली, त्रैलोक्यवासी सर्वस्त्रियों में शिरोमणि, हे तिलकमंजरी! जगत् में भ्रमण करते मैंने यथार्थ तेरे समान तो क्या बल्कि अंशमात्र से भी तेरे समान कन्या देखी नहीं, और देखूंगा भी नहीं। कारण कि, जगत् में जो वस्तु हो तो देखने में आवे, न हो तो कहां से आवे? तथापि हे सुन्दरि! दिव्यदेहधारी, हिंडोले पर चढ़कर बैठा हुआ, सुशोभित तरुणावस्था में पहुंचा हुआ, लक्ष्मीदेवी के समान मनोहर एक तापसकुमार शबरसेना वन में मेरे देखने में आया है। वह मात्र वचन की मधुरता, रूप, आकार आदि से तेरे ही समान था। हे महामना! उस तापसकुमार ने स्वाभाविक प्रेम से मेरा जो आदरसत्कार किया, उस सर्व बात का स्वप्न की तरह विरह हो गया, यह बात जब-जब याद आती है तब-तब मेरा मन अभी भी टुकड़े-टुकड़े होता हो, अथवा जलता हो ऐसा प्रतीत होता है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि तू वही तापसकुमार है अथवा वही तेरी बहन होगी। कारण कि, दैवगति विचित्र होती है।' कुमार यह कह रहा था इतने में उक्त चतुर तोता कलकल शब्द से कहने लगा कि, 'हे कुमार! मैंने यह बात प्रथम से ही जान ली थी और तुझे कहा भी था। मैं निश्चयपूर्वक कहता हूं कि वह तापसकुमार वास्तव में कन्या ही है, और इसकी बहन ही है। मेरी समझ से मास पूर्ण हो गया है, इससे आज किसी भी तरह उसका मिलाप होगा।' 'तिलकमंजरी ने तोते के ये वचन सुनकर कहा कि, हे शुक! जो मैं जगत् में सारभूत मेरी बहन को देखूंगी, तो तेरी कमल से पूजा करूंगी।' इत्यादि रत्नसार और तिलकमंजरी ने

तोते की प्रशंसा की। इतने में ही मधुरशब्दवाले नूपुर से शोभित, मानो आकाश में से चन्द्रमंडली ही गिरती हो! ऐसी ध्राति उत्पन्न करनेवाली, अतिशय लंबा पंथ काटने से थकी हुई तथा दूसरी हंसनियां ईर्ष्या से, हंस अनुरागदृष्टि से और कुमार आदि आश्चर्य तथा प्रीति से जिसके तरफ देखते रहे हैं ऐसी एक दिव्य हंसिनी रत्नसारकुमार की गोद में पड़कर लोटने लगी। और मानो असीमप्रीति से ही कुमार के मुख को देखती हुई तथा भय से कांपती हुई मनुष्य भाषा से बोलने लगी कि, 'शक्तिशाली लोगों की पंक्ति में माणिक्य रत्न समान, शरणवत्सल, हे कुमार! मेरी रक्षा कर! मैं तुझे मेरी रक्षा करने के सर्वथा योग्य समझकर तेरी शरण में आयी हूँ कारण कि, महानपुरुष शरणागत के लिए वज्रपंजर (वज्र के पिंजर) के समान है। किसी समय व किसी भी स्थान में पवन स्थिर हो जाय, पर्वत हिलने लगे, बिना तपाये स्वाभाविक रीति से ही जल अग्नि की तरह जलने लगे, अग्नि बर्फ के समान शीतल हो जाय, परमाणु का मेरु बन जाय, मेरु परमाणु हो जाय, आकाश में अद्भर कमल उगे तथा गधे को सींग आ जाय, तथापि धीरपुरुष शरणागत को कल्पान्त पर्यंत भी नहीं छोड़ते। व शरण में आये हुए जीवों की रक्षा करने के निमित्त विशालसाम्राज्य को भी रजःकण के समान गिनते हैं। धन का नाश करते हैं, और प्राण को भी तृणवत् समझते हैं।'

यह सुनकर रत्नसारकुमार उस हंसिनी के कमलसदृश कोमल पैरों पर हाथ फिराकर कहने लगा कि, 'हे हंसिनी! भयातुर न हो। मेरी गोद में बैठे रहते कोई राजा, विद्याधरेश तथा वैमानिक देवताओं का अथवा भवनपति का इन्द्र भी तुझे हरण करने को समर्थ नहीं। मेरी गोद में बैठी हुई तू शेषनाग की कंचुकी के समान श्वेत युगलपंखों को क्यों धूजाती है?' यह कहकर कुमार ने उसे सरोवर में से निर्मल जल और सरस कमल तंतु मंगाकर उसे देकर संतुष्ट की। कुमार आदि के मन में यह संशय आ ही रहा था कि, 'यह कौन है? कहां से आयी? किससे भयातुर हुई? और मनुष्यवाणी से किस प्रकार बोलती है?' इतने में ही शत्रुओं के करोड़ों सुभटों के निम्नोक्त भयंकर वचन उनके कान में पड़े। 'त्रैलोक्य का अंत करनेवाले यम को कौन कुपित कर सकता है? अपने जीवन की परवाह न करते शेषनाग के मस्तक पर स्थित मणि को कौन स्पर्श कर सकता है? तथा कौन बिना विचारे प्रलयकाल की अग्निज्वालाओं में प्रवेश कर सकता है?' इत्यादि वचन सुनते ही तोते के मन में शंका उत्पन्न हुई, और वह मंदिर के द्वार पर आकर देखने लगा, उसने गंगा के तीव्र प्रवाह की तरह, आकाश मार्ग में आती हुई विद्याधरराजा की महान् शूरवीर सेना उसके देखने में आयी। तीर्थ के प्रभाव से, कुछ दैविकप्रभाव से, भाग्यशाली रत्नसार के आश्चर्यकारी भाग्य से अथवा उसके परिचय से, कौन जाने किस कारण से तोता शूरवीरपुरुषों का व्रत पालन में प्रधान हुआ। उसने गंभीर और उच्चस्वर से ललकार कर शत्रु की सेना को कहा कि, 'अरे विद्याधर सुभटों! दुष्टबुद्धि से कहां दौड़ते हो? क्या नहीं देखते कि देवताओं से भी न जीता जा सके ऐसा कुमार संमुख बैठा हुआ है? सुवर्णसदृश तेजस्वी काया को धारण

करनेवाला यह कुमार, जैसे गरुड़ चारों ओर दौड़नेवाले सर्पों का मद उतारता है वैसे ही तुम्हारा मदोन्मत्त की तरह अहंकार क्षणमात्र में उतारेगा। जो इस कुमार को क्रोध चढ़ेगा तो युद्ध की बात तो दूर रही! परंतु तुमको भागते-भागते भी भूमि का अंत न मिले।' विद्याधर के सुभट वीरपुरुष के समान तोते की ऐसी ललकार सुनकर घबराये, चकित हुए, डर गये और मन में सोचने लगे कि—यह कोई देवता अथवा भवनपति तोते के रूप में बैठा है। यदि ऐसा न होता तो यह इस प्रकार विद्याधरों को भी ललकार से कैसे बोलता? कुमार कैसा भयंकर है? कौन जाने? आज तक विद्याधरों के भयंकर सिंहनाद भी हमने सहन किये हैं, परन्तु आज एक तोते की यह तुच्छ ललकार हमसे क्यों नहीं सहन होती है? जिसका तोता भी ऐसा शूरवीर है कि जो विद्याधरों तक को भय उत्पन्न करवाता है तो वह कुमार कौन जाने कैसा होगा? युद्ध में निपुण होने पर भी अपरिचित के साथ कौन युद्ध करे? कोई तैरने का अहंकार रखता हो तो भी क्या वह अपारसमुद्र को तैर सकता है?'

भयभीत हुए, आकुल व्याकुल हुए और पराक्रम से भ्रष्ट हुए समस्त विद्याधर सुभट तोते की ललकार सुनते ही उपरोक्त विचारकर शियालियों की तरह भाग गये! जैसे बालक पिता के पास जाकर कहते हैं वैसे उन सुभटों ने भी अपने राजा के पास जाकर संपूर्ण वृत्तान्त कहा। सुभटों का वचन सुनते ही विद्याधर राजा के नेत्र क्रोध से रक्त हो गये और बिजली के समान इधर-उधर चमक मारने लगे और ललाट पर चढ़ाई हुई भौंहे से उसका मुख भयंकर दिखने लगा। पश्चात् उस सिंह समान बलिष्ठ व कीर्तिमान् राजा ने कहा कि, 'हे सुभटों! शूरवीरता का अहंकार रखते हुए वास्तव में कायर और अकारण डरनेवाले तुमको धिक्कार है! तोता, कुमार अथवा कोई अन्य देवता वा भवनपति वह क्या चीज है? हे दरिद्रियों! तुम अब मेरा पराक्रम देखो।'

इस प्रकार से उच्चस्वर से धिक्कार वचन कहकर उसने दश मुंह व बीस हाथवाला रूप प्रकट किया। एक दाहिने हाथ में शत्रु के कवच को सहज में काट डालनेवाला खड्ग, और एक वाम हाथ में ढाल, एक हाथ में मणिधर सर्प सदृश बाणों का समूह और दूसरे हाथ में यम के बाहुदंड की तरह भय उत्पन्न करनेवाला धनुष, एक हाथ में मानो अपना उसका मूर्तिमन्त यश ही हो ऐसा गंभीरस्वरवाला शंख और दूसरे हाथ में शत्रु के यशरूपी नाग (हाथी) को बंधन में डालनेवाला नागपाश, एक हाथ में यमरूप हाथी के दंतसमान शत्रुनाशक माला और दूसरे हाथ में भयंकर फरसी, एक हाथ में पर्वत के समान विशाल मुद्गर और दूसरे हाथ में भयानक पत्रपाल, एक हाथ में जलती हुई कांतिवाला भिदिपाल और दूसरे हाथ में अतितीक्ष्ण शल्य, एक हाथ में महान भयंकर तोमर और दूसरे हाथ में शत्रु को शूल उत्पन्न करनेवाला त्रिशूल, एक हाथ में प्रचंड लोहदंड और दूसरे हाथ में मानो अपनी मूर्तिमंत शक्ति ही हो ऐसी शक्ति, एक हाथ में शत्रु का नाश करने में अतिनिपुण पट्टिश और दूसरे हाथ में किसी रीति से फूट न शके ऐसा दुस्फोट, एक हाथ में बैरी लोगों को

विघ्न करनेवाली शतघ्नी और दूसरे हाथ में परचक्र को कालचक्र समान चक्र; इस प्रकार बीसों हाथों में क्रमशः बीस आयुध धारणकर वह बड़ा ही भयंकर हो गया।

वैसे ही, एक मुख से सांड की तरह डकारता, दूसरे मुख से तूफानी समुद्र के समान गर्जना करता, तीसरे मुख से सिंह के समान सिंहनाद करता, चौथे मुख से अट्टहास्य (खिलखिला कर हंसना) करता, पांचवें मुख से वासुदेव की तरह भारी शंख बजाता, छठे मुख से मंत्रसाधक पुरुष की तरह दिव्यमंत्रों का जाप करता, सातवें मुख से एक बड़े बंदर की तरह हक्कारव करता, आठवें मुख से पिशाच की तरह उच्चस्वर से भयंकर किलकिल शब्द करता, नवमें मुख से गुरु की तरह कुशिष्यरूपी सेना को तर्जना करता तथा दशवें मुख से वादी जैसे प्रतिवादी को तिरस्कार करता है, वैसे रत्नसारकुमार को तिरस्कार करता हुआ वह भिन्न-भिन्न चेष्टा करनेवाले दश मुखों से मानो दशों दिशाओं को समकाल में भक्षण करने को तैयार हुआ ऐसा दिखता था। एक दाहिनी और एक बाईं दो आंखों से अपनी सेना के तरफ अवज्ञा और तिरस्कार से देखता, दो आंखों से अपनी भुजाओं को अहंकार व उत्साह से देखता, दो आंखों से अपने आयुधों को हर्ष व उत्कर्ष से देखता, दो आंखों से तोते को आक्षेप और दया से देखता, दो आंखों से हंसिनी की तरफ प्रेम व समझावट से देखता, दो आंखों से तिलकमंजरी की तरफ अभिलाषा व उत्सुकता से देखता, दो आंखों से मयूर पक्षी की और इच्छा व कौतुक से देखता, दो आंखों से जिनेश्वर भगवान की प्रतिमा तरफ उल्लास व भक्ति से देखता, दो आंखों से कुमार के तरफ ईर्ष्या और क्रोध से देखता तथा दो आंखों से कुमार के तेज को भय तथा आश्चर्य से देखता हुआ वह विद्याधर राजा मानो अपनी-अपनी बीस भुजाओं की स्पर्धा से ही अपनी बीस आंखों से उपरोक्त कथनानुसार पृथक्-पृथक् बीस मनोविकार प्रकट करता था। पश्चात् वह यम की तरह किसीसे वश में न हो ऐसा प्रलयकाल की तरह किसीसे सहा न जाये ऐसा और उत्पात की तरह जगत् को क्षोभ उत्पन्न करनेवाला होकर आकाश में उछला।

उसके महान् भयंकर और अद्भुत साक्षात् रावण के समान स्वरूप को देखकर तोता डरा। ठीक ही है, ऐसे क्रूर स्वरूप के संमुख कौन खड़ा रह सकता है? दावाग्नि को जलती हुई ज्वाला को पीने की कौन मनुष्य इच्छा करता है? अस्तु, भयभीत तोता श्रीराम के समान रत्नसारकुमार की शरण में गया। अनन्तर विद्याधर राजा ने इस प्रकार ललकार की—'हे कुमार! दूर भाग जा, वरना अभी नष्ट हो जायेगा, अरे दुष्ट! निर्लज्ज! अमर्याद! निरंकुश! तू मेरे जीवन की सर्वस्व हंसिनी को गोद में लेकर बैठा है? अरे! तुझे बिलकुल किसीका भय या शंका नहीं? जिससे तू अभीतक मेरे संमुख खड़ा है। हे मूर्ख! सदैव दुःखी जीव की तरह तू शीघ्र मर जायेगा।'

जिस समय वह उक्त तिरस्कार वचन बोल रहा था उस समय तोता शंका से, मयूर कौतुक से, कमलनयनी तिलकमंजरी त्रास से और हंसिनी संशय से कुमार के मुख तरफ देख रही थी। इतने में कुमार ने किञ्चित् हंसकर कहा—'अरे! तू वृथा क्यों

डराता है? यह डर किसी बालक के संमुख चलेगी, वीर के संमुख नहीं। अन्य पक्षी तो ताली बजाने से ही डर जाते हैं, परंतु नगारा बजने पर भी ठिठाई रखनेवाला मठ के अंदर रहनेवाला कपोत बिलकुल नहीं डरता है। इस शरण में आयी हुई हंसिनी को कल्पांत हो जाने पर भी मैं नहीं छोड़ सकता। इतने पर भी सर्प के मस्तक पर स्थित मणि की तरह तू इसकी इच्छा करता है, इसलिए तुझे धिक्कार है। इसकी आशा छोड़कर तू शीघ्र यहां से भाग जा, अन्यथा मैं तेरे दश मस्तकों की दश दिक्पालों को बलि दूंगा।'

इतने में ही रत्नसारकुमार को सहायता करने के इच्छुक चन्द्रचूड़देवता ने मयूर पक्षी का रूप त्यागकर शीघ्र अपना देवरूप बनाया। और हाथ में तरह-तरह के आयुध धारण करके कुमार के पास आया। पूर्वभ्रम के किये हुए कर्मों की बलिहारी है। उसने कुमार को कहा—'हे कुमार तू तेरी इच्छा के अनुसार युद्धकर, मैं तुझे शस्त्र दूंगा व तेरे शत्रु को चूर्ण कर डालूंगा।' यह सुन लोह कवच तथा कुबेर का पक्ष मिलने से तक्षकादिक की तरह कुमार को द्विगुण उत्साह हुआ और हंसिनी को तिलकमंजरी के हाथ में देकर, स्वयं तैयार हो विष्णु जैसे गरुड़ पर चढ़ते हैं वैसे समसन्धकार अश्व पर चढ़ा। तब चन्द्रचूड़ ने शीघ्र सेवक की तरह कुमार को गाण्डीव को तुच्छ करनेवाले धनुष्य और बाणों के तर्कश दिये। उस समय रत्नसारकुमार देदीप्यमान काल की तरह प्रचण्ड भुजदण्ड में धारण किये हुए धनुष्य का भयंकर टंकार शब्द करता हुआ आगे बढ़ा। पश्चात् दोनों योद्धाओं ने धनुष्य की टंकार से दशों दिशाओं को बहरी कर डालें ऐसा बाणयुद्ध प्रारंभ किया। दोनों जनों के हाथ इतने कुशल थे कि कोई उनका तर्कश में से बाण निकालना, धनुष्य को जोड़ना और छोड़ना देख ही नहीं पाता था, केवल एक सरीखी जो बाण वृष्टि हो रही थी वह तोते आदि के देखने में न आयी।

ठीक ही है, जल से पूर्ण नवीन मेघ वृष्टि करे तब वृष्टि की धारा का पूर्वापर क्रम कैसे ज्ञात हो सकता है? बाण फेंकने में स्वाभाविक हस्तचातुर्य धारण करनेवाले और कभी भी आकुल व्याकुल न हो ऐसे उभयवीरों के केवल बाण ही परस्पर प्रहार करते थे परन्तु उनके शरीर में एक भी बाण ने स्पर्श नहीं किया, अत्यन्त क्रोधित हुए उन दोनों महायोद्धाओं में बहुत समय तक सेल्ल, बावल्ल, तीरी, तोमर, तबल, अर्द्धचन्द्र, अर्द्धनाराच, नाराच आदि अनेक प्रकार के तीक्ष्णबाणों से युद्ध होता रहा। परन्तु दोनों में से कोई भी न थका, एक ही समान दो कुशल जुआरी हो तो उनमें परस्पर विजय का जैसे संशय रहता है, ऐसी ही गति इन दोनों की थी। ठीक ही है, एक विद्या के बल से और दूसरा देवता के बल से बलिष्ठ हुए, वालि और रावण के समान उन दोनों योद्धाओं में किसकी विजय होगी, यह शीघ्र ही कैसे निश्चय किया जा सकता है? सुनीति से उपार्जित धन जैसे क्रमशः चढ़ती दशा में आता है, वैसे नीति और धर्म का विशेष बल होने से रत्नसारकुमार अनुक्रम से उत्कर्ष हुआ। उससे हतोत्साह हो विद्याधर राजा ने अपना पराजय हुआ समझकर संग्राम करने की सीधी राह छोड़ दी, और वह अपनी सर्वशक्ति से कुमार पर टूट पड़ा। बीस भुजाओं में धारण किये हुए

विविध शस्त्रों से कुमार को प्रहार करनेवाला वह विद्याधर राजा सहस्रार्जुन की तरह असह्य प्रतीत होने लगा। शुद्धचित्त रत्नसारकुमार 'अन्याय से संग्राम करनेवाले किसी भी पुरुष की जीत कभी नहीं होती' यह सोच बहुत उत्साहित हुआ। विद्याधर राजा के किये हुए सर्वप्रहारों से अश्वरत्न की चालाकी से अपनी रक्षा करनेवाले कुमार ने शीघ्र क्षुरप्रनामक बाण हाथ में लिया। व शस्त्रभेदन की रीत में दक्ष होने के कारण उसने, जैसे उस्तरे से बाल काटे जाते हैं वैसे उसके सर्व शस्त्र तोड़ डाले। साथ ही अर्द्धचन्द्रबाण से विद्याधर राजा के धनुष्य के भी दो टुकड़े कर दिये, और दूसरे अर्द्धचन्द्रबाण से उसकी अभेद्य छाती में प्रहार किया। बड़ा ही आश्चर्य है कि एक वणिक्कुमार में भी ऐसा अलौकिक पराक्रम था। विद्याधर राजा की छाती से रक्त का झरना बह निकला। प्रहार से दुःखित व शस्त्र रहित होने से वह पानखर ऋतु में पत्र होते हुए पीपल वृक्ष के समान हो गया। इस अवस्था में भी उसने बहुरूपिणी विद्या द्वारा वेग बहु होने के लिए क्रोधित हो बहुत से रूप प्रकट किए। वे असंख्य रूप पवन के तूफान की तरह संपूर्ण जगत् को बड़े भयानक हुए। प्रलयकाल के भयंकर बादलों के समान उन रूपों से सर्व प्रदेश रूका हुआ होने से आकाश इतना भयानक हो गया कि देखा नहीं जा सकता था। कुमार ने जहां-जहां अपनी दृष्टि फेरी वहां उसे भयंकर भुजाओं के समुदाय युक्त विद्याधर राजा नजर आया। परन्तु उसे लेशमात्र भी भय न हुआ। धीरपुरुष कल्पान्त काल आ पड़ने पर भी कायर नहीं होते।

पश्चात् कुमार ने बेनिशान चारों ओर बाणवृष्टि शुरू की। ठीक ही है, संकट समय आने पर धीरपुरुष अधिक पराक्रम प्रकट करते हैं। कुमार को भयंकर संकट में फंसा हुआ देखकर चन्द्रचूडदेवता हाथ में विशाल मुद्गर लेकर विद्याधर राजा को प्रहार करने के लिए उठा। गदाधारी भीमसेन की तरह भयंकर रूपधारी चन्द्रचूड देवता को आता देख दुःशासन समान विद्याधर राजा बड़ा ही क्षुभित हुआ। तथापि वह धैर्य के साथ अपने सर्वरूप से, सर्वभुजाओं से, सर्वशक्ति से और सर्व तरफ से देवता को प्रहार करने लगा। देवता की अचिन्त्य शक्ति व कुमार के अद्भुत भाग्य से चन्द्रचूड पर किये हुए शत्रु के सर्व प्रहार कृतघ्न मनुष्य पर किये हुए उपकार की तरह निष्फल हुए। जैसे इन्द्र वज्र से पर्वत को प्रहार करता है वैसे क्रोध से दुर्धर हुए चन्द्रचूड ने विद्याधर राजा के मुख्य स्वरूप पर प्रहार किया, तब कायर मनुष्यों के प्राण निकल जावे ऐसा भयंकर शब्द हुआ। विद्याबल से अहंकारी हुए, त्रैलोक्यविजयी सत्ताधारी वासुदेव समान विद्याधर राजा की वज्र के सदृश मजबूत मस्तक उस प्रहार से विदीर्ण नहीं हुआ। तथापि भय पाकर उसकी बहुरूपिणी महाविद्या कौएँ के समान शीघ्र भाग गयी। वास्तव में देवताओं की सहायता आश्चर्यकारी होती है इसमें कुछ शक नहीं।

'यह कुमार स्वभाव से ही शत्रुओं को राक्षस समान भयंकर लगता था, और उसमें भी अग्नि को सहायक जैसे पवन मिलता है, वैसे इसे अजेय देवता सहायक मिला है।' यह विचारकर विद्याधर राजा की विद्या भाग गयी। कहा है कि जो भागे सो

जावे। पैदल का स्वामी वह विद्याधर राजा अपनी भागी हुई इष्टविद्या को देखने के लिए उसके पीछे तीव्र वेग से दौड़ता गया। संयोगनिष्ठ (परस्पर संयोग से बने हुए) दो कार्यों में जैसे एक का नाश होने से दूसरे का भी नाश हो जाता है, वैसे ही विद्या का लोप होते ही विद्याधर राजा का भी लोप हो गया। कहां तो सुकुमार और कहां वह कठोर विद्याधर। तथापि कुमार ने विद्याधर को जीता, इसका कारण यह है कि जहां धर्म हो वहीं जय होती है। विद्याधर राजा के सेवक भी उसके साथ ही भाग गये। ठीक ही है दीवे के बुझ जाने पर क्या पीछे उसकी प्रभा रहती है? तदनंतर जैसे राजा सेवक के साथ महल में आता है, वैसे कुमार दुर्जयशत्रु को जीतने से उत्कर्ष पाये हुए देवता के साथ प्रासाद में आया। कुमार का अतिशय चमत्कारिक चरित्र देखकर तिलकमंजरी हर्ष से पुलकित होकर मन में विचार करने लगी कि, 'त्रैलोक्य में शिरोमणी के समान यह तरुणकुमार पुरुषों में रत्न है। इसलिए भाग्यवश मेरी बहन जो अभी मिल जाय तो ऐसे पति का लाभ हो' इस प्रकार विचार करती, मन में उत्सुकता, लज्जा और चिन्ता धारण करनेवाली तिलकमंजरी के पाससे कुमार ने बालिका की तरह हंसिनी को उठा ली।

हंसिनी कहती है कि, 'धीरशिरोमणी, सर्वकार्यसमर्थ, वीररत्न हे कुमारराज! तू चिरकाल जीवित व विजयी रह। हे क्षमाशील कुमार! दीन, दरिद्री, भयातुर और अनार्य ऐसा मैंने अपने लिये तुझे बहुत खेद उत्पन्न किया, उसके लिये क्षमा कर। वास्तव में विद्याधर राजा के समान मुझ पर उपकार करनेवाला कोई नहीं। कारण कि, उसीके भय से मैं अनंत पुण्यों से भी अलभ्य तेरी गोद में आकर बैठी, धनवान पुरुष के प्रसाद से जैसे निर्धन पुरुष सुखी होता है, वैसे ही हमारे सदृश पराधीन व दुःखी जीव तेरे योग से चिरकाल सुखी रहें।'

कुमार बोला—'हे मधुरभाषिणी हंसिनी! तू कौन है? विद्याधर ने तुझे किस प्रकार हरण की? और यह मनुष्य वाणी तू किस प्रकार बोलती है? सो कह।'

हंसिनी ने उत्तर दिया—'हे कुमार! विशालजिनमंदिर से सुशोभित वैताढ्य पर्वत के शिखर के अलंकारभूत 'रथनूपुरचक्रवाल' नामक नगरी का रक्षक और स्त्रियों में आस्त 'तरुणीमृगाङ्क' नामक विद्याधर राजा है। एक वक्त उसने आकाश मार्ग से जाते हुए कनकपुरी में मनोवेधक अंगचेष्टा करनेवाली 'अशोकमंजरी' नामक राजकन्या देखी। समुद्र चन्द्रमा को देखकर जैसे उमड़ता है वैसे ही हिंडोले पर क्रीड़ा करती हुई साक्षात् देवाङ्गना समान उस कन्या को देखकर वह कामातुर हो गया। पश्चात् उसने तूफानी पवन उत्पन्न करके हिंडोले सहित उस राजकन्या को हरण की। और शबरसेना नामक घोर वन में रखी। वहां वह हरिणी की तरह भय पाने लगी व टिटहरी के समान आक्रंद करने लगी। विद्याधर राजा ने उसको कहा, 'हे सुन्दरि! तू भय से क्यों कांपती है? इधर-उधर क्यों देखती है? और आक्रंद भी क्यों करती है? मैं कोई बन्दीगृह में रखनेवाला चोर या परस्त्रीलंपट नहीं, परन्तु तेरे असीम भाग्य से तेरे वशीभूत हुआ एक

विद्याधर राजा हूँ। मैं तेरा दास होकर तुझसे प्रार्थना करता हूँ कि मेरे साथ पाणिग्रहण कर और समग्र विद्याधरों की स्वामिनी बना। 'अग्नि के सदृश दूसरों पर उपद्रव करनेवाले कामांध लोग ऐसी दुष्ट और अनिष्ट चेष्टा करके पाणिग्रहण करने की इच्छा करते हैं, इनको अतिशय धिक्कार है!!' इस प्रकार विचारमग्न अशोकमंजरी ने उसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। जिसकी अनिष्ट चेष्टाएं प्रकट दिखती हो उसको कौन सत्पुरुष उत्तर देता है? 'माता-पिता तथा स्वजन के विरह से इसको अभी नवीन दुःख हुआ है, तथापि अनुक्रम से सुख से यह मेरी इच्छा पूर्ण करेगी।' ऐसी आशा मन में रखकर विद्याधर राजा ने, शास्त्री जैसे अपने शास्त्र का स्मरण करता है, वैसे ही अपना संपूर्ण काम परिपूर्ण करनेवाली सुन्दर विद्या का स्मरण किया। कन्या का स्वरूप गुप्त रखने के हेतु विद्या के प्रभाव से उसने राजकन्या को नट की तरह एक तापसकुमार के स्वरूप में कर दी। सानहीन, बालबुद्धि विद्याधर राजा बड़ी देर तक अशोकमंजरी को मनाता रहा। परन्तु उसे उसके वचन तिरस्कार से मालूम होते थे, सर्व अन्योपचार आपत्तिमय प्रीति से लगते व प्रेमालाप पापवर्णन से लगते थे। विद्याधर राजा के सर्व उपाय, राख में हवन करने, जलप्रवाह में लघुनीति करने, क्षारयुक्त भूमि में बोने, सींचने की तरह निष्फल हुए। तो भी उसने मनाना नहीं छोड़ा। उन्मादरोगी मनुष्य की तरह कामीपुरुषों का हठ अवर्णनीय होता है। वह दुष्ट एक समय किसी कार्य के निमित्त अपने नगर में गया। उस समय उक्त वेशधारी तापसकुमार ने हिंडोले पर क्रीड़ा करते हुए तुझे देखा। वह तुझ पर विश्वास रखकर अपना वृत्तान्त कह रहा था, कि इतने ही में विद्याधर राजा ने वहां आकर पवन जैसे आक के कपास को हरण करता है, उसी प्रकार उसे हरण कर गया, और मणिरत्नों से देदीप्यमान अपने दिव्यमंदिर में ले जाकर क्रोधपूर्वक उसको कहने लगा कि, 'अरे देखने में भोली! वास्तव में चतुर! और बोलने में सयानी! तू कुमार अथवा अन्य किसी के भी साथ तो प्रेम से वार्तालाप करती है, और तुझपर मोहित मुझको उत्तर तक नहीं देती है। अब भी मेरी बात स्वीकार कर। हठ छोड़ दे। नहीं तो दुखदायी यम के समान मैं तुझपर रुष्ट हुआ समझ।' यह वचन सुन मन में धैर्य धारणकर अशोकमंजरी ने कहा—'अरे विद्याधर राजा! छलबल से क्या लाभ होगा? छली व बली लोग चाहे राज्यऋद्धिआदि को साधन कर सकते हैं, परन्तु प्रेम को कभी भी नहीं साध सकते। उभय व्यक्तियों के चित्त प्रसन्न हो तभी ही चित्तरूपभूमि में प्रेमांकुर उत्पन्न होते हैं। घृत के बिना जैसे मोदक, वैसे ही स्नेह के बिना स्त्री पुरुषों का सम्बन्ध किस कामका? ऐसा स्नेह रहित संबंध तो जंगल में परस्पर दो लकड़ियों का भी होता है। इसलिए मूर्ख के सिवाय अन्य कौन व्यक्ति स्नेहहीन दूसरे मनुष्य की मनवार करता है? स्नेह का स्थान देखे बिना हठ पकड़नेवाले मतिमन्द मनुष्यों को धिक्कार है!' वह अंकुश रहित विद्याधरराजा अशोकमंजरी के ये वचन सुनकर अत्यन्त क्रोधित हुआ। और शीघ्र म्यान में से खड्ग बाहर निकालकर कहने लगा कि—'अरे! मैं अभी ही तेरा वध करूंगा! मेरी निंदा करती है!!' अशोकमंजरी

बोली—'अनिष्ट मनुष्य के साथ सम्बन्ध करने की अपेक्षा मृत्यु मुझे पसंद है, जो तेरी इच्छा मुझे छोड़ने की न हो तो तू अन्य कोई भी विचार न करते शीघ्र मेरा वध कर।'

पश्चात् अशोकमंजरी के पुण्योदय से उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि, 'हाय हाय! धिक्कार है!! मैंने यह क्या दुष्ट कार्य सोचा? अपना जीवन जिसके हाथ में होने से जो जीवन की स्वामिनी कहलाती है, उस प्रिय स्त्री के लिए कौन पुरुष क्रोधवश ऐसा घातकीपन आचरण करता है? सामोपचार से ही सर्वजगह प्रेम उत्पन्न होना संभव है। उसमें भी स्त्रियों पर यह नियम विशेष करके लगता है, पांचालनामक नीतिशास्त्र के कर्ता ने भी कहा है कि—'स्त्रियों के साथ बहुत ही सरलता से काम लेना चाहिए।' कृपणों का सरदार जैसे अपना धन भंडार में रखता है, वैसे ही विद्याधर राजा ने उपरोक्त विचार करके मन में उल्लास लाकर अपना खड्ग शीघ्र म्यान में रख लिया; और नयी सृष्टि कर्ता के समान हो कामकरी विद्या से अशोकमंजरी को मनुष्य भाषा बोलनेवाली हंसिनी बनायी। और माणिक्यरत्नमय मजबूत पींजरे में उसे रखकर पूर्वानुसार उसे प्रसन्न करता रहा। उसकी स्त्री कमला के मन में कुछ संशय उत्पन्न हुआ, इससे उसने सचेत रहकर एक समय अपने पति को हंसिनी के साथ चतुराई से भरे हुए मधुर वचन बोलते हुए स्पष्टतया देखा। जिससे उसको ईर्ष्या व मत्सर उत्पन्न हुआ। इसमें आश्चर्य ही क्या? स्त्रियों की प्रकृति ऐसी ही होती है। अन्त में उसने अपनी सखीतुल्य विद्या के द्वारा हंसिनी का संपूर्ण वृत्तान्त ज्ञात किया, और हृदय में विंधे हुए शल्य की तरह उसे पींजरे से निकाल बाहर कर दी। यद्यपि कमला ने उसे सौतिया ईर्ष्या से निकाल दी, किन्तु भाग्ययोग से हंसिनी को वही अनुकूल हुआ। नरकसमान विद्याधर राजा के बंधन से छूटते ही वह शबरसेना वन की ओर अग्रसर हुई। 'विद्याधर पीछा करेगा' इस भय से बहुत घबराती हुई धनुष्य से छूटे हुए बाण की तरह वेग से गमन करने के कारण वह थक गयी, और अपने भाग्योदय से विश्राम लेने के लिए यहां उतरी और तुझे देखकर तेरी गोद में आ छिपी। हे कुमारराज! मैं ही उक्त हंसिनी हूं, और जिसने मेरा पीछा किया था व जिसको तूने जीता वही वह विद्याधर राजा है।'

तिलकमंजरी यह वृत्तान्त सुन, बहन के दुःख से दुःखी हो बहुत विलाप करने लगी। स्त्रियों की रीति ऐसी ही होती है। पश्चात् वह बोली—'हाय हाय! हे स्वामिनी! भय की मानो राजधानी के समान अटवी में तू अकेली किस प्रकार रही? दैव की विचित्र गति को धिक्कार है! बहन! आजतक सुख में रही हुई तूने देवांगनाओं के तिर्यच के गर्भ में रहने के समान, असह्य व अतिदुःखदायी पंजरवास किस प्रकार सहन किया? हाय हाय! ज्येष्ठभगिनी! इसीभव में ही तुझे तिर्यचपन प्राप्त हुआ। दैव नट की तरह सुपात्र की भी विडम्बना करता है, अतः उसे धिक्कार है! बहन! पूर्वभव में तूने कौतुकवश किसीका वियोग कराया होगा और मैंने उस बात की उपेक्षा की होगी, उसीका यह अकथनीय फल मिला है। हाय! दुर्देव से उत्पन्न हुआ अथवा मानो मूर्तिमंत दुर्भाग्य ही हो, ऐसा तेरा यह तिर्यचपन कैसे दूर होगा?' वह इस तरह विलाप

कर ही रही थी कि इतने में सन्मित्र की तरह खेद दूर करनेवाले चन्द्रचूड़ देवता ने उस हंसिनी पर जल छिड़ककर उसे अपनी शक्ति से पूर्ववत् कन्या बनायी। कुमार आदि को हर्ष उत्पन्न करनेवाली वह कन्या उस समय ऐसी दमक ने लगी मानो नयी सरस्वती ही उत्पन्न हुई हो अथवा लक्ष्मी ही समुद्र में से निकली हो! उसी समय दोनों बहनों ने हर्ष से रोमांचित हो एक दूसरे को गाढ़ आलिंगन कर लिया। प्रेम की यही रीति है।

रत्नसारकुमार ने कौतुक से कहा—'हे तिलकमंजरी! हमको इस कार्य के उपलक्ष में पारितोषिक अवश्य मिलना चाहिए, हे चन्द्रमुखी! कहो क्या देना चाहती हो? जो कुछ देना हो वह शीघ्र दो, धर्म की तरह औचित्यदान लेने में विलम्ब कौन करे? औचित्यआदि दान, ऋण उतारना, शर्त, निश्चित वेतन लेना, धर्म और रोग अथवा शत्रु का नाश इतने कार्य करने में बिलकुल समय न खोना चाहिए। क्रोध-गुस्सा आया हो, नदी के पूर में प्रवेश करना हो, कोई पापकर्म करना हो, अजीर्ण पर भोजन करना हो और किसी भय के स्थान में जाना हो तो समय बिताना यही श्रेष्ठ है याने इतने कार्य करना हो तो आज का कल पर रख छोड़ना चाहिए।' कुमार के विनोद वचन सुन तिलकमंजरी के मन में लज्जा उत्पन्न हुई, शरीर कांपने लगा, पसीना छूट गया तथा शरीर रोमांचित हो गया। वह स्त्रियों के लीलाविलास प्रकट करने लगी तथा कामविकार से अतिपीड़ित हो गयी तो भी उसने धैर्य रखकर कहा—'हमारे ऊपर आपने महान् उपकार किये हैं अतएव मैं समझती हूँ कि सर्वस्व आपको अर्पण करने के योग्य है। इसलिए हे स्वामिन्! मैं आपको यह एक वस्तुदान का निमित्तपात्र देती हूँ, ऐसा समझिए।' ऐसा कह हर्षित तिलकमंजरी ने मानो अपना साक्षात् मन हो ऐसा मनोहर मोती का हार कुमार के गले में पहना दिया व कुमार ने भी सादर उसे स्वीकार किया। अपने इष्ट मनुष्य की दी हुई वस्तु स्वीकार ने को प्रेरणा करनेवाली प्रीति ही होती है। अस्तु, तिलकमंजरी ने अपने वचन के अनुसार तोते की भी कमलपुष्पो से पूजा की। उस समय उचित आचरण में निपुण चन्द्रचूड़ ने कहा कि—'हे कुमार! प्रथम से ही तेरे भाग्य की दी हुई यह दोनों कन्याएं मैं अभी तुझे देता हूँ। मंगलकार्यों में अनेकों विघ्न आते हैं, इसलिए तू इनका शीघ्र पाणिग्रहण कर।' यह कहकर वह वर और कन्याओं को अत्यन्त रमणीक तिलकवृक्ष के कुंज में ले गया। चक्रेश्वरी देवी ने रूप बदलकर शीघ्र वहां आ प्रथम से ही सर्व वृत्तान्त जान लिया था अतएव वह विमान में बैठकर शीघ्र वहां आ पहुंची।

वह विमान पवन से भी अधिक वेगवाला था। उसमें रत्नों की बड़ी बड़ी घंटायें टंकार शब्द कर रही थीं, रत्नमय सुशोभित घूघरियों से शब्द करनेवाली सैकड़ों ध्वजाएं उसमें फहरा रही थीं, मनोहर माणिक्य-रत्न जड़ित तोरण से वह बड़ा सुन्दर हो गया था, उसकी पुतलियों नृत्य, गीत और वाजिंत्र के शब्द से ऐसी भासित हो रही थी मानो बोलती हों, अपार पारिजात आदि पुष्पों की मालाएं उसमें जगह-जगह टंगी हुई थीं, हार, अर्धहार आदि से वह बड़ा भला मालूम होता था, सुन्दर चामर उसमें

उछल रहे थे, सर्व प्रकार के मणिरत्नों से रचा हुआ होने के कारण वह अपने प्रकाश से साक्षात् सूर्यमंडल की तरह निबिड़ अंधकार को भी नष्ट कर रहा था। ऐसे दिव्य विमान में चक्रेश्वरी देवी बैठी, तब उसकी बराबरी की अन्य भी बहुतसी देवियां अपने-अपने विविध प्रकार के विमान में बैठकर उसके साथ आयी तथा बहुत से देवता भी सेवा में तत्पर थे। वर तथा कन्याओं ने गोत्रदेवी की तरह चक्रेश्वरी देवी को नमन किया। तब उसने पतिपुत्रवाली वृद्धा स्त्री की तरह यह आशीष दिया—'हे वधूवरो! तुम सदैव प्रीति सहित साथ रहो और चिरकाल सुख भोगो, पुत्र पौत्रादिक संतति से जगत् में तुम्हारा उत्कर्ष हो।' पश्चात् उसने स्वयं मुख्य होकर चोरीआदि सर्व विवाह सामग्री तैयार की, और देवांगनाओं के धवलगीत गाते हुए यथाविधि महान् आडंबर के साथ उनका विवाहोत्सव पूर्ण किया।

देवांगनाओं ने उस समय तोते को वर के छोटे भाई के समान मानकर उसके नाम से धवलगीत गाये महान् पुरुषों की संगति से ऐसा आश्चर्यकारी फल होता है। उन कन्याओं व कुमार के पुण्य का अद्भुत उदय है कि जिनका विवाह मंगल स्वयं चक्रेश्वरीदेवी ने किया। पश्चात् उसने सौधर्मावतंसक विमान के सदृश वहां एक रत्नजडित महल बनाकर उनको रहने के लिए दिया। वह महल विविध प्रकार की क्रीड़ा करने के सर्व स्थान पृथक्-पृथक् रचे हुए होने से मनोहर दिखता था। सात मंजिल होने से ऐसा भास होता था मानो सात द्वीपों की सात लक्षियों का निवास स्थान हो, हजारों उत्कृष्ट झरोखों से ऐसा शोभा देता था मानो सहस्रनेत्रधारी इन्द्र हो, चित्ताकर्षक मत्तवारणों से विंध्यपर्वत के समान दिखता था, किसी-किसी स्थान में कर्कतनरत्नों का समूह जड़ा हुआ था जिससे गंगानदी के समान मालूम होता था, कहीं-कहीं बहुमूल्य, वैडूर्यरत्न जड़े हुए होने से जमुनानदी सा प्रतीत होता था, कोई-कोई स्थान पद्मरागरत्न जडित होने से संध्या के समान रक्तवर्ण हो रहा था, कोई-कोई जगह स्वर्ण का कार्य होने से मेरुपर्वत की शाखा सा प्रतीत होता था, कहीं हरिरत्न लगे हुए होने से हरीघास युक्त भूमिसी मनोवेधक शोभा हो रही थी, किसी जगह आकाश के समान पारदर्शक स्फटिकरत्न जड़े होने से स्थल होते हुए आकाश की भ्रमणा होती थी, कोई स्थान में सूर्यकान्तमणि सूर्यकिरण के स्पर्श से अग्निधारण कर रही थी तथा किसी जगह चन्द्रकान्तमणि चन्द्रकिरण के स्पर्श से अमृत वर्षा कर रही थी। सारांश यह कि वह महल इतना दिव्य था जिसका वर्णन ही नहीं किया जा सकता।

रत्नसारकुमार दोगुंदक देवता की तरह दोनों स्त्रियों के साथ उक्त महल में अनेक प्रकार के विषयसुख भोगने लगा। मनुष्य भव में सर्वार्थसिद्धिपन (सर्वार्थसिद्ध विमान का सुख) पाना यद्यपि दुर्लभ है, तथापि कुमार ने तीर्थ की भक्ति से दिव्य ऋद्धि के उपभोग तथा दो सुंदर स्त्रियों के लाभ से वर्तमान भव में ही प्राप्त किया। गोभद्रदेवता ने शालिभद्र को पिता के सम्बन्ध से संपूर्ण भोग दिये इसमें क्या आश्चर्य? परंतु यह तो बड़ी ही आश्चर्य की बात है कि चक्रेश्वरी के साथ कुमार का मातापुत्र आदि किसी जाति

का सम्बन्ध न होते हुए भी उसने उसे परिपूर्ण भोग दिये। अथवा पूर्वभव के प्रबल पुण्य का उदय होने पर आश्चर्य ही क्या है? भरतचक्रवर्ती ने मनुष्यभव में ही क्या चिरकाल तक गंगादेवी के साथ कामभोग नहीं भोगा था?

एक समय चक्रेश्वरी की आज्ञा से चन्द्रचूड़ देवता ने कनकध्वज राजा को वरवधु की बधाई दी। वह पुत्रियों को देखने की दीर्घकाल की उत्कंठा से तथा पुत्रियों की प्रीति ने शीघ्र प्रेरणा करने से सेना के साथ रवाना हुआ व कुछ दिन के बाद वह अंतःपुर, मांडलिक राजागण, मंत्री, श्रेष्ठी आदि परिवार सहित वहां आ पहुंचा।

श्रेष्ठ शिष्य जैसे गुरु को नमस्कार करते हैं, वैसे कुमार, तोता, कन्याओं आदि ने शीघ्र संमुख आकर राजा को प्रणाम किया। बहुत काल से माता को मिलने की उत्सुक दोनों राजकन्याएं, बछड़ियां जैसे अपनी माता को प्रेम से आ मिलती हैं, ऐसे अनुपम प्रेम से आ मिलीं। जगत्श्रेष्ठ रत्नसारकुमार तथा उस दिव्यऋद्धि को देखकर राजादि ने वह दिन बड़ा अमूल्य माना। पश्चात् कुमार ने देवी के प्रसाद से सबकी अच्छी तरह मेहमानी की। जिससे यद्यपि राजा कनकध्वज अपनी नगरी को वापस जाने को उत्सुक था। तो भी वह पूर्व उत्सुकता जाती रही। ठीक ही है, दिव्यऋद्धि देखकर किसका मन स्थिर नहीं होता! राजा व उसके संपूर्ण साथियों को कुमार की की हुई तरह-तरह की मेहमानी से ऐसा प्रतीत हुआ मानों अपने दिन सुकार्य में व्यतीत हो रहे हैं।

एक समय राजा ने कुमार को प्रार्थना कि, 'हे सत्पुरुष! जैसे तूने मेरी इन दो कन्याओं को कृतार्थ कर दी, वैसे ही पदार्पण कर मेरी नगरी को भी पवित्र कर।' तदनुसार कुमार के स्वीकार कर लेने पर, राजा, रत्नसारकुमार, दो राजकन्याएं तथा अन्य परिवार सहित अपनी नगरी की ओर चला। उस समय विमान में आरूढ़ हो साथ में चलनेवाली चक्रेश्वरी, चन्द्रचूड़ आदि देवताओं ने मानों भूमि में व्याप्त सेना की स्पर्धा से ही स्वयं आकाश को व्याप्त कर दिया। जैसे सूर्यकिरणों के न पहुंचने से भूमि को ताप नहीं लगता उसी तरह ऊपर विमानों के चलने से इन सर्वजनों को मानों सिर पर छत्र ही धारण किया हो, वैसे ही बिलकुल ताप न लगा। क्रमशः जब वे लोग नगरी के समीप पहुंचे तब वरवधुओं को देखने के लिए उत्सुकलोगों को बड़ा हर्ष हुआ। राजा ने बड़े उत्सव के साथ वरवधुओं का नगर में प्रवेश कराया। उस समय स्थान-स्थान में केशर का छिंटकाव किया हुआ होने से वह नगरी तरुण स्त्री के समान शोभायमान, झुटने तक फूल बिछाये हुए होने से तीर्थंकर की समवसरण भूमि के समान तथा उछलती हुई ध्वजारूपी भुजाओं से मानो हर्ष से नाच ही रही हो ऐसी दिखती थी, ध्वजा की घूघरियों के मधुर स्वर से मानो जगत् की लक्ष्मी का क्रोडास्थल हो। नगरवासी लोग ऊंचे-ऊंचे मंच पर बैठकर मधुर गीत गा रहे थे। सौभाग्यवती स्त्रियों के हंसते हुए मुख से पद्मसरोवर की शोभा आ रही थी तथा स्त्रियों के कमलवत् नेत्रों से वह नगरी नीलकमल के वन सदृश दिखती थी।

ऐसी सुन्दरनगरी में प्रवेश करने के अनन्तर राजा ने कुमार को अनेक जाति के

अश्व, दास, दासियाँ, धन आदि बहुत सी वस्तुएँ भेंट कीं। तदनन्तर कुमार अपनी दोनों स्त्रियों के साथ वहीं एक महल में रहने लगा। उक्त तोता कौतुक के साथ व्यास की तरह हमेशा कुमार के साथ समस्यापूर्ति, आख्यायिका, प्रहेलिका आदि तरह-तरह के विनोद किया करता था। कुमार ने देदीप्यमान श्रेष्ठ लक्ष्मी की प्राप्ति से मानो मनुष्य सदेह स्वर्ग चला गया हो, इस प्रकार पूर्व की कोई भी बात स्मरण नहीं की। अनेक प्रकार के कामविलास भोगते-भोगते एक वर्ष सहज ही में व्यतीत हो गया।

दैवयोग से एक समय नीच लोगों को हर्ष देनेवाली रात्रि के वक्त कुमार पोपट के साथ बहुत देर तक वार्तालाप रूपी अमृत का पानकर रत्नजडित श्रेष्ठ शय्यागृह में सो रहा था। जब अंधकार से समस्त लोगों की दृष्टि को दुःख देनेवाला मध्यरात्रि का समय हुआ तब सब पहरेदार भी निद्रावश हो गये। इतने में दिव्य आकारधारी, देदीप्यमान और मूल्यवान शृंगार से सुसज्जित, चोरगति से चलनेवाला व हाथ में नग्न तलवार धारण किये हुए कोई क्रोधी पुरुष, मनुष्यों के नेत्रों की तरह राजमहल के सर्व द्वार बन्द होते हुए भी, न जाने किस प्रकार वहां आ पहुंचा। वह चुपचाप शय्यागृह में घुसा, तो भी दैव की अनुकूलता से शीघ्र ही कुमार जागा। ठीक ही है, सत्पुरुषों की निद्रा स्वल्प व शीघ्र जागृत होनेवाली होती है। कुमार यह विचार कर ही रहा था कि 'यह कौन है? और किसलिए व किस प्रकार शय्यागृह में घुसा?' इतने में ही उस पुरुष ने उच्चस्वर से कहा—'अरे कुमार! जो तू शूरवीर हो तो संग्राम करने के लिए तैयार हो। जैसे सिंह धूर्तशृंगाल के झूठे पराक्रम को सहन नहीं करता, वैसे तेरे समान एक वणिक् के झूठे पराक्रम को क्या मैं सह सकता हूँ?' यह बोलते-बोलते ही वह पुरुष तोते का सुन्दर पीजरा उठा उतावल से चलने लगा। कपटी मनुष्यों के कपट के संमुख बुद्धि काम नहीं देती। अस्तु, कुमार भी क्रोध आ जाने से म्यान में से तलवार बाहर निकाल उसके पीछे दौड़ा, आगे-आगे वह पुरुष और पीछे पीछे कुमार दोनों जल्दी-जल्दी चलते एक दूसरे को देखते मार्ग में आये हुए कठिन प्रदेश, घर आदि को सहज में उल्लंघन करते हुए आगे बढ़ते ही जा रहे थे।

जैसे दुष्ट चौकीदार (भूमिहार) मुसाफिर को आड़े मार्ग से ले जाता है वैसे ही वह दिव्यपुरुष कुमार को बहुत ही दूर कहीं ले गया और अन्त में किसी प्रकार कुमार के हाथ आया। कुमार क्रोधावेश से उसे पकड़ने लगा इतने में ही वह देखते ही देखते गरूड़ की तरह आकाश में उड़ गया। व कुछ दूर जाकर अदृश्य हो गया। कुमार विचार करने लगा कि—'निश्चय यह मेरा कोई शत्रु है। कौन जाने विद्याधर, देव या दानव है? कोई भी हो। मेरा यह क्या नुकसान करनेवाला था? परन्तु मेरे तोतेरूपी रत्न को हरण करने से यह आज तक मेरा शत्रु था, वह अब चोर भी हो गया। हाय! ज्ञानियों में श्रेष्ठ, धीर, शूरवीर शुक! तेरे समान प्रियमित्र के बिना सुभाषण सुनाकर अब मेरे कानों को कौन सुख देगा? हे धीरशिरोमणि! दुर्दशा के समय तेरे सिवाय अन्य कौन मेरी सहायता करेगा?'

क्षणमात्र इस प्रकार खेद करके कुमार पुनः विचार करने लगा कि—'विषभक्षण करने के समान यह खेद करने से क्या शुभ परिणाम होगा? नाश हुई वस्तु की प्राप्ति योग्य उपाय करने से ही सम्भव है। चित्त की स्थिरता से ही उपाय की योजना हो सकती है, अन्यथा नहीं। मंत्र आदि भी चित्त की स्थिरता बिना कदापि सिद्ध नहीं होते। अतएव मैं अब यह निर्धारित करता हूँ कि—'मेरे प्रिय तोते के मिले बिना मैं वापस नहीं फिरेगा।' तदनुसार कुमार तोते की शोध में भ्रमण करने लगा। चोर जिस दिशा की ओर गया था उसी ओर वह भी कितना ही दूर तक चला गया; परन्तु कुछ भी पता नहीं लगा। ठीक ही है, आकाश मार्ग में गये हुए का पता जमीन पर कैसे लगे? अस्तु, तथापि आशा के कारण कुमार शोध करने में विचलित नहीं हुआ। सत्पुरुषों की अपने आश्रितों में कितनी प्रीति होती है? तोते ने देशाटन में साथ रह अवसरोचित मधुर भाषण से कुमार के सिर पर जो ऋण चढ़ाया था, वह ऋण उसकी शोध में अनेक क्लेश सहनकर कुमार ने उतार दिया इस प्रकार भ्रमण करते हुए पूरा एक दिन व्यतीत हो गया।

दूसरे दिन स्वर्ग के समान एक नगर संमुख दिखायी दिया। वह नगर गगनस्पर्शी स्फटिकमय कोट से चारों ओर से घिरा हुआ था, उसकी प्रत्येक पोल में माणिक्यरत्न के दरवाजे थे, रत्नजड़ित विशाल महलों के समुदाय से वह नगर रोहणपर्वत की बराबरी करता था, महलों पर सहस्रों श्वेतध्वजाएं फहरा रही थीं, जिससे वह सहस्र मुखी गंगा सा मालूम होता था। भ्रमर जैसे कमल की सुगंध से आकर्षित होता है वैसे नगर की विशेष शोभा से आकर्षित हो रत्नसारकुमार उसके समीप आया। चंदन के दरवाजे से सुगन्धी फैल रही थी तथा जगत् की लक्ष्मी का मानों मुख ही हो ऐसे गोपुरद्वार में कुमार प्रवेश करने लगा इतने में द्वारपालिका की तरह कोट पर बैठी हुई एक सुंदर मैना ने कुमार को अन्दर प्रवेश करते बहुत ही मना किया। इससे कुमार बड़ा चकित हुआ। उसने उच्चस्वर से पूछा—'हे सुन्दरसारिके! तू मुझे क्यों मना करती है?' मैना ने उत्तर दिया—'हे महान् पंडित! तेरे हित के लिए ही मना करती हूँ। जो तुझे जीवन की इच्छा हो तो इस नगर में प्रवेश मत कर। तू यह मत समझ कि यह मैना मुझे वृथा मना करती है। मैं जाति की तो पक्षी हूँ, तथापि क्या पक्षी जाति में उत्तमता होती ही नहीं है? उत्तम जीव बिना हेतु एक वचन भी नहीं बोलते। अब मैं जो तुझे रोकती हूँ उसका कारण जानने की इच्छा हो तो सुन—

इस रत्नपुरनगर में पराक्रम व प्रभुता से मानो प्रतिपुरन्दर (दूसरा इन्द्र) ही हो ऐसा पुरन्दर नामक राजा पूर्व में हुआ। उस समय मानो नगर के मूर्तिमंत दुर्भाग्य ही के समान एक चोर तरह-तरह के वेश करके नगर में चोरियां करता था। वह मन चाहे विचित्र प्रकार की सेंध लगाता था। और अपार धन से परिपूर्ण पात्र उठा ले जाता था। किनारे के वृक्ष जैसे नदी के तीव्र जलप्रवाह को नहीं रोक सकते, वैसे कोतवाल तथा दूसरे नगररक्षक आदि बड़े बड़े योद्धा उसे नहीं रोक सके। एक दिन राजा सभा में बैठा था,

उस समय नगरवासियों ने आकर प्रणामकर चोर का उपद्रव अच्छी प्रकार कह सुनाया। जिससे राजा को क्रोध आया, उसके नेत्र लाल हो गये, और उसी समय उसने मुख्य कोतवाल को बुलाकर, भला बुरा कहा। कोतवाल बोला 'हे स्वामिन्! असाध्यव्याधि में जैसे कोई भी उपाय नहीं चलता, वैसे मेरा अथवा मेरे आधीनस्थ कर्मचारियों का उस बुलन्द चोर के संमुख कोई भी उपाय नहीं चलता। अतएव जो आप उचित समझें वह कीजिए।' अन्तमें महान् पराक्रमी व यशस्वी पुरन्दर राजा स्वयं गुप्त रीति से चोर की शोध करने लगा। अकस्मात् एक दिन राजा ने उक्त चोर को चोरी के माल सहित देखा। ठीक है, प्रमाद का त्याग करके प्रयत्न करनेवाले पुरुष क्या नहीं कर सकते हैं? धूर्त बगुला जैसे चुपचाप मछली के पीछे-पीछे जाता है उसी तरह उस बात का पूर्ण निर्णय करने तथा उसका स्थान आदि जान लेने के हेतु गुप्तरीति से राजा ने उसका पीछा किया। उस धूर्त चोर ने किसी प्रकार शीघ्र राजा को पहिचान लिया। दैव की अनुकूलता से क्या नहीं हो सकता? उस शठ चोरने क्षणमात्र में राजा की दृष्टि चुकाकर एक मठ में प्रवेश किया। उस मठ में कुमुद नामक एक तपस्वी रहता था। वह गाद्धनिद्रा में सो रहा था। वह शठ चोर अपने जीव को भाररूप चोरी का माल वहां छोड़ कहीं भाग गया। राजा इधर-उधर उसकी खोज करता हुआ मठ में घुसा, वहां चोरी के माल सहित तापस को देखा। राजा ने क्रोध से कहा—दुष्ट और चोर, हे दंडचर्मधारी तापस! चोरी करके अब तू कपट से सो रहा है! झूठी निद्रा लेनेवाले! मैं अभी तुझे दीर्घनिद्रा (मृत्यु) देता हूँ।'

राजा के वज्रसमान कठोर वचनों से तापस भयभीत हुआ व घबराकर जागृत हुआ था, तो भी उत्तर न दे सका, निर्दयी राजा ने सुभटों द्वारा बंधाकर उसे सवरे शूली पर चढ़ाने का हुक्म किया। अरेरे! अविचारी कृत्य को धिक्कार है!! तापस ने कहा, 'हाय हाय! हे आर्यपुरुषों! मैं बिना चोरी किये ही शोध न करने के कारण मारा जाता हूँ' यद्यपि तापस का यह कथन सत्य था तथापि उस समय विशेष धिक्कार का पात्र हुआ, जब दैव प्रतिकूल होता है तब कौन अनुकूल रहे? देखो! राहु चंद्रमा को अकेला देखकर उसका ग्रास करता है, तब कोई भी उसकी सहायता नहीं करता। पश्चात् विकराल यमदूतों के समान उन सुभटों ने उक्त तापस का मुंडन किया, गधे पर चढ़ाया तथा अन्य भी बहुतसी विडंबनाएं करके प्राणघातक शूली पर चढ़ा दिया। अरेरे! पूर्वभव में किये हुए बुरे कर्मों का कैसा भयंकर परिणाम होता है? तापस स्वभाव से शान्त था तथापि उस समय उसे बहुत क्रोध आया, जल स्वभाव से शीतल है तो भी तपाने से वह बहुत उष्ण हो ही जाता है। वह तापस तत्काल मृत्यु को प्राप्त होकर राक्षसयोनि में गया। मृत्यु के समय ऐसी भावनावाले लोगों को व्यंतर की ही गति प्राप्त होती है। हीनयोनि में उत्पन्न हुए उस दुष्टराक्षस ने रोष से क्षणमात्र से अकेले राजा को मार डाला। अरेरे! बिना विचारे कार्य करने से कैसा बुरा परिणाम होता है? तत्पश्चात् उसने नगरवासी सर्व लोगों को निकाल बाहर किया। राजा के अविचारी कृत्य से प्रजा

भी पीडित है। वही राक्षस अभी भी जो कोई नगर के अन्दर प्रवेश करता है, उसको क्षणमात्र में मार डालता है। इसलिए हे वीरपुरुष! तेरे हित की इच्छा से मैं यम के मुख सदृश इस नगरी में प्रवेश करते तुझे रोकती हूँ।

मैना का ऐसा हितकारी वचन सुनकर व उसकी वाक्पटुता से कुमार को आश्चर्य हुआ, परन्तु राक्षस से वह लेशमात्र भी न डरा, विवेकीपुरुष को कोई कार्य करते समय उत्सुक, कायर तथा आलसी न होना चाहिए। इस पर भी कुमार उस नगर में प्रवेश करने को बहुत उत्सुक हुआ। व राक्षस का पराक्रम देखने के कौतुक से संग्रामभूमि में उतरने की तरह शीघ्र नगरी में घुसा। आगे जाकर उसने देखा कि, कहीं मलयपर्वत के समान चंदनकाष्ठ के ढेर पड़े हैं, कहीं युगलिको चाहिए वैसे पात्र देनेवाले भृंगांगकल्पवृक्ष की तरह सुवर्ण के, चांदी के तथा अन्य पात्रों के ढेर पड़े थे; खलियान में पड़े हुए धान्य के ढेर के समान वहां किसी जगह कपूरसाल आदि धान्य के ढेर लग रहे थे, कोई स्थान में अपार सुपारी आदि किराने पड़े हुए थे, किसी ओर हलवाइयों की दुकानों की पंक्तियां थीं, किसी ओर सितांशु चंद्रमा की तरह श्वेतकपड़ेवालों की दुकाने थीं; किसी ओर घनसारवाले निधि की तरह कपूर आदि सुगन्धित वस्तुओं की दुकानें थीं, कहीं हिमालय पर्वत की तरह अनेक प्रकार की औषधियों का संग्रह रखनेवाली गांधी की दुकानें थीं; अभव्य जीवों की धर्मीक्रिया जैसे भाव रहित होती है, वैसे कहीं भाव रहित अक्ल की दुकानें थीं; सिद्धांत की पुस्तकें जैसे सुवर्ण (श्रेष्ठ हस्ताक्षर) से भरी होती हैं, वैसे कहीं सुवर्ण से भरी हुई सराफों की दुकानें थीं, कहीं अनंतमुक्ताढ्य (अनंतसिद्धों से शोभित) मुक्तिपद की तरह अनंतमुक्ताढ्य (अपार मोतियों से सुशोभित) मोतियों की दुकानें थीं, कहीं विद्रुम पूर्ण वनों के सदृश विद्रुम पूर्ण (प्रवाल से भरी हुई) प्रवाल की दुकानें थीं, कहीं रोहणपर्वत की तरह उत्तमोत्तम रत्नयुक्त जवाहरात की दुकानें थीं; किसी-किसी स्थान में आकाश के समान देवताधिष्ठित कुत्रिकापण दुकानें थीं; सोये हुए अथवा प्रमादी मनुष्य का मन जैसे शून्य दिखता है उसी प्रकार उस नगरी में सब जगह शून्यता थी; परन्तु विष्णु जहां जाये वहां लक्ष्मी उसके साथ रहती है, उस तरह वहां स्थान-स्थान में लक्ष्मी बिराज रही थी।

बुद्धिशाली रत्नसारकुमार उस रत्नमयनगरी को देखता हुआ इन्द्र की तरह राजमहल में गया। क्रमशः गजशाला, अश्वशाला, शस्त्रशाला आदि को पारकर वह चक्रवर्ती की तरह चंद्रशाला (अंतिम मंजल) में पहुंचा वहां उसने इन्द्र की शय्या के समान अत्यन्त मनोहर एक रत्नजडित शय्या देखी। वह साहसी और अभय कुमार निद्रावश हो थकावट दूर करने के लिए अपने घर की तरह हर्ष पूर्वक उस शय्या पर सो गया। इतने में मनुष्य के पैर की हालचाल सुनकर राक्षस क्रुद्ध हुआ, और वीर शिकारी जैसे सिंह के पीछे जाता है वैसे वह कुमार के पास आया। और उसे सुखपूर्वक सोता हुआ देखकर उसने मन में विचार किया कि, जो बात अन्य कोई व्यक्ति मन में भी नहीं ला सकता, वही बात इसने सहज कौतुक से कर ली। धृष्टता के कार्य विचित्र प्रकार के

ही होते हैं। इस शत्रु को अब किस प्रकार से मारूँ? फल की तरह नख से उसका मस्तक तोड़ डालूँ? अथवा गदा से इसका एकदम चूर्ण कर डालूँ? किंवा छुरी से खरबूजे की तरह इसके टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ? अथवा जलते हुए नेत्र से निकलती हुई अग्नि से जैसे कामदेव को शंकर ने भस्म कर डाला उसी प्रकार इसे जला डालूँ? अथवा गेंद की तरह इसे आकाश में फेंक दूँ? अथवा इसी प्रकार सोता हुआ उठाकर स्वयंभ्रमण समुद्र में डाल दूँ? किंवा अजगर की तरह इसे निगल जाऊँ? या यहाँ आकर सोये हुए मनुष्य को न मारूँ? शत्रु भी घर आये तो उसका अतिथिसत्कार करना ही चाहिए। कहा है कि—सत्पुरुष अपने घर आये हुए शत्रु की भी महेमानी करते हैं। शुक्र गुरु का शत्रु है, और मीनराशि गुरु का स्वगृह कहलाता है, तो भी शुक्र जब मीनराशि में आता है तब गुरु उसको उच्च स्थान देता है। अतएव यह पुरुष जागृत हो वहाँ तक अपने भूतसमुदाय को बुलाएँ। पश्चात् जो उचित होगा, वह करूँगा।

राक्षस यह विचार कर वहाँ से चला गया व बहुत से भूतों को बुला लाया। तो भी कन्या का पिता जैसे कन्यादान करके निश्चित होकर सो रहता है वैसे कुमार पूर्व की तरह ही सो रहा था। यह देख राक्षस ने तिरस्कार से कहा—'अरे अमर्याद! मूढ! बेशरम! निडर! तू शीघ्र ही मेरे महल में से निकल जा, अन्यथा मेरे साथ युद्ध करा' राक्षस के इन तिरस्कार वचनों से तथा भूतों के किलकिल शब्द से कुमार की निद्रा भंग हो गयी। उसने सुस्ती में होते हुए ही कहा कि, 'अरे राक्षसराज! भोजन करते मनुष्य के भोजन में अन्तराय करने की तरह, सुख से सोये हुए मेरे समान विदेशी मनुष्य की निद्रा में तूने क्यों भंग किया? १ धर्म की निंदा करनेवाला, २ पंक्ति का भेद करनेवाला, ३ अकारण निद्रा भंग करनेवाला, ४ चलती हुई कथा में अन्तराय करनेवाला, और ५ अकारण रसोई करनेवाला, ये पाँचों मनुष्य महान् पातकी हैं। इसलिए मुझे पुनः निद्रा आ जावे इस हेतु से ताजा घृत के मिश्रण युक्त शीतल जल से मेरे पैर के तलुवे मसला।' कुमार के ये वचन सुनकर राक्षस ने मन में विचार किया कि, 'इस पुरुष का चरित्र जगत् से कुछ अलग ही दिखायी दे रहा है! इसके चरित्र से इन्द्र का भी हृदय थरथर कांपे, तो फिर अन्य साधारण जीवों की बात ही कौनसी? बड़े आश्चर्य की बात है कि, यह मेरे द्वारा अपने पैर के तलुवे मसलवाने का विचार करता है! यह बात सिंह पर सवारी करके जाने के समान है। इसमें शक नहीं कि इसकी निडरता कुछ अद्भुत प्रकार की ही है! इसका कैसा बड़ा साहस? कैसा भारी पराक्रम? कैसी धृष्टता? और कैसी निडरता? विशेष विचार करने में क्या लाभ है? सम्पूर्ण जगत् में शिरोमणि के सदृश सत्पुरुष आज मेरा अतिथि हुआ है, अतएव एक बार मैं इसके कहे अनुसार करूँ।'

ऐसा चिन्तन करके राक्षस ने घृतयुक्त शीतल जल के द्वारा अपने कोमल हाथों से कुमार के पग के तलुवे मसले। किसी समय भी देखने, सुनने अथवा कल्पना तक करने में जो बात नहीं आती वही पुण्यशाली पुरुषों को सहज में मिल जाती है। पुण्य की लीला कुछ पृथक् ही है। 'राक्षस सेवक की तरह अपने पग के तलुवे मसल रहा

है।' यह देख कुमार ने शीघ्र उठकर प्रीति से कहा कि, 'हे राक्षसराज! तू महान् सहनशील है, इसलिए मुझ अज्ञानी मनुष्य से जो कुछ अपमान हुआ है उसे क्षमा कर। हे राक्षसराज! तेरी भक्ति को देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ, अतएव तू वर मांग। तेरा कोई कष्टसाध्य कार्य होगा, तो भी मैं क्षणमात्र में कर दूंगा, इसमें शक नहीं।' कुमार के इन वचनों से चकित हो राक्षस मन में सोचने लगा कि, 'अरे! यह तो विपरीत बात हो गयी! देवता होते हुए मुझ पर यह मनुष्य प्राणी प्रसन्न हुआ! मुझे से न बन सके ऐसा कष्ट साध्य कार्य यह सहज में कर डालने की इच्छा करता है! बड़े ही आश्चर्य की बात है कि, नवाण का जल कुएं में प्रवेश कराना चाहता है! आज कल्पवृक्ष अपने सेवक के पास से अपना वांछित पूर्ण करने की इच्छा करता है, सूर्य भी प्रकाश के निमित्त किसी अन्य की प्रार्थना करने लगा! मैं श्रेष्ठ देवता हूँ, यह मनुष्य मुझे क्या दे सकता है? तथा मेरे समान देवता इससे क्या मांगे? तो भी कुछ मांगूं? यह विचारकर राक्षस ने उच्च स्वर से कहा कि, 'जो दूसरों को इच्छित वस्तु दे, ऐसा पुरुष त्रैलोक्य में भी दुर्लभ है। इससे मांगने की इच्छा होते हुए भी मैं क्या मांगूं? 'मैं मांगूं' ऐसा विचार मन में आते ही मन में के समस्त सदगुण और 'मुझे दो' यह वचन मुख में से निकालते ही शरीर में से समस्त सदगुण मानो डर से भाग जाते हैं। दोनों प्रकार के मार्गण (बाण और याचक) दूसरों को पीड़ा करनेवाले तो हैं ही; परन्तु उसमें आश्चर्य यह है कि, प्रथम तो शरीर में प्रवेश करने पर ही पीड़ा करता है, परन्तु दूसरा तो देखते ही पीड़ा उत्पन्न कर देता है। अन्य वस्तु से धूल हलकी, धूल से तृण हलका, तृण से रूई हलकी, रूई से पवन हलका, पवन से याचक हलका, और याचक से हलका याचक को उगनेवाला है। कहा है कि—'हे माता! किसीके पास मांगने जावे ऐसे पुत्र को तू मत जनना।' तथा कोई मांगने आवे उसकी आशा भंग करनेवाले पुत्र को तो गर्भ में भी धारण मत करा। इसलिए हे उदार, जगदाधार रत्नसारकुमार! यदि मेरी मांगनी वृथा न जाय तो मैं कुछ मांगूं।' रत्नसार ने कहा, 'अरे राक्षसराज! मन, वचन, काया, धन, पराक्रम, उद्यम अथवा जीव का भोग देने से भी तेरा कार्य सधे तो मैं अवश्य करूंगा।' यह सुन राक्षस ने आदरपूर्वक कहा, 'हे भाग्यशाली श्रेष्ठीपुत्र! यदि ऐसा ही है तो तू इस नगरी का राजा हो। हे कुमार! तेरे में सर्वोत्कृष्ट सदगुण हैं, यह देख मैं तुझे हर्षपूर्वक यह समृद्ध राज्य देता हूँ, उसे तू इच्छानुसार भोग। मैं तेरे वश में हो गया हूँ, अतएव सदैव सेवक की तरह तेरे पास रहूंगा, और दिव्यऋद्धि, दिव्यभोग, सेनाआदि अन्य जिस वस्तु की आवश्यकता होगी वह दूंगा। मन में शत्रुता रखनेवाले समस्त राजाओं को मैंने जड़ मूल से नष्ट कर दिये हैं, अतएव अन्य अग्नि तो जल से बुझती है, परन्तु तेरी प्रतापरूपी नवीन अग्नि शत्रुओं की स्त्रियों के अश्रुजल से वृद्धि पावे। हे कुमारराज! मेरी तथा अन्यदेवताओं की सहायता से सम्पूर्ण जगत् में तेरा इन्द्र की तरह एक-छत्र राज्य हो। लक्ष्मी से इन्द्र की समानता करते, इस लोक में साम्राज्य भोगते हुए तेरा कीर्तिगान देवांगनाएं भी स्वर्ग में करें।'

रत्नसारकुमार मन में विचार करने लगा कि, 'मेरे पुण्योदय से यह राक्षस मुझे राज्य देता है। मैंने तो पूर्व में साधु मुनिराज के पास परिग्रह परिमाण नामक पांचवां अणुव्रत ग्रहण किया है, तब राज्य ग्रहण का भी नियम किया है, और अभी मैंने इस राक्षस के संमुख स्वीकार किया है कि, 'जो तू कहेगा वही मैं करूंगा' यह बड़ा संकट आ पड़ा! एक तरफ गङ्गा और दूसरी तरफ डकू, एक तरफ शेर और दूसरी तरफ पर्वत का गहरा गङ्गा, एक तरफ पारधी और दूसरी तरफ पाश ऐसी कथावर्तों के अनुसार मेरी दशा हो गयी है। जो व्रत का पालन करता हूँ, तो राक्षस की मांग वृथा जाती है, और राक्षस की मांग पूरी करूँ तो स्वीकार किये हुए व्रत का भंग होता है। हाय! अरे रत्नसार! तू महान् संकट में पड़ गया!! दूसरा चाहे कुछ भी मांगे तो भी कोई भी उत्तमपुरुष तो वही बात स्वीकार करेगा कि जिससे अपने व्रत का भंग न हो। कारण कि, व्रत भंग हो जाने पर बाकी रहा ही क्या? जिससे धर्म में बाधा हो ऐसी सरलता किस काम की? जिससे कान टूट जाये, ऐसा सुवर्ण हो तो भी वह किस कामका? जहां तक दांत पड़ना संभव नहीं, वहां तक ही कपूर खाना चाहिए। विचक्षण पुरुषों ने सरलता, शरम, लोभ आदि गुण शरीर के समान बाह्य समझना; और स्वीकार किया हुआ व्रत अपने जीव के समान मानना चाहिए। तुम्बे का नाश होने पर नदी किनारे जाने से क्या प्रयोजन? राजा का नाश होने पर योद्धाओं का क्या प्रयोजन? मूल जल जाने पर विस्तार का क्या प्रयोजन? पुण्य का क्षय हो जाने पर औषधि का क्या प्रयोजन? चित्त शून्य हो जाने पर शास्त्रों का क्या प्रयोजन? हाथ कट जाने पर शस्त्रों का क्या प्रयोजन? वैसे ही अपने स्वीकार किये हुए व्रत के खंडित होने पर दिव्य ऐश्वर्य सुख आदि का क्या प्रयोजन?

यह विचारकर उसने राक्षस को परम आदर से तेजदार और सारभूत वचन कहा कि, हे राक्षसराज! तूने कहा सो उचित है, परन्तु पूर्वकाल में मैंने गुरु के पास नियम स्वीकार किया है कि, महान् पापों का स्थान ऐसा राज्य को ग्रहण नहीं करूंगा। यम और नियम इन दोनों की विराधना की हो तो ये तीव्र दुःख देते हैं। जिसमें यम भंग तो आयुष्य के अंत में ही दुःख देता है, परन्तु नियम भंग तो जन्म से लेकर सदैव दुःखदायी है। इसलिए हे सत्पुरुष मेरा नियम भंग न हो ऐसा चाहे जो कष्ट साध्य कार्य कह उसे मैं शीघ्र करूंगा।' राक्षस ने क्रोध से कहा कि, 'अरे! व्यर्थ क्यों गाल बजाता है? मेरी प्रथम मांग तो व्यर्थ गयी और अब दूसरी बार मांग करने को कहता है! अरे पापी! जिसके लिये संग्राम आदि पापकर्म करना पड़े, उस राज्य का त्याग करना उचित है, परन्तु देवों के दिये हुए राज्य में पाप कहां से हो? अरे मूढ! मैं समृद्ध राज्य देता हूँ, तो भी तू लेने का प्रमाद करता है? अरे! सुगंधित घृत पाते हुए खाली 'बू-बू' ऐसा शब्द करता है? रे मूर्ख! तू बड़े अभिमान से मेरे महल में गाढ़ निद्रा में सो रहा था! और मेरे से पांव के तलुवे भी मसलवाये!! हे मृत्युवश अज्ञानी! तू मेरे कथन को हितकारी होते हुए भी नहीं मानता है, तो अब देख कि मेरे फलदायी क्रोध के कैसे कटु फल हैं?'

यह कह जैसे गिद्धपक्षी मांस का टुकड़ा उठाकर जाता है वैसे वह राक्षस शीघ्र

कुमार को अपहरणकर आकाश में उड़ गया। और क्रोध से कुमार को घोर समुद्र में डाल दिया। जब मैना पर्वत की तरह कुमार समुद्र में गिरा तब वज्रपात के समान भयंकर शब्द हुआ व मानों कौतुक से ही वह पाताल में जाकर पुनः ऊपर आया। जल का स्वभाव ही ऐसा है। पश्चात् जड़ (जल)मय समुद्र में अजड़ (ज्ञानी) कुमार कैसे रह सकेगा? मानो यही विचार करके राक्षस ने अपने हाथ से उसे बाहर निकाला और कहा कि—'हे हठी और विवेकशून्य कुमार! तू व्यर्थ क्यों मरता है? राज्यलक्ष्मी को क्यों नहीं अंगीकार करता? अरे निंदा! देवता होते हुए मैंने तेरा निंदा वचन कबूल किया और तू कुछ मानवी होते हुए मेरा हितकारी वचन भी नहीं मानता है? अरे! अब तू मेरा वचन शीघ्र मान, अन्यथा धोबी जैसे वस्त्र को पछाड़ता है, उसी तरह तुझे पत्थर पर बार-बार पछाड़-पछाड़कर यम के घर पहुंचा दूंगा इसमें संशय नहीं। देवता का कोप व्यर्थ नहीं जाता और उसमें भी राक्षस का तो कदापि नहीं जाता।' यह कह वह क्रोधी राक्षस कुमार के पैर पकड़ उसका सिर नीचे किये हुए पछाड़ने के लिए शिला के पास ले गया। तब साहसी कुमार ने कहा-'अरे राक्षस! तू मन में विकल्प न रखते चाहे सो कर। मुझे बार-बार क्या पूछता है? सत्पुरुषों का वचन एक ही होता है।'

पश्चात् अपने सत्त्व का उत्कर्ष होने से कुमार को हर्ष हुआ। उसका शरीर रोमांचित हो गया और तेज तो ऐसा दिखने लगा कि कोई सहन न कर सके। इतने में राक्षस ने जादूगर की तरह अपना राक्षसरूप हटाकर शीघ्रदिव्य आभूषणों से देदीप्यमान अपना वैमानिक देवता का स्वरूप प्रकट किया, मेघ के जल की वृष्टि की तरह उसने कुमार पर पुष्पवृष्टि की और भाटचारण की तरह संमुख खड़े होकर जयध्वनि की, और आश्चर्य से चकित कुमार को कहने लगा कि, 'हे कुमार! जैसे मनुष्यों में श्रेष्ठ चक्रवर्ती वैसे तू सत्त्वशाली पुरुषों में श्रेष्ठ है। तेरे समान पुरुषरत्न और अप्रतिम शूरी के होने से पृथ्वी आज वास्तव में रत्नगर्भा और वीरवती हुई है। जिसका मन मेरुपर्वत के समान निश्चल है, ऐसे तूने गुरु के पास धर्म स्वीकार किया, यह बहुत ही उत्तम किया। इन्द्र का सेनापति हरिणोगमेषी नामक श्रेष्ठ देवता अन्य देवताओं के संमुख तेरी प्रशंसा करता है, वह योग्य है।'

यह सुन रत्नसारकुमार ने चकित हो पूछा कि, 'हरिणोगमेषी देवता मुझ तुच्छ मनुष्य की प्रशंसा क्यों करता है?' देवता ने कहा—'सुन। एक समय नये उत्पन्न हुए होने के कारण सौधर्मेन्द्र और ईशानेन्द्र इन दोनों में विमान के विषय में विवाद हुआ। सौधर्मेन्द्र के विमान बत्तीस लाख, और ईशानेन्द्र के अट्ठाईस लाख होते हैं। वे परस्पर विवाद करने लगे। उन दोनों में दो राजाओं की तरह बाहुयुद्ध आदि अन्य भी बहुत से युद्ध अनेक बार हुए तिर्यचों में कलह होता है तो मनुष्य शीघ्र उन्हें शांत करते हैं; मनुष्यों में कलह होता है तो राजा समझाते हैं; राजाओं में कलह होता है तो देवता समाधान करते हैं; देवताओं में कलह होता है तो उनके इन्द्र मिटाते हैं; परन्तु जो इन्द्र ही परस्पर कलह करे तो वज्र की अग्नि के समान उनको शांत करना कठिन है। कौन व

किस प्रकार से उनको रोक सकता है? पश्चात् महत्तरदेवताओं ने माणवकस्तंभ पर की अरिहंत प्रतिमा का न्हवणजल जो आधि, व्याधि, महादोष और महावैर का नाशक है, वह उन पर छिड़का, जिससे वे दोनों शीघ्र शांत हो गये। न्हवणजल की ऐसी महिमा है कि, उससे कोई कार्य असंभव नहीं। पश्चात् उन दोनों ने पारस्परिक वैर त्याग दिया। तब उनके मंत्रियों ने कहा कि, 'पूर्व की व्यवस्था इस प्रकार है'—दक्षिण दिशा में जितने विमान हैं वे सब सौधर्म इन्द्र के हैं, और उत्तर दिशा में जितने हैं उन सब पर ईशान इन्द्र की सत्ता है। पूर्वदिशा तथा पश्चिमदिशा में सब मिलकर तेरह गोलाकार इन्द्रक विमान हैं, वे सौधर्मइन्द्र के हैं। उन्हीं दोनों दिशाओं में त्रिकोण और चतुष्कोण जितने विमान हैं, उनमें आधे सौधर्म इन्द्र के और आधे ईशान इन्द्र के हैं। सनत्कुमार तथा माहेंद्रदेवलोक में भी यही व्यवस्था है। सब जगह इन्द्रकविमान तो गोलाकार ही होते हैं। मंत्रियों के वचनानुसार इस प्रकार व्यवस्थाकर दोनों इन्द्र चित्त में स्थिरता रख, वैर छोड़ परस्पर प्रीति करने लगे। इतने में चन्द्रशेखर देवता ने हरिणगेमेषी देवता को सहज कौतुक से पूछा कि—'संपूर्ण जगत में लोभ के सपाटे में न आये ऐसा कोई जीव है? अथवा इन्द्रादिक भी लोभवश होते हैं तो फिर दूसरे की बात ही क्या? जिस लोभ ने इन्द्रादिक को भी सहज ही घर के दास समान वश में कर लिये, उस लोभ का तीनों जगत में वास्तव में अद्भुत एकछत्र साम्राज्य है।' तब हरिणगेमेषीदेवता ने कहा कि—'हे चन्द्रशेखर! तू कहता है वह बात सत्य है, तथापि ऐसी कोई भी वस्तु नहीं कि जिसकी पृथ्वी में बिलकुल ही सत्ता न हो। वर्तमान में ही श्रेष्ठिवर्य श्रीवसुसार का 'रत्नसार' नामक पुत्र पृथ्वी पर है, वह किसी भी प्रकार लोभवश होनेवाला नहीं। यह बात बिलकुल निःसंशय है। उसने गुरु के पास परिग्रहपरिमाणव्रत ग्रहण किया है। वह अपने व्रत में इतना दृढ़प्रतिज्ञ है कि सर्व देवता व इन्द्र भी उसे चलायमान नहीं कर सकते। दूर तक प्रसरे हुए अपार लोभरूपी जल के तीव्रप्रवाह में अन्य सब तृणसमान बहते जाये ऐसे हैं; परन्तु वह कुमार मात्र ऐसा है कि जो कृष्ण चित्रकला की तरह भीगता नहीं।'

जैसे सिंह दूसरे की गर्जना सहन नहीं कर सकता वैसे ही चन्द्रशेखर देवता हरिणगेमेषीदेवता का वचन सहन न कर सका और तेरी परीक्षा करने के लिए आया। पिंजरे सहित तेरे तोते को हर ले गया। एक नयी मैना तैयार की, एक शून्य नगर प्रकट किया, और एक धर्यंकर राक्षसरूप बनाया, उसीने तुझे समुद्र में फेंका, और दूसरा भी डर बताया। पृथ्वी में रत्न के समान हे कुमार! मैं वही चन्द्रशेखर देवता हूँ। इसलिए हे सत्पुरुष! तू मेरे इन सर्व दुष्टकर्मों की क्षमा कर, और देवता का दर्शन निष्फल नहीं जाता, इसलिए मुझे कुछ भी आदेश कर।' कुमार ने देवता को कहा, 'श्री धर्म के सम्यक् प्रसाद से मेरे संपूर्ण कार्य सिद्ध हुए हैं, इसलिए मैं अब तुझसे क्या मांगूँ! परन्तु हे श्रेष्ठदेवता! तू नंदीश्वर आदि तीर्थों में यात्राएं कर जिससे तेरा देवताभव सफल होगा।' चन्द्रशेखर देवता ने यह बात स्वीकार की, तोते का पीजरा कुमार के हथ में

दिया, और कुमार को उठाकर शीघ्र ही कनकपुरी में ला रखा। पश्चात् चन्द्रशेखर देवता राजादि के संमुख कुमार की महिमा वर्णनकर अपने स्थान को गया। इधर रत्नसार ने भी किसी प्रकार राजा की आज्ञा ले दोनों स्त्रियों के साथ उसे अपने नगर की ओर प्रयाण किया। सामन्त, मंत्री आदि राजपुरुष कुमार के साथ उसे पहुंचाने आये। जिससे मार्ग में सभी पुरुष कुमार को राजपुत्र समझने लगे। मार्ग में आये हुए राजाओं ने स्थान-स्थान पर उसका सत्कार किया। क्रमशः कितने ही दिनों के बाद वह रत्नविशालानगरी में आ पहुंचा। राजा समरसिंह भी इसकी ऋद्धि का विस्तार देखकर बहुत से श्रेष्ठियों के साथ अगवानी को आया व बड़े समारम्भ से कुमार का नगरी में प्रवेश करवाया। पूर्वपुण्य की पटुता कैसी विलक्षण है? पारस्परिक आदर सत्कारादि हो जाने के अनन्तर चतुर तोते ने राजादि के संमुख संपूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। जिसे सुन उन सब को बड़ा चमत्कार उत्पन्न हुआ, व कुमार की प्रशंसा करने लगे।

एक समय उद्यान में 'विद्यानन्द' नामक आचार्य का समवसरण हुआ। राजा रत्नसारकुमार आदि हर्षपूर्वक उनको वंदना करने गये। आचार्य महाराज ने उचित उपदेश दिया। पश्चात् राजा ने आचार्य महाराज से रत्नसारकुमार का पूर्वभव पूछा, तब चतुर्जानी विद्यानन्दाचार्य इस प्रकार कहने लगे—

रत्नसार का पूर्वभव :

'हे राजन्! राजपुरनगर में धन से संपूर्ण और सुन्दर श्रीसार नामक राजपुत्र था। एक श्रेष्ठिपुत्र, दूसरा मंत्रीपुत्र और तीसरा क्षत्रियपुत्र ऐसे राजपुत्र के तीन मित्र थे। धर्म, अर्थ और काम से जैसे उत्साह शोभता है, वैसे वह राजपुत्र तीनों मित्रों से मूर्तिमंत उत्साह के समान शोभता था। चारों में जो क्षत्रियपुत्र था वह शेष तीनों मित्रों का कलाकौशल देखकर अपने आपकी निंदा किया करता था और ज्ञान को मान देता था। एक समय रानी के महल में किसी चोर ने संध लगायी। सुभटों ने उसे माल सहित पकड़ लिया। क्रोध पाये हुए राजा ने उसे शूली पर चढ़ाने का आदेश किया। जल्लाद लोग उसे ले जाने लगे; इतने में दयालु श्रीसारकुमार ने हरिणी की तरह भयभीत दृष्टि से इधर-उधर देखते उस चोर को देखा और यह कहकर कि, 'मेरी माता का द्रव्य हरण करनेवाला यह चोर है, इसलिए मैं स्वयं इसका वध करूंगा।' श्रीसार जल्लादों के पास से उसे अपने अधिकार में लेकर नगरी के बाहर गया व उदार व दयालु राजकुमार ने उसे 'फिर कभी चोरी मत करना' यह कह चुपचाप छोड़ दिया। सत्पुरुषों में अपराधी मनुष्य पर भी अद्भुत दया होती है। मनुष्यों के सब जगह पांच मित्र होते हैं तो पांच शत्रु भी होते हैं। यही दशा कुमार की भी थी। इससे किसीने चोर के छोड़ देने की बात राजा के कान में डाली। 'आज्ञाभंग करना यह राजा का बिना शस्त्र का वध कहलाता है।' ऐसा होने से रुष्ट हुए राजा ने श्रीसार का बहुत तिरस्कार किया जिससे दुःखित व क्रोधित हो कुमार नगर से बाहर निकल गया।

मानी पुरुष अपनी मानहानि को मृत्यु से भी बदतर अनिष्ट मानते हैं। ज्ञान,

दर्शन और चारित्र्य जैसे भव्यजीवों को आ मिलते हैं, वैसे नित्य मित्रता रखनेवाले तीनों मित्र श्रीसार को आ मिले। कहा है कि—संदेशा भेजने के समय दूत की, संकट आने पर बान्धवों की, आपत्ति आ पड़ने पर मित्रों की और धन चला जाये तब स्त्री की परीक्षा की जाती है। मार्ग में जंगल आया तब वे चारों व्यक्ति एक राहगीरों (काफला) के दल के साथ चल रहे थे, परन्तु कर्म की विचित्रगति से उनका साथ छूट जाने से मार्ग भूल गये। तीन दिन तक क्षुधातृषा से पीड़ित हुए इधर-उधर भटकते एक गांव में आये, और भोजन की तैयारी करने लगे। इतने में जिनका भव थोड़ा बाकी रहा है ऐसे एक जिनकल्पि मुनिराज उनके पास भिक्षा लेने तथा उनको उत्कृष्ट वैभव देने के लिए आये। राजकुमार भद्रकस्वभावी था इससे उसने उच्चभाव से मुनिराज को भिक्षा दी, और भोगफल कर्म उपार्जित किया। मुनिराज को भिक्षा देने से दो मित्रों को हर्ष हुआ। उन्होंने मन, वचन, काया से धर्म की अनुमोदना की। ठीक ही है, समानमित्रों के समान ही पुण्य उपार्जन करना उचित है। सब दे दो, ऐसा योग फिर हमको कब मिलेगा? इस प्रकार दोनों मित्रों ने अपनी अधिक श्रद्धा बताने के लिए कपट वचन कहे।

क्षत्रियपुत्र का स्वभाव तुच्छ था, इससे वह दान के समय बोला कि, हे कुमार! मुझे बड़ी भूख लगी है अतएव कुछ तो रख लो। इस प्रकार वृथा दान में अंतराय करके भोगान्तराय कर्म बांधा। पश्चात् राजा के बुलाने से अपने-अपने स्थान को गये और हर्षित हुए। उन चारों को क्रमशः राजकुमार को राज्य, श्रेष्ठीपुत्र को श्रेष्ठीपद, मंत्रीपुत्र को मंत्रीपद और क्षत्रियपुत्र को सेनानायक का पद मिला। वे अपना-अपना पद भोगकर क्रमशः मृत्यु को प्राप्त हुए। सत्पात्र दान के प्रभाव से श्रीसारकुमार रत्नसार हुआ। श्रेष्ठीपुत्र और मंत्रीपुत्र इसकी स्त्रियां हुईं। कारण कि कपट करने से स्त्रीभव प्राप्त होता है। क्षत्रियपुत्र तोता हुआ। कारण कि दान में अन्तराय करने से तिर्यचपना प्राप्त होता है। तोते में जो बड़ी चतुरता है, वह पूर्वभव में ज्ञान को बहुत मान दिया था उसका कारण है। श्रीसार का छुड़ाया हुआ चौर तापसव्रत पालनकर इसे सहायता करनेवाला चन्द्रचूड़ देवता हुआ।

राजा आदि लोगों ने मुनिराज के ये वचन सुनकर पात्रदान को आदरणीय मानकर सम्यग् रीति से जैनधर्म का पालन करना अंगीकार किया। सत्य ही है, तत्त्व का ज्ञान हो जाने पर कौन प्रमाद करता है? सत्पुरुषों का स्वभाव जगत् में सूर्य के समान शोभायमान होता है। कारण कि, सूर्य जैसे अंधकार का नाशकर लोगों को सन्मार्ग में लगाता है, वैसे ही सत्पुरुष भी अज्ञानान्धकार को दूर करके लोगों को सन्मार्ग में लगाते हैं।

अत्यन्त पुण्यशाली रत्नसारकुमार ने अपनी दो स्त्रियों के साथ चिरकाल उत्कृष्ट सुख भोगे। अपने भाग्य से ही इच्छित द्रव्य मिल जाने से उसने धर्म और काम इन दो पुरुषार्थों का ही परस्पर बाधा न आये इस रीति से सम्यक् प्रकार से साधना की। उसने रथयात्राएं, तीर्थयात्राएं, अरिहंत की चांदी की, सुवर्ण की तथा रत्न की प्रतिमाएं,

उनकी प्रतिष्ठाएँ, जिनमंदिर, चतुर्विध संघ का वात्सल्य, अन्य दीनजनों पर उपकार आदि उत्तमोत्तम कृत्य चिरकाल तक किये। ऐसे श्रेष्ठ कृत्य करना यही लक्ष्मी का फल है। उसके सहवास से उसकी दोनों स्त्रियाँ भी उसीके समान धर्मीनिष्ठ हुईं। सत्पुरुषों के सहवास से क्या नहीं होता? अन्त में आयुष्य पूर्ण होने पर दोनों स्त्रियों के साथ शुभध्यान से देह त्यागकर बारहवें अच्युतदेवलोक में गया। यह गति श्रावक के लिए उत्कृष्ट मानी गयी है। रत्नसारकुमार का जीव वहाँ से च्यवकर महाविदेहक्षेत्र में अवतरेगा, और जैनधर्म की सम्यग् रीति से आराधनाकर शीघ्र मोक्षसुख प्राप्त करेगा। इस प्रकार उपरोक्त चरित्र को बराबर ध्यान में लेकर भव्यजीवों को पात्रदान में तथा परिग्रहपरिमाण व्रत आदरने में पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

भोजन के समय :

साधु आदि का योग हो तो उपरोक्त कथनानुसार यथाविधि पात्रदान अवश्य करे। वैसे ही भोजन के समय पर अथवा पूर्व आये हुए साधर्मिकों को भी यथाशक्ति अपने साथ भोजन करावे। कारण कि, साधर्मिक भी पात्र ही कहलाता है। साधर्मिकवात्सल्य की विधि आदि का वर्णन आगे करेंगे। इसी प्रकार दूसरे भी भिखारी आदि लोगों को उचित दान देना। उनको निराश करके पीछे नहीं फेरना। कर्मबन्धन नहीं कराना। धर्म की अवहेलना भी न कराना। अपने मन को निर्दय न रखना। भोजन के समय द्वार बन्द करना आदि महान् अथवा दयालुपुरुषों का लक्षण नहीं है। सुनने में भी ऐसा आता है कि, चित्रकूट में चित्रांगद राजा था। उस पर चढ़ाईकर शत्रुओं ने चित्रकूट गढ़ घेर लिया। शत्रुओं के अन्दर घुस आने का बड़ा डर होते हुए भी राजा चित्रांगद प्रतिदिन भोजन के समय पोल का दरवाजा खुलवाता था। गणिका ने यह गुप्त भेद प्रकट कर दिया जिससे शत्रुओं ने गढ़ जीत लिया....इत्यादि। इसलिए श्रावक को और विशेष करके ऋद्धिमंत श्रावक को भोजन के समय द्वार बन्द कभी भी नहीं करना चाहिए। कहा है कि—अपने उदर का पोषण कौन नहीं करता? परन्तु पुरुष वही है जो बहुत से जीवों का उदर पोषण करे। इसलिए भोजन के समय आये हुए अपने बान्धवादि को अवश्य भोजन कम्पना चाहिए। भोजन के अवसर पर आये हुए मुनिराज को भक्ति से, याचकों को शक्ति के अनुसार और दुःखीजीवों को अनुकंपा से सन्तुष्ट करने के अनंतर ही भोजन करना उचित है। आगम में भी कहा है कि—सुश्रावक भोजन करते समय द्वार बंद न करे। कारण कि, जिनेन्द्रों ने श्रावकों को अनुकम्पा दान की मनायी नहीं की है। श्रावक को चाहिए कि भयंकर भवसागर में दुःख से पीड़ितजीवों के समुदाय को देखकर मन में जाति पाति अथवा धर्म का भेद न रखते हुए द्रव्य से अन्नादिक देकर तथा भाव से सन्मार्ग में लगाकर यथाशक्ति अनुकम्पा करे। श्री भगवती प्रमुखसूत्रों में श्रावक के वर्णन के प्रसंग में 'अवंगुअदुआरा(वारा)' यह विशेषण देकर 'श्रावक को साधु आदि लोगों के प्रवेश करने के लिए हमेशा द्वार खुला रखना' ऐसा कहा है।

तीर्थकरों ने भी सांवत्सरिक दान देकर दीन लोगों का उद्धार किया। विक्रम राजा ने भी अपने राज्य के सर्व लोगों को ऋण रहित किया, जिससे उसके नामका संवत् चला। दुष्काल आदि आपत्ति के समय लोगों को सहायता देनेसे महान् फल प्राप्त होता है। कहा है कि—शिष्य की विनय से, योद्धा की समरभूमि में, मित्र की संकट के समय और दान की दुर्भिक्ष पड़ने से परीक्षा होती है। संवत् १३१५ में दुर्भिक्ष पड़ा था, तब भद्रेश्वर नगर निवासी श्रीमाल ज्ञाति के जगदुशाह ने एक सौ बारह सदावर्त स्थापित कर दान दिया था। कहा है कि—दुर्भिक्ष के समय हम्पीर ने बारह, वीसलदेव ने आठ, बादशाह ने इक्कीस और जगदुशाह ने एक हजार धान्य के मूड़े (माप विशेष) दिये। उसी प्रकार अणहिल्लपुर पाटण में 'सिंधाक' नाम का एक बड़ा सराफ हुआ था। उसने अश्व, गज, बड़े-बड़े महल आदि अपार ऋद्धि उपार्जन की थी। संवत् १४२९ में उसने आठ मंदिर बंधाये और महायात्राएं कीं। एक समय उसने ज्योतिषी के कहने पर से भविष्य में आनेवाले दुर्भिक्ष का हाल सुना और दो लाख मन धान्य संग्रह करके रखा जिससे दुर्भिक्ष पड़ने पर भाव की तेजी से उसे बहुत लाभ हुआ, तब उसने चौबीस हजार मन धान्य अनाथ लोगों को दिया, एक हजार बन्दियों को छुड़ाया, छप्पन राजाओं को छुड़ाया, जिनमंदिर खुलवाये, श्री जयानन्दसूरि तथा श्री देवसुन्दरसूरि के पगले स्थापित किये इत्यादि उसके बहुत से धर्मकृत्य प्रसिद्ध हैं। इसलिए श्रावक को विशेषकर भोजन के समय अनुकम्पादान अवश्य करना चाहिए। सामान्य मनुष्य को भी घर में अन्न आदि इतना बनाना कि, जिससे कोई गरीब आवे तो यथाशक्ति उसकी इच्छा पूर्ण की जा सके। इसमें कोई विशेष खर्च भी नहीं होता। कारण कि, गरीब लोगों को थोड़े में ही सन्तोष हो जाता है। कहा है कि—हाथी के आहार में से एक दाना नीचे गिर पड़े तो उससे हाथी को क्या कमी हो सकती है? परन्तु उसी एक दाने पर कीड़ी का तो सम्पूर्ण कुटुम्ब निर्वाह कर लेता है। दूसरे उपरोक्त कथनानुसार ऐसा निरवद्य आहार किंचित् अधिक तैयार किया हुआ हो तो उससे सुपात्र का योग मिल जाने पर शुद्ध दान भी दिया जा सकता है।

भोजन :

इसी प्रकार माता, पिता, बन्धु, भगिनी, पुत्र, कन्या, पुत्रवधू, सेवक, रोगी, कैदी तथा गाय आदि जानवरों को उचित भोजन दे, पंचपरमेष्ठी का ध्यानकर तथा पच्चवखाण और मात्रा का यथोचित उपयोग रख करके रुचि के अनुसार भोजन करना। कहा है कि—उत्तमपुरुषों ने प्रथम पिता, माता, बालक, गर्भिणी, वृद्ध और रोगी इनको भोजन कराकर पश्चात् स्वयं भोजन करना। धर्मज्ञानी पुरुष को अपने घर के पशु तथा सेवा में रखे हुए लोगों की व्यवस्था करके पश्चात् भोजन करना चाहिए। भोजन में सदैव सात्त्विक वस्तु व्यवहार में लेनी चाहिए। आहार, पानी आदि वस्तु स्वभाव के प्रतिकूल हों तो भी किसीको वे अनुकूल होती हैं, इसे सात्त्विक कहते हैं। जन्म से ही प्रामाणिक विष भक्षण करने की आदत डाली हो तो वह विष ही अमृत समान होता है; और

वास्तविक अमृत हो तो भी किसी समय उपयोग न करने से प्रकृति को अनुकूल न हो तो वही विष समान हो जाता है, ऐसा नियम है, तथापि हितकारी वस्तु का सात्त्व्य न हो तो भी उसीको उपयोग में लेना, और अपथ्य वस्तु सात्त्व्य हो तो भी न वापरना चाहिए। 'बलिष्ठ पुरुष को सर्व वस्तुएं पथ्य (हितकारी) हैं।' ऐसा सोचकर कालकूट विष भक्षण करना अनुचित है। विषशास्त्र का जाननेवाला मनुष्य सुशिक्षित होता है, तो भी किसी समय विष खाने से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। और भी कहा है कि—जो गले के नीचे उतरा वह सब अशन कहलाता है? इसीलिए चतुरमनुष्य को गले के नीचे उतरे वहां तक क्षणमात्र सुख के हेतु जीभ की लोलुपता नहीं रखनी चाहिए। ऐसा वचन है, अतएव जीभ की लोलुपता भी छोड़ देनी चाहिए। तथा अभक्ष्य, अनंतकाय और बहुत सावद्य वस्तु भी व्यवहार में नहीं लानी चाहिए। अपने अग्नि बल के अनुसार परिमित भोजन करना चाहिए। जो परिमित भोजन करता है, वह बहु भोजन करने के समान है। अतिशय भोजन करने से अजीर्ण, वमन, विरेचन (अतिसार) तथा मृत्यु आदि भी सहज में ही हो जाते हैं। कहा है कि—हे जीभ! तू भक्षण करने व बोलने का परिमाण रख। कारण कि, अतिशय भक्षण करने तथा अतिशय बोलने का परिणाम भयंकर होता है। हे जीभ! जो तू दोषरहित तथा परिमित भोजन करे, और जो दोष रहित तथा परिमित बोले, तो कर्मरूप वीरों के साथ लड़नेवाले जीव से तुझको जयपताका मिलेगी; ऐसा निश्चय समझ। हितकारी, परिमित और परिपक्व भोजन करनेवाला, बायीं करवट से सोनेवाला, हमेशा चलने फिरने का परिश्रम करनेवाला, मलमूत्र त्याग करने में विलंब न करनेवाला और स्त्रियों के सम्बन्ध में अपने मन को वश में रखनेवाला मनुष्य रोगों को जीतता है। व्यवहारशास्त्रादिक के अनुसार भोजन करने की विधि इस प्रकार है—

अतिशय प्रभातकाल में, बिलकुल सन्ध्या के समय, अथवा रात्रि में तथा गमन करते भोजन न करना। भोजन करते समय अन्न की निन्दा न करना, बायें पैर पर हाथ भी न रखना तथा एक हाथ में खाने की वस्तु लेकर दूसरे हाथ से भोजन न करना। खुली जगह में, धूप में, अन्धकार में अथवा वृक्ष के नीचे कभी भी भोजन न करना। भोजन करते समय तर्जनी अंगुली खड़ी न रखना। मुख, वस्त्र और पग धोये बिना, नगनावस्था से, मैले वस्त्र पहनकर तथा बाये हाथ में थाली लेकर भोजन न करना। एक ही वस्त्र पहनकर, सिर पर भीगा हुआ वस्त्र लपेटकर, अपवित्र शरीर से तथा जीभ की अतिशय लोलुपता रखकर भोजन न करना। पैर में जूते पहनकर, चित्त स्थिर न रखकर, केवल जमीन पर अथवा पलंग पर बैठकर, उपदिशा अथवा दक्षिण दिशा को मुखकर तथा पतले आसन पर बैठकर भोजन न करना। आसन पर पैर रखकर तथा श्वान, चांडाल और पतित लोगों की दृष्टि पड़ती हो ऐसे स्थान में भोजन न करना। फूटे हुए तथा मलीन पात्र में भी भोजन न करना। अपवित्र वस्तुओं द्वारा उत्पन्न हुआ, गर्भहत्या आदि करनेवाले लोगों का देखा हुआ, रजस्वला स्त्री का स्पर्श किया हुआ

तथा गाय, श्वान, पक्षी आदि जीवों का सूंघा हुआ अन्न भक्षण न करना। जो भक्ष्य वस्तु कहां से आयी यह ज्ञात न हो तथा जो वस्तु अज्ञात हो उसे भक्षण न करना। एक बार पकाया हुआ अन्न पुनः गरम किया हो तो भोजन न करना तथा भोजन करते समय मुख से किसी प्रकार का शब्द तथा टेढ़ा वांका मुख न करना चाहिए। भोजन करते समय पड़सियों को भोजन करने के लिए बुलाकर प्रीति उत्पन्न करना। अपने इष्ट देव का नाम स्मरण करना तथा सम, चौड़े, विशेष ऊंचा व नीचा न हो ऐसे स्थिर आसन पर बैठकर अपनी मौसी, माता, बहिन अथवा स्त्री आदि द्वारा तैयार किया हुआ तथा पवित्र व भोजन किए हुए लोगों द्वारा आदरपूर्वक परोसा हुआ अन्न एकान्त में दाहिना स्वर बहता हो उस समय भोजन करना। भोजन करते वक्त मौन रहना। तथा शरीर सीधा रखना और प्रत्येक भक्ष्यवस्तु को सूंघना; कारण कि, उससे दृष्टिदोष टलता है। अधिक खारा, अधिक खट्टा, अधिक गरम अथवा अधिक ठंडा अन्न न खाना। अधिक शाक न खाना। अतिशय मीठी वस्तु न खाना तथा रुचिकर वस्तु भी अधिक न खाना। अतिशय उष्ण अन्न रस का नाश करता है, अतिशय खट्टा अन्न इन्द्रियों की शक्ति कम करता है, अतिशय खारा अन्न नेत्रों को विकार करता है; और अतिशय स्निग्ध अन्न ग्रहणी (आमाशय की छट्टी थैली) को बिगाड़ता है। कटु और तीक्ष्ण आहार से कफ का, तूरे और मीठे आहार से पित्त का, स्निग्ध और उष्ण आहार से वायु का तथा उपवास से शेष रोगों का नाश करना चाहिए। जो पुरुष शाकभाजी अधिक न खाये, घृत के साथ अन्न खाये, दूध आदि स्निग्ध वस्तु का सेवन करे, अधिक जल न पीये, अजीर्ण पर भोजन न करे, मूत्रल (अतिशीत-बरफादि) तथा विदाही (अतिउष्ण-मीरचादि) वस्तु का सेवन न करे, चलते हुए भक्षण न करे, और खाया हुआ पच जाने पर अवसर से भोजन करे, उसे यदि कभी शरीर रोग होता है तो बहुत ही थोड़ा होता है।

नीतिवान् पुरुष प्रथम मधुर, मध्य में तीक्ष्ण और अन्त में कटु ऐसा दुर्जन की मित्रता के सदृश भोजन चाहते हैं। शीघ्रता न करते प्रथम मधुर और स्निग्धरस भक्षण करना, मध्य में पतला, खट्टा और खारा रस भक्षण करना तथा अन्त में कटु और तीखारस भक्षण करना चाहिए। प्रथम प्रवाही, मध्य में कटु रस और अंत में पुनः प्रवाही भक्षण करना चाहिए, इससे बल और आरोग्य बढ़ता है। भोजन के प्रारंभ में जल पीने से अग्नि मंद होती है, मध्यभाग में जलपान रसायन के समान पुष्टि देता है, और अंत में पीने से विष के समान हानिकारक होता है। मनुष्य को भोजन करने के बाद सर्वरस से भरे हुए हाथ से जल का एक कुल्ला प्रतिदिन पीना। पशु की तरह मनमाना जल नहीं पीना चाहिए, झूठा बचा हुआ भी न पीना; तथा खोबे से भी न पीना। कारण कि, परिमित जल पीना ही हितकर है। भोजन कर लेने के बाद भीगे हुए हाथ से दोनों गालों को, बायें हाथ को अथवा नेत्रों को स्पर्श न करना; परंतु कल्याण के लिए दोनों घुटनों को स्पर्श करना चाहिए। भोजन के उपरांत कुछ समय तक शरीर का मर्दन, मलमूत्र का त्याग, बोझा उठाना, बैठे रहना, नहाना आदि न करना चाहिए। भोजन

करके तुरंत बैठे रहने से मेद से पेट बढ़ जाता है। चिंता सो रहने से बलवृद्धि होती है; बायीं करवट सो रहने से आयुष्य बढ़ती है और दौड़ने से मृत्यु संमुख आती है। भोजनोपरांत तुरत बायीं करवट सो रहना; किन्तु निद्रा नहीं लेनी चाहिए, अथवा सो कदम चलना चाहिए। यह भोजन की लौकिकविधि है। सिद्धांत में कही हुई विधि इस प्रकार है—

सुश्रावक निरवद्य, निर्जीव से और अशक्त हो तो परितमिश्र आहार से निर्वाह करनेवाले होते हैं। श्रावक ने साधु की तरह सरसर अथवा चवचव शब्द न करते, अधिक उतावल व अधिक स्थिरता न रखते, नीचे दाना अथवा बिंदु न गिराते तथा मन, वचन, काया की यथोचित गुप्ति रखकर उपयोग से भोजन करना चाहिए।

जिस प्रकार गाड़ी हांकेने के कार्य में अभ्यंजन (पड़ये में तैलादि) लेप लगाया जाता है, उसी अनुसार संयमरूपी रथ चलाने के लिए साधुओं को आहार कहा गया है। अन्यगृहस्थों ने अपने लिये किया हुआ तीक्ष्ण, कटु, तूरा, खट्टा, मीठा अथवा खारा जैसा कुछ अन्न मिले वह साधुओं को मीठे घृत की तरह भक्षण करना। इसी तरह रोग, मोह का उदय, स्वजन आदि का उपसर्ग होने पर, जीवदया के रक्षणार्थ, तपस्या के हेतु तथा आयुष्य का अन्त आने पर शरीर को त्याग करने के लिए आहार को त्याग करना चाहिए, यह विधि साधु आश्रित है। श्रावक आश्रयी विधि भी यथायोग जानना चाहिए। अन्य स्थान में भी कहा है कि—विवेकी पुरुष को शक्ति हो तो देव, साधु, नगर का स्वामी, तथा स्वजन संकट में पड़ा हो, अथवा सूर्य और चन्द्र का ग्रहण लगा हो, तब भोजन न करना। इसी प्रकार अजीर्ण से रोग उत्पन्न होते हैं, इसलिए अजीर्ण नेत्रविकार आदि रोग हुए हों तो भोजन न करना चाहिए। कहा है कि—ज्वर के प्रारंभ में शक्ति कम न हो उतने लंघन करना। परंतु वायु से, थकावट से, क्रोध से, शोक से, कामविकार से और प्रहार होने से उत्पन्न हुए ज्वर में लंघन न करना चाहिए, तथा देव, गुरु को वन्दना आदि का योग न हो; तीर्थ अथवा गुरु को वन्दना करनी हो, विशेष व्रत पञ्चवखाण लेना हो, महान् पुण्यकार्य आरम्भ करना हो उस दिन व अष्टमी, चतुर्दशी आदि श्रेष्ठ पर्व के दिन भी भोजन नहीं करना चाहिए। मासक्षमण आदि तपस्या से इस लोक परलोक में बहुत गुण उत्पन्न होते हैं। कहा है कि—तपस्या से अस्थिर कार्य हो वह स्थिर, टेढ़ा हो वह सरल, दुर्लभ हो वह सुलभ तथा असाध्य हो वह सुसाध्य हो जाता है। वासुदेव, चक्रवर्ती आदि लोगों के समानदेवताओं को अपना सेवक बना लेना आदि इस लोक के कार्य भी अद्भुत आदि तपस्या से ही सिद्ध होते हैं; अन्यथा नहीं।

सुश्रावक भोजन करने के उपरांत नवकार स्मरण करके उठे और चैत्यवंदन विधि से योगानुसार देव तथा गुरु को वन्दना करे। उपस्थित गाथा में 'सुपत्तदाणा-इजुत्ति' इस पद में आदि शब्द का ग्रहण किया है इससे यह सर्व विधि सूचित की गयी है।

स्वाध्याय :

अब गाथा के उत्तरार्द्ध की व्याख्या करते हैं—भोजन करने के बाद दिवसचरिम अथवा ग्रंथिसहित पच्चक्खाण आदि गुरु प्रमुख को दो बार वन्दना करके ग्रहण करना। और गीतार्थ मुनिराज अथवा गीतार्थ श्रावक, सिद्धपुत्र आदि के पास योग्यतानुसार पांच प्रकार का स्वाध्याय करना। १ वाचना, २ पृच्छना, ३ परावर्तना, ४ धर्मकथा, और ५ अनुप्रेक्षा, ये स्वाध्याय के पांच प्रकार हैं। जिसमें निर्जरा के लिए यथायोग्य सूत्र आदि का दान करना अथवा ग्रहण करना, उसे वाचना कहते हैं। वाचना में कुछ संशय रहा हो वह गुरु को पूछना उसे पृच्छना कहते हैं। पूर्व में पढ़े हुए सूत्रादिक भूल न जाये उसके लिये पुनरावृत्ति करना उसे परावर्तना कहते हैं। जम्बूस्वामी आदि स्थविरो की कथा सुनना अथवा कहना उसे धर्मकथा कहते हैं। मन में ही बार-बार सूत्रादिक का स्मरण करना उसे अनुप्रेक्षा कहते हैं। यहां गुरु मुख से सुने हुए शास्त्रार्थ का ज्ञानीपुरुषों के पास विचार करने रूपी स्वाध्याय विशेष कृत्य के समान समझना चाहिए। कारण कि, 'भिन्न-भिन्न विषय के ज्ञाता पुरुषों के साथ शास्त्रार्थ के रहस्य की बातों का विचार करना' ऐसा श्री योगशास्त्र का वचन है। यह स्वाध्याय बहुत ही गुणकारी है। कहा है कि, स्वाध्याय से श्रेष्ठ ध्यान होता है, सर्व परमार्थ का ज्ञान होता है, तथा स्वाध्याय में रहा हुआ पुरुष क्षण-क्षण में वैराग्य दशा पाता है। पांच प्रकार के स्वाध्याय पर आचारप्रदीप ग्रंथ में उत्कृष्ट दृष्टान्तों का वर्णन किया गया है, इसलिए यहां नहीं किया गया।८॥

मूलगाथा - ६

संज्ञाइ जिणं पुणरवि, पूअइ पडिक्कमइ कुणइ तह विहिणा।

विस्समणं सज्जायं, गिहं गओ तो कहइ धम्मं ॥

संक्षेपार्थः : संध्या समय पुनः अनुक्रम से जिनपूजा, प्रतिक्रमण, इसी प्रकार विधि के अनुसार मुनिराज की सेवा भक्ति और स्वाध्याय करना; पश्चात् घर जाकर स्वजनों को धर्मोपदेश करे।

विस्तारार्थः : श्रावक के लिए नित्य एकाशन करना, यह उत्सर्गमार्ग है। कहा है कि—श्रावक उत्सर्गमार्ग से सचित्त वस्तु का त्यागी, नित्य एकाशन करनेवाला, ब्रह्मचर्य व्रत पालन करनेवाला होता है, परन्तु जो नित्य एकाशन न कर सके, उसको दिन के आठवें चौघड़िए में प्रथम दो घड़ियों में अर्थात् दो घड़ी दिन बाकी रहने पर भोजन-पानी का त्याग करना। अन्तिम दो घड़ी में भोजन करने से रात्रि-भोजन के महादोष का प्रसंग आता है। सूर्यास्त के अनंतर रात्रि में देर से भोजन करने से महान् दोष लगता है। उसका दृष्टान्त सहित स्वरूप श्रीरत्नशेखरसूरि (प्रस्तुत ग्रन्थकारः) विरचित अर्थदीपिका में देखो।

भोजन करने के उपरांत पुनः सूर्योदय हो, तब तक चौविहार-तिविहार अथवा

कोई विशेष रोगादि कारण हो तो दुविहार दिवसचरिम पच्चक्खाण करना चाहिए। यह पच्चक्खाण मुख्यतः तो दिन रहते हुए ही करना चाहिए। परन्तु उस समय न ले सके तो सूर्यास्त के बाद भी ले तो भी चल सकता है।

शंका : दिवसचरिम पच्चक्खाण निष्फल है। कारण कि, उसका एकाशन आदि पच्चक्खाण में समावेश हो जाता है।

समाधान : ऐसा नहीं, एकाशन आदि पच्चक्खाण के आठ आगार हैं, और दिवसचरिम के चार आगार हैं। इसलिए आगार का संक्षेप यही दिवसचरिम में विशेष हैं जिससे वह सफल है, और वह दिन के अंतिम भाग में करने का है, तथा रात्रिभोजन पच्चक्खाण का स्मरण करानेवाला है, इसलिए रात्रिभोजन पच्चक्खाणवाले को भी वह फलदायी है। ऐसा आवश्यक लघुवृत्ति में कहा है। यह पच्चक्खाण सुखसाध्य तथा बहुत फलदायक है। इस पर एक दृष्टान्त कहते हैं कि—

एडकाक्ष की कथा :

दशार्णनगर में एक श्राविका संध्यासमय (दो घड़ी दिन रहने के पूर्व) भोजन करके प्रतिदिन दिवसचरिम प्रत्याख्यान ले लेती थी। उसका पति मिथ्यादृष्टि था। 'संध्या को भोजन करने के बाद रात्रि को कुछ खाती ही नहीं है। इसलिए यह (दिवसचरिम) बड़ा पच्चक्खाण करती है।' इस प्रकार उसका पति उक्त श्राविका की नित्य हंसी किया करता था। एक समय श्राविका उसके स्वभाव को जानती थी इसलिए निषेध करने पर भी उसने भी हठ से दिवसचरिम प्रत्याख्यान किया। रात्रि में सम्यग्दृष्टि देवी परीक्षा करने तथा शिक्षा देने के लिए उसकी बहन का रूपकर उसे घेवर (मिठाई विशेष) आदि देने लगी। श्राविका ने बहुत रोका, तो भी जीभ की लोलुपता से वह भक्षण करने लगा। इतने में देवी ने उसके मस्तक पर एक ऐसा प्रहार किया कि जिससे उसकी आंखें बाहर निकल कर भूमि पर गिर पड़ीं। 'मेरा अपयश होगा।' यह विचारकर श्राविका ने काउस्सग किया। तब उसके कहने से देवी ने किसीके मारे हुए एक बकरे की आंखें लाकर उस पुरुष को लगायी। जिससे उसका 'एडकाक्ष' नाम पड़ा। इस तरह प्रत्यक्ष विश्वास हो जाने से वह श्रावक हो गया व उसको देखकर बहुत से लोग भी श्रावक हो गये। कौतुकवश बहुत से लोग उसे देखने को आने लगे, जिससे उस नगर का भी नाम 'एडकाक्ष' पड़ गया... इत्यादि।

पश्चात् संध्या समय अर्थात् अंतिम दो घड़ी दिन रहे तब सूर्यबिंब आधा अस्त होने के पूर्व पुनः यथाविधि संध्या समय की जिनपूजा करनी।

इति श्रीरत्नशेखरसूरिविरचित

श्राद्धविधिकौमुदी की हिन्दीभाषा का दिनकृत्यप्रकाशनामक

प्रथमः प्रकाशः संपूर्णः



प्रकाश-२ : चात्रिकृत्य

दिनकृत्य के अनन्तर श्रावक मुनिराज के पास अथवा पौषधशाला आदि में जाकर यतना से प्रमार्जना करके सामायिक आदि षडावश्यक रूप प्रतिक्रमण विधि सहित करे, उसमें स्थापनाचार्य की स्थापना, मुहपत्ति, चरवला आदि धर्मोपकरण ग्रहण करना तथा सामायिक करना इत्यादि, इसकी विधि का वर्णन मूलग्रंथकार रचित श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति में किया है। श्रावक ने सम्यक्त्वादिक के सर्वातिचार की शुद्धि के निमित्त तथा भद्रकपुरुष ने अभ्यासादिक के निमित्त प्रतिदिन दो बार अवश्य प्रतिक्रमण करना चाहिए। भद्रक परिणामी श्रावक को भी तीसरे वैद्य के रसायन-औषध के समान है, अतएव अतिचार न लगे हों तो भी श्रावक को यह अवश्य करना चाहिए। सिद्धांत में कहा है कि—प्रथम और अंतिम तीर्थकरों के शासन में प्रतिक्रमण प्रतिदिन करने का आवश्यक है, और मध्य के बाईस तीर्थकरों के शासन में कारण हो तो प्रतिक्रमण कहा है, 'कारण हो तो' याने मध्यमतीर्थकर के काल में अतिचार लगा हो तो मध्याह्न को ही प्रतिक्रमण करे, और न लगा हो तो पूर्व क्रोड वर्ष तक भी न करे। औषधि तीन प्रकार की कही है, यथा:—१ प्रथम वैद्य की औषधि व्याधि होवे तो मिटावे और न हो तो नवीन उत्पन्न करे। २ दूसरे वैद्य की औषधि व्याधि हो तो मिटावे, परन्तु न हो तो नयी पैदा न करे। ३ तीसरे वैद्य की औषधि रसायन अर्थात् पूर्व व्याधि हो तो उसे मिटावे और व्याधि न हो तो सर्वांग को पुष्ट करे तथा सुख व बल की वृद्धि करे; तथा भविष्य में होनेवाली व्याधि को रोके। उपरोक्त तीनों प्रकार में प्रतिक्रमण तीसरे वैद्य के रसायन-औषधि के समान है, जिससे वह अतिचार लगे हों तो उनकी शुद्धि करता है, और न लगे हों तो चारित्र धर्म की पुष्टि करता है।

शंका : आवश्यकचूर्णि में कही हुई सामायिक विधि ही श्रावक का प्रतिक्रमण है, कारण कि, छः प्रकार का प्रतिक्रमण दो बार अवश्य करना यह सब इसीमें आ जाता है। यथा—प्रथम एक सामायिक कर, पश्चात् क्रम से २ इरियावही, ३ कायोत्सर्ग, ४ चोवीसत्थो, ५ वंदन और ६ पच्चक्खाण करने से छः आवश्यक पूरे होते हैं। इसी प्रकार 'सामाइयमुभयसंज्ञं' ऐसा वचन है, जिससे प्रातः व. संध्या को करना ऐसा भी निश्चय होता है।

समाधान : उपरोक्त शंका ठीक नहीं। कारण कि, सामायिकविधि में छः आवश्यक और कालनियम सिद्ध नहीं होते। वे इस प्रकार-तुम्हारे (शंकाकार के) अभिप्राय के अनुसार भी चूर्णिकार ने सामायिक, इरियावही प्रतिक्रमण और वंदन ये तीन ही प्रकट दिखाये हैं; शेष नहीं दिखाये। उसमें भी इरियावही प्रतिक्रमण कहा है, वह गमनागमन संबंधी है, परंतु आवश्यक के चौथे अध्ययन के रूप में नहीं। कारण कि, गमनागमन

तथा विहार करने पर, रात्रि में निद्रा के अंत में तथा स्वप्न देखने के बाद, इसी तरह नाव में बैठना पड़े तो तथा नदी उतरनी पड़े तो इरियावही करना, ऐसा वचन है। दूसरे श्रावक को साधु की तरह इरियावही में काउस्सग व चोवीसत्थो जैसे कहे हैं, उसी प्रकार साधु की तरह प्रतिक्रमण भी क्यों नहीं कहा जाता? इसके अतिरिक्त श्रावक ने साधु एवं चैत्य का योग न हो तो पौषधशाला में अथवा अपने घर में सामायिक तथा आवश्यक (प्रतिक्रमण) करना। इस प्रकार आवश्यकचूर्णि में भी सामायिक से आवश्यक पृथक् कहा है। वैसे ही सामायिक का काल भी नियमित नहीं। कारण कि, 'जहां विश्रांति ले, अथवा निर्व्यापार बैठे, वहां सर्वत्र सामायिक करना' व 'जब अवसर मिले तब सामायिक करना।' इसमें कुछ भी बाधा नहीं होती, ऐसे चूर्णि के प्रमाणभूत वचन हैं।

अब 'सामाङ्गमभयसंज्ञं' ऐसा जो वचन है, वह सामायिक प्रतिमा की अपेक्षा से कहा है। कारण कि, वही सामायिक का नियमित काल सुनने में आता है। अनुयोगद्वारा सूत्र में तो श्रावक को प्रतिक्रमण स्पष्ट कहा है, यथा—साधु, साध्वी, श्रावक तथा श्राविका ये सब अपने चित्त, मन, लेश्या, सामान्य अध्यवसाय, तीव्र अध्यवसाय तथा इंद्रियां भी आवश्यक में ही तल्लीन कर तथा अर्थ पर अच्छी तरह ध्यान रखकर आवश्यक की ही भावना करते प्रातःकाल तथा संध्या को आवश्यक करे।

और भी उसी सूत्र में कहा है कि, जिस लिये साधु और श्रावक को रात्रि तथा दिवस के अंतभाग में आवश्यक करना पड़ता है। इसलिए प्रतिक्रमण को आवश्यक कहते हैं। अतः साधु की तरह श्रावक को भी श्रीसुधर्मास्वामी आदि आचार्य की परंपरा से चलता आया हुआ प्रतिक्रमण मुख्यतः दोनों समय करना चाहिए। कारण कि, उससे दिन में तथा रात्रि में किये हुए पापों की शुद्धि होकर अपार फल प्राप्त होता है। कहा है कि, "जीवप्रदेश में से पापकर्म को निकाल देनेवाला, कषायरूपी भावशत्रु को जीतनेवाला, पुण्य को उत्पन्न करनेवाला और मुक्ति का कारण ऐसा प्रतिक्रमण नित्य दो बार करना चाहिए।" प्रतिक्रमण ऊपर एक ऐसा दृष्टांत सुना जाता है कि—

प्रतिक्रमण की श्रद्धा पर कथा :

दिल्ली में देवसीराइप्रतिक्रमण का अधिग्रह पालनेवाला एक श्रावक रहता था। राजव्यापार में कुछ अपराध में आ जाने से बादशाह ने उसके सर्वांग में बेड़ियां डालकर उसे बंदीगृह में डाला, उस दिन लंघन हुआ था, तो भी उसे संध्यासमय प्रतिक्रमण करने के लिए पहरेदारों को एक टंक सुवर्ण देना कबूल कर दो घड़ी हाथ छुड़ाये, और प्रतिक्रमण किया। इस प्रकार एक मास में उसने साठ टंक सुवर्ण प्रतिक्रमण के निमित्त दिये। नियम पालन में उसकी ऐसी दृढ़ता जानकर बादशाह चकित हो गया, और उसने उसे बंदीगृह से मुक्त कर शिरोपाव दिया तथा पूर्व की तरह उसका विशेष सन्मान किया। इस तरह प्रतिक्रमण करने में यतना और दृढ़ता रखनी चाहिए।

प्रतिक्रमण का समय :

प्रतिक्रमण के १ देवसी, २ राइ, ३ पक्खी, ४ चौमासी और ५ संवत्सरी ऐसे पांच भेद हैं। इनका समय उत्सर्ग मार्ग से इस प्रकार कहा है कि—'गीतार्थपुरुष सूर्योर्बिंब का अर्धभाग अस्त हो तब (दैवसिक प्रतिक्रमण) सूत्र कहते हैं। यह प्रामाणिक वचन है, इसलिए देवसीप्रतिक्रमण का समय सूर्य अर्धअस्त हो यह है। राइ प्रतिक्रमण का काल इस प्रकार है—आचार्य आवश्यक (प्रतिक्रमण) करने का समय होता है, तब निद्रा त्यागते हैं, और आवश्यक इस रीति से करते हैं कि जिससे दश पड़िलेहणा करते ही सूर्योदय हो जाय। अपवाद मार्ग से तो देवसीप्रतिक्रमण दिन के तीसरे प्रहर से अर्धरात्रि तक किया जाता है, योगशास्त्र की वृत्ति में तो देवसीप्रतिक्रमण मध्याह्न से लेकर अर्धरात्रि तक किया जाता है ऐसा कहा है, इसी प्रकार राइप्रतिक्रमण मध्य रात्रि से लेकर मध्याह्न तक किया जाता है, कहा है कि—'राइप्रतिक्रमण आवश्यकचूर्णि के अभिप्रायानुसार उग्घाडपोरिसी तक किया जाता है, और व्यवहारसूत्र के अभिप्राय से पुरिमड्ड (मध्याह्न) तक किया जाता है।' पाक्षिकप्रतिक्रमण पक्खाडे के अंत में, चातुर्मासिक चौमास के अंत में और सांवत्सरिक वर्ष के अंत में किया जाता है।

पाक्षिक प्रतिक्रमण कब ?

शंका : पक्खी (पाक्षिक) प्रतिक्रमण चतुर्दशी को किया जाता है कि अमावास्या अथवा पूर्णिमा को?

उत्तर : "हम कहते हैं कि चतुर्दशी को ही किया जाय। जो अमावस्या अथवा पूर्णिमा को पक्खी प्रतिक्रमण किया जाय तो चतुर्दशी तथा पक्खी के दिन भी उपवास करने का कहते हैं, इस से पक्खी आलोचना भी छद्म से हो जाती है। और ऐसा करने से आगमवचन का विरोध आता है। आगम में कहा है कि—'अष्टम-छद्म-चउत्थं, संवच्छरचाउमासपक्खेसु' दूसरे आगम में जहां 'पाक्षिक' शब्द ग्रहण किया है, वहां 'चतुर्दशी' शब्द ग्रहण किया है वहां 'पाक्षिक' शब्द पृथक् नहीं लिया। यथा—'अष्टमिचउद्दसीसु उपवासकरणं' यह वचन पाक्षिकचूर्णि में है। 'सोअष्टमिचउद्दसीसु उपवासं करेइ' यह वचन आवश्यकचूर्णि में है। 'चउत्थछद्ममकरणे अष्टमिपक्खचउमासवरिसे अ' यह वचन व्यवहारभाष्य की पीठिका में है।

१. देवसिय पडिक्रमणे ठाउं यह सूत्र बोला जाता है।

ते पुण ससूरि उच्चिअ, पासवणुच्चारकानभूमिओ। पेहिता अत्थमिए, तं तुस्सग्गं सएठाणे 1209॥ आवश्यक सूत्र टीका के २०९ में श्लोक में २४ मांडला करने के पश्चात् सूर्यास्त के समय प्रतिक्रमण ठाने का अ.रा.को. भा.३/४१४ पृष्ठ पर विधान है।

२. संवत्सरी पर अष्टम, चौमासी पर छद्म और पक्खी पर उपवास करना।

३. अष्टमीचतुर्दशी को उपवास करना।

४. सो अष्टमी चतुर्दशी को उपवास करे।

५. अष्टमी तथा पक्खी पर उपवास, चौमासी पर छद्म और संवत्सरी पर अष्टम करना।

'अद्धमिचउद्दसीनाणपंचमीचउमास०' इत्यादि वचन महानिशीथ में हैं। व्यवहारसूत्र के छठे उद्देशे में 'पक्खस्स अद्धमी खलु, मासस्स य पक्खिअं मुणेअब्बं' इस वचन की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने 'पाक्षिक' शब्द का अर्थ चतुर्दशी ही किया है। जो पक्खी और चतुर्दशी भिन्न होते तो आगम में दोनों शब्द पृथक्-पृथक् आते, परन्तु ऐसा नहीं है। इससे हम यह निर्णय करते हैं कि पक्खी चतुर्दशी के दिन ही होती है।'

पूर्वकाल में चौमासी पूनम को तथा संवत्सरी पंचमी को करते थे। परन्तु वर्तमानकाल में श्री कालिकाचार्य की आचरणा से चौमासी चतुर्दशी को और संवत्सरी चौथ को को जाती है; यह बात सर्वसम्मत होने से प्रामाणिक है। श्री कल्पभाष्य आदि ग्रंथों में कहा है कि—किसी भी आचार्य ने किसी भी समय मन में शठता न रखते जो कुछ निरवद्य आचरण किया हो और अन्य आचार्यों ने उसका जो प्रतिषेध न किया हो, तो वह बहुमत आचरित ही समझना चाहिए। (अनाचरित नहीं।) तीर्थोद्गार आदि ग्रन्थों में भी कहा है कि—शालिवाहन राजा ने संघ के आदेश से श्री कालिकाचार्य द्वारा चतुर्दशी के दिन चौमासी और चौथ के दिन संवत्सरी करायी। नौसौ तिरानवे के साल चतुर्विध श्रीसंघ ने चतुर्दशी के दिन चौमासी प्रतिक्रमण किया। वह आचरणा प्रमाणभूत है। इस विषय का सविस्तृत वर्णन देखना हो तो पूज्यश्री कुलमंडन सूरि विरचित 'विचारामृतसंग्रह' देखो।

प्रतिक्रमण विधि :

प्रतिक्रमण करने की विधि योगशास्त्र की वृत्ति में कही हुई चिरंतनाचार्य कृत गाथाओं पर से निश्चित करनी चाहिए यथा—

पंचविहायारविस्सुद्धिहेठमिह साहु सावगो वावि।

पडिकमणं सह-गुरुणा, गुरुविरहे कुणइ इक्कोऽवि ॥१॥

अर्थ: इस मनुष्य भव में साधु को तथा श्रावक को भी पंचविध आचार की शुद्धि करनेवाला प्रतिक्रमण गुरु के साथ या गुरु का योग न हो तो अकेले ही करना चाहिए॥१॥

वंदित्तु चेइथाई, दाठं चठराइए खमासमणे।

पूनिहिअसिरो सयला-इआरमिच्छोक्कडं देइ ॥२॥

अर्थ: चैत्यवन्दनकर, चार खमासमण दे भूमि पर मस्तक रख सर्व अतिचार का मिच्छादुक्कडं देना॥२॥

सामाइअपुव्वमिच्छा-मि ठाइठं काठसग्गमिच्चाइ।

सुत्तं भणिअ पल्लिअ-सुअ कुप्परधरिअपहिरणओ ॥३॥

घोडगमाईदोसे-हिं विरहिअं तो करेइ उस्सग्गं।

नाहिअहो जाणुइं, चउरंगुलठइअकडिपट्टो ॥४॥

अर्थ: सामायिक सूत्र कथनकर 'इच्छामि ठामि काउरसग्गं' इत्यादि सूत्र बोलना

और पश्चात् भुजाएं लंबीकर तथा कोहनी से चोलपट्ट धारणकर रजोहरण, या चरवला और मुहपत्ति हाथ में रखकर घोडग आदि दोष टालकर काउस्सग करे। उस समय पहना हुआ वस्त्र नाभि से नीचे और घुटनों से चार अंगुल ऊंचा होना चाहिए ॥३-४॥

तत्थ य धरेइ हिअए, जहक्कमं दिणकए अइआरे।

पारेत्तु णमोक्कारे-ण पढइ चउवीसथयदंडं ॥५॥

अर्थ: काउस्सग करते वखत मन में दिनभर के किए हुए अतिचारों का चिंतवन करना। पश्चात् नवकार से काउस्सग पारकर लोगस्स कहना ॥५॥

संडासगे पमज्जिअ, उवविसिअ अलग्गबिअयबाहुजुओ।

मुहणंतगं च कायं, च पेहए पंचवीसइहा ॥६॥

अर्थ: संडासक पूंजकर नीचे बैठ दोनों भुजाएं शरीर से अलग लम्बी कर मुहपत्ति तथा काया की पच्चीस-पच्चीस पड़िलेहणा करना ॥६॥

उट्टिअ ठिओ सविणयं, विहिणा गुरुणो करेइ किइक्कम्मं।

बत्तीसदोसरहिअं, पणवीसावस्सगविसुद्धं ॥७॥

अर्थ: उठकर खड़े रहकर विधिपूर्वक गुरु को कृतिकर्म (वन्दना) करे। उसमें बत्तीस दोष टालना, और पच्चीस आवश्यक की विशुद्धि रखना ॥७॥

अह संमवणयंगो, करजुअविहिधरिअपुत्तिरयहरणो।

परिचिंतइ अइआरे, जहक्कमं गुरुपुरो विअडे ॥८॥

अर्थ: पश्चात् सम्यग् रीति से शरीर नमाकर दोनों हाथ में यथाविधि मुहपत्ति और रजोहरण अथवा चरवला लेकर गुरु के सन्मुख स्पष्टता से अतिचारों का चिंतवन करना ॥८॥

अह उवविसित्तु सुत्तं, सामाइअमाइअं पढिय पयओ।

अब्भुट्टिअम्हि इच्चाइ पढइ दुहओ ट्टिओ विहिणा ॥९॥

अर्थ: पश्चात् नीचे बैठकर सामायिक आदि सूत्र यतना से कहे। तत्पश्चात् द्रव्य भाव से उठकर 'अब्भुट्टिअम्हि' इत्यादि पाठ विधिपूर्वक कहे।

दाऊण वंदणं तो, पणगाइसु जइसु खामए तिण्णि।

किइक्कम्मं करिय आयरि-अमाइ गाहातिगं पढए ॥१०॥

अर्थ: पश्चात् वन्दना करके पांच आदि साधु हो तब तीन आदि साधुओं को खमावे और 'आयरिअ' इत्यादि तीन गाथाओं का पाठ कहे।

इअ सामाइअउस्सगसुत्तमुच्चरिअ काउसगगठिओ।

चिंतइ उज्जोअदुगं, चरित्तअइआरसुद्धिकए ॥११॥

अर्थ: इस प्रकार सामायिकसूत्र तथा कायोत्सर्ग सूत्र का पाठ कहकर, चारित्राचार शुद्धि के लिए काउस्सगकर दो लोगस्स का चिन्तन करना ॥११॥

विहिणा पारिअ संमत्तसुद्धिहेउं च पढइ उज्जोअं।

तह सव्वलोअअरिहंतचेइआराहणुस्सगं ॥१२॥

काउं उज्जोअगरं, चित्तिअ पारेइ सुद्धसंमत्तो।

पुक्खरवरदीवद्धं, कड्डइ सुअसोहणनिमित्तं ॥१३॥

अर्थः तदनंतर यथाविधि काउस्सग को पारकर सम्यक्त्वशुद्धि के हेतु प्रकट लोगस्स कहे, वैसे ही सर्वलोक व्यापी अरिहंत चैत्यों की आराधना के लिए काउस्सगकर उसमें एक लोगस्स चिंतन करे और उससे शुद्ध सम्यक्त्वधारी होकर काउस्सग पारे। तत्पश्चात् श्रुतशुद्धि के लिए पुक्खरवरदी कहे ॥१२-१३॥

पुण पणवीसोस्सासं, उस्सगं कुणइ पारए विहिणा।

तो सयलकुसलकिरिआ-फलाण सिद्धाण पढइ थयं ॥१४॥

अर्थः पश्चात् पच्चीस उश्वास का काउस्सग करना व यथाविधि पारना. तत्पश्चात् सकलशुभक्रियाओं का फल पाये हुए सिद्ध परमात्मा का स्तवन कहना ॥१४॥

'अह सुअसमिद्धिहेउं, सुअदेवीए करेइ उस्सगं।

चिंतेइ नमोक्कारं, सुणइ व देई व तीइ थुई ॥१५॥

अर्थः पश्चात् श्रुतसमृद्धि के निमित्त श्रुतदेवी का काउस्सग करे, और उसमें नवकार चिंतन करे। तदनंतर श्रुतदेवी की स्तुति सुने अथवा स्वयं कहे ॥१५॥

एवं खेतसुरीए, उस्सगं कुणइ सुणइ देइ थुई।

पढिऊण पंचमंगलमुवविसइ पमज्जे संडासे ॥१६॥

अर्थः इसी प्रकार क्षेत्रदेवी का काउस्सग कर उसकी स्तुति सुने अथवा स्वयं कहे, पश्चात् पंचमंगल कहकर संडासा (संधि) प्रमार्जन करके नीचे बैठे ॥१६॥

पुव्वविहिणेव पेहिअ, पुत्तिं दाऊण वंदणं गुरुणो।

इच्छामो अणुसड्ढिंति भणिअ जाणूहिं तो ठाई ॥१७॥

अर्थः पश्चात् पूर्वोक्त विधि से ही मुहपत्ति पडिलेहणकर गुरु को वंदना करे। तत्पश्चात् 'इच्छामो अणुसड्ढिंति' कह घुटनों पर बैठे ॥१७॥

गुरुथुइ गहणे थुइ तिण्णि वद्धमाणक्खरस्सरा पढइ।

सङ्कत्थवं थवं पढिअ कुणइ पच्छित्तउस्सगं ॥१८॥

अर्थः गुरु स्तुति कहे 'नमोऽस्तु वर्द्धमानाय' इत्यादि तीन स्तुति उच्च स्वर से

१. इस सूत्र के रचनाकाल में प्रतिक्रमण में प्रतिदिन श्रुतदेवी एवं क्षेत्रदेवी का कायोत्सर्ग, स्तुति आचरणा से प्रविष्ट हो गया था जिससे इसमें उसका उल्लेख है। इनके समय में त्रिस्तुतिक मतवाले थे। श्राद्धप्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति देखें।

कहना। पश्चात् नमोत्थुणं कह प्रायश्चित्त के लिए काउस्सग्य करना ॥१८॥
एवं ता देविसिअं, राइअमवि एवमेव नवरि तर्हिं।

पढमं दाठं मिच्छा-मि दुक्कडं पढइ सक्कत्थवं ॥१९॥

अर्थः इस प्रकार देवसीप्रतिक्रमण की विधि कही। राइप्रतिक्रमण की विधि भी इसी के अनुसार है, उसमें इतना ही विशेष है कि, प्रथम मिच्छा मि दुक्कडं देकर पश्चात् शक्रस्तव कहना ॥१९॥

उड्डिअ करेइ विहिणा, उस्सगं चिंतए अ उज्जोअं।

बीअं दंसणसुद्धी-इ चिंतए तत्थ इममेव ॥२०॥

अर्थः उठकर यथाविधि काउस्सग्य करे, और उसमें लोगस्स चिंतन करे, तथा दर्शनशुद्धि के लिए दूसरा काउस्सग्यकर उसमें भी लोगस्स का ही चिंतन करे ॥२०॥

तइए निसाइआरं, जहक्कमं चिंतिऊण पारेइ।

सिद्धत्थयं पढित्ता, पमज्जसंडासमुवविसइ ॥२१॥

अर्थः तीसरे काउस्सग्य में क्रमशः रात्रि में हुए अतिचारों का चिंतन करे, व पश्चात् पारे। तदनंतर सिद्धस्तव कह संडासा प्रमार्जन करके बैठे ॥२१॥

पुव्वं व पुत्तिपेहण-वंदणमालोअ सुत्तपढणं च।

वंदण खामणवंदण-गाहातिगपढणमुस्सग्यो ॥२२॥

अर्थः पूर्वकी तरह मुहपत्ति की पडिलेहणा, वंदना तथा आलोचना और प्रतिक्रमण सूत्र का पाठ करना तत्पश्चात् वंदना, खामणा, पुनः वंदनाकर आयरिअ उक्कझाए इत्यादि तीन गाथाएं कह काउस्सग्य करना ॥२२॥

तत्थ य चिंतइ संजम-जोगाण न होई जेण मे हाणी।

तं पडिवज्जामि तवं, छम्मासं ता न काउमलं ॥२३॥

अर्थः उस काउस्सग्य में इस प्रकार चिंतन करे कि, 'जिसमें मेरे संयमयोग की हानि न हो, उस तपस्या को मैं अंगीकार करूं। प्रथम छःमासी तप करने की तो मेरे में शक्ति नहीं ॥२३॥

एगाइ इगुणतीसूणयंपि न सहो न पंचमासमवि।

एवं चठ-ति-दु-मासं, न समत्थो एगमासंपि ॥२४॥

अर्थः छःमासी में एक दिन कम, दो दिन कम ऐसा करते उन्तीस दिन कम करें तो भी उतनी तपस्या करने की मुझ में शक्ति नहीं, वैसे ही पंचमासी, चौमासी, त्रिमासी, द्विमासी तथा एक मासखमण भी करने की मेरे में शक्ति नहीं ॥२४॥

जातंपि तेरसूणं, चउतीसइमाइ णो दुहाणीए।

- जा चउथं तो आयं-बिलाइ जा पोरिसी नमो वा ॥२५॥
- अर्थः मासखमण में तेरह कम करे वहां तक तथा सोलह उपवास (चोतीस भक्त) से लेकर एक एक उपवास (दो दो भक्त) कम करते चौथ भक्त (एक उपवास) तक तपस्या करने की भी मेरे में शक्ति नहीं ऐसे आंबिल आदि, पोरिसी तथा नवकारसी तक चिंतन करना ॥२५॥
- जं सकइ तं हिअए, धरेत्तु पारेत्तु पेहए पोत्तिं।
दाठं वंदणमसढो, तं चिअ पच्चक्खए विहिणा ॥२६॥
- अर्थः उपरोक्त तपस्या में जो तपस्या करने की शक्ति हो वह हृदय में निश्चित करना और काउस्सग्ग पार, मुंहपत्ति पडिलेहण करना। पश्चात् सरलभाव से वंदना देकर जो तपस्या मन में धारी हो उसका यथाविधि पच्चक्खणा लेना ॥२६॥
- इच्छामो अणुसङ्घिंति भणिअ उवविसिअ पढइ तिणिण थुइ।
मिठसद्देणं सकइ-त्थयाइ तो चेइए वंदे ॥२७॥
- अर्थः पश्चात् 'इच्छामो अणुसङ्घिंति' कह नीचे बैठ कर मृदुस्वर से तीन स्तुति का पाठ कहे। तत्पश्चात् 'नमोत्थुणं' आदि कह चैत्यवन्दन करे ॥२७॥
- अह पक्खिअं चउइसि दिणांमि पुव्वं व तत्थ देवसिअं।
सुत्तं पडिकमिठं, तो सम्ममिमं कमं कुणइ ॥२८॥
- अर्थः अब चतुदशी के दिन करने का पक्खीप्रतिक्रमण कहते हैं। उसमें प्रथम उपरोक्त कथनानुसार देवसीप्रतिक्रमण सूत्र के पाठ तक विधि कह प्रतिक्रमण करना पश्चात् आगे कहा जाता है उसके अनुसार अनुक्रम से अच्छी तरह करना ॥२८॥
- मुहपोत्ती वंदणयं, संबुद्धाखामणं तथाऽऽलोए।
वंदण पत्तेअक्खामणं च वंदणयमहसुत्तं ॥२९॥
- अर्थः प्रथम मुंहपत्ति का पडिलेहन करना, तथा वंदन करना, पश्चात् संबुद्धाखामणा तथा अतिचार की आलोचनाकर बाद में वंदना तथा प्रत्येकखामणा करना, तदनंतर वंदनकर पाक्षिक सूत्र कहना ॥२९॥
- सुत्तं अब्भुद्धाणं, उस्सग्गो पुत्तिवंदणं तह य।
पज्जंति अ खामणयं, तह चउरो थोभवंदणया ॥३०॥
- अर्थः पश्चात् प्रतिक्रमणसूत्र कहकर काउस्सग्ग सूत्र का पाठ कहकर काउस्सग्ग करना। तत्पश्चात् मुंहपत्ति पडिलेहनकर वंदना करके पार्यतिक खामणा करे और चार थोभवंदना करे ॥३०॥
- पुव्वविहिणेव सव्वं, देवसिअं वंदणाइतो कुणइ।
सिज्जसुरी उस्सग्गे, भेओ संतिथयपढणे अ ॥३१॥

अर्थ : पश्चात् पूर्वोक्त विधि के अनुसार देवसीप्रतिक्रमण वंदनादिक करना। उसमें सिज्जसुरी का काउस्सगग' और अजितशांतिस्तव पाठ में कहना इतना फेरफार है ॥३१॥

एवं चिअ चउमासे, वरिसे अ जहक्कमं विही णेओ।

पक्खचउमासवरिसे-सु नवरि नाममि नाणत्तं ॥३२॥

अर्थ : इसी प्रकार चौमासी तथा संवत्सरी प्रतिक्रमण की विधि जानना, उसमें इतना विशेष कि, पक्खीप्रतिक्रमण हो तो 'पक्खी' चौमासी होवे तो 'चौमासी' और संवत्सरी हो तो 'संवत्सरी' ऐसे भिन्न-भिन्न नाम आते हैं ॥३२॥

तह उस्सगोज्जोआ, बारस वीसा समंगलं चत्ता।

संबुद्धखामणं तिपणसत्तसाहूण जहसंखं ॥३३॥

अर्थ : उसी प्रकार पक्खी के काउस्सगग में बारह, चौमासी के काउस्सगग में बीस और संवत्सरी के काउस्सगग में चालीस लोयस्स का काउस्सगग नवकार सहित चिंतन करना। तथा संबुद्धखामणेणं पक्खी, और चौमासी और संवत्सरी में क्रमशः तीन, पांच तथा सात साधुओं को अवश्य करना ॥३३॥

हरिभद्रसूरिकृत आवश्यकवृत्ति में वन्दनकनिर्युक्ति के अन्दर आयी हुई 'चत्तारि पडिक्कमणे' इस गाथा की व्याख्या के अवसर में संबुद्धखामण के विषय में कहा है कि, देवसीप्रतिक्रमण में जघन्य तीन, पक्खी तथा चौमासी में पांच और संवत्सरी में सात साधुओं को अवश्य खमाना। प्रवचनसारोद्धारकी वृत्ति में आयी हुई वृद्धसामाचारी में भी ऐसा ही कहा है।

प्रतिक्रमण के अनुक्रम का विचार पूज्य श्रीजयचन्द्रसूरिकृत प्रतिक्रमणगर्भहेतु नामक ग्रन्थ में से जान लेना चाहिए।

साधु सेवा :

उसी तरह आशातना टालना आदि विधि से मुनिराज की अथवा गुणवान तथा अतिशय धर्मिष्ठ श्रावक आदि की विश्रामणा (सेवा) करे। विश्रामणा यह उपलक्षण है, इसलिए सुखसंयम यात्रा की पृच्छा आदि भी करे, पूर्वभव में पांचसो साधुओं की सेवा करने से चक्रवर्ती की अपेक्षा अधिक बलवान हुए बाहुबलि आदि के दृष्टान्त से सेवा का फल विचारना। उत्सर्ग मार्ग से देखते साधुओं को किसीसे भी सेवा नहीं कराना चाहिए। कारण कि, 'संवाहणा दंतपहोअणा अ' यह आगमवचन से निषेध

१. इस सूत्र के रचनाकाल में पाक्षिक प्रतिक्रमण में भुवन देवता का एक काउस्सगग करने का विधान किया है और वह भी काउस्सगग ही लिखा है, स्तुति का विधान नहीं किया। अर्थात् विधियों में अनेक प्रकार से परावर्तन हुआ है।

किया है। अपवाद मार्ग से साधुओं को सेवा करानी हो तो साधु से ही करानी चाहिए। तथा कारणवश साधु के अभाव में योग्य श्रावक से करानी चाहिए, यदि महान् मुनिराज सेवा नहीं करते, तथापि मन के परिणाम शुद्ध रख सेवा के बदले उन मुनिराज को खमासमण देने से भी निर्जरा का लाभ होता है, और ऐसा करने से विनय भी किया जाता है।

सोने के पूर्व स्वाध्याय एवं धर्मोपदेश :

तत्पश्चात् पूर्व में पढ़े हुए 'दिनकृत्य' आदि श्रावक की विधि दिखानेवाले ग्रन्थों की अथवा उपदेशमाला, कर्मग्रंथ आदि ग्रन्थों का पुनरावर्तनरूप, शीलांग आदि रथ की गाथा गिननेरूप अथवा नवकार की वलयाकार आवृत्ति आदि स्वाध्याय अपनी बुद्धि के अनुसार मन को एकाग्रता के निमित्त करना।

शीलांग रथ :

शीलांग रथ इस गाथा के अनुसार है—

करणे ३ जोए ३ सन्ना ४, इदिअ ५ भूमाइ १० समणधम्मो अ १०॥

शीलांगसहस्साणं अट्टारसगस्स निप्फत्ति ॥१॥

अर्थ: करण, करावण, अनुमोदन ये तीन करण, इन तीनों को मन, वचन, काया के तीन योग से गुणा करते नौ हुए। इन नौ को आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओं से गुणा करते ३६ हुए। उनको चक्षु, स्पर्श, श्रोत्र, रस और घ्राण इन पांच इन्द्रियों से गुणा करते १८० एकसौ अस्सी हुए, उनको पृथिवीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, बेईन्द्रिय, तेईन्द्रिय, चौरैन्द्रिय, पंचैन्द्रिय और अजीवकाय इन दस भेद के साथ गुणा करते १८०० अट्टारहसौ हुए। उनको १ क्षान्ति, २ मार्दव, ३ आर्जव, ४ मुक्ति (निर्लोभता), ५ तप, ६ संयम, ७ सत्य, ८ शौच (पवित्रता), ९ अकिंचनता (परिग्रहत्याग) और १० ब्रह्मचर्य (चतुर्थव्रत) इन दश प्रकार के साधु धर्म से गुणा करते १८००० अट्टारह हजार होते हैं। इस प्रकार शीलांग रथ के १८००० भेद जानना।

शीलांगरथ की भावना का पाठ इस प्रकार है—

'जे नो करंति मणसा, निज्जिअआहारसन्नसोईदी।

पुबविक्कायारंभं, खंतिजुआ ते मुणी वंदे ॥१॥ इत्यादि।

इसका विशेष स्वरूप यंत्र परसे जानना।

साधु धर्मरथ का पाठ इस प्रकार है—

- आहारआदि संज्ञा और श्रोत्रआदि इंद्रियों को जीतनेवाले जो मुनि पृथ्वीकायआदि का आरम्भ मन से भी नहीं करते, उन क्षांतिआदि दशविध धर्म के पालनेवाले मुनियों को मैं बन्दना करता हूँ। यह एक भंग हुआ। इस प्रकार सभी भंग जानना।

‘न हणेइ सयं साहू, मणसा आहारसन्नसंबुडओ।

सोईदिअसंवरणो, पुढविजिए खंतिसंपन्नो ॥१॥ इत्यादि।

सामाचारीरथ, क्षमणारथ, नियमरथ, आलोचनारथ, तपोरथ, संसाररथ, धर्मरथ, संयमरथ आदि के पाठ भी इसी प्रकार जानना। विस्तार के कारण यहां नहीं कहे गये हैं।
अनानुपूर्वि :

नवकार की वलकगणना में तो पांच पद आश्रयी एक पूर्वानुपूर्वी, एक पश्चानुपूर्वी और शेष एकसौ अट्ठारह (११८) अनानुपूर्वियां आती हैं। नवपद आश्रित अनानुपूर्वी तो तीन लाख बासठ हजार आठसौ अठहत्तर होती हैं। अनानुपूर्वि आदि गिनने का विचार तथा उसका स्वरूप पूज्य श्रीजिनकीर्तिसूरि कृत ‘सटीकपरमेष्ठिस्तव’ में से जान लेना चाहिए। इस प्रकार नवकार गिनने से दुष्टशाकिनी, व्यंतर, वैरी, ग्रह, महारोग आदि का शीघ्र ही नाश हो जाता है। यह इसका इस लोक में भी प्रत्यक्ष फल है। परलोक आश्रयी फल तो अनन्त कर्म क्षय आदि है। कहा है कि—जो पापकर्म की निर्जरा भास की अथवा एक वर्ष की तीव्र तपस्या से होती है, वही पाप की निर्जरा नवकार की अनानुपूर्वि गुणने से अर्धक्षण में हो जाती है। शीलांग रथ आदि की गणना से भी मन, वचन, काया की एकाग्रता होती है, और उससे त्रिविध ध्यान होता है। सिद्धान्त में भी कहा है कि—भंगिक श्रुत की गणना करनेवाला मनुष्य त्रिविध ध्यान में प्रवृत्त हो जाता है।

इस प्रकार स्वाध्याय करने से धर्मदास की तरह अपने आपको कर्मक्षयादि तथा दूसरों को प्रतिबोधादिक बहुत गुण प्राप्त होता है यथा—

धर्मदास :

धर्मदास नित्य सन्ध्या समय देवसीप्रतिक्रमण करके स्वाध्याय करता था। उसका पिता सुश्रावक होते हुए भी स्वभाव से ही बड़ा क्रोधी था। एक समय धर्मदास ने अपने पिता को क्रोध का त्याग करने के हेतु उपदेश किया। जिससे वह (पिता) बहुत क्रुद्ध हो गया और हाथ में लकड़ी ले, उसको मारने के लिए दौड़ते रात्रि का समय होने से थम्भे से टेकराकर मर गया और दुष्टसर्प की योनि में गया। एक समय वह दुष्ट सर्प अन्धकार में धर्मदास को डसने के लिए आ रहा था। इतने में स्वाध्याय करने को बैठे हुए धर्मदास के मुख में से उसने निम्नोक्त गाथा सुनी—

तिव्वंपि पुव्वकोडीकयंपि सुकयं मुहुत्तमित्तेण।

कोहग्गहिओ हणितं, हहा हवइ भवदुगेवि दुही ॥१॥ इत्यादि।

इस स्वाध्याय के सुनते ही उस सर्प को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ, जिससे वह अनशन कर सौधर्मदेवलोक में देवता हुआ, और पुत्र (धर्मदास) को सर्वकार्यों में

१. आहारआदि संज्ञाओं का श्रोत्रआदि इंद्रियों का संवरण करनेवाले, पृथ्वीकाय आदि आरम्भ को वर्जनेवाले तथा क्षांति आदि दशविध धर्म को पालनेवाले ऐसे साधु मनसे भी हिंसा न करे।

सहायता देने लगा। एक समय स्वाध्याय में लयलीन होते ही धर्मदास को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ इत्यादि। इसलिए स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

पश्चात् श्रावक ने सामायिक पारकर अपने घर जाना, और अपनी स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई, सेवक, बहन, पुत्रवधु, पुत्री, पौत्र, पौत्री, काका, भतीजा, मुनीम, गुमास्ता तथा अन्य स्वजनों को भी उनकी योग्यतानुसार धर्मोपदेश देना। उपदेश में सम्यक्त्वमूल बारह व्रत ग्रहण करना, सर्व धर्मकृत्यों में अपनी संपूर्णशक्ति से यतना आदि रखना, जहां जिनमंदिर तथा साधर्मिक न हो ऐसे स्थान में न रहकर कुसंगति आदि का त्याग करना, नवकारकी गणना करना, त्रिकाल चैत्यवन्दन तथा जिनपूजा करना, पच्चक्खाण आदि अभिग्रह लेना, शक्ति के अनुसार सातक्षेत्रों में धन का व्यय करना इत्यादि विषय कहना चाहिए, दिनकृत्य में कहा है कि—जो पुरुष अपने स्त्री, पुत्र आदि को सर्वज्ञप्रणीत धर्म में नहीं लगाता है, तो वह (गृहस्थ) इस लोक तथा परलोक में उनके (स्वजनों के) किये हुए कुकर्मों से लिप्त होता है, कारण कि, लोक में यही रीति है। जैसे चोर को अन्नपान आदि वस्तु से सहायता देनेवाला मनुष्य भी चोरी के अपराध में सम्मिलित किया जाता है, वैसा ही धर्म के विषय में समझो। इसलिए तत्त्वज्ञाता श्रावक को प्रतिदिन स्त्री, पुत्र आदि को द्रव्य से यथायोग्य वस्त्रादि देकर तथा भाव से धर्मोपदेश करके उनकी भली बुरी अवस्था की खबर लेनी चाहिए। 'पोष्य पोषकः' ऐसा वचन है, इसलिए श्रावक को स्त्रीपुत्रादिक को वस्त्रादि दान अवश्य करना चाहिए। अन्यत्र भी कहा है कि—राष्ट्र का किया हुआ पाप राजा के सिर पर, राजा का किया हुआ पाप पुरोहित के सिर पर, स्त्री का किया हुआ पाप पति के सिरपर और शिष्य का किया हुआ पाप गुरु के सिर पर है। स्त्री, पुत्रादि कुटुंब के लोगों से गृहकार्य में लगे रहने तथा प्रमादादि होने के कारण गुरु के पास जाकर धर्म नहीं सुना जाता, इसीलिए उपरोक्त कथनानुसार धर्मोपदेश करने से वे धर्म में प्रवृत्त होते हैं। यहां धन्यश्रेष्ठी के कुटुंब का दृष्टांत लिखते हैं कि—

धन्यश्रेष्ठी :

धन्यपुरनगर निवासी धन्यश्रेष्ठी गुरु के उपदेश से सुश्रावक हुआ। वह प्रतिदिन अपनी स्त्री तथा चार पुत्रों को धर्मोपदेश दिया करता था। अनुक्रम से स्त्री और पुत्रों को प्रतिबोध हुआ; परंतु चतुर्थ पुत्र नास्तिक की तरह 'पुण्य-पाप का फल कहां है?' ऐसा कहते रहने से प्रतिबोधित नहीं हुआ। इससे धन्यश्रेष्ठी के मन में बहुत दुःख होता था। एक समय पड़ौस में रहनेवाली एक वृद्ध सुश्राविका को अंतिम समय पर उसने नियामिणा करवायी (धर्म सुनाया) और वचनबद्ध की कि, 'देवता होने पर तू मेरे पुत्र को प्रतिबोध करना।' वह वृद्ध स्त्री मृत्यु को प्राप्त होकर सौधर्मदेवलोक में देवी हुई। उसने अपनी दिव्य ऋद्धि आदि बताकर धन्यश्रेष्ठी के पुत्र को प्रतिबोधित किया। इस प्रकार गृहस्वामी को अपने स्त्रीपुत्रआदि को प्रतिबोध करना चाहिए। इतने पर भी यदि वे प्रतिबोध न पाये तो फिर गृहस्वामी के सिर पर दोष नहीं। कहा है कि—

न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात्।

ब्रूवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वैकान्ततो भवति ॥१॥

सभी श्रोताजनों को हितवचन सुनने से धर्मप्राप्ति होती ही है, ऐसा नियम नहीं, परंतु भव्यजीवों पर अनुग्रह करने की इच्छा से धर्मोपदेश करनेवाले को तो अवश्य ही धर्मप्राप्ति होती है।

मूलगाथा - १०

पायं अबंभविरओ, समए अप्पं करेइ तो निद्दं ।

निद्दोवरमे धीतणुअसुइत्ताई विचिंतिज्जा ॥१०॥

संक्षेपार्थः : तत्पश्चात् सुश्रावक विशेष करके अब्रह्म (रतिक्रीड़ा) से विरक्त रहकर अवसर में अल्प निद्रा ले, और निद्रा उड़ जाये तब मन में स्त्री के शरीर के अशुचिपने आदि का चिन्तन करे।

विस्तारार्थः : सुश्रावक स्वजनों को धर्मोपदेश करने के अनंतर एक प्रहर रात्रि बीत जाने के बाद और मध्यरात्रि होने के पूर्व अपनी शरीरप्रकृति के अनुकूल समय पर शय्यास्थान में जाकर शास्त्रोक्त विधि अनुसार अल्प निद्रा ले। निद्रा लेने को जाते समय श्रावक को कैसे रहना चाहिए? वह कहते हैं—अब्रह्म याने रतिक्रीड़ा से विरक्त रहना। तात्पर्य—यावज्जीव ब्रह्मचर्य (चतुर्थ व्रत) पालने में असमर्थ हो ऐसे युवाश्रावक को भी पर्वतिथि आदि विशेष दिनों में ब्रह्मचर्य से ही रहना चाहिए। कारण कि, ब्रह्मचर्य का फल बहुत ही भारी है। महाभारत में भी कहा है कि—हे धर्मराज! एक रात्रि तक ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले ब्रह्मचारी की जो शुभगति होती है, वह शुभगति सहस्रों यज्ञ करने से भी होती है या नहीं? यह कहा नहीं जा सकता।

उपस्थित गाथा में 'निद्दं' विशेष्य है, और 'अप्पं' यह उसका विशेषण है, तथा ऐसा न्याय है कि, 'कोई भी विधि अथवा निषेध का वाक्य विशेषण सहित कहा हो तो वह विधि अथवा निषेध, अपना संबंध विशेषण के साथ रखता है।' इससे 'निद्रा लेना हो तो अल्प लेना' ऐसा यहां कहने का उद्देश्य है, परंतु 'निद्रा लेना' यह कहने का उद्देश्य नहीं। कारण कि, दर्शनावरणीय कर्म का उदय होने से निद्रा आती है। इसलिए निद्रा लेने की विधि शास्त्र किसलिए करे? जो वस्तु अन्य किसी प्रकार से प्राप्त नहीं होती, उसकी विधि शास्त्र करता है, ऐसा नियम है। इस विषय का प्रथम ही एक बार वर्णन किया जा चुका है। विशेष निद्रा लेनेवाला मनुष्य इस भव से तथा परभव से भी भ्रष्ट हो जाता है। चोर, वैरी, धूर्त, दुर्जन आदि लोग भी सहज में ही उसपर हमला कर सकते हैं। अल्प निद्रा लेना यह महापुरुष का लक्षण है। आगम में कहा है कि—

अप्पाहारप्पभणिती अप्पनिद्दा य जे नरा।

अप्पोवहिठवगरणा देवावि हु तं नमंसंति ॥१॥

जो पुरुष अल्पाहारी, अल्पवचनी, अल्पनिद्रा लेनेवाला तथा उपधि और उपकरण

भी अल्प रखनेवाला होता है, उसको देवता भी प्रणाम करते हैं।

नीतिशास्त्रादिक में निद्रा विधि इस प्रकार कही गयी है कि—खटमल (भाकण) आदि जीवों से भरा हुआ, छोटा, टूटा हुआ, कष्टकारी, मैला, सड़े हुए पायेवाला तथा अग्निकाष्ठ (अरणी) का बना हुआ पलंग अथवा चारपाई सोने के काम में न लेना। सोने तथा बैठने के काम में चार जोड़ तक का काष्ठ उत्तम है; पर पांच या अधिक जोड़ काष्ठ में सोनेवाले मनुष्य उसके कुल का नाश करता है। अपने पूजनीय पुरुष से ऊंचे स्थान में न सोना तथा पैर भीगे हुए रखकर, उत्तर अथवा पश्चिम दिशा को मस्तक करके, बांस के समान लंबा होकर पैर रखने के स्थान में मस्तक रखकर न सोना; बल्कि हस्तिदंत की तरह सोना। देवमंदिर में, वल्मीक (बामला) पर (सर्प के बील पर) वृक्ष के नीचे, स्मशान में तथा उपदिशा (कोणदिशा) में मस्तक करके न सोना। कल्याण की इच्छा करनेवाले पुरुष को सोते समय मलमूत्र की शंका हो तो उसका निवारण करना, मलमूत्र त्यागने का स्थान कहां है? उसे बराबर जानना चाहिए, जल समीप है कि नहीं? सो तलाश करना, तथा द्वार बराबर बंद करना, इष्टदेव को नमस्कार करके अपमृत्यु का भय दूर करना, पवित्र होना, तत्पश्चात् यथारीति वस्त्र पहनकर रक्षामंत्र से पवित्र की हुई चौड़ी शय्या में सर्व आहार का परित्याग करके बायीं करवट से सो रहना। क्रोध से, भय से, शोक से, मद्यपान से, रतिक्रीड़ा से, बोझा उठाने से, वाहन में बैठने से तथा मार्ग चलने से ग्लानि पाया हुआ, अतिसार, श्वास, हिचकी, शूल, क्षत (घाव) अजीर्ण आदि रोग से पीड़ित, वृद्ध, बाल, दुर्बल, क्षीण और तृषातुर आदि पुरुषों को कभी दिन में भी सोना चाहिए। ग्रीष्मऋतु में वायु का संचय, हवा में रुक्षता तथा छोटी रात्रि होती है, इसलिए उस ऋतु में दिन में निद्रा लेना हितकारी है। परंतु शेष पुरुषों के शेष ऋतु में दिन में निद्रा लेने से कफ, पित्त होने से निद्रा लेनी योग्य नहीं होती है। अधिक आसक्ति से तथा बिना अवसर निद्रा लेना अंच्छ नहीं। कारण कि वह निद्रा कालरात्रि की तरह सुख तथा आयुष्य का नाश करती है। सोते समय पूर्वदिशा में मस्तक करे तो विद्या का और दक्षिण दिशा में करे तो धन का लाभ होता है, पश्चिम दिशा में मस्तक करे तो चिंता उत्पन्न हो तथा उत्तरदिशा में करे तो मृत्यु अथवा हानि होती है।

सोने की विधि :

आगम में कही हुई विधि इस प्रकार है—शयन के समय चैत्यवंदन आदि करके देव तथा गुरु को वंदन करना। चौविहार आदि पञ्चक्खाण ग्रंथिसहित उच्चारण करना, तथा पूर्व में ग्रहण किये हुए व्रत में रखे हुए परिमाण का संक्षेप करने रूप देशावकाशिक व्रत ग्रहण करना। दिनकृत्य में कहा है कि—

पाणिवह मुसादत्तं, मेहुणं दिणलाभणत्थदंडं च।

अंगीकयं च मुत्तुं, सव्वं उवभोगपरिभोगं ॥१२॥

गिहमज्झं मुत्तुणं, दिसिगमणं मुत्तु मसगजूआई।

वयकार्णहिं न करे, न कारवे गंठिसहिएणं ॥२॥

अर्थः प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और दिन लाभ (प्रातःकाल विद्यमान परिग्रह) ये सर्व पूर्व नियमित नहीं इनका नियम करता हूँ। वह इस प्रकार—एकन्द्रिय को तथा मशक, जूँ आदि त्रस जीवों को छोड़कर शेष का आरंभ और सापराध त्रस जीव संबंधी तथा अन्य प्राणातिपात, सामान्य या स्वप्नादि के संभव से मन को रोकना अशक्य है, इसलिए गांठ न छोड़ूँ वहां तक वचन तथा काया से न करूँ और न कराऊँ। इसी प्रकार मृषावाद, अदत्तादान और मैथुन का भी नियम जानना। तथा दिनलाभ भी नियमित नहीं था, उसका अभी नियम करता हूँ। उसी तरह अनर्थदंड का भी नियम करता हूँ। शयन, आच्छादन आदि छोड़कर शेष सर्व भोगपरिभोग को, घर का मध्य भाग छोड़कर बाकी सर्व दिशि गमन को गांठ न छोड़ूँ वहां तक वचन से तथा काया से न करूँ, न कराऊँ ऐसा त्याग करता हूँ। इस रीति से देशावकाशिक ग्रहण करने से महान् फल प्राप्त होता है, और इससे मुनिराज की तरह निःसंगपन उत्पन्न होता है। यह व्रत जैसे वैद्य के जीव वानर ने प्राणांत तक पाला, और उससे उसने दूसरे भव में सर्वात्कृष्ट फल पाया, वैसे ही विशेषफल के इच्छुक अन्य मनुष्य को भी मुख्यतः पालना चाहिए। परंतु वैसे पालने की शक्ति न हो तो अनाभोगादि चार आगारों में से चौथे आगार द्वारा अग्नि सुलगना आदि कारण से वह (देशावकाशिक) व्रत छोड़े तो भी व्रतभंग नहीं होता। वैद्य के जीव वानर का दृष्टांत श्रीरत्नशेखरसूरिजी (विरचित) आचारप्रदीप ग्रंथ में देखो।

इसी प्रकार चार शरणों को अंगीकार करना। सर्व जीव राशि को खमाना। अट्टारह पापस्थानक का त्याग करना। पाप की निंदा करना। पुण्य की अनुमोदना करना। प्रथम नवकार की गणना कर—

'जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्सिमाइ रयणीए।

आहारमुवहि देहं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥१॥

इस गाथा से तीनबार सागारी अनशन स्वीकार करना, और सोते समय नवकार का चिंतन करना। एकांत शय्या में ही सोना, परंतु जहां स्त्री आदि का संसर्ग हो वहां नहीं सोना। कारण कि, विषयसेवन का अभ्यास अनादिकाल का है, और वेद का उदय सहन करना बहुत कठिन है, जिससे कदाचित् कामवासना से जीव पीड़ित हो। कहा है कि—जैसे लाख की वस्तु अग्नि के पास रखते ही पिघल जाती है, वैसे ही धीर और दुर्बल शरीरवाला पुरुष हो तो भी वह स्त्री के पास हो तो पिघल जाता है (कामवश होता है)। पुरुष मन में जो वासना रखकर सो जाता है, उसी वासना में वह जागृत होने

१. जो इस रात्रि में इस देह का प्रमाद हो तो यह देह, आहार और उपधि इन सबको त्रिविध से विसराता हूँ।

तक रहता है ऐसा आम (सयाने) पुरुषों का वचन है। अतएव मोह का सर्वथा उपशमन करके वैराग्यादि भावना से निद्रा लेना। वैसा करने से कुस्वप्न नहीं आते, बल्कि उत्तमोत्तम धार्मिक ही स्वप्न आते हैं। दूसरे सोते समय शुभ भावना रखने से, सोता हुआ मनुष्य पराधीन होने से, बहुत आपदा होने से, आयुष्य सोपक्रम होने से तथा कर्म की गति विचित्र होने से कदाचित् मृत्यु को प्राप्त हो जाये, तो भी शुभ गति ही होगी। कारण कि 'अंत में जैसी मति, वैसी गति' ऐसा शास्त्र वचन है। इस विषय में कपटी साधु द्वारा मारे हुए उदायी राजा का दृष्टांत जानना।

वासना विजय :

अब उपस्थित गाथा के उत्तरार्द्ध की व्याख्या करते हैं—पश्चात् पिछली रात्रि को निद्रा उड़ जावे, तब अनादिकाल के भव के अभ्यास के रससे उदय पानेवाले दुर्जय कामराग को जीतने के लिए स्त्री के शरीर का अशुचिपन आदि मन में चिन्तन करना। 'अशुचिपन आदि' यहां 'आदि' शब्द कहा है, अतएव जंबूस्वामी, स्थूलभद्रस्वामी आदि बड़े बड़े ऋषियों ने तथा सुदर्शन आदि सुश्रावकों ने दुःसाध्य शील पालने के लिए जो मन की एकाग्रता की वह, कषायआदि को जीतने के लिए जो उपाय किये वे, संसार की अतिशय विषमस्थिति और धर्म के मनोरथों इन वस्तुओं का चिन्तन करना। उसमें स्त्रीशरीर की अपवित्रता, निन्द्यपन आदि सर्व प्रसिद्ध हैं। पूज्य श्रीमुनिचन्द्रसूरिजी ने अध्यात्मकल्पद्रुम में कहा है कि—अरे जीव! चमड़ी (त्वचा), अस्थि (हड्डी), मज्जा, आंतरद्वियां, चरबी, रक्त, मांस, विष्ठा आदि अशुचि और अस्थिर पुद्गलसमूह स्त्री के शरीर के आकार में परिणत हुए हैं, उसमें तुझे क्या रमणीय लगता है? अरे जीव! विष्ठाआदि अपवित्र वस्तु दूरस्थान में भी जरासी पड़ी हुई देखे, तो तू थू थू करता है, और नाक सिकोड़ता है। ऐसा होते हुए मूर्ख! उसी अशुचिवस्तु से भरे हुए स्त्री के शरीर की तू कैसे अभिलाषा करता है? मानो विष्ठा की थैली ही हो ऐसी, शरीर के छिद्र में से निकलते हुए अत्यन्त मल से मैली (मलीन), उत्पन्न हुए कृमिजाल से भरी हुई, तथा चपलता से, कपट से और असत्यता से पुरुष को ठगनेवाली स्त्री को उसकी बाहरी सफाई के मोह में पड़कर जो भोगता है, उससे उसे नरक प्राप्त होती है। कामविकार तीनों लोक में विडम्बना करनेवाला है, तथापि मन में विषय संकल्प न करे तो वह (कामविकार) सहज में ही जीता जा सकता है। कहा है कि—

काम! जानामि ते मूलं, सङ्कल्पात् किल जायसे।

तमेव न करिष्यामि, प्रभविष्यसि मे कुतः? ॥१॥

हे कामदेव! मैं तेरी जड़ जानता हूँ। तू विषयसंकल्प से उत्पन्न होता है। इसलिए मैं विषयसंकल्प ही न करूँ। जिससे तू मेरे चित्त में उत्पन्न ही न होगा। इस विषय में स्वयं नई विवाहित आठ श्रेष्ठ कन्याओं को प्रतिबोध करनेवाले और निन्यान्वे करोड़ स्वर्णमुद्रा बराबर धन का त्याग करनेवाले श्री जम्बूस्वामी का, कोशा वेश्या में आसक्त हो साढ़े बारह करोड़ स्वर्णमुद्राएं व्ययकर कामविलास करनेवाले तत्काल

दीक्षा लेकर कोशा के महल में ही चातुर्मास रहनेवाले स्थूलभद्र स्वामी का तथा अभयारानी के किये हुए अनेक प्रकार के अनुकूल तथा प्रतिकूल उपसर्ग से मन में लेशमात्र भी विकार न पानेवाले सुदर्शन श्रेष्ठी आदि का दृष्टान्त प्रसिद्ध है; इसलिए उनको सविस्तार कहने की आवश्यकता नहीं।

कषाय आदि दोषों पर जय—उन दोषों की मन में उलटी भावना आदि करने से होता है। जैसे क्रोध पर जय क्षमा से, मान पर निरभिमानपन से, माया पर सरलता से, लोभ पर सन्तोष से, राग पर वैराग्य से, द्वेष पर मित्रता से, मोह पर विवेक से, काम पर स्त्री के शरीर की अशुचिभावना करने से, मत्सर पर दूसरों की बढ़ी हुई संपदा देखने में आये तो भी ईर्ष्या न रखने से, विषय पर इंद्रियदमन से, मन, वचन, काया के अशुभ योग पर त्रिगुण से, प्रमाद पर सावधान रहने से और अविरति पर विरति से सुख पूर्वक जय होती है। तक्षकनाग के मस्तक पर स्थित मणि ग्रहण करना, अथवा अमृत पान करना, ऐसे उपदेश के समान यह बात होना अशक्य है; ऐसी भी मन में कल्पना नहीं करना। साधु मुनिराज आदि उन दोषों का त्याग करके सद्गुणी हुए प्रत्यक्ष दृष्टि में आ रहे हैं। तथा दृढ़प्रहारी, चिलातीपुत्र, रोहिण्य चोर आदि पुरुषों के दृष्टान्त भी इस विषय पर प्रसिद्ध हैं। कहा है कि—हे लोगों! जो जगत् में पूजनीय हो गये, वे प्रथम अपने ही समान सामान्य पुरुष थे; यह समझकर तुम दोष का त्याग करने में पूर्ण उत्साही हो ऐसा कोई क्षेत्र नहीं कि, जिसमें सत्पुरुष (जन्म से) उत्पन्न होते हैं! और शरीर इंद्रियां आदि वस्तुएं जैसे मनुष्य को स्वभावतः होती हैं, उस प्रकार साधुत्व स्वाभाविक नहीं मिलता; परन्तु जो पुरुष गुणों को धारण करता है, वही साधु कहलाता है, इसलिए गुणों को उपार्जन करो।

अहो! हे प्रियमित्र विवेक! तू बहुत पुण्य से मुझे मिला है। तू मुझे छोड़कर कहीं मत जा। मैं तेरी सहायता से शीघ्र ही जन्म तथा मरण का उच्छेद करता हूं। कौन जाने? पुनः तेरा व मेरा मिलाप हो कि न हो। प्रयत्न-उद्यम करने से गुणों की प्राप्ति होती है, और प्रयत्न करना अपने हाथ में ही है। ऐसा होते हुए 'अमुक बहुत गुणी है' यह बात कौन जीवित पुरुष सहन कर सकता है? गुण से ही संमान की प्राप्ति होती है। जाति ज्ञाति के आडम्बर से कुछ नहीं होता। वन में उत्पन्न हुआ पुष्प ग्रहण किया जाता है, और प्रत्यक्ष अपने शरीर से उत्पन्न हुआ मल त्याग दिया जाता है। गुण से ही जगत् में महिमा बढ़ती है, स्थूल शरीर अथवा पकी हुई वृद्धा (वय) से महिमा नहीं बढ़ती। देखो, केवड़े के बड़े और जूने पत्ते अलग रह जाते हैं, पर भीतर के छोटे छोटे नये पत्तों को सुगंधित होने से सब कोई स्वीकारते हैं। इसी प्रकार जिससे कषयादिक की उत्पत्ति होती हो; उस वस्तु का अथवा उस प्रदेश का त्याग करने से उन दोषों का नाश हो जाता है। कहा है कि—जिस वस्तु से कषायरूपी अग्नि की उत्पत्ति होती है, उस वस्तु को त्याग देना, और जिस वस्तु से कषाय का उपशम होता है उस वस्तु को अवश्य ग्रहण करना चाहिए। सुनते हैं कि, स्वभाव से ही क्रोधी चंडरुद्र आचार्य, क्रोध की उत्पत्ति न

होने के हेतु से शिष्यों से अलग रहते थे।

गति स्वरूप का चिन्तन :

संसार की अतिशय विषमस्थिति—प्रायः चारों गति में अत्यन्त दुःख भोगा जाता है, उस पर से विचारना। जिसमें नारकी और तिर्यच इन दोनों में अतिदुःख है वह तो प्रसिद्ध ही है। कहा है कि—सातों नरकभूमि में क्षेत्रवेदना और बिना शस्त्र एक दूसरे को उपजाई हुई वेदना भी है। पांच नरकभूमि में शस्त्र जन्य वेदना है। और तीन में परमाधार्मिक देवता की की हुई वेदना भी है। नरक में अहर्निश पड़े हुए नारकी जीवों को आंख बन्द हो इतने काल तक भी सुख नहीं, लगातार दुःख ही दुःख है। हे गौतम! नारकी जीव नरक में जो तीव्र दुःख पाते हैं, उसकी अपेक्षा अनन्तगुणा दुःख निगोद में जानना। तिर्यच भी चाबुक, अंकुश, परोंणी आदि की मार सहते हैं इत्यादि। मनुष्य भव में भी गर्भवास, जन्म, जरा, मरण, अनेक प्रकार की पीड़ा, व्याधि, दरिद्रता आदि उपद्रव होने से दुःख ही हैं। कहा है कि—हे गौतम! अग्नि में तपाकर लालचोल की हुई सुइयाँ एक समान शरीर में चुभाने से जितनी वेदना होती है। उससे अष्ट गुणी वेदना गर्भावास में है। जब जीव गर्भ में से बाहर निकलते ही योनियंत्र में पीलाता है तब उसे उपरोक्त वेदना से लक्षगुणी अथवा कोटाकोटी गुणी वेदना होती है। बंदीखाने में कैद, वध, बंधन, रोग, धननाश, मरण, आपदा, संताप, अपयश, निंदा आदि दुःख मनुष्य भव में हैं। कितने ही मनुष्य, मनुष्य भव पाकर घोरचिंता, संताप, दारिद्र्य और रोग से अत्यंत उद्वेग पाकर मर जाते हैं। देवभव में भी च्यवन, पराभव, ईर्ष्याआदि हैं ही। कहा है कि—डाह (अदेखाई), खेद, मद, अहंकार, क्रोध, माया, लोभ इत्यादि दोष से देवता भी लिपटे हुए हैं; इससे उनको सुख कहां से हो? इत्यादि।

मनोरथ :

धर्म के मनोरथों की भावना इस प्रकार करनी चाहिए। श्रावक के घर में ज्ञानदर्शनधारी दास होना अच्छा; परंतु मिथ्यात्व से भ्रमित बुद्धिवाला चक्रवर्ती भी अन्य जगह होना ठीक नहीं। मैं स्वजनादिक का संग छोड़कर कब गीतार्थ और संवेगी गुरु महाराज के चरण-कमलों के पास दीक्षा लूंगा? मैं तपस्या से दुर्बल-शरीर होकर कब भय से अथवा घोर उपसर्ग से न डरता हुआ स्मशान आदि में काठस्सग कर उत्तमपुरुषों की करणी करूंगा? इत्यादि।

इति श्रीरत्नशेखरसूरी विरचित

श्राद्धविधिकोमुदीकी हिंदी भाषा का रात्रिकृत्यप्रकाशन नामक

द्वितीयः प्रकाशः संपूर्णः



मानव भव कर्म मुक्त होने के लिए कर्म राजाने दिया है।

अब मैं क्या कर रहा हूँ? इस पर चिंतन कर।

प्रकाश-३ : पर्वकृत्य

मूल गाथा - ११

पव्वेसु पोसहाई बंभअणारंभतवविसेसाई।

आसो अ चित्तअट्टाहिअपमुहेसु विसेसेणं ॥११॥

संक्षेपार्थः सुश्रावक ने पर्वों में तथा विशेषकर आश्विन महिने की तथा चैत्र महिने की अट्टाइ—(ओली) में पौषधआदि करना, ब्रह्मचर्य पालना, आरम्भ का त्याग करना और विशेष तपस्या आदि करना ॥११॥

विस्तारार्थः 'पौष' (धर्म की पुष्टि) को 'ध' अर्थात् धारण करे वह पौषध कहलाता है। श्रावक ने सिद्धान्त में कहे हुए अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वों में पौषधआदि व्रत अवश्य करना। आगम में कहा है—जिनमत में सर्व कालपर्वों में प्रशस्त योग है ही। उसमें भी श्रावक को अष्टमी तथा चतुर्दशी के दिन अवश्य ही पौषध करना। ऊपर 'पौषधआदि' कहा है, इसलिए आदि शब्द से शरीर आरोग्य न होने से अथवा ऐसे ही किसी अन्य योग्य कारण से पौषध न किया जा सके, तो दो बार प्रतिक्रमण, बहुत सी सामायिक, दिशा आदि का अतिशय संक्षेपवाला देशावकाशिकव्रत आदि अवश्य स्वीकारना। उसी प्रकार पर्वों में ब्रह्मचर्य का पालन करना, आरम्भ का त्याग करना, उपवास आदि तपस्या शक्त्यानुसार पूर्व से अधिक करना। गाथा में आदि शब्द है, उससे स्नात्र, चैत्यपरिपाटी, सर्वसाधुओं को वन्दना, सुपात्रदान आदि करके, नित्य जितना देवगुरुपूजन, दान आदि किया जाता है, उसकी अपेक्षा पर्व के दिन विशेष करना। कहा है कि—जो प्रतिदिन धर्मिक्रिया सम्यक् प्रकार से पालो, तो अपार लाभ है; परन्तु जो वैसा न किया जा सकता हो तो, पर्व के दिन तो अवश्य ही पालो। विजयादशमी (दशहरा), दीपमालिका, अक्षयतृतीया आदि लौकिक पर्वों में जैसे मिष्टान्न भक्षण की तथा वस्त्र आभूषण पहनने की विशेष यतना रखी जाती है, वैसे धर्म के पर्व आने पर धर्म में भी विशेष यतना (प्रवृत्ति) रखनी चाहिए।

अन्यदर्शनी लोग भी एकादशी, अमावस्या आदि पर्वों में बहुतसा आरम्भ त्यागते हैं, और उपवासादि करते हैं, तथा संक्रान्ति, ग्रहण आदि पर्वों में भी अपनी पूर्णशक्ति से दानादिक देते हैं। इसलिए श्रावक को तो समस्त पर्व दिनों में अवश्य धर्मकृत्य विशेष करने चाहिए। पर्व दिन इस प्रकार हैं—अष्टमी २, चतुर्दशी २, पूर्णिमा १, और अमावस्या १ ये छः पर्व प्रत्येक मास में आते हैं, और प्रत्येक पक्ष में तीन (अष्टमी १, चतुर्दशी १, पूर्णिमा १ अथवा अमावस्या १) पर्व आते हैं। इसी प्रकार 'गणधर श्री गौतमस्वामी ने बीज, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी' ये पांच

श्रुतिथियां (पर्वतिथियां) कही हैं। बीज दो प्रकार का धर्म आराधने के लिए, पंचमी पांच ज्ञान आराधने के लिए, अष्टमी आठों कर्मों का क्षय करने के लिए, एकादशी ग्यारह अंग की सेवा के निमित्त तथा चतुर्दशी चौदहपूर्वों की आराधना के लिए जानना। इन पांचों पर्वों में अमावस्या, पूर्णिमा सम्मिलित करने से प्रत्येक पक्ष में छः उत्कृष्ट पर्व होते हैं। संपूर्ण वर्ष में तो अद्दाइ, चौमासी आदि बहुत से पर्व हैं।

पर्व के दिन आरम्भ का सर्वथा त्याग न हो सके तो अल्प से भी अल्प आरम्भ करना। सचित्त आहार जीवहिसामय होने से, वह करने में बहुत ही आरम्भ होता है, अतएव उपस्थित गाथा में आरम्भ वर्जने को कहा है, जिससे पर्व के दिन सचित्त आहार अवश्य वर्जना, ऐसा समझना चाहिए। मछलियां (सचित्त) आहार की अभिलाषा से सातवीं नरकभूमि में जाती हैं। इसलिए सचित्त आहार मन से भी इच्छना योग्य नहीं; ऐसा वचन है। इसलिए मुख्यतः तो श्रावक को, सदैव सचित्त आहार त्यागना चाहिए, परन्तु यदि वैसा न कर सके तो पर्व के दिन तो अवश्य ही त्यागना चाहिए। इसी प्रकार पर्व के दिन स्नान करना, बाल समारना, सिर गूंधना, वस्त्र आदि धोना अथवा रंगना, गाड़ी हल आदि जोतना, धान्यआदि के मूड़े बांधना, चरखा आदि यंत्र चलाना, दलना, कूटना, पीसना, पान, फल, फूल आदि तोड़ना, सचित्त खड़िया, हिरमची आदि बांटना, धान्य आदि लीपना, माटी आदि खोदना, घरआदि बांधना इत्यादि संपूर्ण आरम्भों को यथाशक्ति त्याग करना चाहिए। आरम्भ बिना अपने कुटुम्ब का निर्वाह न कर सके तो कुछ आरम्भ तो गृहस्थ को करना पड़ता है, पर सचित्त आहार का त्याग करना अपने हाथ में होने से और सहज साध्य होने से उसे अवश्य करना चाहिए। विशेष रुग्णावस्था आदि कारण से सर्व सचित्त आहार का त्याग न किया जा सके, तो एक दो वस्तु का नाम ले खुली रखकर शेष सर्व सचित्त वस्तुओं का नियम करना।

इसी प्रकार आश्विन तथा चैत्र की अद्दाइ, तथा गाथा में प्रमुख शब्द है जिससे, चौमासे की तथा संवत्सरी की अद्दाइ, तीन चातुर्मास (आषाढ, कार्तिक और फाल्गुन) और संवत्सरी आदि पर्वों में उपरोक्त विधि के अनुसार विशेष धर्मानुष्ठान करना। कहा है कि—सुश्रावक को संवत्सरी की, चौमासी की तथा अद्दाइ की तिथियों में परम आदर से जिनराज की पूजा, तपस्या तथा ब्रह्मचर्यादिक गुणों में तत्पर रहना। सर्व अद्दाइयों में चैत्र और आश्विन की अद्दाइयां शाश्वती हैं। कारण कि, उन दोनों अद्दाइयों में वैमानिक देवता भी नन्दीश्वर द्वीप आदि तीर्थों में तीर्थयात्रादि उत्सव करते हैं। कहा है कि—दो यात्राएं शाश्वती हैं। जिसमें एक चैत्रमास में और दूसरी आश्विन मास में, अद्दाइ महिमारूप होती है। ये दोनों यात्राएं शाश्वती हैं। उनको सम्पूर्ण देवता तथा विद्याधर नन्दीश्वर द्वीप में करते हैं। तथा मनुष्य अपने-अपने स्थानों में करते हैं। इसी प्रकार तीन चातुर्मास, संवत्सरी, छः पर्व तिथियां तथा तीर्थकर के जन्मादि कल्याणक इत्यादि में जो यात्राएं करते हैं वे अशाश्वती हैं। जीवाभिगम सूत्र में भी इस प्रकार कहा है कि—

बहुत से भवनपति, वाणमंतर, ज्योतिषी और वैमानिक देवता नंदीश्वरद्वीप में तीन चातुर्मास तथा संवत्सरी पर अपार महिमा से अद्वाइ महिमा करते हैं।

प्रभात समय में पञ्चक्खाण करने के समय जो तिथि आये वही ग्रहण करना। सूर्योदय का अनुसरण करके लोक में भी दिन आदि सर्व व्यवहार चलता है। कहा है कि—

चाठम्मासिअ वरिसे, पक्खिअ पंचडमीसु नायव्वा।

ताओ तिहिओ जासिं, उदेइ सूरु न अण्णाओ ॥१॥

पूआ पच्चक्खाणं पडिकमणं तहय नियमगहणं च।

जीए उदेइ सूरु, तीइ तिहीए उ कायव्वं ॥२॥

उदयंमि जा तिही सा, पमाणमियरीइ कीरमाणीए।

आणाभंगऽणवत्था, मिच्छत्त विराहणं पावे ॥३॥

पाराशर स्मृति आदि ग्रंथ में भी कहा है कि—जो तिथि सूर्योदय के समय थोड़ी भी हो, वही तिथि संपूर्ण मानना चाहिए, परन्तु उदय के समय न होने पर वह पश्चात् बहुत काल तक हो तो भी संपूर्ण नहीं मानना। श्रीउमास्वातिवाचक का वचन भी इस प्रकार सुनते हैं कि—पर्वतिथि का क्षय हो तो उसकी पूर्व की तिथि करना, तथा वृद्धि हो तो दूसरी करना, और श्रीवीरभगवान् के ज्ञान तथा निर्वाण कल्याणक लोकानुसरण से करना। अरिहन्त के जन्मादि पांच कल्याणक भी पर्वतिथि रूप ही समझना चाहिए। दो तीन कल्याणक जिस दिन हो तो वह विशेष पर्वतिथि मानना। सुनते हैं कि—सर्व पर्वतिथियों की आराधना करने को असमर्थ कृष्ण महाराज ने श्रीनेमिनाथ भगवान् को पूछा कि, 'हे स्वामिन्! सारे वर्ष में आराधन करने योग्य उत्कृष्ट पर्व कौन सा है?' भगवान् ने कहा—'हे महाभाग! जिनराज के पंचकल्याणक से पवित्र हुई मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी (मौन एकादशी) आराधना करने के योग्य है। इस तिथि में पांच भरत और पांच एरवत मिलकर दश क्षेत्रों में प्रत्येक में पांच पांच मिलकर सब पचास कल्याणक हुए।' पश्चात् कृष्ण ने मौन, पौषध, उपवास आदि करके उस दिन की आराधना की। तत्पश्चात् 'यथा राजा तथा प्रजा' के न्याय से सर्वलोगों में यह एकादशी आराधने के योग्य है। यह प्रसिद्धि हुई। पर्वतिथि के दिन व्रत, पञ्चक्खाण आदि करने से महत् फल प्राप्त होता है। कारण कि, उससे शुभगति का आयुष्य संचित होता है। आगम में कहा है कि—

प्रश्न : हे भगवन्! बीज आदि तिथियों में किया हुआ धर्मानुष्ठान क्या फल देता है?

उत्तर : हे गौतम! बहुत फल है। कारण कि, प्रायः इन पर्व-तिथियों में परभव का आयुष्य बंधता है। इसलिए तरह-तरह की तपस्या धर्मानुष्ठान करना, कि जिससे शुभ आयुष्य उपार्जन हो, प्रथम से ही आयुष्य बंधा हुआ हो तो पीछे से बहुत सा धर्मानुष्ठान करने से भी वह नहीं टलता। जैसे पूर्व में राजा श्रेणिक ने गर्भवती हरिणी को मारी, उसका गर्भ अलगकर अपने कंधे की तरफ दृष्टि करते नरकगति का आयुष्य

उपार्जन किया। पीछे से उसे क्षायिक सम्यक्त्व हुआ, तो भी वह आयुष्य नहीं टला। अन्यदर्शन में भी पर्वतिथि को अभ्यंगस्नान (तैल लगाकर नहाना), मैथुनआदि करना मना किया है। विष्णुपुराण में कहा है कि—हे राजेन्द्र! चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा और सूर्य की संक्रान्ति इतने पर्व कहलाते हैं। जो पुरुष इन पर्वों में अभ्यंग करे, रतिक्रीड़ा करे, और मांस खाये तो वह मनुष्य मरकर 'विण्मूत्रभोजन' नामक नरक में जाता है। मनुस्मृति में भी कहा है कि—ऋतु में ही रतिक्रीड़ा करनेवाला और अमावस्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी इन तिथियों में रतिक्रीड़ा न करनेवाला ब्राह्मण नित्य ब्रह्मचारी कहलाता है। इसलिए पर्व के अवसर पर अपनी पूर्णशक्ति से धर्माचरण के हेतु यत्न करना चाहिए। समय पर थोड़ासा भी पानभोजन करने से जैसे विशेष गुण होता है, वैसे ही अवसर पर थोड़ा ही धर्मानुष्ठान करने से भी बहुत फल प्राप्त होता है। वैद्यकशास्त्रमें कहा है कि—शरद ऋतु में जो कुछ जल पिया हो, पौष मास में तथा माह मास में जो कुछ भक्षण किया हो और ज्येष्ठ तथा आषाढ मास में जो कुछ निद्रा ली हो उसी पर मनुष्य जीवित रहते हैं। वर्षा ऋतु (सावण, भाद्रवा) में लवण, शरद ऋतु (आसोज-कार्तिक) में जल, हेमन्त (मार्गशीर्ष, पौष) ऋतु में गाय का दूध, शिशिर (माह, फाल्गुण) ऋतु में आमले का रस, वसन्त (चैत्र, वैशाख) ऋतु में घी और ग्रीष्म (ज्येष्ठ, आषाढ) ऋतु में गुड़ अमृत के समान है। पर्व की महिमा ऐसी है कि, जिससे प्रायः अधर्मी को धर्म करने की, निर्दय को दया करने की, अविरति लोगों को विरति अंगीकार करने की, कृपण लोगों को धन खर्च करने की, कुशील पुरुषों को शील पालने की और कभी कभी तपस्या न करनेवाले को भी तपस्या करने की बुद्धि हो जाती है यह बात वर्तमान में सर्वदर्शनों में पायी जाती है। कहा है कि—जिन पर्वों के प्रभाव से निर्दय और अधर्मी पुरुषों को भी धर्म करने की बुद्धि होती है, ऐसे संवत्सरी और चौमासी पर्वों की जिन्होंने यथाविधि आराधना की उनकी जय हो। इसलिए पर्व में पौषध आदि धर्मानुष्ठान अवश्य करना।

पौषध :

पौषधके चार प्रकार आदि विषयों का वर्णन अर्धदीपिका (मूलग्रन्थकार विरचित) में किया गया है।

पौषध तीन प्रकार के हैं—१ अहोरात्रिपौषध, २ दिवसपौषध और ३ रात्रिपौषध।

अहोरात्रिपौषध की विधि इस प्रकार है—श्रावक को जिस दिन पौषध लेना हो, उस दिन सर्व गृहव्यापार का त्याग करना, और पौषध के सर्व उपकरण ले पौषधशाला में अथवा साधु के पास जाना। पश्चात् अंग का पडिलेहण करके बड़ीनीति तथा लघुनीति की भूमि पडिलेहण करना। तत्पश्चात् गुरु के पास अथवा नक्कार गिनकर स्थापनाचार्य की स्थापनाकर इरियावही प्रतिक्रमण करे। पश्चात् एक खमासमण से

१. यह उनकी मान्यता कुछ अंश में धर्म को पुष्ट करने के लिए दर्शायी है।

२. सौधर्मबृहत्तपागच्छ में यहाँ द्वादशावर्त विधि से गुरुवन्दन करना आवश्यक है।

वन्दना करके पौषधमुंहपत्ति का पडिलेहण करे। पुनः एक खमासमण देकर खड़ा रहकर के कहे कि—'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! पोसह संदिसाहू? गुरु-संदिसावेह. शिष्य-इच्छं। पुनः एक बार खमासमण देकर कहे कि—इच्छा०सं. भ० 'पोसह ठाउं? गुरु-ठाएह. शिष्य-इच्छं' ऐसा कह नवकार की गणनाकर इच्छ० भ० पसायकरी पौषध उच्चरावोजी ऐसा कहे फिर साधु, वडिल या स्वयं पौषध का उच्चारण करे यथा—
 करेमि भंते! पोसहं आहारपोसहं सव्वओ देसओ, सरीरसक्कारपोसहं सव्वओ,
 बंभचेरपोसहं सव्वओ, अव्वावारपोसहं सव्वओ, चउव्विहं पोसहं ठामि,
 जाव अहोरत्तं फज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न
 करेमि न कारवेमि, तस्स भंते! पडिक्रमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं
 वोसिरामि।

पश्चात् मुंहपत्ति पडिलेहणकर दो खमासमण देकर पूर्ववत् सामायिक की मुंहपत्ति आदि के आदेश लेकर सामायिक करे। पुनः दो खमासमण देकर जो चौमासा हो तो काष्ठासन का और शेष आठ मास हो तो आसन का 'बेसणे संदिसाहू? और ठाउं?' यह कह आदेश मांगना। तत्पश्चात् दो खमासमण देकर सज्जाय करे। पश्चात् प्रतिक्रमणकर दो खमासमण दे। 'बहुवेलं संदिसाहू' यह कहे। तत्पश्चात् एक खमासमण दे 'पडिलेहणं करेमि' यह कहे। तथा मुंहपत्ति, आसन और पहनने के वस्त्रों का पडिलेहण कर ले। श्राविका मुंहपत्ति, आसन, ओढने का वस्त्र कांचली और घांधरे का पडिलेहण करे। पश्चात् एक खमासमण दे 'इच्छाकारि भगवन्! पडिलेहणा पडिलेहावोजी' ऐसा कहे। तत्पश्चात् 'इच्छं' कहकर स्थापनाचार्य का पडिलेहणकर स्थापनकर एक खमासमण देना। उपधिमुंहपत्ति की पडिलेहणाकर 'उपधि संदिसाहू और पडिलेहू' ऐसा कहे। पश्चात् वस्त्र, कम्बल आदि की पडिलेहणाकर, पौषधशाला का प्रमार्जनकर कूड़ा कचरा उठाकर (देखकर) परठ दे। तत्पश्चात् इरियावही प्रतिक्रमणकर के गमनागमन की आलोचना करे व एक खमासमण देकर मंडली में बैठे और साधु की तरह स्वाध्याय करे। पश्चात् पौणपोरिसी हो, तब तक पढ़े, गुणे अथवा पुस्तक वांचे। पश्चात् एक खमासमण दे मुंहपत्ति पडिलेहणकर कालवेला (शुभ समय) हो वहां तक पूर्व की तरह स्वाध्याय करे। जो देववन्दन करना हो तो 'आवस्सइ' कहकर जिनमंदिर में जा देववन्दन करे। जो आहार करना हो तो पच्चक्खाण पूर्ण होने पर एक खमासमण देकर, मुंहपत्ति पडिलेहणकर, पुनः एक खमासमण देकर कहे कि, 'पारावह पोरिसी पुरिमड्ढो वा चउहार कओ तिहार कओ वा आसि, निव्विएणं आयंबिलेणं एगासणेणं पाणाहारेणं वा जा काइ वेला तीए' इस प्रकार कह, देव वन्दनाकर, सज्जायकर, घर जाकर, जो घर सौ हाथ से अधिक दूर हो तो इरियावही प्रतिक्रमणकर, आगमन की आलोचनाकर, सम्भव हो तदनुसार अतिथिसंविभाग व्रत पालन करे। पश्चात् स्थिर आसन से बैठकर,

हाथ, पैर तथा मुख का पड़िलेहणकर एक नवकार गिनकर राग द्वेष न रखते प्रासुक भोजन करे। अथवा प्रथम से ही कह रखे हुए स्वजन का लाया हुआ भोजन करे, किन्तु भिक्षा न मांगे। पश्चात् पौषधशाला में जाकर इरियावही प्रतिक्रमणकर, देववन्दनकर, वांदणा दे। तिविहारअथवा चउविहार का पच्चक्खाण करे। जो शरीर चिन्ता करना हो तो, 'आवस्सइ' कहकर साधु की तरह उपयोग रखता हुआ जीव रहित शुद्धभूमि में जाकर, विधि के अनुसार मलमूत्र का त्यागकर, शुद्धताकर पौषधशाला में आवे। पश्चात् इरियावही प्रतिक्रमणकर एक खमासमण देकर कहे कि, 'इच्छाकरणे संदिसह भगवन्! गमणागमणं आलोडं?' पश्चात् 'इच्छं' कहकर 'आवस्सइ' करके वसति से पश्चिम तथा दक्षिणदिशा को जाकर दिशाओं को देखकर 'अणुजाणह जस्सुग्गहो' ऐसा कहकर पश्चात् संडासग और स्थंडिल प्रमार्जन करके बड़ीनीति तथा लघुनीति वोंसिराइ (त्याग की) तत्पश्चात् 'निसीहि' कहकर पौषधशाला में प्रवेश करे। और 'आवंतजंतेहि जं खंडिअं जं विराहिअं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं' ऐसा कहे। पश्चात् पिछला प्रहर हो तब तक स्वाध्याय करे। तत्पश्चात् एक खमासमण देकर पड़िलेहण का आदेश मांगे। दूसरा खमासमण देकर पौषधशाला का प्रमार्जन करने का आदेश मांगे, पश्चात् श्रावक को मुंहपत्ति, आसन, पहनने के वस्त्र की पड़िलेहणा करना, और श्राविका को मुंहपत्ति, आसन, घाघरा, कांचली और ओढ़े हुए वस्त्र की पड़िलेहणा करना। पश्चात् स्थापनाचार्य की पड़िलेहणाकर, पौषधशाला का प्रमार्जनकर, एक खमासमण दे उपधि मुंहपत्ति का पड़िलेहणकर एक खमासमण दे मंडली में घुटनों पर बैठकर सञ्ज्ञाय करे। पश्चात् वांदणा देकर पच्चक्खाण करे। दो खमासमण देकर उपधि पड़िलेहणा का आदेश मांगे। पश्चात् वस्त्र, कम्बली आदि की पड़िलेहणा करे। जो उपवास किया होवे तो सर्व उपधि के अन्तमें पहनने का वस्त्र पड़िलेहे। श्राविका तो प्रभात की तरह उपधि का पड़िलेहण करे। सन्ध्या की कालवेला हो, तब शय्या के अन्दर तथा बाहर बारह-बारह बार मूत्र तथा स्थंडिल की भूमि का पड़िलेहण कर ले। (मांडला पड़िलेहे) पश्चात् देवसी प्रतिक्रमण करके योग हो तो साधु की सेवाकर एक खमासमण दे पोरिसी हो तब तक स्वाध्याय करे। पोरिसी पूर्ण होने पर एक खमासमण दे 'इच्छाकरणे संदिसह भगवन्! बहुपडिपुन्ना पोरिसी राइसंथारए ठामि' ऐसा कहे। पश्चात् देव वांदी, मलमूत्र की शंका हो तो तपासकर सर्व उपधि का पड़िलेहणकर ले। घुटनों पर संथारे का उत्तरपट्ट डालकर जहां पैर रखना हो वहां की भूमि का प्रमार्जन करके धीरे धीरे बिछावे पश्चात् 'महाराज आदेश आपो' यह कहता हुआ संथारे पर बैठकर नवकार के अन्तर से तीन बार 'करेमि भंते! सामाइअं' कहे। पश्चात् ये चार गाथाएं कहे—

अणुज्जाणह परमगुरू गुणगणरयणेहिं भूसिअसरीरा॥

बहुपडिपुन्ना पोरिसि, राइसंथारए ठामि ॥१॥

अणुजाणह संथारं, बाहुवहाणेण वामपासेण।

कुक्कुडिपायपसारण अतरंत पमज्जए भूमिं ॥२॥

संकोइअ संडासं, उव्वइते अ कायपडिलेहा।

दव्वाई उवओगं, ऊसासनिरुंभणाऽऽलोए ॥३॥

जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्सिमाइ रयणीए।

आहारमुवहि देहं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥४॥

तत्पश्चात् 'चत्तारि मंगलं' इत्यादि भावना का ध्यान करके नवकार का स्मरण करता हुआ चरवला आदि से शरीर को संधारे पर प्रमार्जन करके बायीं करवट से भुजा सिरहाने लेकर सोवे। जो शरीर चिंता को जाना पड़े तो संधारा दूसरे को लगता हुआ रखकर 'आवस्सई' कहकर प्रथम पडिलेहणकर कायचिन्ता करे। पश्चात् इरियावहीकर गमनागमन की आलोचनाकर जघन्य से भी तीन गाथाओं का स्वाध्यायकर नवकार का स्मरण करता हुआ पूर्ववत् सोते रहे। रात्रि के पिछले प्रहर में जागृत हो, तब इरियावही प्रतिक्रमण करके कुसुमिणदुसुमिण का काउस्सगग करे। पश्चात् चैत्यवन्दन करके आचार्य आदि को वन्दनाकर प्रतिक्रमण का समय हो तब तक स्वाध्याय करे। तत्पश्चात् प्रतिक्रमण से लेकर पूर्ववत् मंडली में स्वाध्याय करने तक क्रिया करे। जो पौषध पारने की इच्छा हो तो एक खमासमण देकर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! मुंहपत्ति पडिलेहूँ' ऐसा कहे। गुरु के 'पडिलेहेह' कहने पर मुंहपत्ति की पडिलेहणाकर एक खमासमण देकर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! पोसहं पारूँ?' कहे पीछे जब गुरु कहे 'पुणोवि कायव्वो' तब यथाशक्ति ऐसा कहकर खमासमण देकर कहना कि— 'पोसहं पारिअं' फिर गुरु० 'आयारो न मुत्तव्वो' यह आदेश कहने पर तहत्ति कहकर खड़े रह नवकार की गणनाकर धुटनों पर बैठ तथा भूमि को मस्तक लगाकर ये गाथाएं कहना—

सागरचन्दो कामो, चंदवडिंसो सुदंसणो धन्नो।

जेसिं पोसहपडिमा, अखंडिआ जीविअंतेऽवि ॥१॥

धन्ना सलाहणिज्जा, सुलसा आणंद कामदेवा अ।

जास पसंसइ भयवं, दढव्वयत्तं महावीरो ॥२॥

पश्चात् यह कहे कि 'पौषध विधि से लिया, विधि से पारा, विधि से जो कुछ अविधि, खंडना तथा विराधना मन, वचन, काया से हो गयी हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।' सामायिक की विधि भी इसी प्रकार जानना। उसमें इतना ही विशेष है कि, 'सागरचन्दो' के बदले में ये गाथाएं कहना—

सामाइअवयजुत्तो, जाव मणे होइ निअमसंजुत्तो।

छिन्नइ असुहं कम्मं, सामाइय जत्तिआ वारा ॥१॥

१. इस सूत्र के रचनाकाल के समय में प्रातः पौषध पारने की क्रिया में इरियावही प्रतिक्रमण करने की प्रथा नहीं थी।
२. सामायिक पारने की विधि में भी 'सामाइयम्मिउ कए' गाथा नहीं है। और दूसरी दो गाथाएं वर्तमान में नहीं हैं।

छठमत्थो मूढमणो, कित्तिअमितं च संभरइ जीवो।

जं च न सुमरामि अहं, मिच्छा मि दुक्कडं तस्स ॥२॥

सामाइयपोसहसंठिअस्स जीवस्स जाइ जो कालो।

सो सफलो बोद्धव्वो, सेसो संसारफलहेऊ ॥३॥

पश्चात् सामायिक विधि से लिया इत्यादि कहना। दिवस पौषध भी इसी रीति से जानना। विशेष इतना ही है कि, पौषधदंडक में 'जाव दिवसं पज्जुवासामि' ऐसा कहना। देवसीप्रतिक्रमण कर लेने पर दिवसपौषध पाता जा सकता है। रात्रिपौषध भी इसी प्रकार है। उसमें इतना ही विशेष है कि, पौषधदंडक में 'जाव सेसदिवसं रत्तिं पज्जुवासामि' ऐसा कहना। मध्याह्न के बाद दो घड़ी दिन रहे वहां तक रात्रिपौषध लिया जाता है। पौषध के पारणे के दिन साधु का योग हो तो अवश्य अतिथिसंविभाग व्रत करके पारणा करना।

इस प्रकार पौषध आदि करके पर्व दिन की आराधना करना चाहिए। इस विषय पर दृष्टान्त है कि—

धनसार की कथा :

धन्यपुर में धनेश्वर नामक श्रेष्ठी, धनश्री नामक उसकी स्त्री और धनसार नामक उसका पुत्र, ऐसा एक कुटुम्ब रहता था। धनेश्वर श्रेष्ठी परम श्रावक था। वह कुटुम्ब सहित प्रत्येकपक्ष में विशेष आरम्भ का त्याग आदि नियम का पालन किया करता था, और 'चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या तथा पूर्णिमा इन तिथियों में परिपूर्ण पौषध करनेवाला था', जिस प्रकार भगवतीसूत्र में तुंगिकानगरी के श्रावक के वर्णन के प्रसंग में कहा है तदनुसार प्रतिमास छः पर्व तिथियों में वह यथाविधि पौषध आदि करता था। एक समय वह अष्टमी का पौषध किये हुए होने से रात्रि को शून्यघर में प्रतिमा अंगीकार करके रहा। तब सौधर्मैन्द्र ने उसकी धर्म दृढ़ता की बहुत प्रशंसा की। जिसे सुन एक मिथ्यादृष्टि देवता उसकी परीक्षा करने आया। प्रथम उसने श्रेष्ठी के मित्र का रूप प्रकटकर 'करोड़ स्वर्णमुद्राओं का निधि है। तुम आज्ञा करो तो वह मैं ले लेऊँ' इस प्रकार अनेक बार श्रेष्ठी को विनती की। पश्चात् उस देवता ने, श्रेष्ठी की स्त्री का रूप प्रकट किया, और आलिंगन आदि करके उसकी बहुत कदरर्चना की। तत्पश्चात् मध्यरात्रि होते हुए प्रभात काल का प्रकाश, सूर्योदय तथा सूर्यकिरण आदि प्रकटकर उस देवता ने श्रेष्ठी के स्त्री, पुत्र आदि का रूप बनाकर पौषध का पारणा करने के लिए श्रेष्ठी को अनेक बार प्रार्थना की। इसी तरह बहुत से अनुकूल उपसर्ग किये, तो भी स्वाध्याय करने के अनुसार मध्यरात्रि है, यह श्रेष्ठी जानता था, जिससे तिलमात्र भी भ्रम में नहीं पड़ा। यह देख देवता ने पिशाच का रूप बनाया। और चमड़ी उखाड़ना, मारना, उछालना, शिला पर पछाड़ना, समुद्र में फेंक देना इत्यादि प्राणांतिक प्रतिकूल उपसर्ग किये; तो भी श्रेष्ठी धर्मध्यान से विचलित नहीं हुआ। कहा है कि-इस पृथ्वी को यद्यपि दिग्गज, कच्छप, कुलपर्वत और शेषनाग ने पकड़ रखी है; तथापि यह चलती है,

परन्तु शुद्ध अन्तःकरणवाले सत्पुरुषों का अंगीकार किया हुआ व्रत प्रलय (मरण) हो तो भी विचलित नहीं होता। तदनंतर देवता ने प्रसन्न होकर धनेश्वर श्रेष्ठी को कहा— 'मैं सन्तुष्ट हुआ हूँ। इच्छित वर मांगा।' तो भी श्रेष्ठी ने धर्मध्यान नहीं छोड़ा। तथा अतिशय प्रसन्न होकर देवता ने श्रेष्ठी के घर में करोड़ों स्वर्णमुद्रा तथा रत्नों की वृष्टि की। यह महिमा देखकर बहुत से लोगों ने पर्वतिथियों में धर्माराधना यथाशक्ति प्रारंभ की। उनमें भी राजा का धोबी, तेली और एक कौटुम्बिक (कृषक नौकर) ये तीनों व्यक्ति, जिनको राजा की प्रसन्नता के हेतु इन्हें विशेष ध्यान रखना पड़ता था। तो भी छःओं पर्वों में वे अपना-अपना धंधा बन्द रखते थे। धनेश्वर श्रेष्ठी भी नये साधर्मिक जन उनको पारणे के दिन साथ में भोजन कराकर, पहिरावणी देकर, तथा इच्छित धन देकर उनका बहुत आदर सत्कार किया करता था। कहा है कि, 'जैसे मेरुपर्वत में लगा हुआ तृण भी सुवर्ण हो जाता है वैसे ही सत्पुरुषों का समागम कुशील को भी सुशील कर देता है।' एक दिन कौमुदीमहोत्सव होनेवाला था, जिससे राज्यपुरुषों ने चतुर्दशी के दिन राजा व रानी के वस्त्र उसी दिन धोकर लाने के लिए उक्त श्रावक धोबी को दिये। धोबी ने कहा 'मुझे तथा मेरे कुटुम्ब को (बाधा) नियम होने से हम पर्व के दिन वस्त्र धोना आदि आरम्भ नहीं करते।' राजपुरुषों ने कहा कि—'राजा के आगे तेरी बाधा (नियम) क्या चीज है? राजा की आज्ञा भंग होगी तो प्राणदंड दिया जायेगा।' पश्चात् धोबी के स्वजनों ने तथा अन्य लोगों ने भी उसे बहुत समझाया। धनेश्वरश्रेष्ठी ने भी 'राजदंड होने से धर्म की हीलना आदि न हो' यह सोच 'रायाभिओगेण' ऐसा आगार है, इत्यादि युक्ति बतायी, तो भी धोबी ने 'दृढ़ता के बिना धर्म किस कामका?' यह कहकर अपने नियम की दृढ़ता नहीं छोड़ी, और ऐसे संकटसमय में भी किसीका कहना न माना। अपने मनुष्यों के कहने से राजा भी रुष्ट हुआ और कहने लगा कि, 'मेरी आज्ञा का भंग करेगा तो प्रातःकाल इसको तथा इसके कुटुम्ब को शिक्षा करूंगा।' इतने में कर्मयोग से उसी रात्रि को राजा के पेट में ऐसा शूल हुआ कि, जिससे सारे नगर में हाहाकार मच गया। इस तरह तीन दिन व्यतीत हो गये। धोबी ने यथाविधि अपने नियम का पालन किया। पश्चात् प्रतिपदा (पडवा) के दिन राजा तथा रानी के वस्त्र धोये। और बीज के दिन राजपुरुषों के मांगते ही तुरंत दे दिये। इसी प्रकार किसी आवश्यकीय कारण से बहुत से तैल की आवश्यकता होने से राजा ने श्रावक तेली को चतुर्दशी के दिन घाणी चलाने का हुक्म दिया। तेली ने अपने नियम की दृढ़ता बतायी, जिससे राजा रुष्ट हो गया। इतने में ही परचक्र आया। राजा को सेना लेकर शत्रु के संमुख जा संग्राम में उतरना पड़ा। और राजा की जय हुई। परन्तु राजा के इस कार्य में व्यग्र हो जाने से तेल की आवश्यकता न हुई, और तेली का नियम पूर्ण हुआ। एक समय राजा ने अष्टमी के शुभमुहूर्त में उस श्रावक कौटुम्बिक (कुनबी-कृषक) को हल चलाने की आज्ञा दी। तब उसने अपना नियम कह सुनाया, जिससे राजा क्रुद्ध हो गया। परन्तु इतने में ही एक

सरीखी धाराबंध वृष्टि होने लगी जिससे उसने सुखपूर्वक अपने नियम का पालन किया। इस प्रकार पर्व का नियम अखंडित पालने से वे तीनों व्यक्ति क्रमशः मृत्यु को प्राप्त होकर छट्टे लांतकदेवलोक में चौदह सागरोपम आयुष्यवाले देवता हुए। धनेश्वर श्रेष्ठी समाधि से मृत्यु पाकर बारहवें अच्युतदेवलोक में गया। उन चारों देवताओं की बड़ी मित्रता हो गयी, श्रेष्ठी का जीव जो देवता हुआ था, उसके पास अन्य तीनों देवताओं ने अपने च्यवन के अवसर पर स्वीकार कराया था कि—'तूने पूर्वभव की तरह आगन्तुक भव में भी हमको प्रतिबोध करना।' पश्चात् वे तीनों पृथक्-पृथक् राजकुलों में अवतरे। अनुक्रम से तरुणावस्था को प्राप्त हो बड़े बड़े देशों के अधिपति हो धीर, वीर और हीर इन नामों से जगत् में प्रसिद्ध हुए। धीरराजा के नगर में एक श्रेष्ठी को सदैव पर्व के दिन परिपूर्ण लाभ हुआ करता था, परन्तु कभी-कभी पर्वतिथि में हानि भी बहुत होती थी। उसने एक समय ज्ञानी को यह बात पूछी। ज्ञानी ने कहा—'तूने पूर्वभव में दरिद्रावस्था में स्वीकार किये हुए नियमों को दृढ़तापूर्वक यथाशक्ति पर्व के दिन सम्यक्प्रकार से पालन किये। परन्तु एक समय धर्मसामग्री का योग होते भी तू धर्मानुष्ठान करने में प्रमाद आदि दोष से प्रमादी हुआ। उसीसे इस भव में तुझे इस प्रकार लाभ हानि होती है। कहा है कि—'धर्म में प्रमाद करनेवाला मनुष्य जो कुछ अपना नुकसान कर लेता है, वह चोर के लूटने से, अग्नि के जलाने से अथवा जूआ में हार जाने से भी नहीं होता।' ज्ञानी का यह वचन सुन वह श्रेष्ठी सकुटुम्ब नित्य धर्मकृत्यों में सावधान हो गया, और अपनी सर्वशक्ति से सर्वपर्वों की आराधना करने लगा, व अत्यन्त ही अल्प आरंभ करके तथा पूर्णरूप से व्यवहारशुद्धि रखकर व्यापारादि बीजप्रमुख पर्व के ही दिन करता था, अन्य समय नहीं। जिससे सर्व ग्राहकों को विश्वास हो गया। सब उसीके साथ व्यवहार करने लगे। थोड़े ही समय में वह करोड़ों स्वर्णमुद्राओं का अधिपति हो गया। कौआ, कायस्थ और कूकड़ा (मुर्गा) ये तीनों अपने कुल का पोषण करते हैं, और वणिक, श्वान, गज तथा ब्राह्मण ये चारों जने अपने कुल का नाश करते हैं, ऐसी कहावत है। तदनुसार दूसरे वणिक लोगों ने डाह (अदेखाई) से राजा के पास चुगली खायी कि, 'इसको करोड़ों स्वर्णमुद्राओं का निधान मिला है' जिससे राजाने श्रेष्ठी को धनकी बात पूछी। श्रेष्ठी ने कहा—'मैंने स्थूलमृषावाद, स्थूलअदत्तादान आदि का गुरु के पास नियम लिया है।' पश्चात् अन्य वणिकों के कहने से राजा ने 'यह धर्मठग है' ऐसा निर्धारितकर उसका सर्वस्व जप्त करके उसे तथा उसके परिवार को अपने महल में रखे। श्रेष्ठी ने मन में विचार किया कि—'आज पंचमी पर्व है, अतएव किसी भी प्रकार से आज मुझे अवश्य लाभ होना चाहिए, प्रातःकाल राजा का समस्त भंडार खाली हुआ और श्रेष्ठी का घर स्वर्णमोहर तथा मणिरत्नों से परिपूर्ण भरा हुआ देखकर बड़ा आश्चर्य और खेद हुआ। तब उसने श्रेष्ठी

1. पर्वतिथियों में ही व्यापारादि करने का कारण यह है कि पाप का भय इन दिनों में विशेष रहने से व्यापार में अधिक आरंभ समारंभ न हो। अन्य तिथियों में वह व्यापार नहीं करता था।

से क्षमापनाकर पूछा कि, 'हे श्रेष्ठिन्! यह धन तेरे घर किस प्रकार गया?' श्रेष्ठी ने उत्तर दिया—'हे स्वामिन्! मैं कुछ भी नहीं जानता, परन्तु पर्व के दिन पुण्य की महिमा से मुझे लाभ ही होता है।' तब पर्व की महिमा सुनकर, जातिस्मरणज्ञान पाये हुए राजा ने भी यावज्जीव छःहो पर्व पालने का नियम लिया। उसी समय भंडारी ने आकर राजा को बधाई दी कि—'वर्षाकाल की जलवृष्टि से जैसे सरोवर भर जाते हैं, वैसे अपने समस्त भंडार इसी समय धन से परिपूर्ण हो गये।' यह सुन राजा को बड़ा आश्चर्य व हर्ष हुआ। इतने में चंचल कुंडल आदि आभूषणों से देदीप्यमान एक देवता प्रकट होकर कहने लगा कि, 'हे राजन्! तेरा पूर्वभव का मित्र जो श्रेष्ठि पुत्र था और अभी जो देवता का भव भोग रहा है, उसे तू पहिचानता है? मैंने ही पूर्वभव में तुझको वचन दिया था उससे तुझे प्रतिबोध करने के लिए तथा पर्वदिवस की आराधना करनेवाले लोगों में शिरोमणि इस श्रेष्ठी को सहायता करने के लिए यह कृत्य किया। इसलिए तू धर्मकृत्य में प्रमाद न करा। अब मैं उक्त तेली व कौटुम्बिक के जीव जो कि राजा हुए हैं, उनको प्रतिबोध करने जाता हूँ।

यह कहकर देवता चला गया। पश्चात् उसने उन दोनों राजाओं को एक ही समय स्वप्न में पूर्वभव बताया। जिससे उनको भी जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। और वे भी श्रावकधर्म की व विशेषकर पर्वदिवसों की सम्यग् रीति से आराधना करने लगे। पश्चात् उन तीनों राजाओं ने देवता के कहने से अपने-अपने देश में अमारि की प्रवृत्ति, सातों व्यसनों की निवृत्ति, जगह-जगह नये नये जिनमंदिर, पूजा, यात्रा, साधर्मिकवात्सल्य, पर्व के पूर्व दिन पटह की उद्घोषणा तथा सर्वपर्वों में सब लोगों को धर्मकृत्य में लगाना आदि इस रीति से धर्मान्ति की, जिससे एकछत्र साम्राज्य के समान जैनधर्म प्रवृत्त हो गया और उसके प्रभाव से तथा श्रेष्ठी के जीव देवता की सहायता से उन तीनों राजाओं के देशों में तीर्थकर की विहारभूमि की तरह अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, स्वचक्र-परचक्र, व्याधि, महामारी तथा दारिद्र आदि के उपद्रव स्वप्न में भी नहीं रहे। ऐसी दुःसाध्य वस्तु कौन सी है कि जो धर्म के प्रभाव से सुसाध्य न हो सके? इस प्रकार सुखमय और धर्ममय राज्यलक्ष्मी को चिरकाल भोगकर उन तीनों राजाओं ने साथ में दीक्षा लेकर महान् तपस्या से शीघ्र ही केवलज्ञान उपार्जन किया। श्रेष्ठी का जीव देवता, उनकी महिमा स्थान-स्थान में बहुत ही बढ़ाने लगा। पश्चात् प्रायः अपना ही दृष्टान्त कह, उपदेश करके पृथ्वी में सर्व पर्वरूपी सम्यग् धर्म का अतिशय विस्तार किया और बहुत से भव्यजीवों का उद्धार करके स्वयं मोक्ष में गये। श्रेष्ठी के जीव देवता ने भी अव्युतदेवलोक से च्यवकर महाराजा होकर पुनः पर्व की महिमा सुनने से जातिस्मरणज्ञान पाया। और वह भी दीक्षा लेकर मोक्ष में गया इत्यादि।

इति श्रीरत्नशेखरसूरि विरचित

श्राद्धविधिकौमुदी की हिन्दीभाषा का पर्वकृत्यप्रकाश नामक

तृतीयः प्रकाशः सम्पूर्णः

प्रकाश-४ : चातुर्मासिककृत्य

मूल गाथा - १२ पूर्वार्द्ध

पइचउमासं समुचिअ-नियमगहो पाउसे विसेसेण ।

संक्षेपार्थः श्रावक को प्रत्येक चातुर्मास में तथा विशेषकर वर्षाकाल के चातुर्मास में उचित नियम ग्रहण करने चाहिए ॥१२॥

विस्तारार्थः जिस श्रावक ने परिग्रहपरिमाण व्रत लिया हो, उसको प्रत्येक चातुर्मास में पूर्व में लिये हुए नियम में संक्षेप करना। जिसने पूर्व में परिग्रहपरिमाण आदि व्रत न लिया हो, उसको भी प्रत्येकचातुर्मास में योग्य नियम (अभिग्रह) ग्रहण करना। वर्षाऋतु के चातुर्मास में तो विशेष करके उचित नियम ग्रहण करना ही चाहिए। उसमें जो नियम जिस समय लेने से बहुत फल प्राप्त हो, तथा जो नियम न लेने से बहुत विराधना अथवा धर्म की निन्दा आदि उत्पन्न हो, वे ही नियम उस समय उचित कहलाते हैं। जैसे वर्षाकाल में गाड़ी आदि न चलाने का नियम लेना तथा बादल, वृष्टि आदि होने से, इल्लीआदि पड़ने के कारण रायण (खिरनी), आम आदि का त्याग करना उचित नियम है। अथवा देश, पुर, ग्राम, जाति, कुल, वय, अवस्था इत्यादिक की अपेक्षा से उचित नियम जानना। वे नियम दो प्रकार के हैं। एक दुःख से पाले जा सकें ऐसे तथा दूसरे सुखपूर्वक पाले जा सकें ऐसे, धनवन्त व्यापारी और अखिरतिलोगों से सचित्त रस तथा शाक का त्याग और सामायिक ग्रहण इत्यादि नियम दुःख से पाले जाते हैं, परन्तु पूजा, दान आदि नियम उनसे सुख पूर्वक पाले जा सकते हैं। दरिद्री पुरुषों की बात इससे विरुद्ध है तथापि चित्त की एकाग्रता हो, तो चक्रवर्ती तथा शालिभद्र आदि लोगों ने जैसे दीक्षादि के कष्ट सहन किये, वैसे ही सब नियम सब लोगों से सुखपूर्वक पालन हो सकते हैं। कहा है कि—जब तक धीरपुरुष दीक्षा नहीं लेते तभी तक मेरु पर्वत ऊंचा है, समुद्र दुस्तर है, और कार्य की गति विषम है। ऐसा होने पर भी पाले न जा सकें ऐसे नियम लेने की शक्ति न हो, तो भी सुखपूर्वक पाले जा सकें ऐसे नियम तो श्रावक को अवश्य ही लेने चाहिए। जैसे वर्षाकाल में कृष्ण तथा कुमारपाल आदि की तरह सर्वदिशाओं में जाने का त्याग करना उचित है। वैसा करने की शक्ति न हो तो जिस समय जिन दिशाओं में गये बिना भी निर्वाह हो सकता हो, उस समय उन दिशाओं में जाने का त्याग करना। इसी प्रकार सर्व सचित्त वस्तुओं का त्याग न किया जा सके तो, जिस समय जिस वस्तु को बिना निर्वाह हो सकता हो, उस समय उस वस्तु का नियम लेना। जिस मनुष्य को जिस जगह, जिस समय, जो वस्तु मिलना सम्भव न हो, जैसे कि—दरिद्री पुरुष को हाथी आदि, मरुदेश में नागरबेल के पान आदि, तथा आम आदि

फल की ऋतु न होने पर वे फल दुर्लभ हैं, इसलिए उस पुरुष को उस स्थान में, उस समय उसी वस्तु का नियम ग्रहण करना। इस प्रकार अविद्यमान वस्तु का नियम करने से भी विरति आदि महान् फल होता है।

अप्राप्त वस्तु के त्याग का फल :

सुनते हैं कि—राजगृही नगरी में एक भिक्षुक ने दीक्षा ली, यह देख लोग 'इसने बहुत सा धन छोड़कर दीक्षा ली है!' इस प्रकार उसकी हंसी करने लगे। जिससे सुधर्मस्वामी गुरु महाराज ने विहार करने की बात की। तब अभयकुमार ने बाजार में तीन करोड़ स्वर्णमुद्राओं के तीन भारी ढेर लगाकर, सब लोगों को बुलाया और कहा कि, 'जो पुरुष कुएँ आदि का जल, अग्नि और स्त्री का स्पर्श, ये तीनों यावज्जीव छोड़ दे, वह यह धन ले सकता है।' लोगों ने विचार करके कहा कि—'तीन करोड़ धन छोड़ा जा सकता है, परन्तु उक्त जल आदि तीन वस्तुएँ नहीं छोड़ी जा सकती।' पश्चात् मन्त्री ने कहा कि, 'अरे मूर्खों! तो तुम इन द्रमकमुनि की हंसी क्यों करते हो? इन्होंने तो जलादि तीन वस्तुओं का त्याग करने से तीन करोड़ से भी अधिक त्याग किया है।' इससे प्रतिबोध पाकर लोगों ने द्रमकमुनि को खमाये। यह अप्राप्त वस्तु को त्याग करने का दृष्टान्त है।

इसलिए अप्राप्य वस्तु का भी नियम ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि ऐसा न करने से उन वस्तुओं को ग्रहण करने में पशु की तरह अविरतिपन रहता है, और वह नियम ग्रहण करने से दूर होता है। भर्तृहरि ने कहा है कि—मैंने क्षमा धारण नहीं की; घर के उचित सुख का (विषयसुख का) संतोष से त्याग नहीं किया, असद्य शीत, उष्णता और पवन की पीड़ा सही, परन्तु तपस्या नहीं की; रातदिन मन में धन का चिन्तन किया, परन्तु प्राणायाम (ध्यान) करके मुक्ति पद का चिन्तन नहीं किया, सारांश यह कि, हमने ऐसा किया जैसा कि मुनिओं के द्वारा किया होने पर भी उस फल से वे वंचित रहे। वैसे मैं भी फल से वंचित रहा। दिनरात में दिन को एक बार भोजन करे, तो भी पचवक्खाण किये बिना एकाशन का फल नहीं मिलता। लोक में भी ऐसी ही रीति है कि, कोई मनुष्य किसी का बहुतसा द्रव्य बहुत काल तक वापरे, तो भी कहे बिना उक्त द्रव्य का स्वल्प भी व्याज नहीं मिलता। अप्राप्त वस्तु का नियम ग्रहण किया हो तो, कदाचित् किसी प्रकार उस वस्तु का योग आ जाय तो भी नियम लेनेवाला मनुष्य उसे नहीं ले सकता, और नियम नहीं लिया हो तो ले सकता है। इस प्रकार अप्राप्यवस्तु का नियम ग्रहण करने में भी प्रत्यक्ष फल दिखता है। जैसे पल्लीपति वंकचुल को गुरु महाराज ने यह नियम दिया था कि 'अज्ञात फल भक्षण न करना।' जिससे अत्यंत क्षुधातुर होने पर भी तथा लोगों ने बहुत आग्रह किया तो भी वन में लगे हुए किंपाकफल अज्ञात होने से उसने भक्षण नहीं किये। उसके साथियों ने खाये, और वे मर गये।

प्रत्येक चातुर्मास में नियम लेने का कहा, उसमें चातुर्मास यह उपलक्षण

जानना। उससे पक्ष (पखवाड़े) के अथवा एक, दो, तीन मास के तथा एक दो या अधिक वर्ष के भी नियम शक्ति के अनुसार ग्रहण करने चाहिए। जो नियम जहां तक व जिस रीति से पाला जा सके, वह नियम वहीं तक व उसी रीति से लेना। नियम इस प्रकार ग्रहण करना कि, जिससे क्षणमात्र भी नियम बिना रह न सके। कारण कि, विरति करने में फल का बड़ा ही लाभ है, और अविरतिपन में बहुत ही कर्मबंधनादिक दोष हैं। यह बात पूर्व में ही कही जा चुकी है। पूर्व में जो नित्य नियम कहे गये हैं, वे ही नियम वर्षाकाल के चातुर्मास में विशेष करके लेना चाहिए। जिसमें दिन में दो बार अथवा तीन बार पूजा (अष्टप्रकार की आदि पूजा), संपूर्ण देववन्दन, जिनमंदिर में सर्व जिनबिंब की पूजा अथवा वंदना, स्नात्र महोत्सव, महापूजा, प्रभावना आदि का अभिग्रह लेना। तथा गुरु को बड़ी वंदना करना, प्रत्येक साधु को वंदना करना, चौबीस लोगस्स का काठस्सग्ग, नये ज्ञान का पाठ करना, गुरु की सेवा, ब्रह्मचर्य, अचित्त पानी पीना, सचित्त वस्तु का त्याग इत्यादि अभिग्रह लेना। तथा वासी, द्विदल, पूरी, पापड़, वड़ी, सूखा शाक (जिसमें जीवात हो गये हो), तन्दुलीयादि पत्ते की भाजी, खारिक, खजूर, द्राक्ष, शक्कर, सोंठ आदि वस्तु का वर्षाकाल के चातुर्मास में त्याग करना। कारण कि, इन वस्तुओं में नीलफूल, कुंथुए, इली आदि संसक्त जीव उत्पन्न होने का संभव रहता है। औषध आदि के कार्य में उपरोक्त कोई वस्तु लेना हो तो अच्छी प्रकार देखकर बहुत ही यतना से लेना।

उसी प्रकार वर्षाकाल के चातुर्मास में चारपाई, नहाना, सिर में फूल आदि गुंथाना, हरा दातौन, जूते आदि वस्तु का यथाशक्ति त्याग करना। भूमि खोदना, वस्त्र आदि रंगना, गाड़ी आदि हांकना, ग्राम परग्राम जाना इत्यादिक की भी बाधा लेना। घर, बाजार, भीत, थंभा, पाट, कपाट, पाटिया, पाटी, छीका (शीका) घी के तेल के तथा जल आदि के दूसरे बरतन, ईंधन, धान्य, आदि सर्व वस्तुओं की नीलफूल आदि जीव की संसक्ति न हो, तदर्थ जिसको जैसा योग्य हो तदनुसार किसीको चूनी लगाना, किसी में राख मिलाना तथा मेल निकाल डालना, धूप में डालना, शरदी अथवा भेज न हो ऐसे स्थान में रखना इत्यादि यतना करना। जल की भी दो तीन बार छानने आदि से यतना रखना। चिकनी वस्तु गुड़, छाश, जल आदि को अच्छी तरह ढांकने आदि की भी यतना रखना। ओसामण तथा स्नान का जल आदि नीलफूल लगी हुई न हो ऐसी धूलवाली शुद्धभूमि में थोड़ा-थोड़ा और फैलता हुआ डालना।

चूल्हे व दीवे को खुला (उघाड़ा) न छोड़ने की यतना रखना। कूटना, दलना, रांधना वस्त्र आदि धोना इत्यादि काम में भी सम्यक् प्रकार से देखभाल करके यतना रखना। जिनमंदिर तथा पौषधशाला आदि की भी यथोचित रीति से समारना आदि से यतना रखना। वैसे ही उपधान, मासादिप्रतिमा, कषायजय, इंद्रियजय, योगविशुद्धि, बीसस्थानक, अमृतआठम, एकादश अंग, चौदह पूर्व आदि तपस्या तथा नमस्कारफल तप, चतुर्विंशतिका तप, अक्षयनिधि तप, दमयंती तप, भद्रश्रेणी तप, महाभद्रश्रेणी

तप, संसारतारण तप, अष्टाङ्ग, पक्षक्षमण, मासक्षमण आदि विशेष तपस्याएं भी यथाशक्ति करना। रात्रि को चौविहार न हो सके तो तिविहार का पञ्चवखाण करना। पर्व में विगई का त्याग तथा पौषध, उपवास आदि करना। प्रतिदिन अथवा पारणे के दिन अतिथिसंविभाग का नियम अवश्य लेना। इत्यादि—

पूर्वाचार्यों ने चातुर्मास के जो अभिग्रह कहे हैं, वे इस प्रकार हैं—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार आश्रयी द्रव्यादिभेद से अनेक प्रकार के चातुर्मासिक अभिग्रह होते हैं। यथा—

तत्र (१) ज्ञानाचार में मूलसूत्र पठनरूपी स्वाध्याय करना, व्याख्यान सुनना, सुने हुए धर्म का चिन्तन करना और यथा शक्ति शुक्लपक्ष की पंचमी के दिन ज्ञानपूजा करना (२) दर्शनाचार में जिनमंदिर में सफाई करना, लीपना, गुहलि (स्वस्ति) मांडना आदि, जिनपूजा, चैत्यवन्दन और जिनबिंब को उबटन करके निर्मल करना आदि कार्य करना। (३) चारित्राचार में जोंक छुड़ाना नहीं (जलो लगाकर शरीर पर से अशुद्ध खून निकलवाना नहीं), जूं तथा शरीर में रहे हुए गिंडोले (शरीर के फोड़े में-धाव में उत्पन्न कीड़े को बाहर न डालना) नहीं डालना, कीड़ेवाली वनस्पति को खार न देना, काष्ठ में अग्नि में तथा धान्य में त्रसजीव की रक्षा करना। किसीको कष्ट न देना, आक्रोश न करना, कठोर वचन न बोलना, देवगुरु के सौगंद न खाना, चुगली न करना, दूसरे का अपवाद नहीं करना, माता-पिता की दृष्टि चुकाकर काम न करना, निधान का, आदान और पड़ी हुई वस्तु में यतना रखना, दिन में पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना, रात्रि में पुरुष को परस्त्री की तथा स्त्री को परपुरुष की सेवा नहीं करना, धन धान्यआदि नवविध परिग्रह का जितना प्रमाण रखा हो उसमें भी संक्षेप करना। दिशा परिमाण व्रत में भी किसीको पदार्थ भेजना, संदेशा कहलाना, अधोभूमि को जाना इत्यादि वर्जित करना।

स्नान, उबटन, धूप, विलेपन, आभूषण, फूल, तांबूल, कपूर, अगर, केशर, कस्तूरी का नाफा और कस्तूरी इन वस्तुओं का परिमाण रखना। मजीठ, लाख, कुसुंबा और नील से रंगे हुए वस्त्र का परिमाण करना, तथा रत्न, हीरा, मणि, सुवर्ण, चांदी, मोती आदि का परिमाण करना। खजूर, द्राक्ष, अनार (दाड़िम), उत्ततिय, नारियल, केला, मौठा नींबू, जामफल, जामुन, खिरनी, नारंगी, बिजोरा, ककड़ी, अखरोट, वायमफल, चकोत्रा, टेमरू, बिल्वफल, इमली, बेर, बिल्लुकफल, फूट, केर, करौंद, भोरड़, नींबू, अम्लवेतस, इनका अथाणा, अंकुर, तरह-तरह के फूल तथा पत्र, सचित्त, बहुबीज, अनंतकाय आदि का भी क्रमशः त्याग करना। तथा विगई और विगई के अन्दर आनेवाली वस्तु का परिमाण करना। वस्त्र धोना, लीपना, खेत खोदना, नहलाना, दूसरे की जूएं निकालना, कृषि सम्बन्धी तरह-तरह के कार्य, खांडना, पीसना, नहाना, अन्न पकाना, उबटन लगाना इत्यादिक का संक्षेप करना। तथा झूठी साक्षी का त्याग करना। देशावकाशिक व्रत में भूमि खोदना, जल लाना, वस्त्र धोना,

नहाना, पीना, अग्नि सुलगाना, दीपक करना, पवन करना (पंखी से हवा करना), लीलोतरी छेदना, वयो-वृद्ध पुरुषों के साथ अधिक बोलना (विवाद करना), अदत्तादान तथा स्त्री को पुरुष के साथ तथा पुरुष को स्त्री के साथ बैठना, सोना, बोलना, देखना आदि का व्यवहार में परिमाण रखना।

दिशा का परिमाण रखना, तथा भोगोपभोग का भी परिमाण रखना। इसी प्रकार सर्व अनर्थदंड का संक्षेप करना, सामायिक, पौषध तथा अतिथिसंविभाग में भी जो छूट रखी हो उसमें प्रतिदिन संक्षेप करना। खांडना, दलना, रांधना, भूजना (चणे आदि का शोकना), खोदना, वस्त्रादि रंगना, कांतना, पीजना, लोढ़ना, घर आदि पुताना, लीपना, झटकना, वाहन पर चढ़ना, लीख आदि देखना, जूते पहनना, खेत नींदना, काटना, चुनना, रांधना, दलना इत्यादि कार्यों में प्रतिदिन यथाशक्ति संवर रखना। पढ़ना, जिनमंदिर में दर्शन करना, व्याख्यान सुनना, गुणना, इतने सब कार्यों में तथा जिनमंदिर के सर्वकार्यों में विशेष उद्यम करना। तथा वर्ष के अन्दर धर्म के हेतु अष्टमी, चतुर्दशी, विशेषतपस्या और कल्याणक तिथि में उजमणे का महोत्सव करना। धर्म के हेतु मुंहपत्ति, पानी के छनने (गलने) तथा औषध आदि देना। यथाशक्ति साधर्मिकवात्सल्य करना, और गुरुविनय करना। प्रतिमास सामायिक व प्रतिवर्ष पौषध तथा अतिथिसंविभाग यथाशक्ति करना। अब इस विषय पर दृष्टान्त कहते हैं कि—

नियम पालन का फल :

विजयपुर नगर में विजयसेन नामक राजा था। उसके बहुत से पुत्र थे। उनमें से विजयश्रीरानी का पुत्र राज्य के योग्य हुआ, यह जानकर राजा ने उसका संमानादि करना छोड़ दिया। ऐसा करने में राजा का यह अभिप्राय था कि, 'दूसरे पुत्र ईर्ष्यावश इसका वध न कर डालें।' पर इससे राजकुमार को बहुत दुःख हुआ, वह मन में सोचने लगा कि, 'पग से कुचली हुई धूल भी कुचलनेवाले के मस्तक पर चढ़ती है। अतएव गूंगेमुंह से अपमान सहन करनेवाले मनुष्य से तो धूल श्रेष्ठ है। ऐसा नीतिशास्त्र का वचन है, इसलिए मुझे यहां रहकर क्या करना है? मैं अब परदेश जाऊंगा। कहा है कि, 'जो मनुष्य घर में से बाहर निकलकर सैकड़ों आश्चर्य से भरे हुए सम्पूर्ण पृथ्वीमंडल को देखता नहीं, वह कूपमंडूक के समान है। पृथ्वीमंडल में भ्रमण करनेवाले पुरुष देश-देश की भाषाएं जानते हैं, देश-देश के विचित्र रीति रिवाज जानते हैं और अनेक प्रकार के आश्चर्यकारी चमत्कार देखते हैं।' यह विचारकर राजकुमार चुपचाप रात्रि के समय हाथ में खड्ग ले बाहर निकला, और स्वच्छन्दता पूर्वक पृथ्वी में भ्रमण करने लगा। एक समय वन में फिरता हुआ मध्याह्न के समय क्षुधातृषा से बहुत दुःखित हो गया। इतने में ही सर्वांग में दिव्य आभूषण पहने हुए एक दिव्य पुरुष आया। उसने स्नेहपूर्वक बातचीत करके कुमार को एक सबप्रकार के उपद्रव का नाश करनेवाला और दूसरा इष्ट वस्तु को देनेवाला ऐसे दो रत्न दिये। कुमार ने उसको पूछा कि, 'तू कौन है?' उसने उत्तर दिया—जब तू अपने नगर में जायेगा तब मुनिराज के वचन से मेरा

चरित्र जानेगा।

अनन्तर उन रत्नों के प्रभाव से राजकुमार सर्वत्र यथेष्ट विलास करता रहा। एक समय पड़ह का उद्घोष सुनने से उसे ज्ञात हुआ कि—'कुसुमपुर का राजा देवशर्मा आंख के दर्द से तीव्र वेदना भोग रहा है।' तदनुसार उसने शीघ्र वहां जाकर रत्न के प्रभाव से नेत्र पीड़ा दूर की। राजा ने प्रसन्न होकर राजकुमार को अपना राज्य तथा पुण्यश्री नामक कन्या देकर स्वयं दीक्षा ग्रहण कर ली, पश्चात् उसके (राजकुमार के) पिता ने भी उसे राज्य देकर दीक्षा ली। इस प्रकार राजकुमार दो राज्य भोगने लगा। एक समय त्रिज्ञानी देवशर्मा राजर्षि ने कुमार को पूर्वभव का वृत्तान्त कहा। यथा—क्षेमापुरी में सुव्रत नामक श्रेष्ठी था, उसने गुरु के पास अपनी शक्ति के अनुसार चतुर्मास संबंधी नियम लिये थे। उसका एक नौकर था, वह भी प्रत्येक वर्षाकाल के चातुर्मास में रात्रिभोजन तथा मद्यमांसादि सेवन का नियम करता था। मरने पर वही चाकर तू राजकुमार हुआ है, और सुव्रतश्रेष्ठी का जीव महान् ऋद्धिशाली देवता हुआ है। उसने पूर्वभव की प्रीति से तुझे दो रत्न दिये। इस प्रकार पूर्वभव सुनकर कुमार को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। तथा वह अनेक प्रकार के नियमों का पालन करके स्वर्ग को गया। वहां से च्यवनकर महाविदेह में सिद्ध होगा इत्यादि।

लौकिक ग्रंथ में भी यह बात कही है। यथा—वशिष्ठ ऋषि ने पूछा कि—'हे ब्रह्मदेव! विष्णु क्षीरसमुद्र में किस प्रकार निद्रा लेते हैं? और वे निद्रा लें उस समय कौनसी-कौनसी चीजों का त्याग करना? और उन वस्तुओं के त्याग से क्या-क्या फल होता है?' ब्रह्मदेव ने उत्तर दिया—'हे वशिष्ठ! विष्णु वास्तव में निद्रा नहीं लेते और जागृत भी नहीं होते, परन्तु वर्षाकाल आने पर भक्ति से विष्णु को ये सर्व उपचार किये जाते हैं, विष्णु योगनिद्रा में रहे, तब किन-किन वस्तुओं का त्याग करना सो सुन—जो मनुष्य चातुर्मास में देशाटन न करे, माटी न खोदे तथा बैंगन, चवला, वाल, कुलथी, तूवर, कालिंगडा, मूली और चवलाई (तांदला की भाजी) इन वस्तुओं का त्याग करे, तथा हे वशिष्ठ! जो पुरुष चातुर्मास में एक अन्न खावे, वह पुरुष चतुर्भुज होकर परमपद को जाता है। जो पुरुष नित्य तथा विशेषकर चातुर्मास में रात्रिभोजन न करे, वह इसलोक में तथा परलोक में सर्व अभीष्ट वस्तु पाता है। जो पुरुष चातुर्मास में मद्यमांस का त्याग करता है, वह प्रत्येक मास में सो वर्ष तक किये हुए अश्वमेध यज्ञ का पुण्य प्राप्त करता है।' इत्यादि...

भविष्यपुराण में भी कहा है कि—'हे राजन्! जो पुरुष चातुर्मास में तैलमर्दन (अभ्यंग) नहीं करता, वह बहुत से पुत्र तथा धन पाता है, और नीरोगी रहता है। जो पुरुष पुष्पादिक के भोग को छोड़ देता है, वह स्वर्गलोक में पूजा जाता है। जो पुरुष कड़वा, खट्टा, तीक्ष्ण, तूरा, मीठा, खारा इन रसों का त्याग करता है, वह पुरुष कभी भी दुर्भाग्य व कुरूपता नहीं पाता। तांबूल भक्षण का त्याग करे तो भोगी होता है और शरीरलावण्य पाता है। जो फल, शाक और पत्तों का शाक (भाजीपाला) त्यागता है

वह धन सन्तान पाता है। हे राजन्! चातुर्मास में गुड़ भक्षण न करे तो मधुरस्वरवाला होता है। कढ़ाई पर पकाया हुआ अन्न त्याग करे तो बहुत संतति पाता है। भूमि में संधारे पर सोये तो विष्णु का सेवक होता है। दही तथा दूध का त्याग करे तो गौलोक नामक देवलोक में जाता है। मध्याह्न समय तक जल पीना वर्ज्य तो रोगोपद्रव न होवे। जो पुरुष चातुर्मास में एकान्तर उपवास करता है, वह ब्रह्मलोक में पूजा जाता है। जो पुरुष चातुर्मास में नख व केश न उतारे वह प्रतिदिन गंगास्नान का फल पाता है। जो दूसरों का अन्न त्यागे वह अनन्त पुण्य पाता है। चातुर्मास में भोजन करते समय जो मौन न रहे, वह केवल पाप ही भोगता है, ऐसा जानना। मौन धारण करके भोजन करना उपवास के समान है। इसलिए चातुर्मास में मौनभोजन तथा अन्य नियम अवश्य ग्रहण करने चाहिए। इत्यादि...

इति श्रीरत्नशेखरसूरि विरचित

श्राद्धविधिकौमुदी की हिन्दीभाषा का चातुर्मासिककृत्यनामक

चतुर्थः प्रकाशः सम्पूर्णः



भीतिक पदार्थ की प्राप्ति की आशा अनादिकाल से आत्मप्रदेश के अणु-अणु पर तूने स्वयंने चीपकारी छुड़ है। वह आशारूपी आग प्रत्येक भव में तुझे जला रही है, पर तेरा ध्यान उस ओर है ही नहीं। तू उसे शीतलजल मानकर जी रहा है। यही भ्रमणा दूर करने के लिए शानीपुरुष कहते हैं कि,
 “आशारूपी अग्नि में भीतिक पदार्थों की पूर्तिरूपी काष्ठ डालना बन्ध कर दे, जिससे यह आशा की आग अपने आप बुझ जायगी।
 तब तुझे वास्तविक शांतता का अनुभव होगा।”

1. यह अज्ञेन ग्रंथ की मान्यता दर्शायी है। ऐसी मान्यता दर्शाने के पीछे कारण यह है कि उनके धर्माचार्यों ने भी इन-इन कार्यों का त्याग करने का विधान किया है।

प्रकाशा-५ : वर्षकृत्य

मूल गाथा - १२+१३

पइवरिसं संघच्चवणसाहम्मिअभत्तिजत्ततिगं ॥१२॥

जिणगिहि ण्हवणं जिणधणबुद्धी महपूअ धम्मजागरिआ।

सुअपूआ उज्जवणं, तह तित्थपभावणा सोही ॥१३॥

(चतुर्थ प्रकाश में चातुर्मासिक कृत्य का वर्णन किया। अब रही हुई अर्धगाथा तथा तेरहवीं गाथा द्वारा एकादश द्वार से वर्षकृत्य कहते हैं।)

संक्षेपार्थः सुश्रावक को प्रतिवर्ष १ संघ की पूजा, २ साधर्मिक वात्सल्य, ३ अड्डाई, ४ रथ-तीर्थ ऐसी तीन यात्राएं, ४ जिनमंदिर में स्नात्रमहोत्सव, ५ देवद्रव्य की वृद्धि, ६ महापूजा, ७ रात्रि को धर्मजागरिका (रात्रिजागरण), ८ श्रुतज्ञान पूजा, ९ उजमणा, १० शासन की प्रभावना और ११ आलोचना इतने धर्मकृत्य करना ॥१२-१३॥

विस्तारार्थः श्रावक को प्रतिवर्ष जघन्य से एक बार भी १ चतुर्विध श्री संघ की पूजा, २ साधर्मिकवात्सल्य, ३ तीर्थयात्रा, रथयात्रा और अड्डाईयात्रा, ये तीन यात्राएं, ४ जिनमंदिर में स्नात्रमहोत्सव, ५ माला पहनना, इन्द्रमाला आदि पहनना, पहिरावणी करना, धोतियां आदि देना तथा द्रव्य की वृद्धि हो उस प्रकार आरती उतारना आदि धर्मकृत्य करके देवद्रव्य की वृद्धि, ६ महापूजा, ७ रात्रि में धर्मजागरिका, ८ श्रुतज्ञान की विशेष पूजा, ९ अनेक प्रकार के उजमणे, १० जिन-शासन की प्रभावना, और ११ आलोचना इतने धर्मकृत्य यथाशक्ति करना।

जिसमें श्रीसंघ की पूजा, अपने कुल तथा धन आदि के अनुसार बहुत आदर सत्कार से साधु-साध्वी के खप में आवे ऐसी आधाकर्मादि दोष रहित वस्तुएं गुरु महाराज को देना। यथा—वस्त्र, कम्बल, पादपोछनक, सूत्र, ऊन, पात्र, जल के तुंबे आदि पात्र, दांडा, दांडी, सूई, कांटा निकालने का चिमटा, कागज, दवात, कलमें, पुस्तकें आदि। दिनकृत्य में कहा है कि—वस्त्र, पात्र, पांचों प्रकार की पुस्तकें, कम्बल, आसन, दांडा, संधारा, सिज्जा तथा अन्य भी औधिक तथा औपग्रहिक, मुंहपत्ति, आसन जो कुछ शुद्ध संयम को उपकारी हो वह देना।

प्रवचनसारोद्धारवृत्ति में कहा है कि—'जो वस्तु संयम को उपकारी हो, वह वस्तु उपकार करनेवाली होने से उपकरण कहलाती है, उससे अधिक वस्तु अधिकरण कहलाती है। असंयतपन से वस्तु का परिहार अर्थात् परिभोग (सेवन) करनेवाला असंयत कहलाता है।' यहां परिहार शब्द का अर्थ परिभोग करनेवाला किया, उसका

कारण यह है कि 'परिहारः परिभोगः' ऐसा वचन है, जिससे असंयतपन से जो परिभोग करना ऐसा अर्थ होता है। ऐसा प्रवचनसारोद्धारवृत्ति में कहा है।

इसी प्रकार प्रातिहारिक, पीठ, फलक, पाटिया इत्यादिक संयमोपकारि सर्व वस्तुएं श्राद्धपूर्वक साधुमुनिराज को देना। सूई आदि वस्तुएं भी संयम के उपकरण हैं, ऐसा श्रीकल्प में कहा है। यथा—

असणाई वत्थाई सूआई चउक्का तिन्नि।

अर्थः अशनादिक, वस्त्रादिक और सूई आदि ये तीन चतुष्क मिलकर बारह; जैसे कि, १ अशन, २ पान, ३ खादिम, ४ स्वादिम ये अशनादिक चार, ५ वस्त्र, ६ पात्र, ७ कम्बल, ८ पादपोछनक ये वस्त्रादिक चार; तथा ९ सूई, १० अस्तरा, ११ नहणी और १२ कान कुचलने की सलाई ये सूई आदिक ४; इस प्रकार तीन चतुष्क मिलकर बारह वस्तुएं संयम के उपकरण हैं।

इसी प्रकार श्रावकश्राविकारूपी संघ का भी यथाशक्ति भक्ति से पहिरावणी आदि देकर सत्कार करे। देव, गुरु आदि के गुण गानेवाले याचकादिकों को भी यथोचित रीति से संतुष्ट करे।

संघपूजा तीन प्रकार की है। एक उत्कृष्ट, दूसरी मध्यम और तीसरी जघन्य। जिनमतधारी सम्पूर्ण संघ को पहिरावणी दे तो उत्कृष्ट संघपूजा होती है। सर्वसंघ को केवल सूत्र आदि दे तो जघन्य संघपूजा होती है। शेष सर्व मध्यम संघपूजा है। जिसमें जिसकी अधिक धन खर्च करने की शक्ति न हो, उसने भी गुरु महाराज को सूत की मुंहपति आदि तथा दो तीन श्रावकश्राविकाओं को सुपारी आदि देकर प्रतिवर्ष भक्तिपूर्वक संघपूजा करना। दरिद्री पुरुष इतना ही करे तो भी उसे बहुत लाभ है। कहा है कि— बहुत लक्ष्मी होने पर नियम पालन करना, शक्ति होतो क्षमा धारण करना, तरुणावस्था में व्रत ग्रहण करना, और दरिद्रीअवस्था में अल्प मात्र भी दान देना, इन चारों वस्तुओं से बहुत लाभ होता है। वस्तुपाल मंत्री आदि लोग तो प्रत्येक चातुर्मास में संघपूजा आदि करते थे और बहुत से धन का व्यय करते थे, ऐसा सुनते हैं। दिल्ली में जगसीश्रेष्ठी का पुत्र महणसिंह श्रीतपागच्छाधिपपूज्यश्री देवचन्द्रसूरिजी का भक्त था। उसने एक ही संघपूजा में जिनमतधारी सर्वसंघ को पहिरावणी आदि देकर चौरासी हजार टंक का व्यय किया। दूसरे ही दिन वहां पंडित देवमंगलगणि पधारे। पूर्व में महणसिंह के बुलाये हुए श्री गुरुमहाराज ने उन गणिजी को भेजे थे। उनके आगमन के समय महणसिंह ने संक्षेपमें संघपूजा की, उसमें छप्पन हजार टंक का व्यय किया। इत्यादिक कथाएँ सुनने में आती हैं।

साधर्मिकवात्सल्य भी सर्वसाधर्मिक भाइयों का अथवा शक्ति के अनुसार कम से कम एक का करना चाहिए। साधर्मिकभाइयों का योग मिलना प्रायः दुर्लभ है।' कहा

है कि—सर्व जीव सर्व प्रकार का सम्बन्ध परस्पर पूर्व में पाये हुए हैं। परन्तु साधर्मिक आदि संबंध को पानेवाले जीव तो किसी-किसी जगह विरले ही होते हैं। साधर्मिक भाई का मिलाप भी बड़ा पुण्यकारी है, तो फिर शास्त्रानुसार साधर्मिक का आदरसत्कार करे तो बहुत ही पुण्यसंचय हो इसमें कहना ही क्या? कहा है कि—एक तरफ सर्व धर्म और दूसरी तरफ साधर्मिक वात्सल्य रखकर बुद्धिरूपी तराजू से तोलें तो दोनों समान उतरेंगे ऐसा कहा है। साधर्मिक का आदर सत्कार इस प्रकार करना चाहिए—

साधर्मिक वात्सल्य कैसे करना? :

अपने पुत्र आदि का जन्मोत्सव और विवाहआदि हो तो साधर्मिक भाइयों को निमंत्रण करना और उत्तम भोजन, तांबूल, वस्त्र, आभूषण आदि देना। कदाचित् वे किसी समय संकट में आ पड़े तो अपना द्रव्य खर्च करके उन्हें आपत्ति से बचाना। पूर्व कर्म के अंतराय के दोष से किसीका धन चला जाये तो उसे पुनः पूर्ववत् अवस्था में लाना। जो अपने साधर्मिक भाइयों को पैसे टके से सुखी न करे, उस पुरुष की मोटाई किस कामकी? कहा है कि—जिसने दीन जीवों का उद्धार न किया, साधर्मिक वात्सल्य नहीं किया, और हृदय में वीतराग का ध्यान न किया, उन्होंने अपना जन्म व्यर्थ गुमाया। अपने साधर्मिक भाई जो धर्म से भ्रष्ट होते हों तो, चाहें किसी भी प्रकार से उन्हें धर्म में स्थिर करना। जो वे धर्मकृत्य करने में प्रमाद करते हों तो उनको स्मरण कराना, और अनाचारादि से अटकाना। कहा है कि, प्रमाद करे तो याद कराना, अनाचार में प्रवृत्त होंवे तो रोकना, चूके तो प्रेरणा करना और बार-बार प्रेरणा करना वैसे ही अपने साधर्मिकों को वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा इत्यादिक में यथासमय बुलाना, और श्रेष्ठधर्मानुष्ठान के लिए साधारण पौषधशाला आदि बनवाना इत्यादि।^१

श्राविकाओं का वात्सल्य भी श्रावक की तरह करना, उसमें कुछ भी कम बढ़ न करना। कारण कि, ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र्य को धारण करनेवाली उत्कृष्ट शील को पालनेवाली तथा सन्तोषवाली ऐसी श्राविकाएं जिनधर्म में अनुरागिणी होती हैं, इसलिए उनको साधर्मिकता से मानना।

शंका : लोक में तथा शास्त्र में स्त्रियां महादुष्ट कहलाती हैं। ये तो भूमि बिना की विषकदली, बिना मेघ की बिजली, जिस पर औषधि न चले ऐसी, अकारण मृत्यु, बिना निमित्त उत्पात, फण रहित सर्पिणी, और गुफा रहित वाधिनी के समान हैं। इनको तो प्रत्यक्ष राक्षसी के समान ही समझना चाहिए। गुरु तथा बन्धु पर का स्नेह टूटने का कारण ये ही हैं। कहा है कि—
-असत्यवचन, साहस, कपट, मूर्खता, अतिलोभ, अपवित्रता, और निर्दयता ये स्त्रियों के स्वाभाविक दोष हैं। कहा है कि—हे गौतम! जब अनन्ती

१. साधर्मिक वात्सल्य के विषय में संपादक लिखित 'बीत गया जो जमाना' पुस्तक में धर्मदास सेठ की कथा पढ़ें।

पापराशियां उदय होती हैं, तब स्त्री- भव प्राप्त होता है, यह तू सम्यक् प्रकार से जान। इस प्रकार समस्त शास्त्रों में पद-पद पर स्त्रियों की निन्दा देखने में आती है। इसलिए उनको दूर रखना ऐसा होते हुए उनका दान संमानरूपी वात्सल्य करना किस प्रकार योग्य है?

समाधान : 'स्त्रियां ही दुष्ट होती हैं' ऐसा एकांत पक्ष नहीं। जैसे स्त्रियों में वैसे पुरुषों में भी दुष्टता समान ही है। कारण कि, पुरुष भी क्रूरप्रकृति, महादुष्ट, नास्तिक, कृतघ्न, अपने स्वामी के साथ वैर करनेवाला, विश्वासघाती, असत्यभाषी, परधन तथा परस्त्री हरण करनेवाला, निर्दय तथा गुरु को भी ठगनेवाला ऐसे बहुत से देखने में आते हैं। पुरुष जाति में कोई-कोई ऐसे मनुष्य हैं, उससे जैसे सत्पुरुषों की अवज्ञा करना घटित नहीं होता, वैसे ही स्त्रीजाति में कुछ दुष्ट स्त्रियां हैं, उससे समस्त स्त्रियों की अवज्ञा करना यह भी घटित नहीं होता। जैसे महादुष्ट वैसे ही महागुणवान स्त्रियां भी हैं। जैसे तीर्थकरों की माताएं श्रेष्ठगुणों से युक्त होती हैं, इससे देवताओं के इन्द्र भी उनकी पूजा करते हैं और मुनि भी स्तुति करते हैं। लौकिकशास्त्र भी कहते हैं कि, स्त्रियां कोई ऐसा अद्भुत गर्भ धारण करती हैं कि, जो तीनों जगत् का गुरु होता है। इसीलिए पंडित लोग स्त्रियों का बड़प्पन स्वीकार करते हैं। बहुतसी स्त्रियां अपने शील के प्रभाव से अग्नि को जल समान, जल को स्थल समान, गज को शृंगाल समान, सर्प को रस्सी समान और विष को अमृत समान कर देती हैं, वैसे ही चतुर्विध श्रीसंघ का चौथा अंग श्राविकाएं हैं। शास्त्र में जो उनकी विशेष निन्दा सुनने में आती है, वह पुरुषों को उनमें आसक्ति न करना इस उपदेश के लिए है। सुलसा आदि श्राविकाओं के गुणों की तो तीर्थकरों ने भी बहुत प्रशंसा की है। उनकी धर्मदृढ़ता की प्रशंसा इन्द्रों ने भी स्वर्ग में की है; और प्रबल मिथ्यात्वी भी इनको समकित से न डिगा सके। इसी प्रकार कितनी ही श्राविकाएं तद्भवमोक्षगामिनी तथा कितनी ही दो, तीन आदि भव करके मोक्षगामिनी शास्त्र में सुनी जाती हैं। इसलिए माता की तरह, बहन की तरह, तथा पुत्री की तरह इनका वात्सल्य करना घटित ही है।

साधर्मिकवात्सल्य कर के ही राजालोग अपना अतिथिसंविभागव्रत पालते हैं। कारण कि, मुनियों को राजपिंड खपता नहीं। इस विषय पर भरत के वंश में हुए त्रिखंडाधिपति दंडवीर्य राजा का दृष्टान्त कहते हैं कि—

दण्डवीर्य :

दंडवीर्य राजा नित्य साधर्मिकभाई को जिमाकर ही स्वयं भोजन करता था। एक समय इन्द्र ने उसकी परीक्षा करने का विचार किया। उसने ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूपी तीन रत्नों का सूचक सुवर्णसूत्र (जनेऊ) और बारहव्रतों के सूचक बारह तिलक धारण करनेवाले तथा भरत रचित चार वेदों का मुख पाठ करनेवाले, तीर्थयात्रा प्रवासी करोड़ों श्रावकों को प्रकट किये। दंडवीर्य भक्तिपूर्वक उनको निमंत्रण करके जिमाता है, इतने में सूर्यास्त हो गया। इस प्रकार लगातार आठ दिन तक श्रावक प्रकट किये।

जिससे राजा को आठ उपवास हुए। परन्तु उसकी साधर्मिक भक्ति तो तरुणपुरुष की शक्ति की तरह दिन प्रतिदिन बढ़ती ही गयी; जिससे इन्द्र प्रसन्न हुआ, और उसने उसको दिव्य धनुष्य, बाण, रथ, हार तथा दो कुंडल देकर शत्रुंजय की यात्रा करने के लिए प्रेरणा की। दंडवीर्य ने वैसा ही किया।

श्री संभवनाथ का पूर्वभव :

श्री संभवनाथ भगवान् भी पूर्व के तीसरे भव में धातकीखंडान्तर्गत ऐरवतक्षेत्र की क्षेमापुरीनगरी में विमलवाहन नामक राजा थे। तब उन्होंने भयंकर दुर्भिक्ष में समस्त साधर्मिकभाइयों को भोजनादिक देकर जिननाम कर्म उपार्जन किया। पश्चात् दीक्षा ले देहान्त होने पर आनतदेवलोक में देवतापन भोगकर श्रीसंभवनाथ तीर्थंकर हुए। उनका फाल्गुन शुक्ल अष्टमी के दिन अवतार हुआ, उस समय महान् दुर्भिक्ष होते हुए उसी दिन चारो तरफ से सर्व जाति का धान्य आ पहुंचा, इससे उनका नाम 'सम्भव' पड़ा। बृहद्भाष्य में कहा है कि—'शं' शब्द का अर्थ सुख है। भगवान् के दर्शन से सर्व भव्य जीवों को सुख होता है, इसलिए उनको 'शंभव' कहते हैं। इस व्याख्यान के अनुसार सर्व तीर्थंकर शंभव नाम से बोले जाते हैं। संभवनाथजी को संभवनाम से पहिचानने का और भी एक कारण है। किसी समय श्रावस्ती नगरी में कालदोष से दुर्भिक्ष पड़ गया, तब सर्व मनुष्य दुःखी हो गये। इतने ही में सेनादेवी के गर्भ में संभवनाथजी ने अवतार लिया। तब इन्द्र ने स्वयं आकर सेनादेवी माता की पूजा की, और जगत् में सूर्य के समान पुत्र की प्राप्ति होने की उसे बधाई दी। उसी दिन धान्य से परिपूर्ण भरे हुए बहुत से सार्थ (टांडे) चारों तरफ से आये और उससे वहां सुभिक्ष हो गया। उन भगवान् के सम्भव (जन्म) में सर्व धान्य का सम्भव हुआ, इसी कारण से माता-पिता ने उनका नाम 'सम्भव' रखा।

जगसिंह :

देवगिरि में जगसिंह नामक श्रेष्ठि अपने ही समान सुखी किये हुए तीनसौ साठ मुनीर्षों के द्वारा नित्य बहत्तर हजार टंक व्यय करके एक-एक साधर्मिकवात्सल्य कराता था। इस प्रकार प्रतिवर्ष उसके तीनसौ साठ साधर्मिकवात्सल्य होते थे।

आमू संघवी :

थराद में श्रीमाल आमू नामक संघपति ने तीनसौ साठ साधर्मिकभाइयों को अपने समान किये। कहा है कि—उस सुवर्णपर्वत (मेरु) तथा चांदी के पर्वत (वैताढ्य) का क्या उपयोग? कारण कि, जिसके आश्रित वृक्ष काष्ठ के काष्ठ ही रहते हैं, सुवर्ण-चांदी के नहीं होते। एक मलय पर्वत को ही हम बहुत मान देते हैं; कारण कि उसके आश्रित आम, नीम और कुटज वृक्ष भी चन्दनमय हो जाते हैं।

सारंग सेठ :

सारंग नामक श्रेष्ठी ने पंचपरमेष्ठि मंत्र का पाठ करनेवाले लोगों को प्रवाह से प्रत्येक को सुवर्णटंक दिये। एक चारण को 'बोल' ऐसा बार-बार कहने से नौ बार

नवकार बोला, तब उसने उसे नौ सुवर्णमुद्राएं दीं।

तीन यात्रा :

इसी प्रकार प्रतिवर्ष जघन्य से एक यात्रा भी करना। यात्राएं तीन प्रकार की हैं। जैसे—१ अट्टाई यात्रा, २ रथयात्रा और ३ तीर्थयात्रा। जिसमें १ अट्टाईयात्रा का स्वरूप पहिले कहा गया है। उसमें सविस्तृत सर्व चैत्यपरिपाटी करना आदि जो अट्टाईयात्रा है वह चैत्ययात्रा भी कहलाती है। २ रथयात्रा तो हेमचन्द्रसूरि विरचित परिशिष्टपर्व में कही है। जैसे—पूज्य श्रीसुहस्ति आचार्य अवंतीनगरी में निवास करते थे, उस समय एक वर्ष संघ ने चैत्ययात्रा का उत्सव किया। भगवान् सुहस्ति आचार्य भी नित्य संघ के साथ चैत्ययात्रा में आकर मंडप को सुशोभित करते थे। तब संप्रति राजा अति लघुशिष्य की तरह हाथ जोड़कर उनके संमुख बैठता था। चैत्ययात्रा हो जाने के अनन्तर संघ ने रथयात्रा शुरू की। कारण कि, यात्रा का उत्सव रथयात्रा करने से सम्पूर्ण होता है। सुवर्ण की तथा माणिक्यरत्नों की कांति से दिशाओं को प्रकाशित करनेवाला सूर्य के रथ के समान रथ रथशाला में से निकला। विधि के ज्ञाता और धनवान् श्रावकों ने रथ में पधराई हुई जिनप्रतिमा का स्नात्रपूजादि किया। अरिहंत का स्नात्र किया, तब जन्मकल्याणक के समय जैसे मेरु के शिखर पर से, उसी तरह रथ में से स्नात्रजल नीचे पड़ने लगा। मानो भगवान् से कुछ विनय करते हों। ऐसे मुखकोश बांधे हुए श्रावकों ने सुर्गंधित चन्दनादि वस्तु से भगवान् को विलेपन किया। जब मालती, कमल आदि की पुष्पमालाओं से भगवान् की प्रतिमा पूजाई, तब वह शरत्काल के मेघों से घिरी हुई चन्द्रकला की तरह शोभने लगी। जलते हुए मलयगिरि के धूप से उत्पन्न हुई धूपरेखाओं से घिरी हुई भगवान् की प्रतिमा ऐसी शोभने लगी मानो नीलवस्त्रों से पूजी गयी हो। श्रावकों ने दीपती दीपशिखाओं युक्त भगवान् की आरती की। वह दीपती औषधिवाले पर्वत के शिखर के समान शोभायमान थी। अरिहंत के परमभक्त उन श्रावकों ने भगवान् को वन्दना करके षोड़े की तरह आगे होकर स्वयं रथ खींचा। उस समय नगरवासी जैनों की श्राविकाएं मंगलगीत गाने लगीं। अपार केशर का जल रथ में से नीचे गिरता था जिससे मार्ग में छिटकाव होने लगा। इस प्रकार प्रत्येक घर की पूजा ग्रहण करता हुआ रथ नित्य धीरे धीरे संप्रति राजा के द्वार पर आता था। राजा उसी समय रथ की पूजा के लिए तैयार होकर फणस फल के समान रोमांचित शरीर हो वहां आता था। और नवीन आनन्दरूप सरोवर में हंस की तरह क्रीड़ा करता हुआ रथ में बिराजमान प्रतिमा की अष्टप्रकारी पूजा करता था।

महापद्मचक्री ने भी अपनी माता का मनोरथ पूर्ण करने हेतु बड़ी धूमधाम से रथयात्रा की थी।

कुमारपाल की रथयात्रा :

कुमारपाल की की हुई रथयात्रा इस प्रकार कही गयी है—चैत्रमास की अष्टमी के दिन चौथे प्रहर में मानो चलते हुए मेरु पर्वत के समान व सुवर्णमय विशाल दंड के

ऊपर स्थित ध्वजा, छत्र, चामर इत्यादि वस्तुओं से देदीप्यमान सुवर्णमय रथ महान ऋद्धि के साथ निकलता था, उस समय हर्ष से नगरवासी लोग एकत्र होकर मंगलकारी जय ध्वनि करते थे। श्रावक स्नात्र तथा चन्दन का विलेपन करके सुगंधित पुष्पों से पूजित श्रीपार्श्वजिन की प्रतिमा को कुमारपाल के बंधवाये हुए मंदिर के संमुख खड़े हुए रथ में बड़ी ही ऋद्धि से स्थापन करते थे। वाजिंत्र के शब्द से जगत् को पूर्ण करनेवाला और हर्षपूर्वक मंगलगीत गानेवाली सुन्दरस्त्रियों के तथा सामन्त और मंत्रियों के मंडल के साथ वह रथ राजमहल के आगे जाता, तब राजा रथ में पधराई हुई प्रतिमा की पट्टवस्त्र, सुवर्णमय आभूषण इत्यादि वस्तुओं से स्वयं पूजा करता था और विविध प्रकार के नाटक, गायन आदि कराता था। पश्चात् वह रथ वहां एक रात्रि रहकर सिंह द्वार के बाहर निकलता और फहराती हुई ध्वजाओं से मानो नृत्य ही कर रहा हो ऐसे पटमंडप में आता। प्रातःकाल में राजा वहां आकर रथ में बिराजमान जिन-प्रतिमा की पूजा करता और चतुर्विध संघ के समक्ष स्वयं आरती उतारता था। पश्चात् हाथी जोता हुआ रथ स्थान-स्थान में बंधवाये हुए बहुत से पटमंडपों में रहता हुआ नगर में फिरता था। इत्यादि...

तीर्थयात्रा के स्वरूप का वर्णन :

श्रीशत्रुंजय, गिरनार आदि तीर्थ हैं। इसी प्रकार तीर्थकरों की जन्म, दीक्षा, ज्ञान, निर्वाण और विहार की भूमियां भी अनेको भव्यजीवों को शुभभाव उत्पन्न करती हैं और भवसागर से पार करती हैं, अतएव वे भूमियां भी तीर्थ कहलाती हैं। इन तीर्थों में सम्यक्त्वशुद्धि के हेतु गमन करना, वही तीर्थयात्रा कहलाती है। उसकी विधि इस प्रकार है—एक समय आहार, सचित्त परिहार, भूमिशयन, ब्रह्मचर्यव्रत, (समकित धर) पादचार, इत्यादि कठिन अभिग्रह यात्रा की जाय वहां तक पाले जाये, ऐसे प्रथम ही ग्रहण करना। पालखी, घोड़े इत्यादि ऋद्धि हो, तो भी यात्रा करने को निकले हुए धनाढ्य श्रावक को भी यथाशक्ति पैदल ही चलना उचित है। कहा है कि—यात्रा करनेवाले श्रावक को १ एकाहारी, २ समकितधारी, ३ भूमिशयनकारी, ४ सचित्त परिहारी, ५ पादचारी और ६ ब्रह्मचारी रहना चाहिए। लौकिकशास्त्र में भी कहा है कि—यात्रा करते वाहन पर बैठे तो यात्रा का आधा फल जावे, जूते पहने तो फल का चौथा भाग जावे, मुंडन करे तो तीसरा भाग जावे और तीर्थ में जाकर दान ले तो यात्रा का सर्व फल जाता रहता है। इसलिए तीर्थयात्रा करनेवाले पुरुष को एक बार भोजन करना, भूमि पर सोना, और स्त्री ऋतुवति होते हुए भी ब्रह्मचारी रहना चाहिए।

उपरोक्त कथनानुसार अभिग्रह लेने के बाद यथाशक्ति राजा को भेट आदि से प्रसन्नकर उसकी आज्ञा लेना। यात्रा में साथ लेने के लिए शक्त्यानुसार श्रेष्ठ मंदिर तैयार करना, स्वजन तथा साधर्मिकभाइयों को यात्रा में आने के लिए निमंत्रण करना, भक्तिपूर्वक अपने सद्गुरु को भी निमंत्रित करना। अहिंसा प्रवृत्त करना, जिनमंदिरों में महापूजादि महोत्सव कराना। जिसके पास भाता (नास्ते के लिए अन्न आदि) न हो तो

उसे भाता तथा जिसको वाहन न हो उसे वाहन देना। निराधार मनुष्यों को द्रव्य तथा मृदु वचन का आधार देना। 'उचित सहायता दूंगा'। ऐसी उद्घोषणाकर उत्साहहीन यात्रियों को भी सार्थवाह की तरह हिम्मत देना। आडंबर से बड़े और भीतरी भाग में बहुत समावेशवाली कोठियां, शरावले, कनाते, तंबू, बड़ी कढ़ाइयां तथा दूसरे भी पानी के बड़े-बड़े बरतन कराना, गाड़े, परदेवाले रथ, पालखी, बैल, ऊंट, घोड़े आदि वाहन सजाना। श्रीसंघ की रक्षा के हेतु बहुत से शूवीर सुभटों को साथ में लेना; और कवच, शिरस्त्राण आदि उपकरण देकर उनका सत्कार करना। गीत, नृत्य, वाजिंत्रआदि सामग्री तैयार कराना। पश्चात् शुभ शकुन, मुहूर्त आदि देखकर उत्साह पूर्वक गमन करना।

मार्ग में यात्रियों के सर्व समुदाय को एकत्रित करना। श्रेष्ठ पक्वान्न जिमाकर उनको तांबूलादि देना। उनको वस्त्र आभूषण आदि पहनाना। श्रेष्ठ, प्रतिष्ठित, धर्मिष्ठ, पूज्य और महान् भाग्यशाली पुरुषों से संघवीपन का तिलक कराना। संघपूजादि महोत्सव करना। योग्यतानुसार दूसरों के पाससे भी संघवीपन आदि के तिलक करने का उत्सव कराना। संघ की जोखिम सिरपर लेनेवाले, आगे चलनेवाले, पीछे रहकर रक्षण करनेवाले तथा प्रमुखता से संघ का काम करनेवाले आदि लोगों को योग्य स्थान पर रखना। श्रीसंघ के चलने के तथा मुकाम करने के जो ठहराव हुए हों, वे सर्वत्र प्रसिद्ध करना। मार्ग में सब साधर्मिकों की अच्छी तरह भक्ति करना। किसीकी गाड़ी का पहिया टूट जावे अथवा अन्य कोई तकलीफ हो तो स्वयं सर्वशक्ति से उनको मदद करना। प्रत्येक ग्राम तथा नगर में जिनमंदिर में स्नात्र, ध्वजा चढ़ाना, चैत्यपरिपाटी आदि महोत्सव करना। जीर्णोद्धार आदि का भी विचार करना। तीर्थ का दर्शन होने पर सुवर्ण, रत्न, मोती आदि वस्तुओं द्वारा वधाई करना। लापशी, लड्डू आदि वस्तुएं मुनिराज को बहोराना। साधर्मिकवात्सल्य करना, उचित रीति से दान आदि देना तथा महान् प्रवेशोत्सव करना। तीर्थ में पहुंच जाने पर प्रथम हर्ष से पूजा, वंदन आदि आदर से करना, अष्टप्रकारी पूजा करना तथा विधिपूर्वक स्नात्र करना। माल पहनना आदि करना। घी की धारावाड़ी देना, पहिरावणी रखना। जिनेश्वर भगवान की नवांग पूजा करना तथा फूलघर, केलीघर आदि महापूजा, रेशमीवस्त्रमय ध्वजा का दान, सदावर्त, रात्रिजागरण, गीत, नृत्यादि नाना तरह के उत्सव, तीर्थप्राप्ति निमित्त उपवास, छठ आदि तपस्या करना। करोड़, लक्ष चावल आदि विविध वस्तुएँ विविध उजमणे में रखना।

तरह-तरह के चौबीस, बावन, बहत्तर, अथवा एकसौ आठ फल अथवा अन्य वस्तुएँ तथा सर्व भक्ष्य और भोज्य वस्तु से भरी हुई थाली भगवान् के सन्मुख रखना। वैसे ही रेशमी आदि वस्त्रों के चंदरुवे, पहिरावणी, अंगलूहणे, दीपक के लिए तैल,

१. सूत्र के रचनाकाल में धरि पालित संघ किस प्रकार निकलते थे उसका वर्णन इसमें मिलता है।

धोतीयां, चंदन, केशर, भोग की वस्तु, पुष्प लाने की छबड़ी, पिंगानिका (चंगेरी) कलश, धूपदान, आरती, आभूषण, दीपक, चामर, नालयुक्त कलश, थालियां, कटोरियां, घंटे, झालर, नगारा आदि देना। पूजारी रखना, सूतार आदिका सत्कार करना। तीर्थ की सेवा, बिना शर्त तीर्थ का उद्धार तथा तीर्थ के रक्षक लोगों का सत्कार करना। तीर्थ को भाग देना। साधर्मिकवात्सल्य, गुरु की भक्ति तथा संघ की पहिरावणी आदि करना। याचकादिकों को उचित दान देना। जिनमंदिर आदि धर्म कृत्य करना। याचकों को दान देने से कीर्ति मात्र होती है, यह समझकर वह निष्फल है ऐसा न मानना। कारण कि, याचक भी देव के, गुरु के तथा संघ के गुण गाते हैं इसलिए उनको दिया हुआ दान बहुत फलदायी है। चक्रवर्ती आदि लोग जिनेश्वर भगवान् के आगमन की वधाई देनेवाले को भी साढ़े बारह करोड़ स्वर्णमुद्राएं आदि दान देते थे। सिद्धान्त में कहा है कि—साढ़े बारह लाख तथा साढ़े बारह करोड़ स्वर्णमुद्रा के बराबर चक्रवर्ती का प्रीतिदान है। इस प्रकार यात्रा करके लौटते समय संघवी महोत्सव के साथ अपने घर में प्रवेश करे। पश्चात् देववन्दनादि उत्सव करे, और एक वर्ष अथवा अधिक काल तक तीर्थोपवास आदि करे। इत्यादि...

श्रीसिद्धसेनदिवाकर का प्रतिबोधित किया हुआ विक्रमादित्य राजा शत्रुंजय की यात्रा को गया, तब उसके संघ में एक सौ उनसत्तर (१६९) स्वर्णमय और पांचसौ (५००) हस्ति दांत, चंदनादिमय जिनमंदिर थे। सिद्धसेनदिवाकर आदि पांच हजार (५०००) आचार्य थे। चौदह (१४) मुकुटधारी राजा थे, तथा सत्तरलाख (७००००००) श्रावक कुटुम्ब, एक करोड़ दस लाख नव हजार (११००९०००) गाड़ियां, अट्टारह लाख (१८०००००) घोड़े, छहत्तरसौ (७६००) हाथी और इसी प्रकार ऊंट, बैल आदि थे। कुमारपाल के निकाले हुए संघ में सुवर्णरत्नादिमय अट्टारहसौ चौहत्तर (१८७४) जिनमंदिर थे। थराद में पश्चिममंडलिक नाम से प्रसिद्ध आभु संघवी की यात्रा में सातसौ (७००) जिनमंदिर थे। और उसने यात्रा में बारह करोड़ स्वर्णमुद्राओं का व्यय किया। पेथड नामक श्रेष्ठी ने तीर्थ के दर्शन किये तब ग्यारह लाख रौप्यटंक व्यय किये, और उसके संघ में बावन जिनमंदिर और सात लाख मनुष्य थे। वस्तुपालमंत्री की साढ़े बारह यात्राएँ प्रसिद्ध हैं इत्यादि।

इसी प्रकार प्रतिदिन जिनमंदिर में धूमधाम से स्नात्रोत्सव करना, ऐसा करने की शक्ति न हो तो प्रत्येक पर्व के दिन करना, यह भी न हो सके तो वर्ष में एक बार तो स्नात्रोत्सव अवश्य करना चाहिए। उसमें मेरु की रचना करना, अष्टमंगलिक की स्थापना करना, नैवेद्य धरना तथा बहुतसी केशर, चन्दन, सुगंधित पुष्प और भोग आदि सकल वस्तुओं को एकत्रित करना, संगीत आदि सामग्री अच्छी तरह तैयार करना। रेशमी वस्त्रमय महाध्वजा देना, और प्रभावना आदि करना। स्नात्रोत्सव में अपनी संपत्ति, कुल, प्रतिष्ठा आदि के अनुसार पूर्णशक्ति से व्यय आदि कर आडंबर पूर्वक, जिनमत की विशेष प्रभावना करने का प्रयत्न करना। सुनते हैं कि—पेथड

श्रेष्ठी ने श्रीगिरनारजी पर स्नात्रमहोत्सव के समय छप्पन धड़ी प्रमाण सुवर्ण देकर इन्द्रमाला पहनी थी, और उसने श्री शत्रुंजय पर तथा श्री गिरनारजी पर एक ही सुवर्णमय ध्वजा चढायी। उसके पुत्र झांझण श्रेष्ठी ने तो रेशमी वस्त्रमय ध्वजा चढायी थी इत्यादि।

इसी प्रकार देवद्रव्य की वृद्धि के निमित्त प्रतिवर्ष मालोद्घाटन करना। उसमें इन्द्रमाला अथवा दूसरी माला प्रतिवर्ष शक्ति के अनुसार ग्रहण करना। श्रीकुमारपाल के संघ में मालोद्घाटन हुआ, तब वाग्भटमंत्री आदि समर्थ लोग चार लाख, आठ लाख आदि संख्या बोलने लगे, उस समय सौराष्ट्र देशान्तर्गत महुआ-निवासि प्राग्वाट हंसराज धारु का पुत्र जगदुशा, मलीनशरीर में मलीन वस्त्र पहनकर-ओढ़े हुए वहां खड़ा था, उसने एकदम से सवा करोड़ की रकम कही। राजा कुमारपाल ने आश्चर्य से पूछा तो उसने उत्तर दिया कि, 'मेरे पिता ने नौकारूढ होकर, देशदेशान्तर में व्यापार करके, उपार्जन किये हुए द्रव्य से सवा २ करोड़ स्वर्णमुद्रा की कीमत के पांच माणिक्य रत्न खरीदे, और अन्त समय पर मुझे कहा कि, 'श्री शत्रुंजय, गिरनार और कुमारपालपट्टन में निवास करनेवाले भगवान् को एक-एक रत्न अर्पण करना, और दो रत्न तू अपने लिए रखना।' पश्चात् उसने वे तीनों रत्न स्वर्णजडित करके शत्रुंजय निवासी ऋषभ भगवान् को, गिरनार निवासी श्री नेमिनाथजी को तथा पट्टनवासी श्री चंद्रप्रभजी को कंठाभरणरूप में अर्पण किये।

एक समय श्री गिरनारजी पर दिगंबर तथा श्वेताम्बर इन दोनों के संघ एक ही साथ आ पहुंचे और 'हमारा तीर्थ' कहकर परस्पर झगड़ा करने लगे। तब 'जो इन्द्रमाला पहने उसका यह तीर्थ है' ऐसे वृद्धों के वचन से पेंथड श्रेष्ठी ने छप्पन धड़ी प्रमाण सुवर्ण देकर इन्द्रमाला पहनी, और याचकों को चार धड़ी सुवर्ण देकर यह सिद्ध किया कि तीर्थ हमारा है। इसी प्रकार से पहिरावणी, नई धोतियां, अनेक प्रकार के चन्दुएँ, अंगलूहणे, दीपक के लिए तैल, चंदन, केशर, भोग आदि जिनमंदिरोपयोगी वस्तुएँ प्रतिवर्ष शक्त्यानुसार देना। वैसे ही उत्तमअंगी, बेलबूटों की रचना, सर्वांग के आभूषण, फूलघर, केलिघर पुतली के हाथ में के फव्वारे इत्यादि रचना तथा अनेक प्रकार के गायन, नृत्य आदि उत्सव से महापूजा तथा रात्रिजागरण करना, जैसे कि एक श्रेष्ठी ने समुद्र में मुसाफिरी करने को जाते समय एक लाख द्रव्य खर्च करके महापूजा की, और मनवाञ्छित लाभ होने से बारह वर्ष बाद वापस आया तब हर्ष से एक करोड़ रूपय खर्चकर जिनमंदिर में महापूजा आदि उत्सव किया।

इसी तरह पुस्तकादि स्थित श्रुतज्ञान की कपूर आदि वस्तु से सामान्य पूजा तो चाहे जब की जा सकती है। मूल्यवान वस्त्र आदि से विशेष पूजा तो प्रतिमास शुक्लापंचमी के दिन श्रावक को करनी चाहिए। यह करने की शक्ति न हो तो जघन्य से वर्ष में एक बार तो करनी ही चाहिए। यह बात जन्मकृत्य में आये हुए ज्ञानभक्तिद्वार में विस्तार से कही जायेगी।

उजमणा-उद्यापन :

इसी प्रकार नवकार, आवश्यकसूत्र, उपदेशमाला, उत्तराध्ययन इत्यादि ज्ञान दर्शन और विविध प्रकार के तप संबंधी उजमणे में जघन्य से एक उजमणा तो प्रतिवर्ष यथाविधि अवश्य करना चाहिए। कहा है कि—मनुष्यों को उजमणा करने से लक्ष्मी श्रेष्ठ स्थान में प्राप्त होती है, तपस्या भी सफल होती है और निरन्तर शुभध्यान, समकित का लाभ, जिनेश्वर भगवान् की भक्ति तथा जिनशासन की प्रभावना होती है। तपस्या पूरी होने पर उजमणा करना वह नये बनाये हुए जिनमंदिर पर कलश चढ़ाने के समान, चांवल से भरे हुए पात्र ऊपर फल डालने के समान अथवा भोजन कर लेने पर तांबूल देने के समान है। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार लाख अथवा करोड़ बार नवकार की गणना करके जिनमंदिर में स्नात्रोत्सव साधर्मिकवात्सल्य, संघपूजा आदि विशेष धूमधाम से करना। लाख अथवा करोड़ चांवल, अड़सठ सोने अथवा चांदी की कटोरियां, पाटिये, लेखनियां तथा रत्न, मोती, मूंगा, रुपयादि, नारियल आदि अनेक फल, तरह-तरह के पक्वान्न, धान्य तथा खाद्य और स्वाद्य अनेक वस्तुएं, वस्त्र आदि रखकर उजमणा करनेवाले, उपधान करना आदि विधि सहित माला पहनकर आवश्यकसूत्र का उजमणा करनेवाले, गाथा की संख्यानुसार अर्थात् पांचसौ चुमालीस मोदक, नारियल, कटोरियां आदि विविध वस्तुएं रखकर उपदेशमालादिक का उजमणा करनेवाले, स्वर्णमुद्रा आदि वस्तु अंदर रख लड्डू आदि वस्तु की प्रभावना करके दर्शनादिक का उजमणा करनेवाले भव्यजीव भी वर्तमानकाल में दृष्टि में आते हैं।

उपधान :

माला पहनना यह महान् धर्मकृत्य है। कारण कि, नवकार, इरियावही इत्यादि सूत्र शक्त्यनुसार तथा विधि सहित उपधान किये बिना पढ़ना गुणना आदि अशुद्ध क्रिया मानी जाती है, श्रुत की आराधना के लिए जैसे साधुओं को योग वहन करना, वैसे ही श्रावकों को उपधान तप अवश्य करना चाहिए। माला पहनना यही उपधान तप का उजमणा है। कहा है कि—कोई श्रेष्ठ जीव यथाविधि उपधान तप करके अपने कंठ में नवकार आदि सूत्र की माला तथा गुरु की पहनाई हुई सूत्र की माला (वर्तमान में रेश्मी माला) धारण करता है, वह दो प्रकार की शिवश्री (निरुपद्रवता और मोक्षलक्ष्मी) प्राप्त करता है, मानो मुक्तिरूपी कन्या की वरमाला, सुकृतरूपी जल खेंचकर निकालने की घड़ों की माला तथा प्रत्यक्षगुणों की गूंथी हुई माला ही हो, ऐसी माला धन्य लोगों से ही पहनी जाती है। इसी प्रकार से ही शुक्ला पंचमी आदि विविध तपस्याओं के उजमणे भी उन तपस्याओं के उपवास आदि की संख्यानुसार द्रव्य, कटोरियां, नारियल, लड्डू आदि विविध वस्तुएं रखकर शास्त्र तथा संप्रदाय के अनुसार करना।

गुरु भगवंत का प्रवेशोत्सव :

इसी तरह तीर्थ की प्रभावना के लिए श्री गुरु महाराज पधारनेवाले हो, तब उनका सामैया, प्रभावनाआदि प्रतिवर्ष जघन्य से एक बार तो अवश्य करना ही

चाहिए। जिसमें श्रीगुरु महाराज का प्रवेशोत्सव पूर्णतः विशेष सजधज से चतुर्विध संघ सहित सामने जाकर तथा श्री गुरु महाराज व संघ का सत्कार करके यथाशक्ति करना। कहा है कि—श्री गुरु महाराज के सन्मुख गमन, वन्दन, नमस्कार और सुखशान्ति की पृच्छना करने से चिरकाल संचित पाप क्षणभर में शिथिल हो जाता है। पेंथड श्रेष्ठि ने तपा० श्री धर्मधोषसुरिजी के प्रवेशोत्सव में बहोत्तर हजार टंक का व्यय किया था। 'संवेगीसाधुओं का प्रवेशोत्सव करना अनुचित है।' ऐसी कुकल्पना कदापि नहि करनी चाहिए। कारण कि, सिद्धान्त में सामने जाकर उनका सत्कार करने का प्रतिपादन किया हुआ है। यही बात साधु की प्रतिमा के अधिकार में श्रीव्यवहारभाष्य में कही है। यथा—

तीरिअ उब्बामनिओ-अ दरिसणं सनि साहुमप्पाहे।

दंढिअ भोइअ असाई, सावग संघो व सक्कारं ॥१॥

अर्थः प्रतिमा पूर्ण हो जाय तब प्रतिमावाहक साधु जहां भिक्षुकों का संचार हो ऐसे ग्राम में अपने को प्रकट करे, और श्रावक अथवा साधु को संदेशा कहलाये। पश्चात् उक्त ग्राम का राजा, अधिकारी अथवा वे न हो तो श्रावक, श्राविकाओं का और वे न हो तो साधु-साध्वियों का समुदाय उक्त प्रतिमावाहक साधु का सत्कार करे। इस गाथा का यह अधिप्राय है कि, 'प्रतिमा पूर्ण होने पर समीप के जिस ग्राम में बहुत से भिक्षुक विचरते हो वहां आकर अपने को प्रकट करे, और इस दशा में जो श्रावक अथवा साधु देखने में आवे उनको संदेशा कहलाये कि, 'मेरी प्रतिमा पूर्ण हो गयी है इससे मैं आया हूं।' पश्चात् वहां जो आचार्य हो वह राजा को यह बात विदित करावे कि, 'अमुक महातपस्वी साधु ने अपनी तपस्या यथाविधि पूर्ण की है। इसलिए बहुत सत्कार के साथ उसे गच्छ में प्रवेश कराना है। पश्चात् राजा अथवा गांव का अधिकारी अथवा ये भी न हो तो श्रावक लोग और वे भी न हो तो साधु-साध्वी आदि श्रीसंघ प्रतिमावाहक साधु का यथाशक्ति सत्कार करे। ऊपर चन्दुआ बांधना, मंगलवाद्य बजाना, सुगंधित वासक्षेप करना इत्यादिक सत्कार कहलाता है। ऐसा सत्कार करने में बहुत गुण हैं। यथा—

उब्बावणा पवयणे, सद्दाजणणं तहेव बहुमाणो।

ओहावणा कुतित्थे, जीअं तह तित्थवुञ्चीअ ॥१॥

अर्थः प्रवेश के अवसर पर सत्कार करने से जैनशासन की बड़ी दीप्ति होती है, अन्य साधुओं को श्रद्धा उत्पन्न होती है, कि, जिससे ऐसी शासन की उन्नति होती है, वह सत्कृत्य हम भी ऐसे ही करेंगे। वैसे ही श्रावक, श्राविकाओं की तथा दूसरों की भी जिनशासन पर बहुमान बुद्धि उत्पन्न होती है, कि जिसमें ऐसे महान् तपस्वी होते हैं, वह जिनशासन महाप्रतापी

है। साथ ही कुतीर्थियों की हीलना होती है, कारण कि, उनमें ऐसे महासत्त्वधारी महापुरुष नहीं हैं। इसी प्रकार प्रतिमा पूर्ण करनेवाले साधु का सत्कार करना यह आचार है। इसी प्रकार तीर्थ की वृद्धि होती है, अर्थात् प्रवचन का अतिशय देखकर बहुत से भव्य प्राणी संसार पर वैराग्य प्राप्तकर दीक्षा लेते हैं, ऐसा व्यवहारभाष्य की वृत्ति में कहा है, इसी तरह शक्ति के अनुसार श्रीसंघ की प्रभावना करना, अर्थात् बहुमान से श्रीसंघ को आमंत्रण करना, तिलक करना, चंदन, जवादि, कपूर, कस्तूरी आदि सुगंधित वस्तु का लेप करना, सुगंधित फूल अर्पण करना, नारियल आदि विविध फल देना तथा तांबूल अर्पण करना, इत्यादि प्रभावना करने से तीर्थकरण आदि शुभफल मिलता है, कहा है कि—अपूर्वज्ञान ग्रहण, श्रुत की भक्ति और प्रवचन की प्रभावना इन तीनों कारणों से जीव तीर्थकरण पाता है। भावना शब्द से प्रभावना शब्द में 'प्र' यह अक्षर अधिक है, सो युक्त ही है। कारण कि, भावना तो उसके कर्ता को ही मोक्ष देती है और प्रभावना तो उसके कर्ता तथा दूसरों को भी मोक्ष देती है।

प्रायश्चित्त :

इसी तरह गुरु का योग हो तो प्रतिवर्ष जघन्य से एकबार तो गुरु के पास अवश्य ही आलोचना लेनी चाहिए। कहा है कि—प्रतिवर्ष गुरु के पास आलोचना लेना, कारण कि—अपनी आत्मा की शुद्धि करने से वह दर्पण की तरह निर्मल हो जाती है। आगम में (श्रीआवश्यकनिर्युक्ति में) कहा है कि, चौमासी तथा संवत्सरी में आलोचना तथा नियम ग्रहण करना। वैसे ही पूर्व ग्रहण किये हुए अभिग्रह कहकर नवीन अभिग्रह लेना। श्राद्धजीतकल्प आदि ग्रन्थों में जो आलोचना विधि कही है, वह इस प्रकार है—

पक्खिअचाउम्भासे, वरिसे ठक्कोसओ अ बारसहिं।

नियमा आलोइज्जा, गीआइगुणस्स षणिअं च ॥१॥

अर्थ: पक्खी, चौमासी अथवा संवत्सरी के दिन जो न बन सके तो अधिक से अधिक बारह वर्ष में तो गीतार्थ गुरु के पास आलोचना अवश्य ही लेनी चाहिए। कहा है कि—

सत्तुद्धरणनिमित्तं, खित्तंमि सत्त जोअणसयाई।

काले बारस वरिसा, गीअत्थगवेसणं कुज्जा ॥२॥

अर्थ: आलोचना लेने के निमित्त क्षेत्र से सातसो योजन क्षेत्र के प्रमाण में तथा काल से बारह वर्ष तक गीतार्थ गुरु की गवेषणा करना। आलोचना देनेवाले आचार्य के लक्षण ये हैं—

गीअत्थो कडजोगी, चारिती तहय गाहणाकुसलो।

खेअन्नो अविसाई, षणिओ आलोअणायरिओ ॥३॥

अर्थः आलोचना देनेवाले आचार्य गीतार्थ अर्थात् निशीथ आदि सूत्रार्थ के ज्ञाता, कृतयोगी अर्थात् मन, वचन, काया के शुभ योग रखनेवाले अथवा त्रिविध तपस्या करनेवाले, अर्थात् विविध प्रकार के शुभध्यान से तथा विशेषतपस्या से अपने जीव तथा शरीर को संस्कार करनेवाले, चारित्र्य अर्थात् निरतिचार चारित्र्य पालनेवाले, ग्राहणाकुशल अर्थात् आलोचना लेनेवाले से बहुत युक्ति से विविध प्रकार के प्रायश्चित्त तथा तप आदि स्वीकार कराने में कुशल, खेदज्ञ अर्थात् आलोचना के लिए दी हुई तपस्या आदि में कितना श्रम पड़ता है? उसके ज्ञाता अर्थात् आलोचना विधि का जिन्होंने बहुत ही अभ्यास से ज्ञान प्राप्त किया है, अविषादी अर्थात् आलोचना लेनेवाले का महान् दोष सुनने में आवे तो भी विषाद न करनेवाले, आलोचना लेनेवाले को भिन्न-भिन्न दृष्टान्त कहकर वैराग्य के वचन से उत्साह देनेवाले हो ऐसा शास्त्र में कहा है।

आधारवमाहारवं, व्यवहारवीलए पकुष्वी अ।

अपरिस्त्रावी निज्जव, अवायदंसी गुरू भणिओ ॥४॥

अर्थः १ आधारवान् याने ज्ञानादि पांच आचार का पालन करनेवाले, २ आधारवान् याने आलोच्ये हुए दोष का यथावत् मन में स्मरण करनेवाले, ३ व्यवहारवान् याने पांच प्रकार का व्यवहार जानकर प्रायश्चित्त देने में सम्यग् रीति से वर्तव्य करनेवाले, पांच प्रकार का व्यवहार इस प्रकार है—(१) प्रथम आगम व्यवहार यह केवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी और नवपूर्वी का जानना। (२) श्रुतव्यवहार यह आठ से अर्धपूर्वी तक के पूर्वधर, एकादश अंग के धारक तथा निशीथादिक सूत्र के ज्ञाता आदि सर्वश्रुतज्ञानियों का जानना। (३) आज्ञा व्यवहार यह कि गीतार्थ दो आचार्य दूर-दूर देशों में रहने से एक दूसरे को मिल न सकें तो वे चुपचाप जो परस्पर आलोचना प्रायश्चित्त देते हैं वह जानना। (४) धारणा व्यवहार याने अपने गुरु ने जिस दोष का जो प्रायश्चित्त दिया हो वह ध्यान में रखकर उसीके अनुसार दूसरों को देना। (५) जीतव्यवहार याने सिद्धांत में जिस दोष का जितना प्रायश्चित्त कहा हो, उससे अधिक अथवा कम प्रायश्चित्त परम्परा का अनुसरण करके देना। ४ अपव्रीडक अर्थात् आलोचना लेनेवाला शर्म से यथावत् न कहता होवे तो उसको वैराग्य उत्पन्न करनेवाले दृष्टान्त ऐसी युक्ति से कहे कि, जिसे सुनते ही वह व्यक्ति शर्म का त्यागकर अच्छी प्रकार से आलोच्ये ऐसे ५ प्रकुर्वी अर्थात् आलोचना लेनेवाले की सम्यग् रीति से शुद्धि करनेवाले। ६ अपरिस्त्रावी अर्थात् आलोचना दी हो तो दूसरे को न कहनेवाले। ७ निर्यापक अर्थात् जो जितना प्रायश्चित्त ले सके उसे उतना ही देनेवाले। ८ अपायदर्शी अर्थात् सम्यग् आलोचना और

प्रायश्चित्त न करनेवाले को इस भव में तथा परभव में कितना दुःख होता है, वह जाननेवाले; ऐसे आठ गुणवाले गुरु आलोचना देने में समर्थ हैं।

आलोअणापरिणओ, सम्मं संपड्डिओ गुरुसगासे।

जइ अंतरावि कालं, करिज्ज आराहओ तहवि ॥५॥

अर्थ: आलोचना लेने के शुभ परिणाम से गुरु के पास जाने को निकला हुआ भव्यजीव, जो कदाचित् आलोचना लिये बिना बीच में ही उसका आयुष्य पूर्ण हो जाय, तो भी वह आराधक होता है।

आयरिआइ सगच्छे, संभोइअ इअर गीअ पासत्थे।

सारूवी पच्छाकड, देवय पडिमा अरिह सिद्धे ॥६॥

अर्थ: साधु अथवा श्रावके ने प्रथम तो अपने गच्छ के ही जो आचार्य हो, उनके पास अवश्य आलोचना लेना। उनका योग न हो तो अपने गच्छ के ही उपाध्याय, वे भी न हों तो अपने गच्छ के ही प्रवर्तक, स्थविर अथवा गणावच्छेदक आदि से आलोचना लेना। अपने गच्छ में उपरोक्त पांचों का योग न हो तो संभोगिक-अपनी सामाचारी को मिलते हुए दूसरे गच्छ में आचार्य आदि पांचों में जिसका योग मिले, उसीसे आलोचना लेना। सामाचारी को मिलते हुए परगच्छ में आचार्य आदि का योग न हो तो, भिन्न सामाचारीवाले परगच्छ में भी संवेगी आचार्यादिक में जिसका योग हो, उससे आलोचना लेना यह भी न बने तो गीतार्थ पासत्था के पाससे आलोचना लेना, वह भी न बने तो गीतार्थ सारूपिक से आलोचना लेना। उसका भी योग न मिले तो गीतार्थ पश्चात्कृत से आलोचना लेना। श्वेतवस्त्रधारी, मुंडी, लंगोट रहित, रजोहरण आदि न रखनेवाला, ब्रह्मचर्य पालन न करनेवाला, भार्यासहित और भिक्षावृत्ति से निर्वाह करनेवाला सारूपिक कहलाता है, सिद्धपुत्र तो शिखा और भार्या सहित होता है। चारित्र तथा साधु वेष त्यागकर जो गृहस्थ हो गया हो वह पश्चात्कृत कहलाता है। ऊपर कहे हुए पासत्थादिक को भी गुरु की तरह यथाविधि वन्दना आदि करना। कारण कि, धर्म का मूल विनय है। जो पासत्थादिक अपने आपको गुणरहित माने और इसीसे वह वन्दना न करावे, तो उसे आसन पर बैठाकर प्रणाम मात्र करना, और आलोचना लेना। पश्चात्कृत को तो दो घड़ी सामायिक तथा साधु का वेष देकर विधि सहित आलोचना लेना। उपरोक्त पासत्थादिक का भी योग न मिले तो राजगृही नगरी में गुणशिलादिक चैत्य में जहां अनेकबार जिस देवता ने अरिहंत गणधर आदि महापुरुषों को आलोचना देते देखा हो, वहां उस सम्यग्दृष्टि देवता को अट्टम आदि तपस्या से प्रसन्न करके उसके पाससे आलोचना लेना। कदाचित् उस समय के देवता का च्यवन हो गया हो और दूसरा उत्पन्न

हुआ हो तो वह महाविदेह क्षेत्र में जो अरिहंत भगवान् को पूछकर प्रायश्चित्त देता है। यह भी न बने तो अरिहंत की प्रतिमा के सन्मुख आलोचना करके स्वयं ही प्रायश्चित्त अंगीकार करे। अरिहंतप्रतिमा का भी योग न हो तो पूर्व अथवा उत्तर दिशा को मुख करके अरिहंतों तथा सिद्धों के समक्ष आलोचने, आलोचने बिना कभी न रहे, कारण कि, शल्य सहित जीव आराधक नहीं कहलाता है।

अग्नीओ नवि जाणइ, सोहिं चरणस्स देइ ऊणहिअं।

तो अप्पाणं आलोअगं च पाडेइ संसारे ॥७॥

अर्थ: स्वयं गीतार्थ न होने से चरण की शुद्धि को न जाने और लगे हुए पाप से कम या ज्यादा आलोचना दे और उससे तो वह पुरुष अपने आपको तथा आलोचना लेनेवाले को भी संसार में पटकता है।

जह बालो जपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुअं भणई।

तं तह आलोइज्जा, मायामयविप्पमुक्को अ ॥८॥

अर्थ: जैसे बालक बोलता हो, तब वह कार्य अथवा अकार्य जो हो सो सरलता से कहता है, वैसे आलोचना लेनेवाले ने माया अथवा मद न रखते अपना पाप साफ-साफ कहकर आलोचन करनी।

मायाइदोसरहिओ, पइसमयं वक्कमाणसंवेगो।

आलोइज्ज अकज्जं, न पुणो काहंति निच्छयओ ॥९॥

अर्थ: माया मद इत्यादि दोष न रखकर समय-समय पर संवेगभावना की वृद्धि कर जिस अकार्य की आलोचना करे वह अकार्य फिर कदापि न करे ऐसा निश्चय करे।

लज्जाइगारवेणं, बहुसुअमरण वावि दुच्चरिअं।

जो न कहेइ गुरूणं, न हु सो आराहओ भणिओ ॥१०॥

अर्थ: जो पुरुष शर्म आदि से, रसादिगारव में लिपटा रहने से अर्थात् तपस्या न करने की इच्छा आदि से अथवा मैं बहुश्रुत हूं ऐसे अहंकार से, अपमान के भय से अथवा आलोचना बहुत आयेगी इस भय से गुरु के पास अपने दोष कहकर आलोचना न करे वह कभी भी आराधक नहीं कहलाता।

संवेगपरं चित्तं, काऊणं तेहिं तेहिं सुतेहिं।

सल्लाणुद्धरणविवागदंसगाईहिं आलोए ॥११॥

अर्थ: संवेग उत्पन्न करनेवाले आगम वचनों का सूत्रों का विचारकर तथा शल्य का उद्धार न करने के दुष्परिणाम कहनेवाले सूत्र ऊपर ध्यान देकर अपना चित्त संवेग युक्त करना और आलोचना लेना।

अब आलोचना लेनेवाले के दश दोषों का वर्णन करते हैं—

आकंपइत्ता अणुमाणइत्ता जं दिट्ठं बायरं व सुहुमं वा।

छन्नं सद्दाउलयं, बहुजण अब्बत्त तस्सेवी ॥१२॥

अर्थः १ गुरु थोड़ी आलोचना देंगे, इस विचार से उनको वैयावच्च आदि से प्रसन्नकर पश्चात् आलोचना लेना, २ ये गुरु थोड़ी तथा सरल आलोचना देनेवाले हैं, ऐसी विचाराणाकर आलोचना करना, ३ अपने जिन दोषों को दूसरों ने देखे हों उन्हीं की आलोचना करना और अन्य गुप्त दोषों की न करना, ४ सूक्ष्म दोष गिनती में न लेना और केवल बड़े-बड़े दोषों की आलोचना लेना, ५ सूक्ष्म की आलोचना लेनेवाला बड़े दोषों को नहीं छोड़ता ऐसा बताने के लिए तृणग्रहणादि सूक्ष्म दोष की मात्र आलोचना लेना और बड़े-बड़े दोषों की न लेना। ६ छन्न याने प्रकट शब्द से आलोचना न करना, ७ शब्दाकुल याने गुरु अच्छी प्रकार न जान सकें ऐसे शब्दाडंबर से अथवा आसपास के लोग सुनने पावें ऐसी रीति से आलोचना करना, ८ जो कुछ आलोचना करना हो वह अथवा आलोचना ली हो उसे बहुत से लोगों को सुनाना, ९ अव्यक्त याने जो छेदग्रंथ को न जानते हो ऐसे गुरु के पास आलोचना करना और १० लोकनिन्दा के भय से अपने ही समान दोष सेवन करनेवाले गुरु के पास आलोचना करना। ये दश दोष आलोचना लेनेवाले को त्याग देने चाहिए।

सम्यक् प्रकार से आलोचना करने में निम्नाङ्कित गुण हैं—

लहु आल्हाई जणणं, अप्पपरनिवत्ति अज्जवं सोही।

दुष्करकरणं आणा, निस्सल्लत्तं च सोहिगुणा ॥१३॥

अर्थः जैसे बोझा उठानेवाले को, बोझा उतारने से शरीर हलका लगता है, वैसे ही आलोचना लेनेवाले को भी शल्य निकाल डालने से अपना जीव हलका लगता है, २ आनन्द होता है, ३ अपने तथा दूसरों के भी दोष टलते हैं, याने आप आलोचना लेकर दोष मुक्त होता है यह बात प्रकट ही है, तथा उसे देखकर दूसरे भी आलोचना लेने को तैयार होते हैं जिससे उनके भी दोष दूर हो जाते हैं, ४ अच्छी तरह आलोचना करने से सरलता प्रकट होती है। ५ अतिचाररूप मल धुल जाने से आत्मा की शुद्धि होती है, ६ आलोचना लेने से दुष्कर कृत्य किया ऐसा भास होता है। कारण कि, अनादिकाल से दोष सेवन का अभ्यास पड़ गया है। परन्तु दोष करने के बाद उनकी आलोचना करना यह दुष्कर है। कारण कि, मोक्ष तक पहुंचे ऐसे प्रबल आत्मवीर्य के विशेष उल्लास से ही यह कार्य बनता है। निशीथचूर्णि में भी कहा है कि—जीव जिस दोष का सेवन करता है वह दुष्कर नहीं; परन्तु सम्यग् रीति से आलोचना करना ही दुष्कर है। इसीलिए सम्यग् आलोचना अभ्यंतर तप में गिनी है, और इसीसे वह मासखमण

आदि से भी दुष्कर है। लक्ष्मणासाध्वी आदि की ऐसी बात सुनते हैं कि—

पाप छुपाने का फल :

इस चौबीसी से अतीतकाल की अस्सीवीं चौबीसी में एक बहुपुत्रवान राजा को सैकड़ों मानता से एक कन्या हुई। स्वयंवर मंडप में उसका विवाह हुआ, परन्तु दुर्दैव से चँवरी के अन्दर ही पति के मर जाने से विधवा हो गयी। पश्चात् वह सम्यक् प्रकार से शील पालनकर सती स्त्रियों में प्रतिष्ठित हुई और जैनधर्म में बहुत ही तत्पर हो गयी। एक समय उस चौबीसी के अंतिम अरिहंत ने उसे दीक्षा दी। पश्चात् वह लक्ष्मणा नाम से प्रसिद्ध हुई। एक समय चिड़ा चिड़िया का विषयसंभोग देखकर वह मन में विचार करने लगी कि, 'अरिहंत भगवंत ने चारित्रवन्तों को विषयभोग की अनुमति क्यों न दी? अथवा वे स्वयं वेद रहित होने से वेद का दुःख नहीं जानते?' इत्यादि मन में चिंतनकर के क्षणभर में वह सचेत हो पश्चात्ताप करने लगी। उसे लज्जा उत्पन्न हुई कि 'अब मैं आलोचना किस प्रकार करूंगी?' तथापि शल्य रखने से किसी भी प्रकार शुद्धि नहीं होती यह बात ध्यान में लेकर उसने अपने आपको धीरज दी, और वह वहां से निकली। इतने में अचानक पग में कांटा लगा। जिससे अपशकुन हुआ समझकर वह मन में झुंझलाई, और 'जो ऐसा बुरा चिंतन करता है, उसका क्या प्रायश्चित्त?' इस तरह अन्य किसी अपराधी के बहाने से पूछकर उसने आलोचना ली, परन्तु लज्जा के मारे और बड़प्पन का भंग होने के भय से अपना नाम प्रकट नहीं किया। उस दोष के प्रायश्चित्त रूप में उसने पचास वर्ष तक उग्र तपस्या की। कहा है कि—विगई रहित होकर छट्ट, अष्टम, दशम (चार उपवास) और दुवालस (पांच उपवास) यह तपस्या दस वर्ष; उपवास सहित दो वर्ष; भोजन से दो वर्ष; मासखमण तपस्या सोलह वर्ष और आबिल तपस्या बीस वर्ष। इस तरह लक्ष्मणासाध्वी ने पचास वर्ष तक तपस्या की। यह तपस्या करते उसने प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाएं नहीं छोड़ीं। तथा मन में किंचित् मात्र भी दीनता न लायी। इस प्रकार दुष्कर तपस्या की तो भी वह शुद्ध न हुई। अन्त में उसने आर्तध्यान में काल किया। दासी आदि असंख्य भवों में बहुत कठिन दुःख भोगकर अन्त में श्रीपद्मनाभतीर्थकर के तीर्थ में वह सिद्धि को प्राप्त होगी। कहा है कि—शल्यवाला जीव चाहे दिव्य हजार वर्ष पर्यन्त अत्यन्त उग्र तपस्या करे, तो भी शल्य होने से उसकी उक्त तपस्या बिलकुल निष्फल है। जैसे अतिकुशल वैद्य भी अपना रोग दूसरे वैद्य को कहकर ही निरोग होता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष के शल्य का उद्धार भी दूसरे ज्ञानी के द्वारा ही होता है।

७ आलोचना लेने से तीर्थकरों की आज्ञा आराधित होती है। ८ निःशल्यपना प्रकट होता है। उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नीसवें अध्यायन में कहा है कि—हे भगवन्त! जीव आलोचना लेने से क्या उत्पन्न करता है?

उत्तर—सरलभाव को पाया हुआ जीव अनन्त संसार को बढ़ानेवाले मायाशल्य, नियाणशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य इन तीनों प्रकार के शल्यों से रहित निष्कपट हो

स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद को नहीं बांधता और पूर्व में बांधा हो तो उसकी निर्जरा करता है। आलोचना के उक्त आठ गुण हैं।

अतिशय तीव्रपरिणाम से किया हुआ, बड़ा तथा निकाचित हुआ, बालहत्या, स्त्रीहत्या, यतिहत्या, देव-ज्ञान इत्यादिक के द्रव्य का भक्षण, राजा की स्त्री के साथ गमन इत्यादि महापाप की सम्यक् प्रकार से आलोचना करके गुरु का दिया हुआ प्रायश्चित्त यथाविधि करे तो वह जीव उसी भव में शुद्ध हो जाता है ऐसा न होता तो दृढ़प्रहारी आदि को उसी भव में मुक्ति किस प्रकार होती? अतएव प्रत्येक चातुर्मास में अथवा प्रतिवर्ष अवश्य आलोचना लेनी ही चाहिए।

इति श्रीरत्नशेखरसूरि विरचित

श्राद्धविधिकौमुदी की हिन्दीभाषा का वर्षकृत्य नामक

पंचमः प्रकाशः सम्पूर्णः



हे आत्मन्!

ये स्वजन (माने हुए) हितकारी हैं या अहितकारी!

इस पर चिंतन कर!

ये तुझे सद्गति में सहायक हैं या दुर्गति में!

तूने कितनों को जलाया वैसे ये भी तुझे जलायेंगे।

शरीर जलाया ही जायगा।

तो फिर जलने एवं जलानेवालों पर प्रीति कैसी?

न जले न जला सके ऐसा आत्मतत्त्व है उस पर प्रीति कर।

आत्म तत्त्व के हितचिंतक सुदेव-सुगुरु पर प्रीति कर।

यही मानवभव का सार है।

प्रकाश-६ : जन्मकृत्य

मूल गाथा - १४ (प्रथम द्वार)

जम्ममि वासठाणं^१, तिवग्गसिद्धीइ कारणं उचिअं।

उचिअं विज्जागहणं^२, पाणिग्गहणं^३ च मित्ताई^४ ॥१४॥

संक्षेपार्थः जन्म से त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम इन तीनों वर्गों की साधनां हो सके ऐसा १ निवासस्थान, २ विद्या सम्पादन, ३ पाणिग्रहण और ४ मित्रादिक करना उचित है ॥१४॥

निवास कहाँ करना? :

विस्तारार्थः १ जन्मरूपी बन्दीगृह में प्रथम निवासस्थान उचित लेना। कैसा उचित है सो विशेषण से कहते हैं। जिससे त्रिवर्ग की अर्थात् धर्मार्थकाम की सिद्धि याने उत्पत्ति हो ऐसा, तात्पर्य यह है कि, जहां रहने से धर्म, अर्थ और काम की सम्यग् आराधना हो, वहां श्रावक को रहना चाहिए। अन्य जगह न रहना। कारण कि, अयोग्य स्थान पर रहने से इस भव से तथा परभव से भ्रष्ट होने की सम्भावना है। कहा है कि—भील लोगों की पल्ली में, चोरों के स्थान में, पहाड़ी लोगों की बस्ती में और हिंसक तथा दुष्ट लोगों का आश्रय करनेवाले लोगों के पास अच्छे मनुष्यों को न रहना चाहिए। कारण कि कुसंगति सज्जनों को खराब आदत लगानेवाली है। जिस स्थान में रहने से मुनिराज अपने यहां पधारें, तथा जिन-मंदिर समीप हो, आसपास श्रावक रहते हो ऐसे स्थान में गृहस्थ को रहना चाहिए। जहां बहुत से विद्वान लोग रहते हों, जहां शील प्राण से भी अधिक प्यारा गिना जाता हो, और जहां के लोग सदैव धर्मिष्ठ रहते हों, वहां ही आत्मारथी मनुष्यों को रहना चाहिए। कारण कि, सत्पुरुषों की संगति कल्याणकारी है। जिस नगर में जिनमंदिर, सिद्धान्त, ज्ञानी साधु और श्रावक हो तथा जल और ईंधन भी बहुत हो, वहीं नित्य रहना चाहिए।

तीनसो जिनमंदिर तथा धर्मिष्ठ, सुशील और सुज्ञान श्रावक आदि से सुशोभित, अजमेर के समीप हर्षपुर नामक एक श्रेष्ठ नगर था। वहां के निवासी अट्टारह हजार ब्राह्मण और उन के छत्तीस हजार शिष्य बड़े-बड़े श्रेष्ठी श्रीप्रियग्रंथसूरि के नगर में पधारने पर प्रतिबोध को प्राप्त हुए। उत्तमस्थान में रहने से धनवान्, गुणी और धर्मिष्ठ लोगों का समागम होता है। और उससे धन, विवेक, विनय, विचार, आचार, उदारता, गंभीरता, धैर्य, प्रतिष्ठा आदि गुण तथा सर्वप्रकार से धर्मकृत्य करने में कुशलता प्रायः बिना प्रयत्न के ही प्राप्त होती है। यह बात अभी भी स्पष्ट दृष्टि में आती है। इसलिए

१. स्वयं एवं अपने पुत्रादि को अमेरिकादि में भेजनेवाले विचारों।

अन्त प्रान्त गामड़े (ग्राम) इत्यादि में धनप्राप्ति आदि से सुखपूर्वक निर्वाह होता हो तो भी न रहना चाहिए। कहा है कि—जहां जिन, जिनमंदिर और संघ का मुखकमल ये तीन वस्तुएँ दृष्टि में नहीं आती, वैसे ही जिनवचन सुनने में नहीं आता; वहां अपार संपदा हो तो भी वह किस कामकी? जो तुझे भूर्खता की आवश्यकता हो तो तू गामड़े में तीन दिन रह। कारण कि, वहां नया अध्ययन नहीं होता, और पूर्व में पढ़ा हुआ हो वह भी विस्मरण हो जाता है।

ऐसा सुनते हैं कि—किसी नगर का निवासी एक वणिक् थोड़े से वणिकों की बसतीवाले एक देहात में जाकर द्रव्यलाभ के निमित्त रहने लगा। खेती तथा अन्य बहुत से व्यापार कर उसने धन उपार्जन किया। इतने में उसके रहने का घास का झोंपड़ा जल गया। इसी प्रकार बार-बार धन उपार्जन करने पर भी किसी समय डाका, तो किसी समय दुष्काल, राजदंड आदि से उसका धन चला गया। एक समय उस गांव के रहनेवाले चोरों ने किसी नगर में डाका डाला, जिससे राजा ने क्रोधित हो वह गांव जला दिया, और सुभटों ने श्रेष्ठी के पुत्रादिकों को पकड़ा। तब श्रेष्ठी सुभटों के साथ लड़ता हुआ मारा गया। कुग्रामवास का ऐसा फल होता है। रहने का स्थान उचित हो, तो भी वहां स्वचक्र, परचक्र, विरोध, दुष्काल, महामारी, अतिवृष्टि आदि, प्रजा के साथ कलह, नगर का नाश इत्यादि उपद्रव से अस्वस्थता उत्पन्न हुई हो तो, वह स्थान शीघ्र छोड़ देना चाहिए। ऐसा न करने से प्रायः धर्मार्थकाम की हानि हो जाती है। जैसे यवन[मुस्लीम] लोगों ने देहली(दिल्ली) शहर नष्ट कर दिया, उस समय भय से जिन्होंने देहली(दिल्ली) छोड़ दी और गुजरात आदि देशों में निवास किया उन्होंने अपने धर्म, अर्थ, काम की पुष्टि करके यह भव तथा परभव सफल किया; और जिन्होंने देहली (दिल्ली) नहीं छोड़ी, उन लोगों ने बंदीगृह में पड़ना आदि उपद्रव पाकर अपने दोनों भव पानी में गुमाये। नगर का विनाश होने पर स्थान त्यागने के विषय में क्षितिप्रतिष्ठितपुर, चणकपुर, ऋषभपुर आदि के उदाहरण विद्यमान हैं। सिद्धांत में कहा है कि क्षितिप्रतिष्ठित, चणकपुर, ऋषभपुर, कुशाग्रपुर, राजगृह, चम्पा, माटलीपुत्र इत्यादि एक ही राजा की नयी-नयी राजधानी के नाम हैं।

घर कहाँ - कैसा? :

यहां तक रहने का स्थान याने नगर, ग्राम आदि का विचार किया। घर भी रहने का स्थान कहलाता है। अतएव अब उसका विचार करना चाहिए। अच्छे मनुष्यों को अपना घर वहां बनाना जहां कि अच्छे ही मनुष्यों का पड़ोस हो। बिलकुल एकांत में नहीं बनाना। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार परिमितद्वार आदि गुण जिस घर में हो, वह घर धर्म, अर्थ, और काम का साधनेवाला होने से रहने को उचित है। खराब पड़ोसियों को शास्त्र में निषिद्ध किया है। यथा—वेश्या, तिर्यचयोनिके प्राणी, कोतवाल, बौद्ध आदि के साथ; ब्राह्मण, स्मशान, बाधरी, शिकारी, कारागृह का अधिकारी (जेलर), डाकू, भील्ल, कहार (मच्छीमार), जुगारी, चोर, नट, नर्तक, भट्ट, भांड और कुकर्म करनेवाले

इतने लोगों का पड़ोस सर्वथा त्याज्य है। तथा इनके साथ मित्रता भी न करनी चाहिए। वैसे ही देवमंदिर के पास घर हो तो दुःख होता है, बाजार में हो तो हानि होती है और ठग अथवा प्रधान के पास हो तो पुत्र तथा धन का नाश होता है। अपने हित के चाहनेवाले बुद्धिशाली पुरुष को चाहिए कि, भूर्ख, अधर्मी, पाखंडी, पतित, चोर, रोगी, क्रोधी, चांडाल, अहंकारी, गुरुपत्नी को भोगनेवाला, वैरी, अपने स्वामी को ठगनेवाला, लोभी और मुनिहत्या, स्त्रीहत्या अथवा बालहत्या करनेवाला इनके पड़ोस का त्याग करना। असदाचारी पड़ोसी हो तो उनके वचन सुनने से तथा उनकी चेष्टा देखने से मनुष्य सदगुणी हो, तो भी उसके गुण की हानि होती है। पड़ोसिन ने जिस खीर सम्पादन करके दी उस संगमनामक शालिभद्र के जीव को उत्तम पड़ोसी के दृष्टान्त के स्थान में तथा पर्व के दिन मुनि को वहीरानेवाली पड़ोसिन के सास-श्वसुर को झूठमूठ समझानेवाली सोमभद्र की स्त्री को खराब पड़ोसिन को दृष्टान्त स्थान में जानना।

अतिशय प्रकट स्थान में घर करना ठीक नहीं। कारण कि, आसपास दूसरे घर न होने से तथा चारों ओर मेदान होने से चोर आदि उपद्रव करते हैं। अतिशय घनी बसतीवाले गुप्त स्थान में भी घर होना ठीक नहीं। कारण कि, चारों तरफ दूसरे घरों के होने से उस घर की शोभा चली जाती है। वैसे ही आग आदि उपद्रव होने पर झट से अन्दर जाना व बाहर आना कठिन हो जाता है। घर के लिए शल्य, भस्म, खात्र आदि दोषों से रहित तथा निषिद्धआय से रहित ऐसा उत्तम स्थान होना चाहिए। इसी प्रकार दूर्वा, वृक्षांकुर, डाभ के गुच्छे आदि जहां बहुत हों तथा सुन्दर रंग व उत्तम गंधयुक्त माटी, मधुरजल तथा निधान आदि जिसमें हो, ऐसा स्थान होना चाहिए। कहा है कि—
 -उष्णकाल में ठंडे स्पर्शवाली तथा शीतकाल में गरम स्पर्शवाली तथा वर्षाऋतु में समशीतोष्ण स्पर्शवाली भूमि सबको सुखकारी है। एक हाथ गहरी भूमि खोदकर वापिस उसी मिट्टी से उसे पूर देना चाहिए। जो मिट्टी बढ जावे तो श्रेष्ठ, बराबर होवे तो मध्यम और घट जावे तो उस भूमि को अधम जानना। जिस भूमि में गड्ढा खोदकर जल भरा हो तो वह जल सो पग जाये तब तक उतना ही रहे तो वह भूमि उत्तम है। एक अंगुल कम हो जाये तो मध्यम और इससे अधिक कम हो जावे तो अधम जानना, अथवा जिस भूमि के गड्ढे में रखे हुए पुष्प दूसरे दिन वैसे ही रहें तो उत्तम, आधे सूख जाए तो मध्यम और सब सूख जावें तो उस भूमि को अधम जानना। जिस भूमि में बोया हुआ डांगर आदि धान्य तीन दिन में ऊग जावे वह श्रेष्ठ, पांच दिन में ऊगे वह मध्यम और सात दिन में ऊगे उस भूमि को अधम जानना। भूमि वल्मीकवाली हो तो व्याधि, पोली हो तो दारिद्र, फटी हुई हो तो मरण और शल्यवाली हो तो दुःख देती है। इसलिए शल्य की बहुत ही प्रयत्न से तपास करना, मनुष्य की हड्डी आदि शल्य निकले तो उससे मनुष्य की ही हानि होती है, गदहे का शल्य निकले तो राजादिक से भय उत्पन्न होता है, कुत्ते का शल्य निकले तो बालक का नाश हो। बालक का शल्य निकले तो

घरधनी देशाटन को जावे, गाय अथवा बैल का शल्य निकले तो गाय बैल का नाश हो और मनुष्य के केश, कपाल, भस्म आदि निकले तो मृत्यु होती है, इत्यादि।

प्रथम और चौथा प्रहर छोड़कर दूसरे अथवा तीसरे प्रहर में घर पर आनेवाली वृक्ष अथवा ध्वजाआदि की छाया निरन्तर दुःखदायी है। अरिहंत की पीठ, ब्रह्मा और विष्णु की बाजू, चंडिका और सूर्य की दृष्टि तथा महादेव का उपरोक्त सर्व (पीठ, बाजू और दृष्टि) छोड़ना। वासुदेव का वाम अंग, ब्रह्मा का दाहिना अंग, निर्माल्य, न्हवणजल, ध्वजा की छाया, विलेपन, शिखर की छाया और अरिहंत की दृष्टि ये श्रेष्ठ हैं। इसी प्रकार कहा है कि—अरिहंत की पीठ, सूर्य और महादेव की दृष्टि व वासुदेव का बायां भाग छोड़ देना चाहिए। घर की दाहिनी ओर अरिहंत की दृष्टि पड़ती हो और महादेव की पूठ बाईं ओर पड़ती हो तो कल्याणकारी है। परन्तु इससे विपरीत हो तो बहुत दुःख होता है। उसमें भी बीच में मार्ग हो तो कोई दोष नहीं। नगर अथवा ग्राम में ईशानादि कोण दिशाओं में घर न करना चाहिए। यह उत्तम जाति के मनुष्य को अशुभकारी है; परन्तु चांडाल आदि नीच जाति को ऋद्धिकारी है। रहने के स्थान के गुण तथा दोष, शकुन, स्वप्न, शब्द आदि के बल से जानना चाहिए।

उत्तम स्थान भी उचित मूल्य देकर तथा पड़ौसी की सम्मति आदि लेकर न्याय से ही ग्रहण करना चाहिए। किन्तु किसीका पराभव आदि करके कभी न लेना चाहिए। क्योंकि इससे धर्मार्थकाम के नाश होने की सम्भावना है। इसी प्रकार ईंट, लकड़ी, पत्थर इत्यादि वस्तुएँ भी दोष रहित, मजबूत हो वे ही उचित मूल्य देकर लेना अथवा मंगाना चाहिए। ये वस्तुएँ भी बेचनेवाले के यहां तैयार की हुई लेना, परन्तु खास तौर पर अपने लिये ही तैयार न करवाना चाहिए। कारण कि, उससे महाआरम्भ आदि दोष लगना सम्भव है। उपरोक्त वस्तुएँ जिनमंदिर आदि की हो तो न लेना, कारण कि उससे बहुत ही हानि होती है।

ऐसा सुनते हैं कि, दो वणिक् पड़ौसी थे। उनमें एक धनिक था, वह दूसरे का कदम-कदम पर पराभव करता था। दूसरा दरिद्री होने के कारण जब किसी प्रकार उसका नुकसान न कर सका तब उसने उसका घर बन रहा था उस समय चुपचाप एक जिनमंदिर का पड़ा हुआ ईंट का टुकड़ा उसकी भीत में रख दिया। घर बनकर तैयार हुआ तब दरिद्री पड़ौसी ने श्रीमन्त पड़ौसी को यथार्थ बात कह दी। तब श्रीमन्त पड़ौसी ने कहा कि, 'इसमें क्या दोष है?' ऐसी अवज्ञा करने से विद्युत्पात आदि होकर उसका सर्वनाश हो गया। कहा है कि—जिनमंदिर, कुआ, वावडी, स्मशान, मठ और राजमंदिर का सरसों बराबर भी पत्थर ईंट काष्ठ आदि न लेना चाहिए।

पाषाणमय स्तंभ, पीठ, पाटिये, बारसाख इत्यादि वस्तुएँ गृहस्थ को हानिकारक हैं, परन्तु वे धर्मस्थान में शुभ हैं। पाषाणमय वस्तु ऊपर काष्ठ और काष्ठमय वस्तु के ऊपर पाषाण के स्तंभ आदि घर अथवा जिनमंदिर में कभी न रखना। हलका काष्ठ, घाणी, शकट (गाड़ा) आदि वस्तुएँ तथा रहेंट आदि यंत्र ये, सब कांटेवाले वृक्ष, बड़

आदि पांच ऊंवर तथा जिनमें से दूध निकलता हो ऐसे आक आदि की लकड़ी काम में न लेना। और बीजोरी, केल, अनार, गीबू, दोनों जाति की हलदी, इमली, बबूल, बोर, धतूरा इनके काष्ठ भी निरुपयोगी हैं। जो उपरोक्त वृक्ष को जड़ें पड़ीस से घर की भूमि में घुसें, अथवा इन वृक्षों की छाया घर के ऊपर आवे तो उस घरधनी के कुल का नाश होता है। घर पूर्वभाग में ऊंचा हो तो धन का नाश होता है, दक्षिण भाग में ऊंचा हो तो धन की समृद्धि होती है, पश्चिम भाग में ऊंचा हो तो वृद्धि होती है और उत्तरदिशा में ऊंचा हो तो शून्य हो जाता है। गोलाकार, अधिककोणयुक्त अथवा एक, दो या तीन कोणवाला, दाहिनी तथा बाईं और लंबा ऐसा घर रहने के योग्य नहीं। जो किमाड़ (द्वार) अपने आप ही बंध हो जाये अथवा खुल जाये वे अच्छे नहीं हैं; घर के मुख्यद्वार में चित्रमय कलशादिक की विशेष शोभा उत्तम कही जाती है। जिन चित्रों में योगिनी के नृत्य का आरम्भ, महाभारत, रामायण का अथवा दूसरे राजाओं का संग्राम, ऋषि अथवा देव के चरित्र हो वे चित्र घर में उत्तम नहीं। फले हुए वृक्ष, फूल की लताएँ, सरस्वती, नवनिधानयुक्त लक्ष्मी, कलश, बधाई, चतुर्दश स्वप्न की श्रेणी आदि चित्र शुभ हैं, जिस घर में खजूर, दाड़िम, केल, बोर, अथवा बीजोरी इनके वृक्ष ऊंगते हैं, उस घर का समूल नाश होता है। घर में जिनमें से दूध निकले ऐसा वृक्ष हो तो वह लक्ष्मी का नाश करता है, कंटीला वृक्ष हो तो शत्रु से भय उत्पन्न करता है, फलवाला हो तो संतति का नाश करता है, इसलिए इनकी लकड़ी भी घर आदि बनाने के काम में न लेना। कोई ग्रंथकार कहते हैं कि, घर के पूर्वभाग में बड़वृक्ष, दक्षिणभाग में उंबर, पश्चिमभाग में पीपल और उत्तरभाग में प्लक्षवृक्ष शुभकारी है।

घर के पूर्वभाग में लक्ष्मी का घर (भंडार), आग्नेय कोण में रसोई घर, दक्षिण भाग में शयनगृह, नैऋत्य कोण में आयुध आदि का स्थान, पश्चिमदिशा में भोजन करने का स्थान, वायव्य कोण में धान्यागार (धान्य के कोठे) उत्तरदिशा में पानी रखने का घर और ईशान कोण में देवमंदिर बनाना चाहिए। घर के दक्षिण भाग में अग्नि, जल, गाय, वायु और दीपक, इनके स्थान करना और उत्तर तथा पश्चिम भाग में भोजन, द्रव्य, धान्य और देव के स्थान बनाना चाहिए। घर के द्वार की अपेक्षा से अर्थात् जिस दिशा में घर का द्वार हो वह पूर्व दिशा व उसीके अनुसार अन्य दिशाएं जानना। छींक की तरह यहाँ भी सूर्योदय से पूर्वदिशा नहीं मानना चाहिए। इसी प्रकार घर बनानेवाले सुतार तथा अन्य मनुष्य (मजदूर) उनको ठहराव से अधिक भी देकर प्रसन्न रखना, उनको कभी ठगना नहीं। जितने में अपने कुटुम्बादिक का सुखपूर्वक निर्वाह हो जाय, और लोक में भी शोभादि हो, उतना ही विस्तार (लंबाई चौड़ाई) घर बनाने में करनी चाहिए। संतोष न रखकर अधिकाधिक विस्तार करने से व्यर्थ धन का व्यय और आरंभआदि होता है। उपरोक्त कथनानुसार घर भी परिमित द्वारवाला ही चाहिए।

१. पूर्वादिदिग्निर्देशो, गृहद्वारव्यपेक्षया। भास्क्रोदयदिकपूर्वा, न विज्ञेया यथा क्षुते ॥१८॥

कारण कि, बहुत से द्वार हो तो दुष्ट लोगों के आने-जाने की खबर नहीं रहती और उससे स्त्री, धन आदि के नाश होने की सम्भावना है। परिमित द्वारों के भी पाटिये, उलाले, सांकल, कुन्दे आदि बहुत मजबूत रखने चाहिए; जिससे घर सुरक्षित रहता है। किवाड़ भी सहज में खुल जाय व बन्द हो जाय ऐसे चाहिए; अन्यथा अधिकाधिक जीव विराधना हो और जाना-आना इत्यादिक कार्य भी जितना शीघ्र होना चाहिए उतना शीघ्र नहीं हो सके। भीत में रहनेवाली भागल किसी प्रकार भी अच्छी नहीं। कारण कि उससे पंचेन्द्रिय प्रमुख जीव की भी विराधना होना सम्भव है। किवाड़ बन्द करते समय जीवजन्तु आदि अच्छी तरह देखकर बन्द करना चाहिए। इसी प्रकार पानी की परनाल, खाल (मोरी) इत्यादि की भी यथाशक्ति यतना रखना चाहिए। घर के द्वार परिमित रखना इत्यादिक विषय शास्त्र में भी कहा है।

जिस घर में वेध (छिद्र) आदि दोष न हो, सम्पूर्ण दत्त (पाषाण, ईट और काष्ठ) नया हो, अधिक द्वार न हो, धान्य का संग्रह हो, देव की पूजा होती हो, आदर से जल आदि का छिटकाव होता हो, लाल परदा हो, झाड़ना पोंछना आदि संस्कार सदैव होते हों, छोटे बड़े की मर्यादा अच्छी तरह पालन की जाती हो, सूर्य की किरणों का अन्दर प्रवेश हो, आक के वृक्ष न हों, दीपक प्रकाशित रहता हो, रोगियों की शुश्रूषा अच्छी तरह होती हो और थके हुए मनुष्य की थकावट दूर की जाती हो, उस घर में लक्ष्मी निवास करती है। इस प्रकार देश, काल, अपना धन तथा जाति आदि को उचित हो ऐसे बंधाये हुए घर को यथाविधि स्नात्र, साधर्मिकवात्सल्य, संघपूजा आदि करके श्रावक को काम में लेना चाहिए। शुभमुहूर्त तथा शकुन आदि का बल भी घर बंधवाने तथा उसमें प्रवेश करने के अवसर पर अवश्य देखना चाहिए। इस प्रकार यथाविधि बंधाये हुए घर में लक्ष्मी की वृद्धि आदि होना दुर्लभ नहीं।

ऐसा सुनते हैं कि, उज्जयिनी नगरी में दांताक नामक श्रेष्ठी ने अड्डारह करोड़ स्वर्णमुद्राएं खर्च करके वास्तुशास्त्र में कही हुई रीति के अनुसार एक सात मंजिलवाला महल तैयार कराया। उसके तैयार होने में बारह वर्ष लगे थे। जब दांताक उस महल में रहने गया, तब रात्रि में 'पडूँ क्या? पडूँ क्या?' ऐसा शब्द उसके सुनने में आया। इससे भयभीत हो उसने मूल्य के अनुसार धन लेकर उक्त महल विक्रम राजा को दे दिया। विक्रमराजा उस महल में गया और 'पडूँ क्या? पडूँ क्या?' यह शब्द सुनते ही उसने कहा 'पडूँ' इतने में ही तुरन्त सुवर्णपुरुष पड़ा, इत्यादि। इसी तरह विधि के अनुसार बनवाये व प्रतिष्ठा किये हुए श्रीमुनिसुव्रत स्वामी की स्तूप की महिमा से कौणिक राजा प्रबल सेना का धनी था, तथापि उस विशालानगरी को बारह वर्ष में भी न ले सका। भ्रष्ट हुए कूलवालकसाधु के कहने पर जब उस स्तूप को गिरवा दिया तब उसी समय उसने नगरी अपने अधीन कर ली। इसी प्रकार याने घर की युक्ति के अनुसार दुकान भी उत्तम पड़ौस देखकर, न अधिक प्रकट, न अधिक गुप्त ऐसे स्थान में परिमित द्वारवाली पूर्वोक्त विधि के अनुसार ही बनाना उचित है। कारण कि, उसीसे धर्म, अर्थ और काम

की सिद्धि होती है।

द्वितीय द्वार—

'त्रिवर्गसिद्धि का कारण' इस पद का सम्बन्ध दूसरे द्वार में भी लिया जाता है, इससे ऐसा अर्थ होता है कि, धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की सिद्धि जिससे होती हो, उन विद्याओं का याने लिखना, पढ़ना, व्यापार इत्यादि कलाओं का ग्रहण अर्थात् अध्ययन उत्तम प्रकार से करना। कारण कि, जिसको कलाओं का शिक्षण न मिला हो, तथा उनका अभ्यास जिसने न किया हो, उसको अपनी मूर्खता से तथा हास्यप्रद अवस्था से पद-पद पर तिरस्कार सहना पड़ता है। जैसे कि, कालीदास कवि प्रथम तो गाये चराने का धन्धा करता था। एक समय राजसभा में उसने 'स्वस्ति' ऐसा कहने के स्थान में 'उशरट' ऐसा कहा, इससे उसका बड़ा तिरस्कार हुआ। पश्चात् देवता को प्रसन्न करके वह महान् पंडित तथा कवि हुआ। ग्रन्थ सुधारने में, चित्र सभादर्शनादिक कृत्यों में जो कलावान हों; वह परदेशी होने पर भी वसुदेवादिक की तरह सत्कार पाता है। कहा है कि—पंडिताई और राजापना ये दोनों समान नहीं हैं। कारण कि, राजा केवल अपने देश में ही पूजा जाता है, और पंडित सर्वत्र पूजा जाता है।

सर्व कलाएँ सीखनी चाहिए। कारण कि, देशकाल आदि के अनुसार सर्व कलाओं का विशेष उपयोग होना सम्भव है। ऐसा न करने से कभी-कभी मनुष्य निम्न दशा में आ जाता है। कहा है कि—सङ्गपट्ट भी सीखना, कारण कि, सीखा हुआ निष्फल नहीं जाता। सङ्गपट्ट के प्रसाद से ही गोल (गुड़) और तुंबडा खाया जाता है। सब कलाएँ आती हों तो पूर्वोक्त आजीविका के सात उपायों के एकाध उपाय से सुखपूर्वक निर्वाह होता है तथा समय पर समृद्धि आदि भी मिलती है। सर्व कलाओं का अभ्यास करने की शक्ति न हो तो, श्रावक पुत्र को जिससे इस लोक में सुखपूर्वक निर्वाह हो और परलोक में शुभगति हो ऐसी किसी एक कला का तो सम्यक् प्रकार से अभ्यास अवश्य करना चाहिए। कहा है कि—श्रुतरूपी समुद्र अपार है, आयुष्य थोड़ा है, वर्तमान के जीव क्षुद्रबुद्धि हैं, इसलिए ऐसा कुछ तो भी सीखना चाहिए कि जो थोड़ा हो, और इष्टकार्य साधक हो। इस लोक में उत्पन्न हुए मनुष्य को दो बातें अवश्य सीखनी चाहिए। एक तो वह कि, जिससे अपना निर्वाह हो, और दूसरी वह कि, जिससे मरने के अनन्तर सद्गति प्राप्त हो। निंद्य और पापमय कार्य से निर्वाह करना अनुचित है। मूलगाथा में 'उचित' पद है, इसलिए निंद्य तथा पापमय व्यापार का निषेध हुआ ऐसा समझना चाहिए।

तृतीय द्वार—

पाणिग्रहण याने विवाह, यह भी त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि का कारण है, इसलिए योग्यरीति से करना चाहिए। विवाह अपने से पृथक् गोत्र में उत्पन्न तथा कुल, सदाचार, शील, रूप, वय, विद्या, संपत्ति, वेष, भाषा, प्रतिष्ठा आदि से अपनी समानता के हों उन्हीं के साथ करना चाहिए। शील आदि समान न हों

तो, परस्पर अवहेलना, कुटुम्ब में कलह, कलंक इत्यादिक होते हैं। जैसे कि पोतनपुरनगर में श्रीमती नामक एक श्रावक कन्या ने सादर किसी अन्य धर्मावलंबी पुरुष के साथ विवाह किया था। वह धर्म में बहुत ही दृढ़ थी। परन्तु उसके पति परधर्मी होने से उस पर अनुराग नहीं रहा। एक समय पति ने घर के अंदर एक घड़े में सर्प रखकर श्रीमती को कहा कि, अमुक घड़े में से पुष्पमाला निकालकर ला। जब श्रीमती लेने गयी तो नवकार स्मरण के प्रभाव से सर्प की पुष्पमाला हो गयी। पश्चात् श्रीमती के पति आदि सब लोग श्रावक हो गये। दोनों के कुलशील आदि समान हो तो उत्कृष्ट सुख, धर्म तथा बड़प्पन आदि मिलता है। इस विषय में पैथङ्ग श्रेष्ठी तथा प्रथमिणी स्त्री का उदाहरण विद्यमान है।

सामुद्रिकादिक शास्त्रों में कहे हुए शरीर के लक्षण तथा जन्मपत्रिका की जांच आदि करके वरकन्या की परीक्षा करनी चाहिए। कहा है कि, १ कुल, २ शील, ३ सगे सम्बन्धी, ४ विद्या, ५ धन, ६ शरीर और ७ वय ये सात गुण कन्यादान करनेवाले को वर में देखने चाहिए। इसके उपरान्त कन्या अपने भाग्य के आधार पर रहती है। जो मूर्ख, निर्धन, दूरदेशान्तर में रहनेवाला, शूरवीर, मोक्ष की इच्छा करनेवाला, और कन्या से तिगुनी से भी अधिक वय वाला हो, ऐसे वर को कन्या देनी नहीं चाहिए। आश्चर्यकारक अपार संपत्तिवाला, अधिक ठंडा, अथवा बहुत ही क्रोधी, हाथ, पैर अथवा किसी भी अंग से अपंग तथा रोगी ऐसे वर को कन्या नहीं देनी चाहिए। कुल तथा जाति से हीन, अपने माता-पिता से अलग रहनेवाला और जिसके पूर्व विवाहित स्त्री तथा पुत्रादि हो ऐसे वर को कन्या नहीं देनी चाहिए। अधिक वैर तथा अपवादवाले, नित्य जितना द्रव्य मिले उस सबको खर्च कर देनेवाले, प्रमाद से शून्यमनवाले ऐसे वर को कन्या नहीं देनी चाहिए। अपने गोत्र में उत्पन्न, जूआ, चोरी आदि व्यसनवाले तथा परदेशी को कन्या नहीं देनी चाहिए।

कुलवान् स्त्री वह होती है जो अपने पति आदि लोगों के साथ निष्कपट बर्ताव करनेवाली, सासु आदि पर भक्ति करनेवाली, स्वजन पर प्रीति रखनेवाली, बंधुवर्ग ऊपर स्नेहवाली और हमेशा प्रसन्न मुखवाली हो। जिस पुरुष के पुत्र आज्ञाकारी तथा पितृभक्त हों, स्त्री आज्ञाकारिणी हो और इच्छित सम्पत्ति हो; उस पुरुष को यह मृत्युलोक ही स्वर्ग के समान है।

अग्नि तथा देव आदि के समक्ष हस्तमिलाप करना विवाह कहलाता है। यह विवाह लोक में आठ प्रकार का है—१ आभूषण पहनाकर कन्यादान करना वह ब्राह्मविवाह कहलाता है। २ धन खर्च करके कन्यादान करना वह प्राजापत्यविवाह कहलाता है। ३ गायबैल का जोड़ा देकर कन्यादान करना, वह आर्षीविवाह कहलाता है। ४ यजमान ब्राह्मण को यज्ञ की दक्षिणा के रूप में कन्या दे, वह दैवविवाह कहलाता है। ये चारों प्रकार के विवाह धर्मानुकूल हैं। ५ माता, पिता अथवा बन्धुवर्ग इनको न मानते पारस्परिक प्रेम हो जाने से कन्या मन इच्छित वर को वर ले, वह गांधर्वविवाह

कहलाता है। ६ कुछ भी लेन-देन निश्चित करके कन्यादान करे, वह असुरविवाह कहलाता है। ७ बलात्कार से कन्याहरण करके उससे विवाह करे, वह राक्षसविवाह कहलाता है। ८ सोई हुई अथवा प्रमाद में रही हुई कन्या का ग्रहण करना, वह पैशाचविवाह कहलाता है। ये पीछे के चारों विवाह धर्मानुकूल नहीं हैं। जो कन्या तथा वर की परस्पर प्रीति हो तो अंतिम चारों विवाह भी धर्मानुकूल ही माने जाते हैं। पवित्र स्त्री का लाभ यही विवाह का फल है। पवित्र स्त्री प्राप्त होने पर जो पुरुष उसकी यथायोग्य रक्षा करे तो, संतति भी उत्तम होती है, मन में नित्य समाधान रहता है, गृहकृत्य सुव्यवस्था से चलता है, कुलीनता ज्वलित हो जाती है, आचार विचार पवित्र रहते हैं, देव, अतिथि तथा बांधवजन का सत्कार होता है, और पाप का सम्बन्ध नहीं होता।

स्त्री की रक्षा करने के उपाय इस प्रकार हैं—उसे गृहकार्य में लगानी, उसके हाथ में खर्च के लिए परिमित व उचित रकम देनी, उसे स्वतन्त्रता न देनी, उसे हमेशा मातादि के समान स्त्रियों के सहवास में रखना इत्यादि स्त्री के सम्बन्ध में जो उचित आचरण पूर्व में कहे जा चुके हैं, उसमें इस बात का विचार प्रकट किया है। विवाह आदि में जो खर्च तथा उत्सव आदि करना, वह अपने कुल, धन, लोक इत्यादिक की योग्यता पर ध्यान देकर ही करना; अधिक न करना, कारण कि, अधिक व्यय आदि करना धर्मकृत्य में ही उचित है। विवाह आदि में जितना खर्च हुआ हो, उसीके अनुसार स्नात्र, महापूजा, महानैवेद्य, चतुर्विध संघ का सत्कार आदि धर्मकृत्य भी आदरपूर्वक करने चाहिए। संसार की वृद्धि करनेवाला विवाह आदि भी इस प्रकार पुण्य कार्य करने से सफल हो जाता है।

चतुर्थ द्वार—

मित्र जो है, वह संपूर्ण कार्यों में विश्वासपात्र होने से समयपर मदद आदि करता है। गाथा में 'आदि' शब्द है जिससे वणिक्पुत्र (मुनीम), सहायक, नौकर आदि भी धर्म, अर्थ और काम के कारण होने से उचित रीति से ही करने चाहिए। उनमें उत्तमप्रकृति, साधर्मिकता, धैर्य, गंभीरता, चातुर्य, सुबुद्धि आदि गुण अवश्य होने चाहिए। इस विषय के दृष्टान्त पहिले व्यवहार शुद्धि प्रकरण में कहे जा चुके हैं।

मूलगाथा - १५

चेइअं पठिमं पइद्वा, सुआइपव्वावणां य पयठवणां।

पुत्थयलेहणवायणं पोसहसालाइकारवणं" ॥१५॥

संक्षिप्तार्थः ५ जिनमंदिर बनवाना, ६ उसमें प्रतिमा स्थापन करना, ७ जिनबिंब की प्रतिष्ठा करना, ८ पुत्र आदि का दीक्षाउत्सव करना, ९ आचार्यादि पद की स्थापना करना, १० पुस्तकें लिखवाना, पढ़वाना और ११ पौषधशाला आदि बनवाना ॥१५॥

पंचमद्वार—जिनमंदिर निर्माण :

ऊंचा तोरण, शिखर, मंडप आदि से सुशोभित जैसा भरत चक्रवर्ती आदि ने बनवाया था, वैसा रत्नरचित, सुवर्णरौप्यमय अथवा श्रेष्ठपाषाणादिमय विशाल जिनप्रासाद बनवाना। इतनी शक्ति न हो तो श्रेष्ठ काष्ठ, ईंटों आदि से जिनमंदिर बनवाना। यह करने की भी शक्ति न हो तो जिनप्रतिमा के लिए न्यायोपार्जित धन से घास की झोपड़ी तो भी बनवाना। कहा है कि—न्यायोपार्जित धन का स्वामी, बुद्धिमान, शुभपरिणामी और सदाचारी श्रावक गुरु की आज्ञा से जिनमंदिर बनवाने का अधिकारी होता है। प्रत्येक जीव को प्रायः अनादि भव में अनन्त जिनमंदिर और अनन्त जिनप्रतिमाएं बनवायीं; परन्तु उस कृत्य में शुभपरिणाम न होने के कारण उनको समकित का लवलेश भी लाभ नहीं मिला। जिसने जिनमंदिर तथा जिनप्रतिमाएं नहीं बनवायीं, साधुओं को नहीं पूजे और दुर्धरद्वत को अंगीकार भी नहीं किया, उन्होंने अपना मनुष्यभवं वृथा गुमाया। यदि पुरुष जिनप्रतिमा के लिए घास की एक झोपड़ी भी बनाता है, तथा परमगुरु को भक्ति से एक फूल भी अर्पण करता है, तो उसके पुण्य की गिनती ही नहीं हो सकती। और जो पुण्यशाली पुरुष शुभपरिणाम से विशाल, मजबूत और नक्कर पत्थर का जिनमंदिर बनवाता है, उसकी तो बात ही क्या है? वे अतिधन्य पुरुष तो परलोक में विमानवासी देवता होते हैं। जिनमंदिर बनवाने की विधि तो पवित्र भूमि तथा पवित्र दल (पत्थर काष्ठ आदि) मजदूर आदि को न ठगना, मुख्य कारीगर का संमान करना इत्यादि पूर्वोक्त घर की विधि के अनुसार सर्व उचित विधि ही विशेष कर यहां जानना। कहा है कि—धर्म करने के लिए उद्यत पुरुष को किसीको भी अप्रीति हो ऐसा न करना चाहिए। इसी प्रकार से संयम ग्रहण करना हितकारी है। इस विषय में महावीर स्वामी का दृष्टांत है कि—उन्होंने 'मेरे रहने से इन तपस्वियों को अप्रीति होती है, और अप्रीति अबोधिका बीज है' ऐसा सोचकर चौमासे के समय में भी तपस्वियों का आश्रम छोड़कर के विहार किया।

जिनमंदिर बनवाने के लिए काष्ठादि दल भी शुद्ध चाहिए। किसी अधिष्ठायक देवता को रुष्टकर अविधि से लाया हुआ अथवा आरंभ समारंभ लगे इस रीति से अपने लिए बनाया हुआ भी न हो, वही काम में आता है। कंगाल मजदूर लोग अधिक मजदूरी देने से बहुत संतोष पाते हैं, और संतुष्ट होकर अधिक काम करते हैं। जिनमंदिर अथवा जिनप्रतिमा बनवाये तब भावशुद्धि के लिए गुरु तथा संघ के समक्ष यह कहना कि, 'इस काम में अविधि से जो कुछ परधन आया हो, उसका पुण्य उस मनुष्य का हो। षोडशक में कहा है कि—जिस-जिस की मालिकी का द्रव्य अविधि से इस काम में आया हो उसका पुण्य उस धनी को हो। इस प्रकार शुभपरिणाम से कहे तो वह धर्मकृत्य भावशुद्ध हो जाता है। नींव खोदना, भरना, काष्ठ के खंड करना, पत्थर घड़वाना, जुड़वाना, इत्यादि महारंभ समारंभ जिनमंदिर बनवाने में करना पड़ता है, ऐसी शंका न करना, कारण कि, करानेवाले की यतनापूर्वक प्रवृत्ति होने से उसमें दोष

नहीं, तथा जिनमंदिर बनवाने से अनेक प्रकार की प्रतिमास्थापन, पूजन, संघसमागम, धर्मदेशनाकरण, समकित, व्रत आदि का अंगीकार, शासन की प्रभावना, अनुमोदना इत्यादिक अनंतपुण्य की प्राप्ति के कारण होने से उससे उत्तम परिणाम उत्पन्न होते हैं। कहा है कि—सूत्रोक्त विधि का ज्ञाता पुरुष यतनापूर्वक प्रवर्ते, और जो कदाचित् उसमें कोई विराधना हो जाय, तो भी अध्यवसाय की शुद्धि होने से, उस विराधना से निर्जरा हो ही जाती है। द्रव्यस्तव आदि पर कुप का दृष्टांत ऊपर कहा जा चुका है।

जीर्णोद्धार करने के कार्य में भी पूर्ण उद्यम करना चाहिए। कहा है कि—जितना पुण्य नवीन जिनमंदिर बनवाने में है, उससे आठ गुणा पुण्य जीर्णोद्धार कराने एवं करवाने में है। जीर्ण जिनमंदिर साफ कराने में जितना पुण्य है, उतना नवीन बनवाने में नहीं। कारण कि, नया मंदिर बनवाने में अनेक जीवों की विराधना तथा 'मेरा मंदिर' ऐसी प्रख्याति भी है; इसलिए उसमें जीर्णोद्धार के बराबर पुण्य नहीं। इसी प्रकार कहा है कि—जिनकल्पी साधु भी राजा, प्रधान, श्रेष्ठी तथा कौटुम्बिक आदि को उपदेश करके जीर्ण जिनमंदिर साफ करवावे। जो पुरुष जीर्ण हुए जिनमंदिरों का भक्ति से जीर्णोद्धार कराते हैं, वे भयंकर संसारसमुद्र में पड़े हुए अपनी आत्मा का उद्धार करते हैं। यथा—

शत्रुंजय का जीर्णोद्धार करने का पिता ने अभिग्रह सहित निर्धारित किया था, जिससे मंत्री वाग्भट्ट ने वह काम शुरू करवाया, तब बड़े-बड़े श्रेष्ठी लोगों को अपने अपने पास का द्रव्य भी उस कार्य में दिया। छः द्रम्म की पूंजीवाला भीम नामक एक घी बेचनेवाला था, जब टीप फिरती हुई उसके पास आयी, तब उसने घी बेचकर की हुई पूंजी सहित सर्व द्रव्य दे दिया। जिससे उसका नाम सबके ऊपर लिखा गया, और उसे सुवर्णनिधि का लाभ हुआ। इत्यादि वार्ता प्रसिद्ध है। पश्चात् काष्ठमय चैत्य के स्थान में शिलामय मंदिर तैयार होने की बधाई देनेवाले को मन्त्री ने सोने की बत्तीस जीर्ण बक्षिस दी। तदुपरांत उक्त जिनमंदिर विद्युत्पात से भूमिशायी हो गया, यह बात कहनेवाले को मन्त्री ने सुवर्ण की चौसठ जीर्ण दी। उसका यह कारण था कि, मन्त्री ने मन में यह विचार किया कि, 'मैं जीवित रहते दूसरा उद्धार करने को समर्थ हुआ हूँ।' दूसरे जीर्णोद्धार में दो करोड़, सत्तानवे हजार द्रव्य खर्च हुआ। पूजा के लिए चौबीस ग्राम और चौबीस बगीचे दिये। वाग्भट्ट मन्त्री के भाई आंबड मन्त्री ने भडौंच में दुष्टव्यंतरी के उपद्रव को टालनेवाले श्रीहेमचन्द्रसूरि की सहायता से अड्डारह हाथ ऊंचे शकुनिका विहार नामक प्रासाद का जीर्णोद्धार कराया। मल्लिकार्जुन राजा के मंडार सम्बन्धी बत्तीस धड़ी सुवर्ण का बनाया हुआ कलश शकुनिका विहार के ऊपर चढ़ाया। तथा सुवर्ण दंड ध्वजा आदि दी। और मंगलदीप के समय पर बत्तीस लाख द्रम्म याचकजनों को दिये। प्रथम जीर्णोद्धार करके पश्चात् ही नवीन जिनमंदिर बनवाना उचित है। इसीलिए संप्रति राजा ने भी प्रथम नव्वासी हजार जीर्णोद्धार करवाये, और नवीन जिनमंदिर तो केवल छत्तीस हजार बनवाये। इसी प्रकार कुमारपाल, वस्तुपाल

आदि धर्मिष्ठ लोगों ने भी नवीन जिनमंदिर की अपेक्षा जीर्णोद्धार ही अधिक करवाये। जिनकी संख्या आदि का वर्णन पूर्व में हो गया है।

जिनमंदिर तैयार हो जाने के बाद विलम्ब न करके प्रतिमा स्थापन करना। श्रीहरिभद्रसूरिजी ने कहा है कि, बुद्धिशाली मनुष्य को जिनमंदिर में जिनबिंब की शीघ्र प्रतिष्ठा करानी चाहिए। कारण कि, ऐसा करने से अधिष्ठायक देवता तुरन्त वहां आ बसते हैं और उस मंदिर की भविष्य में वृद्धि होती ही जाती है। मंदिर में तांबे की कुंडिया, कलश, ओरसिया, दीपक आदि सर्व प्रकार की सामग्री भी देना। तथा शक्त्यानुसार मंदिर का भंडार स्थापित करे उसमें रोकड़ द्रव्य, तथा बाग बगीचे, वाड़ी आदि देना। राजा आदि जो मंदिर बनवानेवाले हों तो उनको तो भंडार में बहुत द्रव्य, तथा ग्राम, गोकुल आदि देना चाहिए। जैसे कि मालवदेश के जाकुड़ी प्रधान ने पूर्व में गिरनार पर्वत पर काष्ठमय चैत्य के स्थान में पाषाणमय जिनमंदिर बंधाना शुरू किया। और दुर्भाग्यवश उसका स्वर्गवास हो गया। पश्चात् एकसौ पैंतीस वर्ष के अनन्तर सिद्धराज जयसिंह के दंडाधिपति सज्जन ने तीन वर्ष में सौराष्ट्र देश की जो सत्तावीस लाख द्रम्म उपज आती थी, वह खर्चकर उक्त जिनप्रासाद पूर्ण कराया। सिद्धराज जयसिंह ने सज्जन से जब उक्त द्रव्य मांगा, तब उसने कहा कि, 'महाराज! गिरनार पर्वत पर उस द्रव्य का निधि रखा है।' पश्चात् सिद्धराज वहां आया और नवीन सुन्दर जिनमंदिर देख हर्षित हो बोला कि, 'यह मंदिर किसने बनवाया?' सज्जन ने कहा, 'महाराज साहेब ने बनवाया।' यह सुन सिद्धराज को बड़ा आश्चर्य हुआ। तदनन्तर सज्जन ने यथार्थ बात कहकर विनती की कि, 'ये सर्व महाजन आपका द्रव्य देते हैं, सो लीजिए अथवा जिनमंदिर बनवाने का पुण्य लीजिए, जैसी आपकी इच्छा' विवेकी सिद्धराज ने पुण्य ही ग्रहण किया, और उक्त नेमिनाथजी के मंदिर के खाते पूजा के निमित्त बारह ग्राम दिये। वैसे ही जीवन्तस्वामी की प्रतिमा का मंदिर प्रभावती रानी ने बनवाया। पश्चात् क्रमशः चंडप्रद्योत राजा ने उस प्रतिमा की पूजा के लिए बारह हजार ग्राम दिये। यथा—

जीवन्तस्वामी की प्रतिमा :

चंपानगरी में एक स्त्रीलंपट कुमारनंदी नामक स्वर्णकार रहता था। उसने पांच पांचसो सुवर्णमुद्राएं देकर पांचसो कन्याओं के साथ विवाह किया। वह उनके साथ एक स्तंभवाले प्रासाद में क्रीड़ा किया करता था। एक समय पंचशैलद्वीप निवासी हासा व प्रहासा नामक दो व्यंतरियों ने अपने पति विद्युन्माली का च्यवन होने पर, वहां आ अपना रूप बता कुमारनंदी को मोहित किया। वह जब भोग की प्रार्थना करने लगा, तब 'पंचशैलद्वीप में आना' यह कहकर वे दोनों चली गयीं। पश्चात् कुमारनंदी ने राजा को सुवर्ण देकर पड़ह बजवाया (दिंडोरा पिटवाया) कि, 'जो पुरुष मुझे पंचशैलद्वीप में ले जाय, उसे मैं एक करोड़ द्रव्य दूँ।' तदनुसार एक वृद्ध निर्यामिक (नाविक) करोड़ द्रव्य ले अपने पुत्रों को देकर, कुमारनंदी को एक नौका में बिठाकर बहुत दूर समुद्र में ले

गया। और वहां कहने लगा कि 'सामने जो बड़ वृक्ष दृष्टि आता है, वह समुद्र के किनारे आयी हुई पहाड़ी की तलेटी में है। इसके नीचे अपनी नौका पहुंचे तब तू बड़ की शाखा पर बैठ जाना; तीन पैरवाला भारंड पक्षी पंचशैलद्वीप से आकर इसी बड़ पर सो रहते हैं, उसके बीच के पैर में तू वस्त्र से अपने शरीर को मजबूत बांध रखना। प्रातःकाल में उक्त पक्षी के साथ तू भी पंचशैलद्वीप में जा पहुंचेगा। यह नौका तो अब भयंकर घ्रमर में फंस जायेगी।' तदनन्तर नाविक के कथनानुसारकर कुमारनंदी पंचशैलद्वीप में पहुंचा और हासा प्रहासा को देखकर प्रार्थना की। तब हासा प्रहासा ने उसको कहा कि, 'तू इस शरीर से हमारे साथ भोग नहीं कर सकता। इसलिए तू अग्नि प्रवेश आदि करके इस द्वीप का मालिक हो जा।' यह कहकर उन्होंने कुमारनंदी को हथेली पर बैठाकर चंपानगरी के उद्यान में छोड़ दिया। पश्चात् उसके मित्र नागिल श्रावक ने उसे बहुत मना किया, तो भी वह नियाणाकर अग्नि में पड़ा और मृत्यु को प्राप्त हो, पंचशैलद्वीप का अधिपति व्यंतर देवता हुआ। नागिल को उससे वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह दीक्षा ले, कालकर बारहवें अच्युतदेवलोक में देवता हुआ।

एक समय नंदीश्वरद्वीप में जानेवाले देवताओं की आज्ञा से हासा-प्रहासा ने कुमारनंदी के जीव व्यंतर को कहा कि—'तू पड़ह ग्रहणकर' वह अहंकार से हुंकार करने लगा, इतने में ही पड़ह आकर उसके गले में लटक गया। उसने बहुत प्रयत्न किया, किन्तु उसके गले में से पड़ह अलग नहीं हुआ। उस समय अवधिज्ञान से यह बात जानकर नागिल देवता वहां आया। जैसे सूर्य के तेज से उल्लू पक्षी भागता है, उसी प्रकार उक्त देवता के तेज से कुमारनंदी व्यन्तर भागने लगा। तब नागिल देवता ने अपना तेज समेटकर कहा कि, 'तू मुझे पहिचानता है?' उसने कहा कि, 'इन्द्रादि देवताओं को कौन नहीं पहिचानता है?' तब नागिल देवता ने पूर्वभव कहकर व्यन्तर को प्रतिबोधित किया। तब व्यन्तर ने पूछा 'अब मैं क्या करूँ?' देवता ने उत्तर दिया 'अब तू गृहस्थावस्था में कायोत्सर्ग किये हुए भाव यति श्रीमहावीरस्वामी की प्रतिमा बनवा, इससे तुझे आगामी भव में बोधिताभ होगा।' देवता का यह वचन सुन उसने श्रीमहावीरस्वामी को देख नमस्कार किया और हिमवंतपर्वत से लाये हुए गौशीर्षचंदन से वैसी ही दूसरी प्रतिमा तैयार की। पश्चात् प्रतिष्ठा करवाकर सर्वांग में आभूषण पहनाकर, पूष्पादिक वस्तु से उसकी पूजा की और श्रेष्ठ चंदन की पेट्टी में रखी। एक समय उस प्रतिमा के प्रभाव से व्यन्तर ने समुद्र में एक नौका के छः महीने के उपद्रव दूर किये। और उस नौका के नाविक को कहा कि—'तू यह प्रतिमा की पेट्टी सिंधुसावीरदेशान्तर्गत वीतभयपट्टण में ले जा और वहां के बाजार में ऐसी उद्घोषणा कर कि, 'देवाधिदेव की प्रतिमा लो।' उक्त नाविक ने वैसा ही किया। तब तापस भक्त उदायन राजा तथा दूसरे भी बहुत से अन्यदर्शीनियों ने अपने-अपने देव का स्मरण करके उस पेट्टी पर कुल्हाड़े से प्रहार किये, जिससे कुल्हाड़े टूट गये किन्तु पेट्टी नहीं खुली। सर्व लोग उद्विग्न हो गये। मध्याह्न का समय भी हो गया। इतने में रानी प्रभावती

ने राजा को भोजन के लिए बुलाने को एक दासी भेजी। राजा ने उसी दासी के द्वारा संदेश भेजकर कौतुक देखने के लिए रानी को बुलवायी। रानी प्रभावती ने वहां आते ही कहा कि, 'इस पेटी में देवाधिदेव श्री अरिहंत है, दूसरा कोई नहीं। अभी कौतुक देखो।' यह कह रानी ने यक्षकर्दम से उस पेटी पर अभिषेक किया और एक पुष्पांजली देकर कहा कि, 'देवाधिदेव! मुझे दर्शन दो।' इतना कहते ही जैसे प्रातःकाल में कमलकलिका विकसित होती है वैसे पेटी अपने आप खुल गयी। अंदर से सुकोमल विकसित पुष्पों की माला युक्त प्रतिमा प्रकट हुई, और जैनधर्म की बहुत महिमा हुई। रानी उस प्रतिमा को अपने अंतःपुर में ले गयी, और अपने नये बनवाये हुए चैत्य में स्थापनकर नित्य त्रिकाल पूजा करने लगी।

एक समय रानी के आग्रह से राजा वीणा बजा रहा था और रानी भगवान् के सन्मुख नृत्य करती थी। इतने में राजा को रानी का शरीर सिर विहीन नजर आया, जिससे वह घबरा गया, और वीणा बजाने की कंबिका उसके हाथ में से नीचे गिर पड़ी। नृत्य में रसभंग होने से रानी कुपित हुई, तब राजा ने यथार्थं ब्रात कही। एक समय दासी का लाया हुआ वस्त्र श्वेत होते हुए भी प्रभावती ने रक्तवर्ण देखा, और क्रोध कर दासी पर दर्पण फेंक मारा, जिससे वह मर गयी। पश्चात् वही वस्त्र प्रभावती ने पुनः देखा तो श्वेत नजर आया, जिससे उसने निश्चय किया कि अब मेरा आयुष्य थोड़ा ही रह गया है, और दासी की हत्या से प्रथम स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत का भी भंग हो गया है, इससे वैराग्य पाकर दीक्षा लेने की आज्ञा के लिए राजा के पास गयी, राजा ने 'देवता का भव पाकर तू मुझे सम्यक् प्रकार से धर्म में प्रवृत्त करना' यह कहकर आज्ञा दे दी। तदनन्तर प्रभावती ने उस प्रतिमा की पूजा के निमित्त देवदत्ता नाम की कुब्जा को रखकर स्वयं बड़े समारोह से दीक्षा ग्रहण की, और अनशनकर सौधर्म देवलोक में देवता हुई, उस देवता ने बहुत ही प्रतिबोध किया, परन्तु राजा उदायन ने तापस की भक्ति नहीं छोड़ी। दृष्टिराग तोड़ना कितना कठिन है! अस्तु, पश्चात् देवता ने तापस के रूप से राजा को दिव्य अमृत फल दिया। उसका रस चखते ही लुब्ध हुए राजा को तापसरूपी देवता अपने रचे हुए आश्रम में ले गया। वहां वेषधारी तापसों ने बहुत ताड़ना की जिससे राजा भागा, और जैनसाधुओं के उपाश्रय में आया। साधुओं ने अभयदान दिया, जिससे राजा ने जैनधर्म स्वीकार किया। पश्चात् देवता अपनी ऋद्धि बताकर, राजा को जैनधर्म में दृढ़कर 'आपत्ति के समय मेरा स्मरण करना।' यह कहकर अदृश्य हो गया।

इधर गान्धार नामक कोई श्रावक सर्वस्थानों में चैत्यवन्दन करने निकला था। बहुत से उपवास करने से संतुष्ट हुई देवी ने उसे वैताढ्य पर्वत पर ले जाकर वहां की प्रतिमाओं को वन्दन कराया, और मनवांछित-इच्छा पूर्ण करनेवाली एकसो आठ गोलियां दीं। उसने एक गोली मुंह में डालकर चिन्तन किया कि, 'मुझे वीतभयपट्टण जाना है', गुटिका के प्रभाव से वह वहां आ गया। कुब्जा दासी ने उसे उस प्रतिमा का

वन्दन कराया। अनन्तर वह गान्धार श्रावक वहां बीमार हो गया, कुब्जा ने उस की अच्छी प्रकार श्शुषा की। अपना आयुष्य स्वल्प रहा जानकर उस श्रावक ने शेष सर्वगुटिकाएं कुब्जा को देकर दीक्षा ली। कुब्जा एक गुटिका भक्षण करने से अनुपम सुन्दरी हो गयी। जिससे उसका नाम 'सुवर्णगुलिका' प्रसिद्ध हो गया। दूसरी गोली भक्षणकर उसने चिन्तन किया कि, 'चौदह मुकुटधारी राजाओं से सेवित चंडप्रद्योत राजा मेरा पति हो। अर्थात् उदायन राजा तो मेरे पिता समान है और दूसरे राजा तो उदायन के सेवक हैं।'

तदनंतर देवता के वचन से राजा चंडप्रद्योत ने सुवर्णगुलिका के पास दूत भेजा, परन्तु सुवर्णगुलिका ने चंडप्रद्योत को बुलवाया, उससे वह अनिलवेग हाथी पर बैठकर आया। सुवर्णगुलिका ने कहा कि, 'यह प्रतिमा लिये बिना मैं वहां नहीं आ सकती। इसलिए इसीके समान दूसरी प्रतिमा बनवाकर यहां स्थापन कर, ताकि यह प्रतिमा ली-जा सके।' चंडप्रद्योत ने उज्जयिनी को जाकर दूसरी प्रतिमा तैयार करायी, और कपिलनामक केवली के हाथ से उसकी प्रतिष्ठा कराकर उसे ले पुनः वीतभयपट्टण आया। नयी प्रतिमा वहां स्थापनकर प्राचीन प्रतिमा तथा दासी सुवर्णगुलिका को साथ ले वह चुपचाप रात्रि में वापस घर आया। पश्चात् सुवर्णगुलिका और चंडप्रद्योत दोनों विषयासक्त हो गये, जिससे उन्होंने उक्त प्रतिमा विदिशापुरी निवासी भायल स्वामी श्रावक को पूजा करने के लिए दे दी।

एक समय कंबल-शंबल नागकुमार उस प्रतिमा की पूजा करने को आये। और पाताल में रही हुई जिनप्रतिमा को वन्दन करने के इच्छुक भायलस्वामी को जलमार्ग द्वारा पाताल में ले गये। उस समय भायल प्रतिमा की पूजा कर रहा था, परन्तु जाने की उत्सुकता से आधी ही पूजा हो पायी, पाताल में जिनभक्ति से प्रसन्न हुए नागकुमार को भायल ने कहा कि, 'ऐसा करो कि, जिससे मेरे नाम की प्रसिद्धि हो।' नागेन्द्र ने कहा-ऐसा ही होगा। चंडप्रद्योत राजा तेरे नाम का अनुसरण करके विदिशानगरी का नाम 'देवकीयपुर' रखेगा। परन्तु तू आधी पूजा करके यहां आया है जिससे भविष्यकाल में वह प्रतिमा अपना स्वरूप गुप्त ही रखेगी और मिथ्यादृष्टि लोग उसकी पूजा करेंगे। 'यह आदित्य भायल स्वामी हैं।' यह कह कर अन्यदर्शनी लोग उक्त प्रतिमा की बाहर स्थापना करेंगे। विषाद न करना, दुष्काल के प्रभाव से ऐसा होगा। भायल, नागेन्द्र का यह वचन सुन जैसा गया था वैसा ही वापिस आया।

इधर वीतभयपट्टण में प्रातःकाल होते ही प्रतिमा की माला सूखी हुई, दासी भी नहीं तथा हाथी के मद का स्त्राव हुआ देखकर लोगों ने निर्णय किया कि, चंडप्रद्योत राजा यहां आया था। पश्चात् सोलह देश व तीनसो त्रैसठपुर के स्वामी उदायन राजा ने महासेना आदि दश मुकुटधारी राजाओं को साथ ले चढ़ाई की। मार्ग में ग्रीष्म ऋतु के कारण जल न मिलने से राजा ने प्रभावती के जीव देवता का स्मरण किया। उसने शीघ्र ही आकर वहां जल से परिपूर्ण तीन तालाब प्रकट किये। अनुक्रम से संग्राम का

अवसर आया, तब रथ में बैठकर युद्ध करना ऐसा निश्चित होते हुए भी राजा चंडप्रद्योत अनिलवेग हाथी पर बैठकर आया। जिससे उसके सिर प्रतिज्ञाभंग करने का दोष पड़ा। युद्ध में शस्त्र द्वारा हाथी के पैर विंध जाने से वह गिर पड़ा, तब राजा उदायन ने चंडप्रद्योत को बंदीकर उसके कपाल पर 'मेरी दासी का पति' ऐसी छाप लगायी। पश्चात् वह चंडप्रद्योत सहित प्रतिमा लेने के लिए विदिशानगरी गया। प्रतिमा का उद्धार करने के लिए बहुत प्रयत्न किया तथापि वह स्थानक से किंचित् मात्र भी न डिगी। और अधिष्ठात्री देवी कहने लगी कि 'वीतभयपट्टण में धूल की वृष्टि होगी, इसीलिए मैं न आऊंगी।' यह सुनकर उदायन राजा वापिस आया। मार्ग में चातुर्मास (वर्षाकाल) आया, तब एक जगह पड़ाव करके सेना के साथ रहा। संवत्सरी पर्व के दिन राजा ने उपवास किया। रसोइये ने चंडप्रद्योत को पूछा कि, 'आज हमारे महाराजा को पर्युषण का उपवास है इसलिए आपके वास्ते क्या रसोई करूं?' चंडप्रद्योत के मन में 'यह कदाचित् अन्न में मुझे विष देगा' यह भय उत्पन्न हुआ, जिससे उसने कहा कि, 'तूने ठीक याद कराया। मेरे भी उपवास है। मेरे मातापिता श्रावक थे।' यह ज्ञात होने पर उदायन ने कहा कि, 'इसका श्रावकपना तो जान लिया! तथापि यह ऐसा कहता है, तो वह नाममात्र से भी मेरा साधर्मिक हो गया, इसलिए वह बंधन में हो तब तक मेरा संवत्सरी प्रतिक्रमण किस प्रकार शुद्ध हो सकता है?' यह कहकर उसने चंडप्रद्योत को बंधनमुक्त कर दिया, खमाया और कपाल पर लेख छिपाने के लिए रत्नमणिका पट्ट बांधकर उसे अवंती देश दिया। उदायन राजा की धार्मिकता तथा सन्तोष आदि की जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी ही थोड़ी है। अस्तु, चातुर्मास बीत जाने पर वीतभयपट्टण को आया। सेना के स्थान में आये हुए वणिक्लोगों के निवास से दशपुर नामक एक नवीन नगर बस गया। वह राजा उदायन ने जीवंतस्वामी की पूजा के लिए अर्पण किया। इसी तरह विदिशापुरी को भायलस्वामी का नाम दे, वह तथा अन्य बारह हजार ग्राम जीवंतस्वामी की सेवा में अर्पण किये।

प्रभावती के जीव देवता के वचन से राजा कपिलकेवली प्रतिष्ठित प्रतिमा की नित्य पूजा किया करता था। एक समय पक्खीपौषध होने से उसने रात्रि जागरण किया, तब उसे एकदम चारित्र लेने के दृढ़ परिणाम उत्पन्न हुए, प्रातःकाल होने पर उसने उक्त प्रतिमा की पूजा के लिए बहुत से ग्राम, नगर, पुर आदि दिये। 'राज्य अन्त में नरक प्राप्त करानेवाला है, इसलिए वह प्रभावती के पुत्र अभीचि को किस प्रकार दूं?' इत्यादि विचार मन में आने से उसने केशि नामक अपने भानजे को राज्य दिया, और आपने श्रीवीरभगवान के पास चारित्र ग्रहण किया। उस समय केशी राजा ने दीक्षा महोत्सव किया।

एक समय अकाल में अपथ्याहार के सेवन से राजर्षि उदायन के शरीर में महाव्याधि उत्पन्न हुई। 'शरीर धर्म का मुख्य साधन है।' यह सोचकर वैद्य ने भक्षण करने को बताये हुए दही का योग हो, इस हेतु से ग्वालों के ग्राम में मूकाम करते हुए वे

वीतभयपट्टण को गये। राजा केशी यद्यपि उदायन मुनिराज का अनुरागी था, तथापि उसके प्रधानवर्ग ने उसे समझाया कि, 'उदायन राज्य लेने के हेतु यहां आया है' प्रधानों की बात सत्य मानकर केशी ने उदायन मुनिराज को विषमिश्रित दही वहोराया। प्रभावती देवता ने विष का अपहरण करके फिर से दही लेने को मना किया। दही बंद हो जाने से महाव्याधि पुनः बढ़ गयी। देवता ने तीन बार दही सेवन करते विष का अपहरण किया, एक समय देवता प्रमाद में था, तब मुनिराज के आहार में विषमिश्रित दही आ गया, तत्पश्चात् एक मास का अनशनकर केवलज्ञान होने पर उदायनराजर्षि सिद्ध हुए। पश्चात् प्रभावती देवता ने क्रोध से वीतभयपट्टण पर धूल की वृष्टि की और उदायन राजा का शय्यातर एक कुम्हार था, उसे भिल्लपल्ली में ले जाकर उस पल्ली का नाम 'कुम्हारकृत पल्ली' रखा।

राजपुत्र अभीचि, पिता ने योग्यता होते हुए भी राज्य नहीं दिया, जिससे दुःखी हुआ, और अपनी मौसी के पुत्र कोणिक राजा के पास जाकर सुख से रहने लगा। वहां सम्यक् प्रकार से श्रावक धर्म की आराधना करता था, तो भी, 'पिता ने राज्य न देकर मेरा अपमान किया' यह सोच पिता के साथ बांधे हुए वैर की आलोचना नहीं की। जिससे पन्द्रह दिन के अनशन से मृत्यु को प्राप्त हो एक पल्लोपम आयुष्य वाला श्रेष्ठ भवनपति देवता हुआ। वहां से च्यवन पाकर महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा। प्रभावती देवता ने धूलवृष्टि की थी उस समय की भूमि में गड़ी हुई कपिलकेवलि प्रतिष्ठित जिनप्रतिमा, श्रीहेमचन्द्राचार्य गुरु के वचन से राजा कुमारपाल को ज्ञात हुई। उसने उक्त स्थान खुदवाया तो अन्दर से उक्त प्रतिमा और राजा उदायन का दिया हुआ ताम्रपट्ट भी निकला। यथाविधि पूजा करके कुमारपाल बड़े उत्सव के साथ उसे अणहिलपुर पट्टण को ले आया तथा नवीन बनवाये हुए स्फटिकमय जिनमंदिर में उसकी स्थापना की और राजा उदायन के ताम्रपट्टानुसार ग्राम, पुर आदि स्वीकार रखकर बहुत काल तक उस प्रतिमा की पूजा की। जिससे उसकी सर्व प्रकार से वृद्धि हुई इत्यादि।

ऊपर कहे अनुसार देव को भाग देने से निरन्तर उत्तम पूजा आदि तथा जिनमंदिर की यथोचित व्यवस्था, रक्षण आदि भी ठीक युक्ति से होते हैं। कहा है कि—जो पुरुष अपनी शक्ति के अनुसार जिनमंदिर करावे, वह पुरुष देवलोक में देवताओं से प्रशंसित होकर बहुत काल तक परम सुख पाता है।

छठवां द्वार—जिन बिम्ब निर्माण :

रत्न की, सुवर्ण की, धातु की, चन्दनादिक काष्ठ की, हस्तिदन्त की, शिला की तथा मिट्टी आदि की जिनप्रतिमा यथाशक्ति करवाना चाहिए। उसका परिमाण जघन्य अंगूठे के बराबर और उत्कृष्ट पांचसो धनुष्य तक जानना। कहा है कि—जो लोग उत्तम मृत्तिका का, निर्मल शिला का, हस्तिदंत का, चांदी का, सुवर्ण का, रत्न का, माणिक का अथवा चन्दन का सुन्दर जिनबिम्ब शक्त्यनुसार इस लोक में करवाते हैं, वे

लोग मनुष्यलोक में तथा देवलोक में परमसुख पाते हैं। जिनबिंब बनवानेवाले लोगों को दारिद्र, दुर्भाग्य, निंद्यजाति, निंद्यशरीर, दुर्गति, दुर्बुद्धि, अपमान, रोग और शोक नहीं भोगना पड़ता। वास्तुशास्त्र में कही हुई विधि अनुसार तैयार की हुई, शुभलक्षणवाली प्रतिमाएं इस लोक में भी उदय(उन्नति) आदि गुण प्रकट करती हैं। कहा है कि—अन्यायोपार्जित धन से कराई हुई, परवस्तु के दल से कराई हुई, तथा कम अथवा अधिक अंगवाली प्रतिमा अपनी तथा दूसरे की उन्नति का नाश करती है।

जिस मूलनायकजी के मुख, नासिका, नेत्र, नाभि अथवा कमर इनमें किसी भी अवयव का भंग हुआ हो, उनका त्याग करना। परन्तु जिसके आभूषण, वस्त्र, परिवार, लंछन अथवा आयुध इनका भंग हो, वह प्रतिमा पूजने में कोई बाधा नहीं। जो जिनबिंब सो वर्ष से अधिक प्राचीन हो तथा उत्तमपुरुष द्वारा प्रतिष्ठित हो, वे बिंब अंगहीन हो तो भी पूजनीय है। कारण कि, वे बिंब लक्षणहीन नहीं होते। प्रतिमाओं के परिवार में अनेक जाति की शिलाओं का मिश्रण हो वह शुभ नहीं। इसी तरह दो, चार, छः इत्यादि समअंगुलप्रमाणवाली प्रतिमा कभी भी शुभकारी नहीं होती। एक अंगुल से लेकर ग्यारह अंगुल तक गृहमंदिर में एवं उस प्रमाण की प्रतिमा जिनमंदिर में पूजनी चाहिए, ऐसा पूर्वाचार्य कह गये हैं। निरयावली में कहा है कि—लेप की, पाषाण की, काष्ठ की, दंत की तथा लोहे की और परिवार रहित अथवा प्रमाण रहित प्रतिमा घर में पूजने योग्य नहीं। घरदेरासर की प्रतिमा के सन्मुख बलिका विस्तार नहीं करना, परन्तु नित्य भाव से न्हवण और त्रिकाल पूजा मात्र अवश्य करनी चाहिए।

सर्व प्रतिमाएँ विशेष करके तो परिवार सहित और तिलकादि आभूषण सहित बनानी चाहिए। मूलनायकजी की प्रतिमा तो परिवार और आभूषण सहित होनी ही चाहिए। वैसा करने से विशेष शोभा होती है, और पुण्यानुबंधिपुण्य का संचय आदि होता है। कहा है कि—जिनप्रासाद में बिराजित प्रतिमा सर्व लक्षण सहित तथा आभूषण सहित हो तो, उसको देखने से मन को जैसे-जैसे आल्हाद उपजता है, वैसे-वैसे कर्म निर्जरा होती है। जिनमंदिर, जिनबिंब आदि की प्रतिष्ठा करने में बहुत पुण्य है। कारण कि, वह मंदिर अथवा प्रतिमा जब तक रहे, उतना ही असंख्य काल तक उसका पुण्य भोगा जाता है। जैसे कि, भरतचक्री की स्थापित की हुई अष्टापदजी ऊपर के देरासर की प्रतिमा, गिरनार ऊपर ब्रह्मोन्द्र की बनायी हुई कांचन बलानकादि देरासर की प्रतिमा, भरतचक्रवर्ती की मुद्रिका में से की हुई कुलपाकतीर्थ में बिराजित माणिक्यस्वामी की प्रतिमा तथा स्तम्भनपार्श्वनाथ आदि की प्रतिमाएँ आज तक पूजी जा रही हैं। कहा है कि, जल, ठंडा अन्न, भोजन, मासिक आजीविका, वस्त्र, वार्षिक आजीविका, यावज्जीव की आजीविका आदि वस्तुओं के दान से क्रमशः क्षणभर, एक प्रहर, एक दिवस, एक मास, छः मास, एक वर्ष और यावज्जीव तक भोगा जाय इतना पुण्य होता है; परन्तु जिनमंदिर, जिनप्रतिमा आदि करवाने से तो उसके दर्शन आदि से प्राप्त पुण्य अनंत काल तक भोगा जाता है। इसीलिए इस चौबीसी में पूर्वकाल में

भरतचक्रवर्ती ने शत्रुंजय पर्वतपर रत्नमय चतुर्मुख से बिराजमान, चौरासीमंडपों से सुशोभित, डेढ़ माइल ऊंचा, साढ़े चार माइल लंबा जिनमंदिर जहां पुंडरीकस्वामी पांच करोड़ मुनियों सहित ज्ञान और निर्वाण को प्राप्त हुए थे, वहां बनवाया।

इसी तरह बाहुबलि तथा मरुदेवी आदि के शिखर पर, गिरनार ऊपर, आबु पर, वैभारपर्वत पर, सम्मत्तशिखर पर, तथा अष्टापद आदि में भी भरतचक्रवर्ती ने बहुत से जिनप्रासाद और पांचसो धनुष्य आदि प्रमाण की तथा सुवर्ण आदि की प्रतिमाएं भी बनवायीं। दंडवीर्य, सगरचक्रवर्ती आदि राजाओं ने उन मंदिरों तथा प्रतिमाओं का उद्धार भी कराया। हरिषेण चक्रवर्ती ने जिनमंदिर से पृथ्वी को सुशोभित की। संप्रतिराजा ने भी सो वर्ष आयुष्य की शुद्धि के निमित्त छत्तीस हजार नये तथा शेष जीर्णोद्धार मिलकर सवा लक्ष जिनमंदिर बनवाये। सुवर्ण आदि की सवा करोड़ प्रतिमाएं बनवायीं। आमराजा ने गोवर्धन पर्वत पर साढ़ेतीन करोड़ सुवर्णमुद्राएँ व्ययकर सातहाथ प्रमाण सुवर्णप्रतिमायुक्त एक महावीरस्वामी का मंदिर बनवाया, मूलमंडप में सवालक्ष सुवर्णमुद्राएँ तथा रंगमंडप में इक्कीस लाख सुवर्णमुद्राएँ लगी। कुमारपाल ने तो चौदहसो चुम्मालीस नूतन जिनमंदिर तथा सौलहसो जीर्णोद्धार करवाये, छिथानबे करोड़ द्रव्य व्यय करके पिता के नामसे बनाये हुए त्रिभुवनविहार में एकसो पच्चीस अंगुल ऊंची मूलनायकजी की प्रतिमा अरिष्ट रत्नमयी बनवायी थी, भिन्न-भिन्न बहत्तर देरियों में चौदहभार[एक प्रकार का तौल] प्रमाण की चौबीस रत्नमयी, चौबीस सुवर्णमयी और चौबीस रौप्यमयी प्रतिमाएं बनवायी थीं। वस्तुपाल मंत्री ने तेरहसो तेरह नवीन जिनमंदिर और बाइससो जीर्णोद्धार कराये, तथा सवालालाख जिनबिंब भरवाये। पेंथड़श्रेष्ठी ने चौरासी जिनप्रासाद बनवाये, उसमें सुरगिरि पर चैत्य नहीं था वह बनवाने का विचारकर वीरमद राजा के प्रधान विप्र हेमादे के नाम से उसकी प्रसन्नता के लिए उसने मांधातापुर में तथा औंकारपुर में तीन वर्ष तक दानशाला चालू रखी। हेमादे प्रसन्न हुआ और पेंथड़ को सात राजमहल के बराबर भूमि दी। नीव खोदने पर मीठा जल निकला, तब किसीने राजा के पास जा चुगली खायी कि, 'महाराज! मीठा जल निकला है, इसलिए बावड़ी बंधाओ।' यह बात मालूम होते ही पेंथड़ श्रेष्ठी ने रातोंरात बारहजार टंक का लवण पानी में डलवाया। इस चैत्य के बनाने के लिए स्वर्णमुद्राओं से लदी हुई बत्तीस ऊंटनियां भेजीं। नीव में चौरासी हजार टंक का व्यय हुआ, चैत्य तैयार हुआ तब बधाई देनेवाले को तीनलाख टंक दिये। इस तरह पेंथड़विहार बना। तथा उसी पेंथड़ ने शत्रुंजय पर्वत पर श्री ऋषभदेव भगवान् का चैत्य इक्कीस धड़ी सुवर्ण से चारों तरफ मढ़ाकर मेरु पर्वत की तरह सुवर्णमय किया। गिरनार पर्वत पर के सुवर्णमय बलानक (झरोखा) का वृत्तांत इस प्रकार है—

गयी चौबीसी में उज्जयिनिनगरी में तीसरे श्रीसागर केवलि की पर्षदा देखकर नरवाहन राजा ने पूछा कि, 'मैं कब केवली होऊंगा?' भगवान् ने कहा—'आगामी चौबीसी में बाइसवें तीर्थकर श्रीनेमिनाथ भगवान् के तीर्थ में तू केवली होगा।' यह

सुन नरवाहन राजा ने दीक्षा ग्रहण की और आयुष्य के अंत में ब्रह्मोद्द होकर श्री नेमिनाथ भगवान् की वज्रमृत्तिकामय प्रतिमा बनाकर उसकी दश सागरोपम तक पूजा की। आयुष्य का अंत आया तब गिरनार पर्वत ऊपर सुवर्णरत्नमय प्रतिमावाले तीन गभारे (मूर्तिगृह) करके उनके सन्मुख एक सुवर्णमय झरोखा (बलानक) बनवाया; और उसमें उक्त वज्रमृत्तिकामय प्रतिमा की स्थापना की। अनुक्रम से संघवी श्रीरत्नश्रेष्ठी महान् संघ के साथ गिरनार पर यात्रा करने आया। विशेष हर्ष से स्नात्र करने से मृत्तिकामय (लेप्यमय) प्रतिमा गल गयी। जिससे रत्नश्रेष्ठी को बड़ा खेद हुआ। साठ उपवास करने से प्रसन्न हुई अंबादेवी के वचन से वह सुवर्णमय बलानक की प्रतिमा को लाया, वह कच्चे सूतर से लपेटी हुई लायी जाती चैत्य के द्वार में आते पीछे फिरकर देखा जिससे वह प्रतिमा वहीं स्थिर हो गयी। पश्चात् चैत्य का द्वार फिरा दिया। वह अभीतक वैसा ही है। कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि, सुवर्णमय बलानक में बहत्तर बड़ी बड़ी प्रतिमाएं थीं। जिनमें अट्टारह सुवर्णमयी, अट्टारह रत्नमयी, अट्टारह रौप्यमयी और अट्टारह पाषाणमयी थीं। इत्यादि।

सातवां द्वार—प्रतिष्ठा महोत्सव :

प्रतिमा की प्रतिष्ठा शीघ्र करानी चाहिए। षोडशक में कहा है कि—पूर्वोक्त विधि के अनुसार बनवायी हुई जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा शीघ्र ही दश दिन के अंदर करनी चाहिए। प्रतिष्ठा संक्षेप से तीन प्रकार की है—एक व्यक्ति प्रतिष्ठा, दूसरी क्षेत्र प्रतिष्ठा और तीसरी महाप्रतिष्ठा, सिद्धांत के ज्ञाता लोग ऐसा कहते हैं कि, जिस समय में जिस तीर्थकर का शासन चलता हो उस समय में उसी तीर्थकर की ही अकेली प्रतिमा हो वह व्यक्ति प्रतिष्ठा कहलाती है। ऋषभदेव आदि चौबीसों की क्षेत्रप्रतिष्ठा कहलाती है और एकसो सत्तर भगवान् की महाप्रतिष्ठा कहलाती है, बृहद्भाष्य में कहा है कि—एक व्यक्ति प्रतिष्ठा, दूसरी क्षेत्र प्रतिष्ठा और तीसरी महाप्रतिष्ठा, उन्हें अनुक्रम से एक, चौबीस और एकसोसत्तर भगवान् की जानना। सब प्रकार की प्रतिष्ठाओं की सामग्री संपादन करना, श्रीसंघ को तथा श्रीगुरु महाराज को बुलाना, उनका प्रवेश आदि महोत्सवपूर्वक करके, सम्यक् प्रकार से उनका आगत-स्वागत करना। भोजन वस्त्र आदि देकर उनका सर्व प्रकार से सत्कार करना। कैदियों को छुड़वाना। अहिंसा प्रवर्तना। किसीको भी बाधा न हो ऐसी दानशाला चलाना। सुतार आदि का सत्कार करना। बहुत धूमधाम के साथ संगीत आदि अद्भुत उत्सव करना। अट्टारह स्नात्र करना। इत्यादिक विशेष प्रतिष्ठाकल्प आदि ग्रंथों में देखो।

प्रतिष्ठा में स्नात्र के अवसर पर भगवान् की जन्मावस्था का चिंतन करना, तथा फल, नैवेद्य, पुष्प, विलेपन, संगीत इत्यादि उपचार के समय कौमार्य आदि चढ़ती अवस्था का चिंतन करना। उद्दमस्थावस्था के सूचक वस्त्रादिक से शरीर का आच्छादन करना इत्यादि उपचार के समय भगवान् की शुद्ध चारित्र्यावस्था का चिंतन करना। अंजनशलाका से नेत्र का उघाड़ना करते समय भगवान् की केवली अवस्था का

चिंतन करना। तथा पूजा में सर्व प्रकार के बड़े-बड़े उपचार करने के समय समवसरण में रही हुई भगवान् की अवस्था का चिंतन करना। श्राद्धसामाचारीवृत्ति में कहा है कि—प्रतिष्ठा करने के अनंतर बारह मास तक प्रतिमास उस दिन उत्तम प्रकार से स्नात्र आदि करना। वर्ष पूरा होने पर अड्डाई उत्सव करना, और आयुष्य की ग्रंथि बांधना, तथा उत्तरोत्तर विशेषपूजा करना। वर्षगांठ के दिन साधर्मिकवात्सल्य तथा संघपूजा आदि शक्त्यानुसार करना। प्रतिष्ठाषोडशक में तो इस प्रकार कहा है कि—भगवान् की लगातार आठ दिन तक एक समान पूजा करना, तथा सर्व प्राणियों को यथाशक्ति दान देना चाहिए।

आठवां द्वार—दीक्षा महोत्सव :

पुत्र, पुत्री, भाई, भतिजा, स्वजन, मित्र, सेवक आदि की दीक्षा का उत्सव बड़ी सजधज से करना चाहिए। कहा है कि—भरतचक्रवर्ती के पांचसो पुत्र और सातसो पौत्रों ने उस समवसरण में एक साथ ही दीक्षा ग्रहण की। श्रीकृष्ण तथा चेटकराजा ने अपनी संतति का विवाह न करने का निर्णय किया था, तथा अपनी पुत्री आदि को तथा थावच्चापुत्र आदि को उत्सव के साथ दीक्षा दिलवायी थी सो प्रसिद्ध है। दीक्षा दिलाने में बहुत पुण्य है। कहा है कि—जिसके कुल में चारित्रधारी उत्तम पुत्र होता है, वे माता, पिता स्वजनवर्ग बड़े पुण्यशाली और धन्य हैं। लौकिकशास्त्र में कहा है कि—जब तक कुल में कोई पुत्र पवित्रसन्यासी नहीं होता, तब तक पिंड की इच्छा करनेवाले पितृ संसार भ्रमण करते हैं।

नवमां द्वार—पद महोत्सव :

पदस्थापना याने गणि, वाचकाचार्य, वाचनाचार्य, दीक्षा लिये हुए अपने पुत्रादि तथा अन्य भी जो योग्य हो, उनकी पदस्थापना शासन की उन्नति आदि के लिए महोत्सव के साथ कराना। सुनते हैं कि, अरिहंत के प्रथम समवसरण में इंद्र स्वयं गणधर पद की स्थापना कराता है। वस्तुपाल मंत्री ने भी इक्ष्वाकु आचार्यों की पदस्थापना करायी थी।

दशावां द्वार—पुस्तक लेखन :

श्रीकल्प आदि आगम, जिनेश्वर भगवान के चरित्र आदि पुस्तकें न्यायोपार्जित द्रव्य से शुद्ध अक्षर से तथा उत्तमपत्र में युक्तिपूर्वक लिखवाना। इसी प्रकार वाचन अर्थात् संवेगी गीतार्थ मुनिराज से ग्रंथ का आरम्भ हो, उस दिन उत्सव आदि करके तथा प्रतिदिन सादी पूजा करके व्याख्यान करवाना; इससे बहुत से भव्यजीवों को प्रतिबोध होता है। साथ ही व्याख्यान करने तथा पढ़नेवाले मुनिराजों को वस्त्र आदि बहोराकर उनकी सहायता करना चाहिए। कहा है कि—जो लोग जिनाज्ञा(जैनागमों) की पुस्तकें लिखावें, व्याख्यान करावें, पढ़ें, पढ़ावें, सुनें और विशेष यतना के साथ पुस्तकों की रक्षा करें, वे मनुष्यलोक, देवलोक तथा निर्वाण के सुख पाते हैं। जो पुरुष

केवलिभाषित सिद्धान्त को स्वयं पढ़े, पढ़ावे अथवा पढ़नेवाले को वस्त्र, भोजन, पुस्तक आदि देकर सहायता करे, वह पुरुष इस लोक में सर्वज्ञ होता है। जिनभाषित आगम की केवलज्ञान से भी श्रेष्ठता दिखती है। कहा है कि—सामान्यतः श्रुतोपयोग रखनेवाला श्रुतज्ञानी साधु जो कदाचित् अशुद्ध वस्तु बहोरकर लावे तो उस वस्तु को केवली भगवान् भी भक्षण करते हैं। कारण कि, ऐसा न करे तो श्रुतज्ञान अप्रमाणित होता है। सुनने में आता है कि, किसी समय दुष्कालवश बारह वर्ष तक दुर्भिक्ष रहा, जिससे तथा अन्य भी कारणों से सिद्धान्त उच्छिन्न प्रायः हुए देखकर भगवान् नागार्जुन, स्कंदिलाचार्य आदि लोगों ने उसे पुस्तकारूढ किया। इसलिए सिद्धान्त को संमान देनेवाले मनुष्य को उसे पुस्तक में लिखवाना तथा रेशमी वस्त्रआदि वस्तु से उसकी पूजा करनी चाहिए। सुनते हैं कि, पेशद श्रेष्ठि ने सात करोड़ तथा वस्तुपाल मन्त्री ने अष्टारह करोड़ द्रव्य खर्च करके तीन ज्ञान भंडार लिखवाये थे। धराद के संबन्धी आध् ने तीन करोड़ टंक व्यय करके सर्व आगम की एक एक प्रति सुवर्णमय अक्षर से और अन्य सर्व ग्रन्थों की एक एक प्रति स्याही से लिखवायी थी।

ग्यारहवां द्वार—पौषधशाला निर्माण :

पौषधशाला अर्थात् श्रावकआदि को पौषध लेने के लिए उपयोग में आने योग्य साधारण स्थान भी पूर्व में कही हुई घर बनाने की विधि के अनुसार बनवाना चाहिए। साधर्मियों के लिए करायी हुई उक्त पौषधशाला सुव्यवस्थावाली और निरवद्य योग्य स्थान होने से समय पर साधुओं को भी उपाश्रयरूप में देना चाहिए। कारण कि, ऐसा करने में बहुत ही पुण्य है। कहा है कि—जो मनुष्य तपस्या तथा अन्य भी बहुत से नियम पालनेवाले साधु मुनिराजों को उपाश्रय देता है, उसने मानो वस्त्र, अन्न, पान, शयन, आसन आदि सर्व वस्तुएँ मुनिराज को दीं ऐसा समझना चाहिए। वस्तुपाल मन्त्री ने नवसौ चौरासी पौषधशालाएँ बनवायीं। सिद्धराज जयसिंह के मुख्यमन्त्री सांतनुने अपना नया महल वादिदेवसूरि को दिखाकर कहा कि, 'यह कैसा है?' तब शिष्य भाणिक्य बोला कि, 'जो इसे पौषधशाला करो तो हम इसकी प्रशंसा करें।' मन्त्री ने कहा—'जो आज्ञा, आज से यह पौषधशाला हो गयी।' उस पौषधशाला की बाहर की परशाल में श्रावकों को धर्मध्यान कर लेने के अनन्तर मुख देखने के लिए एक पुरुष प्रमाण ऊँचे दो दर्पण दोनों ओर रखे थे।

मूलगाथा - १६

आजम्भं सम्भत्तं^१, जहसत्ति वयाइ^२ दिक्खगह^३ अहवा।

आरंभचाउ^४ बंभं^५, पडिमाई^६ अंतिआराहणा^७ ॥१६॥

संक्षेपार्थ : १२ यावज्जीव समकित पालना, १३ यथाशक्ति व्रत पालना, १४ अथवा दीक्षा लेना, १५ आरम्भ का त्याग करना, १६ ब्रह्मचर्य पालना, १७ श्रावक

की प्रतिमा करना, १८ तथा अन्तर्मे आराधना करना ॥१६॥

विस्तारार्थः

बारहवां-तेरहवां द्वार—ससम्यक्त्व द्रव्य ग्रहण :

आजन्म याने बाल्यावस्था से लेकर यावज्जीव तक समकित और अणुव्रत आदि का यथाशक्ति पालन करना। इसका वर्णन श्रीरत्नशेखरसूरिजी की विरचित अर्थदीपिका में देखो।

चौदवां द्वार—दीक्षा ग्रहण :

दीक्षा ग्रहण याने अवसर आने पर चारित्र अंगीकार करना। इसका भावार्थ यह है कि—श्रावक बाल्यावस्था में दीक्षा न ले सके तो अपने को वंचित हुआ समझे। कहा है कि—जिसने सारे लोक को दुःख न दिया, कामदेव को जीत कर कुमार अवस्था में ही दीक्षा ली, वे बालमुनिराज धन्य हैं। अपने कर्मवश प्राप्त हुई गृहस्थावस्था को, एकाग्रचित्त से अहर्निश सर्वविरति के परिणाम रखकर पानी का बेड़ा सिर पर धारण करनेवाली सामान्य स्त्री की तरह पालना। कहा है कि—एकाग्रचित्तवाला योगी अनेक कर्म करे तो भी पानी लानेवाली स्त्री की तरह उसके दोष से लिप्त नहीं होता। जैसे परपुरुष में आसक्त हुई स्त्री ऊपर से पति की भरजी रखती है, वैसे ही तत्त्वज्ञान में तल्लीन हुआ योगी संसार का अनुसरण करता है। जैसे शुद्ध वेश्या मन में प्रीति न रखते 'आज अथवा कल इसको छोड़ दूंगी' ऐसा भाव रखकर जारपुरुष का सेवन करती है, अथवा जिसका पति मुसाफिरी करने गया है, ऐसी कुलीन स्त्री प्रेमरंग में रहकर पति के गुणों का स्मरण करती हुई भोजन-पान आदि से शरीर का निर्वाह करती है, वैसे सुश्रावक भी सर्वविरति के परिणाम मन में रखकर अपने को अधन्य मानता हुआ गृहस्थाश्रम पाले। जिन लोगों ने प्रसरते मोह को रोककर दीक्षा ली, वे सत्पुरुष धन्य हैं, और यह पृथ्वीमंडल उन्हींसे पवित्र हुआ है।

भावश्रावक :

भावश्रावक के लक्षण भी इस प्रकार कहे हैं—१ स्त्री के वश न होना, २ इन्द्रियों को वश में रखना, ३ धन को अनर्थ का हेतु समझना, ४ संसार को असार समझना, ५ विषय की अभिलाषा न रखना, ६ आरम्भ का त्याग करना, ७ गृहवास को बन्धन समान समझना, ८ आजन्म समकित का पालन करना, ९ साधारण मनुष्य जैसे भेड़ प्रवाह से चलते हैं, ऐसा चलता है ऐसा विचारना, १० सब जगह आगम के अनुसंधान वर्तन करना, ११ यथाशक्ति दानादि चतुर्विध धर्म का आचरण करना, १२ धर्मकार्य करते कोई अज्ञ मनुष्य हंसी करे, तो उसकी शर्म न रखना, १३ गृहकृत्य राग द्वेष न रखते हुए करना, १४ मध्यस्थपना रखना, १५ धनादिक हो तो भी उसीमें लिप्त होकर न रहना, १६ स्त्री के अतीव आग्रह पर कामोपभोग सेवन करना, १७ वेश्या समान गृहवास में रहना। यह सत्रह पद भावश्रावक का लक्षण है। यह इसका भाव संक्षेप जानना। अब इसकी व्याख्या करते हैं।

१ स्त्री को अनर्थ उत्पन्न करनेवाली, चंचलचित्तवाली और नरक को जाने के मार्ग समान मानकर अपना हित चाहनेवाला श्रावक उसके वश में न रहे। २ इन्द्रिय रूपी चपल अश्व हमेशा दुर्गति के मार्ग में दौड़ते हैं, संसार का यथार्थ स्वरूप जाननेवाले श्रावक सम्यग्ज्ञान रूपी लगाम से कुमार्ग में जाने से उनको रोकना। ३ धन को सकल अनर्थों का, प्रयास का तथा क्लेश का कारण और असार समझकर बुद्धिशाली पुरुष स्वल्पमात्र भी द्रव्य का लोभ न रखे। ४ संसार स्वयं दुःखरूप, दुःखदायी फल का देनेवाला, परिणाम में भी दुःख की संतति उत्पन्न करनेवाला, विडंबनारूप और असार है, यह समझकर उसमें प्रीति न रखना। ५ विषय विष के समान क्षणमात्र सुख देनेवाले हैं, ऐसा निरन्तर विचार करनेवाला पुरुष संसार से डरनेवाला और तत्त्वज्ञाता होने से उनकी अभिलाषा नहीं करे। ६ तीव्र आरम्भ से दूर रहे निर्वाह न हो तो सर्वजीवों पर दया रखकर विवशता से स्वल्प आरम्भ करे, और निरारंभीसाधुओं की स्तुति करे। ७ गृहवास को पाश (बन्धन) समान मानता हुआ, उसमें दुःख से रहे, और चारित्र्यमोहनीय कर्म खपाने का पूर्ण उद्यम करे। ८ बुद्धिमान पुरुष मन में गुरुभक्ति और धर्म की श्रद्धा रखकर धर्म की प्रभावना, प्रशंसा इत्यादिक करता हुआ निर्मल समकित का पालन करे। ९ विवेक से प्रवृत्ति करनेवाला धीरपुरुष, 'साधारण मनुष्य जैसे भेड़ प्रवाह से याने जैसा एकने किया वैसा ही दूसरो ने किया ऐसे असमझ से चलनेवाले हैं, यह सोचकर लोकसंज्ञा का त्याग करे। १० एक जिनागम छोड़कर दूसरा प्रमाण नहीं और अन्य मोक्षमार्ग भी नहीं, ऐसा जानकर सर्व क्रियाएं आगम के अनुसार करे। ११ जीव जैसे यथाशक्ति संसार के अनेकों कृत्य करता है, वैसे ही बुद्धिमान् पुरुष यथाशक्ति चतुर्विध धर्म को, आत्मा को बाधा-पीड़ा न हो उस रीति से करे। १२ चिंतामणि रत्न की तरह दुर्लभ, ऐसी हितकारिणी और निरवद्य धर्मक्रिया पाकर उसको सम्यग् रीति से आचरण करते अपने को देखकर कोई अज्ञानी लोग अपनी हंसी करे, तो भी उससे मन में शर्म नहीं करना। १३ देहस्थिति के मूल कारण धन, स्वजन, आहार, गृह इत्यादि सांसारिक वस्तुओं में राग-द्वेष न रखते हुए संसार में रहना। १४ अपना हित चाहनेवाला पुरुष मध्यस्थ स्थिति में रहकर तथा नित्य मन में समता का विचार रखकर राग-द्वेष के वश न हो तथा कदाग्रह को भी सर्वथा छोड़ दे। १५ नित्य मन में सर्ववस्तुओं की क्षणभंगुरता का विचार करनेवाला पुरुष धनादिक का स्वामी होते हुए भी धर्मकृत्य को बाधा पहुंचे ऐसा उनमें लिस न हो। १६ संसार से विरक्त हुआ श्रावक भोगोपभोग से जीव की तृप्ति नहीं होती, ऐसा विचारकर स्त्री के आग्रह से बहुत ही विवश होने पर ही कामभोग का सेवन करे।' १७ वेश्या की तरह आशंसा रहित श्रावक आज अथवा कल छोड़ दूंगा ऐसा विचार करता हुआ परायी वस्तु की तरह शिथिलभाव से गृहवास पाले। उपरोक्त सत्रह गुणयुक्त पुरुष जिनागम

१. टी.वी., विडियो, ब्लू फिल्मों, अश्लील साहित्य पढ़कर वासना को उत्तेजित करनेवाले महावीर की संतानें इस १६वें लक्षण पर अवश्य चिन्तन मनन करें।

में भावश्रावक कहलाता है। यही भावश्रावक शुभकर्म के योग से शीघ्र भावसाधुत्व को प्राप्त करता है। ऐसा धर्मरत्नशास्त्र में कहा है।

उपरोक्त रीति से शुभभावना करनेवाला, पूर्वोक्त दिनकृत्य में तत्पर अर्थात् 'यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थरूप तथा परमार्थरूप है, शेष सब अनर्थ है,' ऐसी सिद्धान्त में कही हुई रीति के अनुसार समस्तकार्यों में पूर्ण प्रयत्न से, यतना से ही प्रवृत्ति करनेवाला, किसी जगह भी जिसका चित्त प्रतिबंध को प्राप्त नहीं हुआ ऐसा और अनुक्रम से मोह को जीतने में निपुण पुरुष अपने पुत्र भतीजे आदि गृहभार उठाने को समर्थ हों तब तक अथवा अन्य किसी कारणवश कुछ समय गृहवास में बिताकर उचित समय पर अपनी आत्मा को चारित्र्य मार्ग में योग्य बनाकर पश्चात् जिनमंदिर में अष्टाह उत्सव, चतुर्विध संघ की पूजा, अनाथ आदि लोगों को यथाशक्ति अनुकम्पादान और मित्र स्वजन आदि से क्षमापना इत्यादिक करके सुदर्शन श्रेष्ठी आदि की तरह विधि पूर्वक चारित्र्य ग्रहण करे। कहा है कि—कोई पुरुष सर्वथा रत्नमय जिनमंदिरों से समग्र पृथ्वी को अलंकृत करे, उस पुण्य से भी चारित्र्य की ऋद्धि अधिक है। वैसे ही पापकर्म करने की पीड़ा नहीं, खराब स्त्री, पुत्र तथा स्वामी इनके दुर्वचन सुनने से होनेवाला दुःख नहीं, राजा आदि को प्रणाम करना नहीं, अन्न, वस्त्र, धन, स्थान आदि की चिन्ता करनी नहीं, ज्ञान की प्राप्ति हो, लोक द्वारा पूजा जाना, उपशम सुख में रक्त रहना और परलोक में मोक्ष आदि की प्राप्ति। चारित्र्य में इतने गुण विद्यमान हैं। इसलिए हे बुद्धिशाली पुरुषों! तुम उक्त चारित्र्यरत्न को ग्रहण करने का प्रयत्न करो।

पन्द्रहवां द्वार—आरंभ समांरभ का त्याग :

यदि किसी कारणवश अथवा पालने की शक्ति आदि न होने से जो श्रावक चारित्र्य ग्रहण कर न सके, तो आरंभ आदि वर्ज्य याने दीक्षा ग्रहण न की जा सके तो आरंभ का त्याग करे। उसमें पुत्र आदि कोई भी घर का सर्व कार्यभार सम्भाल लेने योग्य हो तो सर्व आरंभ का त्याग करना, और वैसा न हो तो सचित्त वस्तु का आहारदि निर्वाह के अनुसार आरंभ त्याग करे। बन सके तो अपने लिये अन्न का पाक आदि भी न करे। कहा है कि—जिसके लिये अन्न का पाक (रसोई) बने उसीके लिए आरंभ होता है। आरंभ में जीवहिंसा है, और जीवहिंसा से दुर्गति होती है।

सोलहवां द्वार—ब्रह्मचर्य पालन :

श्रावक को आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

जैसे पैथड श्रेष्ठी ने बत्तीसवें वर्ष में ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया और बाद में वह भीमसोनी की मढ़ी (मठ) में गया। ब्रह्मचर्य आदि का फल अर्थदीपिका में देखो।

सत्रहवां द्वार—श्रावक की पडिमा :

श्रावक प्रतिमाआदि तपस्या करे, आदि शब्द से संसार तारण इत्यादि कठिन तपस्या समझनी चाहिए। उसमें मासिकी आदि ११ प्रतिमाएं कही हैं। यथा—

दंसण १ वय २ सामाइअ ३, पोसह ४, पडिमा ५ अबंभ ६ सच्चित्ते ७

आरंभ ८ पेस ९ उद्दि-द्वयञ्जर १० समणभूए ११ अ ॥१॥

अर्थः १ दर्शनप्रतिमा का स्वरूप यह है कि उसमें राजाभियोगादि छः आगार रहित, श्रद्धान आदि चार गुण सहित समकित को भय, लोभ, लज्जा आदि दोषों से अतिचार न लगाते हुए एक मास तक पालना, और त्रिकाल देवपूजा आदि करना। २ व्रतप्रतिमा, उसमें दो मास तक खंडना तथा विराधना बिना पांच अणुव्रत पालना तथा प्रथमप्रतिमा की क्रिया भी करना। ३ सामायिक प्रतिमा, उसमें तीन मास तक दोनों समय प्रमाद छोड़कर दो बार सामायिक करना तथा पूर्वोक्त प्रतिमा की क्रिया भी करना। ४ पौषधप्रतिमा उसमें पूर्वोक्त प्रतिमा के नियम सहित चार मास तक चार पर्वतिथि में अर्खंडित और परिपूर्ण पौषध करना। ५ प्रतिमाप्रतिमा अर्थात् कायोत्सर्ग प्रतिमा, उसमें पूर्वोक्त प्रतिमा की क्रिया सहित पांच मास तक स्नान का त्यागकर, रात्रि में चौविहार पञ्चकक्षण करके, दिन में ब्रह्मचर्य पालना तथा धोती की लांग छूटी रखकर चार पर्वतिथि को घर में, घर के द्वार में अथवा बाजार में परीषह (असह्य) उपसर्ग से न डगमगते समग्र रात्रि तक काउस्सग करना। आगे जिन प्रतिमाओं का वर्णन किया जाता है, उन सब में पूर्वोक्त प्रतिमा की क्रिया सम्मिलित कर लेनी चाहिए। ६ ब्रह्मचर्य प्रतिमा - उसमें छः मास पर्यंत निरतिचार ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना। ७ सचित्तपरिहार प्रतिमा, उसमें सात मास तक सचित्त वस्तु का त्याग करना। ८ आरंभपरिहार प्रतिमा, उसमें आठ मास तक कुछ भी आरंभ स्वयं न करना। ९ प्रेषणपरिहार प्रतिमा, उसमें नवमास तक अपने नौकर आदि से भी आरंभ न करवाना। १० उद्दिष्टपरिहार प्रतिमा, उसमें दस मास पर्यंत मस्तक मुंडाना अथवा चोटी मात्र धारण करना, निधान में रखे हुए धन के सम्बन्ध में कोई स्वजन प्रश्न करे तो यदि ज्ञात हो तो बता देना और ज्ञात न हो तो इन्कार कर देना, शेष सर्वगृहकृत्यों का त्याग करना, तथा अपने निमित्त तैयार किया हुआ भोजन भी भक्षण न करना। ११ श्रमणभूत प्रतिमा, उसमें ग्यारह मास पर्यंत घर आदि छोड़ना, लोच अथवा मुंडन कराना, ओषा, पात्रा आदि मुनिवेष धारण करना, अपने संबंधी गोकुल आदि में निवास करना, और 'प्रतिमावाहकाय श्रमणोपासकाय भिक्षां देहि' ऐसा कह साधु की तरह आचार पालना, परन्तु धर्मलाभ शब्द का उच्चारण नहीं करना।

अद्वारहवां द्वार—संलेखना :

अन्त में याने आयुष्य का अन्त समीप आने पर निम्नांकित रीति के अनुसार संलेखना आदि विधि सहित आराधना करना। इसका भावार्थ यह है कि—'वह पुरुष अवश्य करने योग्य कार्य का भंग होने पर और मृत्यु समीप आने पर प्रथम संलेखनाकर

पश्चात् चारित्र ग्रहण करे।' इत्यादि ग्रंथोक्त वचन है, इसलिए श्रावक आवश्यकीय कर्तव्यरूप पूजा प्रतिक्रमण आदि क्रिया करने की शक्ति न हो तो अथवा मृत्यु समीप आ पहुँचे तो द्रव्य से तथा भाव से दो प्रकार से संलेखना करे। उसमें क्रमशः आहार का त्याग करना वह द्रव्यसंलेखना और क्रोधादि कषाय का त्याग करना वह भाव संलेखना कहलाती है। कहा है कि—शरीर संलेखनावाला न हो तो मरणसमय में सात धातु का एकदम प्रकोप होने से जीव को आर्तध्यान उत्पन्न होता है। मैं तेरे इस शरीर की प्रशंसा नहीं करता, क्या तेरा साधु का शरीर है? साधु की अंतिम संलेखना में साधु की अंगुली टूट जाय तो भी दुःख नहीं होता वैसे क्या तेरी अंगुली टूट गयी है? इस प्रकार की अंतिम विचारणा से तू भावसंलेखना कर, समीप आयी हुई मृत्यु स्वप्न, शकुन तथा देवता के वचन पर से निर्धारित कर। कहा है कि—दुःस्वप्न, अपनी स्वाभाविक प्रकृति में हुआ कोई भिन्न फेरफार, बुरे निमित्त, उलटे ग्रह, स्वर के संचार में विपरीतता, इन कारणों से पुरुष को अपनी मृत्यु समीप आयी जानना। इस प्रकार संलेखना करके सकल श्रावक मानो धर्म के उद्यापन के ही निमित्त से अन्तकाल के समय भी चारित्र ग्रहण करे। कहा है कि—जीव शुभ परिणाम से जो एक दिन का भी चारित्र ग्रहण करे तो यद्यपि वह मोक्ष को न करे, तथापि वैमानिक देव तो अवश्य होता है।

नलराजा का भाई कुबेर का पुत्र नयी शादी होने पर भी ज्ञानी के मुख से अपना आयुष्य पांच दिन का बाकी है यह सुनकर शीघ्र चारित्र लेकर सिद्ध हुआ। हरिवाहन राजा ज्ञानी के वचन से अपनी आयुष्य नव प्रहर शेष जानकर दीक्षा ले सर्वाधीसिद्धि विमान में पहुँचा। अंतसमय में श्रावक दीक्षा ले, तब प्रभावना आदि के लिए शक्त्यनुसार धर्म में धन व्यय करे। जैसे कि, थराद के आभू संघवी ने अकस्मात् दीक्षा के अवसर पर (अंतसमय) सात क्षेत्रों में सात करोड़ धन व्यय किया। पश्चात् अंतसमय आने पर संलेखना करके शत्रुंजय आदि शुभतीर्थ में जाकर और निर्दोष स्थंडिल (जीवजंतु रहित भूमि) में शास्त्रोक्त विधि के अनुसार चतुर्विध आहार का पचवक्खाणकर आनंदादिक श्रावकों की तरह अनशन ग्रहण करे। कहा है कि—तपस्या से और व्रत से मोक्ष होता है, दान से उत्तम भोग मिलता है और अनशनकर मृत्यु पाने से इन्द्रत्व प्राप्त होता है। लौकिकशास्त्र में भी कहा है कि—हे अर्जुन! विधिपूर्वक जल में अंतसमय रहे तो सात हजार वर्ष तक, अग्नि में पड़े तो दस हजार वर्ष तक, जंपापात (ऊँचे स्थान से गिरना) करे तो सोलह हजार वर्ष तक, भीषण संग्राम में पड़े तो साठ हजार वर्ष तक, गाय छुड़ाने के हेतु देहत्याग करे तो अस्सी हजार वर्ष तक शुभ गति भोगता है, और अंतसमय अनशन करे तो अक्षय गति पाता है।

पश्चात् सर्व अतिचार के परिहार के निमित्त चार शरणरूप आदि आराधना करे। दशद्वार रूप आराधना तो इस प्रकार है—१ अतिचार की आलोचना करना, २ व्रतादिक उच्चारण करना, ३ जीवों को खमाना, ४ अड्डारहों पापस्थानकों का त्याग करना, ५

अरिहंतादि चारों का शरण स्वीकार करना, ६ किये हुए दुष्कृत की निंदा करना, ७ किये हुए शुभकर्मों की अनुमोदना करना, ८ शुभ भावना करना, ९ अनशन ग्रहण करना, १० पंचपरमेष्ठि नवकार की गणना करना। ऐसी आराधना करने से यद्यपि उसी भव में सिद्धि नहीं हो, तथापि शुभ देवभव तथा शुभ मनुष्यत्व पाकर आठ भव के अंदर सिद्ध हो ही जाता है। कारण कि, चारित्रवान् सात अथवा आठ भव से अधिक भवग्रहण नहीं करता ऐसा आगमवचन है। (वर्तमान में जो अंत समय की आराधना में यह सब सुनाया जाता है।)



उपसंहार

(मूल गाथा)

एअं गिहिधम्मविहिं, पइदिअहं निव्वहंति जे गिहिणो।

इहभवि परभवि निव्वुइसुहं लहुं ते लहन्ति धुवं ॥१७॥

संक्षेपार्थः जो श्रावक प्रतिदिन इस ग्रंथ में कही हुई श्रावक धर्म की विधि को आचरे, वह श्रावक इस भव में, परभव में अवश्य ही शीघ्र मुक्ति सुख पाता है।

विस्तारार्थः उपरोक्त दिनकृत्य आदि छः द्वारवाली श्रावक धर्मविधि को जो श्रावक निरन्तर सम्यक् प्रकार से पाले, वे वर्तमान भव में रहकर सुख पाते हैं, और परलोक में सात आठ भव के अन्दर परम्परा से मुक्तिसुख शीघ्र व अवश्य पाते हैं।

इति श्री रत्नशेखरसूरि विरचित

श्राद्धविधिकौमुदी का हिंदिभाषा का जन्मकृत्य प्रकाशनामक

षष्ठः प्रकाशः संपूर्णः

इति श्राद्धविधि का हिंदी भाषांतर समाप्त ॥



प्रशान्ति

विख्याततपेत्याख्या, जगति जगच्चन्द्रसूरयोऽभूवन्।

श्रीदेवसुन्दरगुरुक्तमाश्व तदनु क्रमाद्विदिताः ॥११॥

अर्थः इस जगत् में 'तपा' ऐसा प्रख्यात नाम धारण करनेवाले श्रीजगच्चन्द्रसूरि हुए। उनके बाद अनुक्रम से प्रख्यात श्री देवसुन्दर गुरुवर्य हुए ॥११॥

पंच च तेषां शिष्यास्तेष्वाद्या ज्ञानसागरा गुरवः।

विविधावचूर्णिलहरिप्रकटनतः सान्वयाह्वानाः ॥१२॥

अर्थः उनके पांच शिष्य थे। जिनमें प्रथम शिष्य श्री ज्ञानसागर गुरु हुए। विविध प्रकार की सूत्रों की अवचूर्णि रूपी लहरें प्रकट करके उन्होंने अपना ज्ञानसागर नाम सार्थक किया ॥१२॥

श्रुतगतविविधालापक-समुद्भूताः समभवंश्च सुरीन्द्राः

कुलमण्डना द्वितीयाः श्रीगुणरत्नास्तृतीयाश्च ॥१३॥

अर्थः शास्त्रस्थित विविध आलापक के उद्धार करनेवाले कुलमंडन नामक सुरीन्द्र दूसरे शिष्य और श्रीगुणरत्न नामक तीसरे शिष्य हुए ॥१३॥

षड्दर्शनवृत्तिक्रिया-रत्नसमुच्चय-विचारनिचयसृजः।

श्रीभुवनसुन्दरादिषु, भेजुर्विद्यागुरुत्वं ये ॥१४॥

अर्थः वे श्री गुणरत्न गुरुवर्य षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति क्रियारत्नसमुच्चय और विचारसमुच्चय ग्रन्थों के रचयिता और श्रीभुवनसुन्दर आदि आचार्यों के विद्यागुरु हुए ॥१४॥

श्रीसोमसुन्दरगुरु-प्रवरास्तुर्या अहार्यमहिमानः।

येभ्यः सन्ततिरुच्चै-रभवद् द्वेषा सुधर्मैभ्यः ॥१५॥

अर्थः उत्कृष्ट महिमावन्त श्रीसोमसुन्दर गुरुवर्य चौथे शिष्य हुए। इन द्रव्य से तथा भाव से श्रेष्ठ धर्मात्मा गुरुवर्य से बहुत शिष्य संतति बढ़ी ॥१५॥

यतिजीतकल्पविवृतश्च पञ्चमाः साधुरत्नसूरिवराः।

यैमाद्दशोऽप्यकृष्यत, करप्रयोगेण भवकृपात् ॥१६॥

अर्थः यतिजीतकल्प की व्याख्या करनेवाले श्रीसाधुरत्न सूरिवर पांचवें शिष्य हुए, जिन्होंने हाथ लम्बा करके मेरे समान सामान्य व्यक्ति का संसाररूपी कुए में से उद्धार किया ॥१६॥

श्रीदेवसुन्दरगुरोः, पट्टे श्रीसोमसुन्दरगणेन्द्राः।

युगवरपदवीं प्राप्ता-स्तेषां शिष्याश्च पञ्चैते ॥१७॥

अर्थः श्री देवसुन्दर गुरु के पाट पर श्रीसोमसुन्दर गुरु हुए। उनके युगप्रधान पदवी पाये हुए ये पांच शिष्य हुए ॥१७॥

मारीत्यवमनिराकृति-सहस्रनामस्मृतिप्रभृतिकृत्यैः।

श्रीमुनिसुन्दरगुरुव-श्चिरन्तनाचार्यमहिमभृतः ॥८॥

अर्थः एक श्रीमुनिसुन्दर गुरु महामारी, ईति आदि उपद्रव का दूर करना तथा सहस्रनाम स्मरण करना इत्यादि कृत्यों से चिरन्तन आचार्य की महिमा धारण करनेवाले हुए ॥८॥

श्रीजयचन्द्रगणेश-निस्तन्द्राः सङ्घगच्छकार्येषु।

श्रीभुवनसुन्दरवरा, दूरविहारिणोपकृतः ॥९॥

अर्थः दूसरे शिष्य संघ तथा गच्छ के काम में आलस्य न करनेवाले श्रीजयचन्द्र आचार्य तथा तीसरे शिष्य दूर विहार करके संघ पर उपकार करनेवाले श्रीभुवनसुन्दरसूरि हुए ॥९॥

विषममहाविद्यातद्विडम्बनाब्धौ तरीव वृत्तिर्यैः

विदधे यज्ज्ञाननिधिं, मदादिशिष्या उपाजीवन् ॥१०॥

अर्थः जिन्होंने विषममहाविद्या के अज्ञान से विडम्बना रूपी समुद्र में पड़े हुए लोगों के उद्धारार्थ नाव समान महाविद्यावृत्ति की, और जिनके ज्ञाननिधि को मेरे समान शिष्य आश्रय कर रहे हैं ॥१०॥

एकाङ्गा अप्येकादशाङ्गिनश्च जिनसुन्दराचार्याः।

निर्गन्था ग्रन्थकृतः, श्रीमज्जिनकीर्तिगुरुवश्च ॥११॥

अर्थः चौथे एक अंग (शरीर) धारण करते हुए भी ग्यारहअंग (सूत्र) धारण करनेवाले श्रीजिनसुन्दरसूरि तथा पांचवें निर्ग्रन्थ (ग्रन्थ-परिग्रह रहित) होते हुए भी ग्रन्थ रचना करनेवाले श्रीजिनकीर्ति गुरु हुए ॥११॥

एषां श्रीसुगुरुणां, प्रसादतः षट्खतिथिमिते (१५०६) वर्षे।

श्राद्धविधिसूत्रवृत्तिं, व्यधित श्रीरत्नशेखरःसूरिः ॥१२॥

अर्थः श्रीरत्नशेखरसूरि ने उपरोक्त गुरुओं के प्रसाद से विक्रम संवत् १५०६ में श्राद्धविधि सूत्र की वृत्ति की रचना की ॥१२॥

अत्र गुणसत्रविज्ञावतंसजिनहंसगणिवरप्रमुखैः।

शोधनलिखनादिविधौ, व्यधायि सान्निध्यमुद्युक्तैः ॥१३॥

अर्थः परमगुणवन्त और विद्वद्गुरु श्रीजिनहंसगणि आदि विद्वानों ने यह ग्रन्थ रचना, संशोधन करना लिखना आदि कार्य में परिश्रम से सहायता की ॥१३॥

विधिवैविध्याच्छ्रुतगतनैयत्यादर्शानाच्च यत्किञ्चित्।

अत्रोत्सूत्रमसूत्र्यत, तन्मिथ्यादुष्कृतं मेऽस्तु ॥१४॥

अर्थः विधि अनेक प्रकार की होने से तथा सिद्धान्त स्थितनिश्चय बात को नहीं देखने से इस ग्रन्थ में मैंने जो कुछ उत्सूत्र रचना की हो, वह मेरा दुष्कृत

मिथ्या हो ॥१४॥

विधिकौमुदीतिनाम्न्यां, वृत्तावस्यां विलोकितैर्वर्णैः।

श्लोकाः सहस्रषट्कं, सप्तशती चैकषष्ट्यधिकाः ॥१५॥

अर्थः विधिकौमुदी नामक इस वृत्ति में अक्षराक्षर की संख्या से इस ग्रन्थ की श्लोक संख्या ६७६१ होती है ॥१५॥

श्राद्धहितार्थं विहिता, श्राद्धविधिप्रकरणस्थसूत्रयुता।

वृत्तिरियं चिरसमयं, जयताज्जयदायिनी कृतिनाम् ॥१६॥

॥ इति प्रशस्तिः ॥

अर्थः श्राद्धविधि नामक मूलग्रन्थ सहित जिसकी यह वृत्ति मैंने श्रावकों के हितार्थ रची, सो (वृत्ति) कुशलपुरुषों को जय देनेवाली होकर चिरकाल विजयी हो ॥१६॥



हे आत्मन्!

शुद्ध श्रावक बनकर,

१. कर्म राजा के परिवार का ज्ञान प्राप्तकर,
 २. जीवादि नव तत्त्वों का ज्ञाता बनकर,
 ३. पंच महाव्रतों का पालनहार बनने हेतु संसार के भयावह स्वरूप को सद्गुरु भयवन्तों से पुनः पुनः समझकर,
 ४. चारों गति में भ्रमण के अपार दुःख को नजर समक्ष लाकर, शुद्ध संयमी श्रमण बनने का प्रयत्न कर।
- यही शुभेच्छा।

- जयानंद

धन को धूल समान मानने वाला ही
साधना कर सकता है ।

जिनपूजा की क्रिया उसी के लिए तारक
बनती है जो विधि एवं बहुमान का ज्ञाता
बनकर जिन बनने के लिए करता है ।

आज्ञा की आराधना आराधक के लिए
अतीव उपयोगी साधन है ।

शास्त्र दर्शित विधि-विधानों का अर्थ
घटन समकिति का सत्य होगा ।

समाचारी और सिद्धान्त के भेद को
सूक्ष्मता से समझना आवश्यक है ।

" जयानन्द "